जैनशासन

(संशोधित-परिवर्द्धित संस्करण)

लेखक
विद्वत्रत्न धर्म दिवाकर पं० सुमेरुचन्द्र दिवाकर
शास्त्री, न्यायतीर्थ B A LL B सिवनी (म प्र)

[चारित्र चक्रवर्ती, तीर्थंकर, आध्यात्मिक ज्योति, महाश्रमण महावीर, अध्यात्मवाद की मर्यादा, तात्त्विक चिन्तन, सैद्धान्तिक चर्चा, निर्वाण भूमि सम्मेदशिखर, चपापुरी, विश्वतीर्थ श्रवणबेलगोला, श्रमणराज आचार्य देशभूषण महाराज, Religion & Peace Glimpses of Jainism Mahavira and Jain Thought आदि के लेखक, महाबन्ध के सम्पादक तथा कसायपाहुडसुत्त के अनुवादक, भूतपूर्व सम्पादक जैन गजट]

प्रकाशक
प्राच्य श्रमण भारती, मुजफ्फरनगर

उपाध्याय मुनि श्री 108 ज्ञानसागर जी महाराज के 18वें दीक्षा दिवस के उपलक्ष्य में प्रकाशित

चतुर्थ संस्करण सन् 1998 (1100 प्रतियाँ)

संशोधित पंचम संस्करण सन् 2005 (1100 प्रतियाँ)

षष्ठम् संस्करण सन् 2007 (1100 प्रतियाँ)

पुण्यार्जक **श्रीमती दर्शन देवी जैन**
धर्मपत्नी स्व श्री कैलाशचन्द जैन (खेकडा वाले)
विकास पेपर कनर्वटस, दिल्ली

मूल्य 100/- रुपये मात्र
इस पुस्तक के विक्रय से जो भी राशि
एकत्रित होगी उससे पुन प्रकाशन होगा।

प्राप्ति स्थान

- **प्राच्य श्रमण भारती**
  12/ए, निकट जैन मन्दिर
  प्रेमपुरी मुजफ्फरनगर - 251001 (उ प्र)
  फोन (0131) 2450228 2408901
- **श्रुत सवर्द्धन सस्थान**
  प्रथम तल 247 देहली राड मरठ 2
  फान 0121 2528704 फेक्स 2533707
- **श्री दि जैन तीर्थक्षेत्र "ज्ञानस्थली"**
  निकट परतापुर रेलवे क्रासिग
  भूडबराल मेरठ (उ० प्र०)
  फोन-0121-2440485
- **सस्कृति सरक्षण सस्थान**
  X/3349 गली न 1
  रघुवरपुरा न 2 शाति मौहल्ला गाँधी नगर दिल्ली 31
  फान 011-9312438455 9811354250

मुद्रक
दीप प्रिटर्स
70-ए रामा रोड इडस्ट्रियल एरिया
नई दिल्ली-110015
फोन 011-25925099, 30923335

आचार्य परम्परा

बाल ब्रह्मचारी, प्रशान्त मूर्ति आचार्य 108 श्री शान्तिसागर जी महाराज (छाणी) उत्तर

जन्म तिथि	-	कार्तिक वदी एकादशी वि॰सं॰ - 1945 (सन् 1888)
जन्म स्थान	-	ग्राम-छाणी, जिला - उदयपुर (राजस्थान)
जन्म नाम	-	श्री केवलदास जैन
पिता का नाम	-	श्री भागचन्द जैन
माता का नाम	-	श्रीमती माणिकबाई
क्षुल्लक दीक्षा	-	सन् 1922 (वि॰स॰ 1979)
स्थान	-	गढ़ी, जिला-बासवाड़ा (राजस्थान)
मुनि दीक्षा	-	भाद्र शुक्ला 14 संवत् 1980 (23 सित॰ 1923)
स्थान	-	सागवाड़ा, जिला डूंगरपुर (राजस्थान)
आचार्य पद	-	सन् 1926 (सवत 1983)
स्थान	-	गिरीडीह (झारखड प्रान्त)
समाधिमरण	-	17 मई 1944 बुधवार ज्येष्ठवदी दशमी सवत 2001
स्थान	-	सागवाड़ा (राजस्थान)

परम पूज्य आचार्य 108 श्री सूर्यसागर जी महाराज

जन्म तिथि	-	कार्तिक शुक्ला नवमी वि॰स॰ 1940 (8 नव॰ 1883 शुक्रवार)
जन्म स्थान	-	प्रेमसर, जिला - ग्वालियर (म॰प्र॰)
जन्म नाम	-	श्री हजारीमल पोखाल
पिता का नाम	-	श्री हीरालाल जैन
माता का नाम	-	श्रीमती गैंदाबाई
ऐलक दीक्षा	-	आसोज शुक्ला 6 वि॰स॰- 1981 (सन् 1924) (आ॰ शान्तिसागर जी से)
स्थान	-	इन्दौर (मध्य प्रदेश)
मुनि दीक्षा	-	मर्गासर, बदी ग्यारस वि स 1981 (सन् 1924) 51 दिन पश्चात् आचार्य शान्तिसागर जी (छाणी) से (2-11-1924)
स्थान	-	हाटपीपल्या, जिला - देवास (म प्र)
आचार्य पद	-	कार्तिक शुक्ल 9 वि॰ स॰ 1985 (सन् 1928)
स्थान	-	कोडरमा (झारखण्ड)
समाधिमरण	-	श्रावण कृष्ण 8 वि॰ स॰ 2009 (14 जुलाई 1952)
स्थान	-	डालमिया नगर (झारखण्ड)
साहित्य क्षेत्र में	-	33 ग्रन्थों की रचना की।

परम पूज्य आचार्य 108 श्री विजयसागर जी महाराज

जन्म तिथि	-	वि॰ स॰ 1938 माघ सुदी 8 गुरुवार (सन! 1881)
जन्म स्थान	-	सिरोली, जिला - ग्वालियर (मध्य प्रदेश)
जन्म नाम	-	श्री चोखेलाल जैन
पिता का नाम	-	श्री मानिक चन्द जैन
माता का नाम	-	श्रीमती लक्ष्मी बाई
क्षुल्लक दीक्षा	-	इटावा (उत्तर प्रदेश)
ऐलक दीक्षा	-	मथुरा (उत्तर प्रदेश)
मुनि दीक्षा	-	मारोठ (जि नागौर, राजस्थान) आचार्य श्री सूर्यसागर जी से
समाधि तिथि	-	20 दिसम्बर 1962 संवत - 2019
स्थान	-	मुरार, जिला - ग्वालियर (मध्य प्रदेश)

परम पूज्य आचार्य 108 श्री विमलसागर जी महाराज (भिण्ड वाले)

जन्म तिथि - पौष शुक्ला द्वितीया वि० सं० 1948 (1-1-1892)
जन्म स्थान - ग्राम मोहना, जिला - ग्वालियर (मध्य प्रदेश)
जन्म नाम - श्री किशोरीलाल जैन
पिता का नाम - श्री भीकमचन्द जैन
माता का नाम - श्रीमती मथुरादेवी जैन
क्षुल्लक दीक्षा - वि० स० 1997 (सन् 1941) आ० विजयसागर जी से
स्थान - ग्राम - पाटन, जिला - झालावाड (राजस्थान)
मुनि दीक्षा - वि० स० 2000 - आ० विजयसागर जी से
स्थान - कोटा (राजस्थान)
आचार्य पद - सन् 1973, स्थान - हाडौती
समाधिमरण - 13 अप्रैल 1973 (चैत्र शुक्ला 11, स 2030)
स्थान - सागोद, जिला - कोटा (राजस्थान)

मासोपवासी, समाधिसम्राट परम पूज्य आचार्य 108 श्री सुमतिसागर जी महाराज

जन्मतिथि - वि० स० 1974 आसोज शुक्ला चतुर्थी (20-11-1917
जन्म स्थान - ग्राम - श्यामपुरा, जिला - मुरैना (मध्य प्रदेश)
जन्म नाम - श्री नत्थीलाल जैन
पिता का नाम - श्री छिद्दूलाल जैन
माता का नाम - श्रीमती चिरौंजा देवी जैन
ऐलक दीक्षा - वि० स० 2025 चैत्र शुक्ला त्रयोदशी (सन् 1968)
स्थान - रेवाडी (हरियाणा) आ० विमलसागर जी से
ऐलक नाम - श्री वीरसागर जी
मुनि दीक्षा - वि० स० 2025 अगहन वदी द्वादशी (7-11-1968 रविवार)
स्थान - गाजियाबाद (उत्तर प्रदेश)
आचार्य पद - ज्येष्ठ सुदी 5 वि०स० 2030 अप्रैल 13, सन् 1973
स्थान - मुरैना (म.प्र.) आ विमलसागर जी (भिण्डवाले) महाराज से।
समाधिमरण - क्वार वदी 13 दि० 3 10 94
स्थान - सोनागिर सिद्धक्षेत्र जिला दतिया (मध्य प्रदेश)

सराकोद्धारक परम पूज्य उपाध्याय 108 श्री ज्ञानसागर जी महाराज

जन्म तिथि - वैशाख शुक्ल द्वितीया, वि०स० 2014 (1 मई सन् 1957)
जन्म स्थान - मुरैना (मध्य प्रदेश)
जन्म नाम - श्री उमेश कुमार जैन
पिता का नाम - श्रद्धेय श्री शांतिलाल जैन
माता का नाम - आदरणीय श्रीमती अशर्फी देवी जैन
ब्रह्मचर्य व्रत - सन् 1974 (सवत् 2031) आ श्री विद्या सागर जी
क्षुल्लक दीक्षा - सोनागिर जी, 5 11 1976
क्षु दीक्षोपरान्त नाम - क्षु० श्री गुणसागर जी
क्षुल्लक दीक्षा गुरु - आचार्य श्री सुमतिसागर जी महाराज
मुनि दीक्षा - सोनागिर जी, महावीर जयन्ती, चैत्र सुदी त्रयोदशी
चैत सुदी त्रयोदसी 31 3 1988
मुनि दीक्षोपरान्त नाम - मुनि श्री 108 ज्ञानसागर जी महाराज
दीक्षा गुरु - आचार्य श्री सुमतिसागर जी महाराज
उपाध्याय पद - सरधना (मेरठ) उ०प्र० 30 1 1989
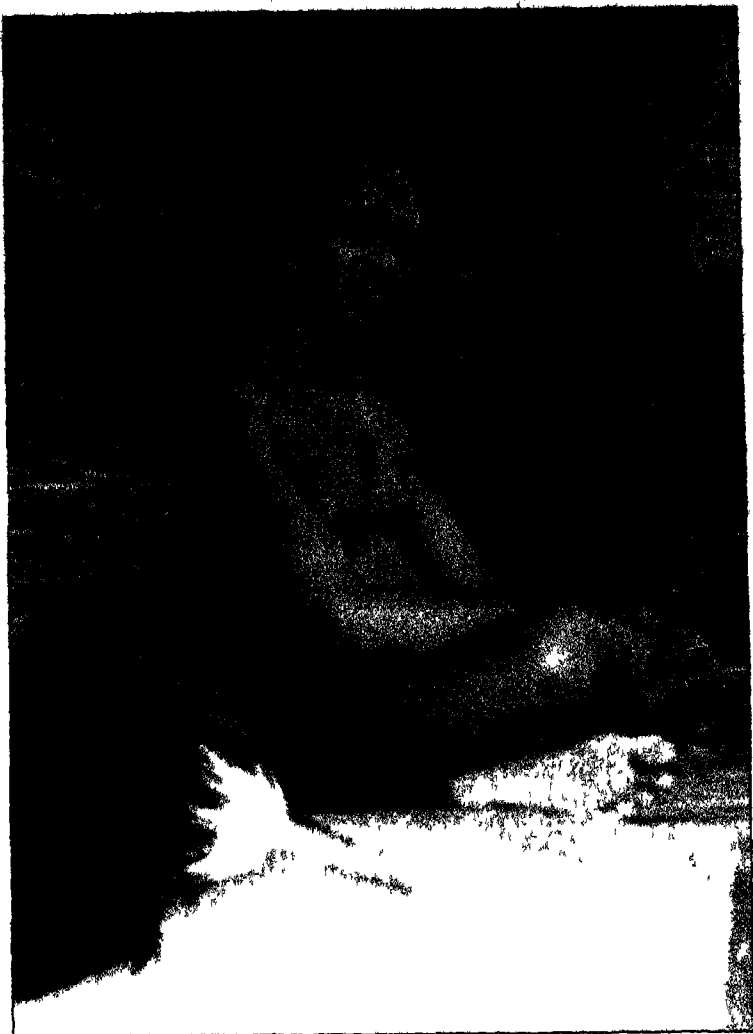
परम पूज्य उपाध्याय
108 मुनि श्री ज्ञानसागर जी महाराज

उपाध्याय श्री
108 ज्ञानसागर जी महाराज
के गुरू समाधिसम्राट
आचार्य रत्न श्री सुमतिसागर जी
महाराज की
ग्यारहवीं पुण्य तिथि पर
प्रकाशित

ज्ञान, ध्यान, तप, लीन उपासक
उपाध्याय श्री ज्ञानसागरजी महाराज

निर्मल ज्ञान की परम्परा को विश्वमच पर सस्थापित करने वाले, सूर्यकोटि समप्रभ-स्वरुप इस साधक ने अपनी तपस्या, ज्ञानाराधना, शास्त्रानुशासन, सदुपदेश से सकल्पशील आत्मसाधना को एक कालजयी स्वरुप मे प्रतिष्ठित किया है।

आविर्भाव एक सकल्पशील साधक का

मानवीय इयत्ता की अमृतस्रोतवाही श्रमण सस्कृति के सहस्रदल कमल की सुरभि के साथ, असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्मा अमृतगमय के उर्जस्वी चिन्तन की व्यावहारिक कर्मस्थली भारत-भूमि, अजनाभखण्ड, की असख्य कीर्ति-रश्मियो को भौतिक सक्रान्ति के गहन क्षणो मे विस्तीर्ण करते हुए एकान्त एकाग्र और सयमी जीवन की विलक्षण मानवीय प्रतीति बन, एक सकल्पशील साधक के रूप म जब उपाध्याय १०८ श्री ज्ञानसागरजी महाराज लोकजीवन मे अवतरित हुए तो यह धरती उद्भासित हो गयी उनकी तपस्या की प्रभा और त्याग की काति स ओर होने लगी स्फुरिता पुन जागृत जन-मन-गण की अधिभौतिक अधिदैविक एव आध्यात्मिक शक्तियाँ।

इस आर्यावर्त की गगा-तटवर्तिनी भूमि को देवत्व प्रदान करने वाले, ज्ञान भक्ति और वैराग्य की त्रिवेणी मे अवगाहन कराने वाले, इस क्रान्तिकारी सत ने अपने जीवन को कृतार्थ करते हुए त्याग, तितिक्षा और वैराग्य की सास्कृतिक धरोहर के धनी तीर्थकरो की पावन-पुनीत श्रृखला को पुष्पित और पल्लवित किया है। दिगम्बर मुनि परम्परा की एक अत्यन्त महत्वपूर्ण और प्रभावशाली कडी के रूप मे आपने अपने आभामण्डल से समग्र मानवीय चेतना को एक अभिनव सदृष्टि दी है और सवाद की नई वर्णमाला की रचना करते हुए उन मानवीय आख्यो की सस्थापना की है, जिनमे एक तपस्वी के विवेक, एक योगी के सयम और एक युगचेता की युगान्तरकारी क्रान्तिदर्शी दृष्टि की त्रिवेणी का समवाय है। ऐसी दिव्य चाक्षुष-तुरीय दृष्टियुक्त ऋतम्भरा प्रज्ञा के

मूर्तिमान स्वरूप उपाध्यायश्री की उपदेश वाणी प्रत्येक मनुष्य को झकृत कर सकी है, क्योकि वह अन्त स्फूर्त है और है सहज तथा सामान्य-उहापोह से मुक्त, सहजग्राह्य और बोधगम्य, जो मनुष्य को अर्थ, ज्ञान और पाण्डित्य के अहकार से मुक्त कर, मानवीय सद्‌भाव का पर्याय बनाने मे सतत् प्रवृत्त है।

एक जीवन सर्जक और आचारनिष्ठ साधक के रुप मे आगम-प्रामाण्य से उद्‌भूत निर्मल ज्ञान की परम्परा को विश्वमच पर सस्थापित करन वाले, सूर्यकोटि समप्रभ स्वरूप इस साधक ने अपनी तपस्या, ज्ञानाराधना, शास्त्रानुशासन, सदुपदेश से सकल्पशील आत्मसाधना को एक कालजयी स्वरूप मे प्रतिष्ठित किया है। जहाँ एक ओर उनके जनकल्याणी विचार जीवन की आत्यतिक गहराइयो अनुभूतियो और वात्सल्य के सचार से मानवीय चिन्तन का सहज परिष्कार करते है तो दूसरी ओर उनके जीवन को उस सहज सरल और सुबोध महाकाव्य की सरसता के साथ जनसामान्य मे सम्प्रेषित कराते है, जिसमे नानापुराण निगमागम-सम्मत मत-मतान्तर और जिनागम के शाश्वत दार्शनिक मानदण्डो का गोमुख स निकली गगा के पवित्र-पावन नीर-क्षीर सा समवाय है, जो अन्यत्र दुर्लभ है। हजारो वर्षो की सास्कृतिक और आध्यात्मिक परम्पराओ के परिशीलन के अनन्तर उदित हुए, दैदीप्यमान मार्तण्डमय उपाध्यायश्री, अपनी आध्यात्मिक शक्तियो के प्रभाव से जहाँ एक ओर अज्ञान-कालुष्य राग-द्वेष, मोह-ममता, की मरीचिका एव द्वन्द्वात्मकता तथा एकान्तिकता के निशीथान्धकार की इति करते है जीवन मे व्याप्त जडता का समापन करते है और निर्मल ज्ञान की रश्मियो को उद्‌भाषित करते है वही दूसरी ओर, भक्तो के प्रति उनके वात्सल्यभाव से आप्लावित आशीष-सुरभि की स्निग्धता, अन्तस की उदारता और कोमलता, कलियुगी जीवो के त्राण के लिए, सुरसरि की धारा सी सतत् प्रवहमान होती रहती है।

श्रमण परम्परा के सार्थवाह

परमपूज्य उपाध्यायश्री ज्ञानसागर जी महाराज भारत की गौरवशालिनी ऋषि परम्परा के एक ऐसे धर्मप्राण चिन्तक है, जिनके अथाह-अपार ज्ञानसागर मे अतीत का समाकलन वर्तमान का गहन अनुभव तथा भविष्य के प्राक्कलन का विविधतापूर्ण वैभव सहज स्वाभाविक रूप मे परिलक्षित हो रहा है। पूज्यश्री है एक मुक्ति साधक एक मुक्त साधक

एक समन्वयी मानवात्मा, जिसके अन्तस मे होता है अध्यात्म, विज्ञान और कला का अपूर्व सगम; एक अनूठा सर्जन और अद्भुत समवाय एकान्तिकता का अनेकान्तिकता मे। उनके उदार और उदात्त चिन्तन के प्रकर्ष से भारतीयता को एक नयी वितति प्राप्त हुई है। उनके सवेदी चित्त मे बसा एक ऐसा कलाकार है जिसकी मर्मज्ञ दृष्टि मे, प्रत्येक कर्म मे, व्यवहार मे एक व्यवस्था है, निज पर शासन है, पुरातन की अधुनातन व्याख्या का सामर्थ्य है जो अतीत और वर्तमान के बीच सहज ही बना लेता है एक सेतुबन्ध, समन्वय का, और इन सबसे आगे झलकता प्रतिपल उनका पारदर्शी मन, जो उनके अनुक्षा-ऊर्ध्वग-स्वरूप को उदात्ततम स्वरूप मे प्रस्तुत करता है। सर्जना के नित नये नूतन बिम्ब, आत्म-शोधन के अभिनव प्रयोग, ऊर्ध्वगामी साधना के परिशोधित मानदण्ड और उदात्त चिन्तन के उर्जस्वी प्रवाह, सत्वेषु मैत्री के प्रशस्त भावो के साथ, जन-जन मे चहुँओर चतुर्दिक विस्तीर्ण करने मे, एक प्रयोगधर्मी साधक के रूप मे पूज्य उपाध्यायश्री अत्यन्त ही सफल रहे है। इनकी विचार-सरणि, सार्थक एव सर्वजन-सम्प्रेषणीय बन, कण-कण मे जीवन-ज्योति का आशावादी प्रकाश विस्तीर्ण कर रही है। पूज्य गुरुवर की वाणी वर्गोदय के विरुद्ध सर्वोदय की एक ऐसी वैचारिक क्रान्ति है, जहाँ सभी के लिये विकास के पूर्ण अवसर है, बन्धनो से मुक्ति का आह्वान है जीवन समभाव है, जाति-समभाव है जो निरन्तर दीपित हो रहा है, उनकी जगकल्याणी और जनकल्याणी दीप्ति से।

पूज्य उपाध्यायश्री के उपदेश हमेशा जीवन-समस्याओ सन्दर्भो की गहनतम गुत्थियो के मर्म का सस्पर्श करते है, जीवन को उसकी समग्रता मे जानने और समझने की कला से परिचित कराते है। उनके साधनामय, तेजस्वी जीवन को शब्दो की परिधि मे बाँधना सम्भव नही है। हाँ उसमे अवगाहन करने की कोमल अनुभूतियाँ अवश्य शब्दातीत है। उनका चिन्तन फलक देश काल सम्प्रदाय, जाति, धर्म-सबसे दूर, प्राणिमात्र को समाहित करता है एक युग-बोध देता है, नैतिक जीवन जीने की प्रेरणा देता है, वैश्विक मानव की अवधारणा को ठोस आधार देता है, जहाँ दूर-दूर तक कही भी दुरूहता नही है, जो है, वह है, भाव-प्रवणता, सम्प्रेषणीयता और रत्नत्रयो के उत्कर्ष से विकसित हुआ उनका प्रखर तेजोमय व्यक्तित्व, जो बन गया है करुणा, समता और अनेकान्त का एक जीवन्त दस्तावेज।

उमेश से उपाध्याय ज्ञानसागर

चम्बल के पारदर्शी नीर की गहराई ने मुरैना मे वि०स० २०१४ (सन् १९५७) वैशाख सुदी दोयज को जन्मे बालक उमेश को पिच्छि कमण्डलु की मैत्री के साथ अपने बचपन की उस बुनियाद को मजबूत कराया जिसने उसे निवृत्ति मार्ग का सहज, पर समर्पित पथिक बना दिया। शहर मे आने वाले हर साधु-साध्वी के प्रति बचपन से विकसित हुए अनुराग ने माता अशर्फीबाई और पिता शान्तिलाल को तो हर पल सशकित किया ही पर बालक उमेश का अध्यात्मिक अनुराग प्रतिक्षण पल्लवित एव पुष्पित हाता गया और इसकी परिणति हुई सन् १९७४ मे उस प्रतीक्षित फैसले से जब किशोर उमेश ने आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत अगीकार किया और दो वर्षो बाद पाच नवम्बर उन्नीस सो छिहत्तर को ब्रह्मचारी उमश ने क्षुल्लक दीक्षा ग्रहण की आचार्य श्री सुमतिसागर जी स। उमेश ने रूपान्तरित हुए क्षुल्लक गुणसागर ने बारह वर्षो तक प० पन्नालालजी साहित्याचार्य प० लक्ष्मीकान्तजी अग्निहोत्री आदि विद्वानो की सान्निधि म न्याय व्याकरण एव सिद्धान्त क अनक ग्रन्थो का चिन्तन-मनन भी सफलतापूर्वक किया।

क्षुल्लक गुणसागर जी की साधना यात्रा ललितपुर सागर तथा जबलपुर म इस युग के महान सन्त पूज्य आचार्य श्री विद्यासागर जी की पावन सान्निधि क मध्य धवला की तत्त्व सम्पदा क सागर म अवगाहन करन म समर्पित हुई। दार्शनिक अवधारणा की पौर्वात्य पृष्ठभूमि की गहरी समझ म साथ-साथ क्षुल्लक जी न पाश्चात्य चिन्तका विचारा का भी आत्मसात् किया एव भाषा तथा साहित्य क ग्रन्था का भी अध्ययन किया ताकि अपन चिन्तन का नवनीत जनमानस क सम्मुख आसान ओर बाधगम्य भाषा म वस्तुपरकता क साथ पहुँचाया जा सक। क्षुल्लक जी का निस्पृही विद्यानुरागी मन जन दर्शन क गूढ रहस्या क सन्धान म रत रहा और प्रारम्भ हुआ सवाद का एक नया चरण। चाह चदरी की सिद्धात-वाचना हो या ललितपुर की न्याय-विद्या-वाचना, या मुगावली की विद्वत्सगोष्ठी या फिर खनियाधाना की सिद्धान्त वाचना प्राचीन अवधारणाआ के नये और सरल अर्थ प्रतिपादित हुए/परिभाषित हुए और हुए सप्रेषित भी-जन-जन तक। यह तो प्रज्ञान का प्रभाषित हाता वह पक्ष था, जिसकी रोशनी से दिग्-दिगन्त आलोकित हो रहा था, पर दूसरा तीसरा चौथा जाने और कितने पक्ष/आयाम साथ-साथ चेतना की ऊर्ध्वगामित

के साथ जुड रहे थे, साधक की प्रयोग धर्मिता को ऊर्जस्विता कर रहे थे-शायद साधक भी अनजान था अपने आत्म-पुरुषार्थी प्रक्रम से। चाहे सघस्थ मुनियो/क्षुल्लको/ऐलको की वैयावृत्ति का वात्सल्य पक्ष हो या तपश्चरण की कठिन और बहुआयामी साधना क्षुल्लक गुणसागर की आत्म-शोधन-यात्रा अपनी पूर्ण तेजस्विता के साथ अग्रसर रही, अपने उत्कर्ष की तलाश मे।

विद्वत् गोष्ठियाँ एव प्रेरणा साहित्य सर्जन की

महावीर जयन्ती के पावन प्रसग पर इकत्तीस मार्च उन्नीस सौ अठासी को क्षुल्लक श्री ने आचार्य श्री सुमतिसागर जी महाराज से सानागिरि सिद्धक्षेत्र दतिया (म०प्र०) म मुनि धर्म की दीक्षा ग्रहण की और तब आविर्भाव हुआ उस युवा क्रान्तिदृष्टा तपस्वी का जिसे मुनि ज्ञानसागर क रूप मे युग न पहचाना और उनका गुणानुवाद किया। साधना क निर्ग्रन्थ रूप म प्रतिष्ठित इस दिगम्बर मुनि ने जहाँ आत्म शाधन के अनेक प्रयोग किए, साधना क नय मानदण्ड सस्थापित किए उदात्त चिन्तन की ऊर्जस्वी धारा का प्रवाहमानकर तत्वज्ञान को नूतन व्याख्याआ स समृद्ध किया वही पर अपनी करुणा, आत्मीयता और सवगशीलता का जन जन तक विस्तीर्ण कर भगवान महावीर की सत्वेषु मैत्री की अवधारणा को पुष्पित पल्लवित और सवर्द्धित भी किया। मध्यप्रदेश की प्रज्ञान-स्थली सागर मे मुनिराज का प्रथम चातुर्मास तपश्चर्या की कर्मस्थली बना और यही से शुरु हुआ आध्यात्मिक अन्तर्यात्रा का वह अथ जिसमे प्रत्येक कालखण्ड मे नये नय अर्थ गढ और सवदनाओ की समझ को साधना की शैली म अन्तर्लीन कर तात्विक परिष्कार के नव-बिम्बा क सतरगी इन्द्रधनुष को आध्यात्मिक क्षितिज पर प्रतिष्ठित किया।

आगामी वर्षो मे मुनि ज्ञानसागर जी ने जिनवाणी के आराधको से स्थापित किया एक सार्थक सवाद ताकि आगम-ग्रन्थो मे निबद्ध रहस्यो का सामान्य जनो तक बोधगम्य भाषा और शैली म सम्प्रेषित किया जा सके। सरधना शाहपुर खेकडा गया, राची, अम्बिकापुर बडागाव दिल्ली, मेरठ, अजमेर, अलवर, तिजारा, केकडी मथुरा आदि स्थानो पर विद्वत्-सगोष्ठियो के आयाजनो ने बहुत से अनुत्तरित प्रश्नो क जहाँ एक ओर उत्तर खोजे वही दूसरी ओर शोध एव समीक्षा के लिए नये सन्दर्भ भी परिभाषित किये। अनुपलब्ध ग्रन्थो के पुनर्प्रकाशन की समस्या को इस ज्ञान-पिपासु ने समझा

परखा और सराहा। इस क्षेत्र मे गहन अभिरुचि के कारण सर्वप्रथम बहुश्रुत श्रमण परम्परा के अनुपलब्ध प्रामाणिक शोध-ग्रन्थ स्वर्गीय डा० नेमिचन्द्र शास्त्री द्वारा सर्जित साहित्य सम्पदा, तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा (चारो भाग) के पुनर्प्रकाशन की प्रेरणा की, जिसे सुधी श्रावको ने अत्यल्प समयावधि मे परिपूर्ण भी किया। पुनर्प्रकाशन का यह अनुष्ठान श्रमण-परम्परा पर काल के प्रभाव से पडी धूल को हटाकर उन रत्नो को जिनवाणी के साधको के सम्मुख ला रहा है जो विस्मृत से हो रहे थे। पूज्य गुरुदेव की मगल प्रेरणा से प्राच्य श्रमण भारती मुजफ्फरनगर (उ०प्र०) के अवधान मे एक सौ से अधिक ग्रन्थो का प्रकाशन/पुनर्प्रकाशन लगभग सात वर्षो की अल्पावधि मे हुआ है जिसमे तिलोयपण्णत्ती जैनशासन जैनधर्म आदि अत्यन्त महत्वपूर्ण ग्रन्थ भी है।

इस क्रम को गति देते हुए पूज्य उपाध्यायश्री ने आधुनिक कालखण्ड के सतो एव विद्वानो के कृतित्व से समाज को परिचित कराने का भी गुरुताकार्य किया है, जिसकी परिणति स्वरूप आचार्य शान्तिसागर छाणी स्मृति ग्रन्थ है, जिसके प्रकाशन से एक ओर विस्मृत से हो रहे उस अत्यन्त पुरातन साधक से समाज का परिचय हुआ है जिसने सम्पूर्ण भारत मे दिगम्बर श्रमण परम्परा को उन्नीसवी सदी के उत्तरार्द्ध मे अभिवृद्ध करने का गुरु-कार्य किया था, तो दूसरी ओर उनकी समृद्ध एव यशस्वी शिष्य परम्परा से भी समाज को रू-बरू कराया। सुप्रसिद्ध जैनदर्शन-विद स्वर्गीय प० महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्य की स्मृति मे एक विशाल स्मृति-ग्रन्थ के प्रकाशन की प्रेरणा कर मात्र एक जिनवाणी-आराधक का गुणानुवाद ही नही हुआ प्रत्युत नयी पीढी के उस महान साधक के अवदानो से परिचित भी कराने का अनुष्ठान पूर्ण हुआ। इस श्रृखला मे डा० हीरालाल जी जैन स्वर्गीय डा० ए०एन० उपाध्ये आदि विश्रुत विद्वानो के व्यक्तित्त्व एव कृतित्त्व पर शोधपरक सगोष्ठियो की आयोजना के प्रस्तावो को पूज्यश्री न एक ओर अपना मगल आशीर्वाद दिया है, वही दूसरी आर जैन पुरातत्त्व क गौरवशाली पन्नो पर प्राचीन भारतीय इतिहासवेत्ताओ एव पुरातत्त्वविदो को ककाली टीला मथुरा और कुतुबमीनार के अनबूझ रहस्यो की परतो को कुरेदने और उसकी वैभव सम्पदा से वर्तमान का परिचय करान जैसा ऐतिहासिक कार्य भी पूज्य गुरुवर के मगल आशीर्वाद से ही सभव हा सका है।

चिन्तन का नवोन्मेष

सवाद के बिम्ब इस तप-पूत ने वैचारिक क्रान्ति का उद्घोष किया है इस आशा और विश्वास के साथ कि आम आदमी के समीप पहुँचने के लिए, उसे, उसकी प्रतिदिन की समस्याओ से मुक्ति दिलान के उपाय भी सस्तुत करने होगे। तनावो से मुक्ति कैसे हो, व्यसन-मुक्त जीवन कैसे हो व्यसन मुक्त जीवन कैसे जिए, पारिवारिक सम्बन्धो मे सौहार्द कैसे स्थापित हो तथा शाकाहार को जीवन-शैली के रूप मे कैसे प्रतिष्ठापित किया जाय आदि यक्ष प्रश्नो को बुद्धिजीवियो, प्रशासको, पत्रकारो, अधिवक्ताओ शासकीय अर्द्ध-शासकीय एव निजी क्षत्रो के कर्मचारियो व अधिकारियो, व्यवसायियो, छात्रो-छात्राओ आदि क साथ परिचर्चाओ, कार्यशालाओ गोष्ठियो के माध्यम स उत्तरित कराने के लिए एक ओर एक रचनात्मक सवाद स्थापित किया तो दूसरी ओर श्रमण सस्कृति के नियामक तत्वो एव अस्मिता के मानदण्डो मे जन जन को दीक्षित कर उन्हे जैनत्व की उस जीवन शैली से भी परिचित कराया है जो उनके जीवन की प्रामाणिकता को सर्वसाधारण क मध्य सस्थापित करती है। जीवन क प्रत्यक क्षेत्र की अनुभव-सम्पन्न प्रज्ञान सम्पदा को, गुरुवर ने आपादमस्तक झिझोडा है जिसकी ऐतिहासिक प्रस्तुति अतिशय क्षेत्र तिजारा एव श्री महावीर जी मे आयोजित जैन चिकित्सको की विशाल सगोष्ठी थी जिसमे भारत के सुदूरवर्ती प्रदेशो से आये साधर्मी चिकित्सक बन्धुओ ने अहिसक चिकित्सा पद्धति के लिये कारगर कार्ययोजनाओ को ठोस रूप दिया है और सम्पूर्ण मानवता की प्रेमपूर्ण सवा के लिये पूज्य श्री की सन्निधि मे अपनी वचनबद्धता को रेखाकित किया है, जो श्लाघ्य है, स्तुत्य है।

पहचान पुराने की: आवहन मुख्य-धारा मे मिलाने का

पूज्यश्री ने समाज को एक युगान्तर बोध कराया- भूले बिसरे सराक भाइयो को समाज की मुख्य-धारा मे जोडकर। सराक भाइयो के बीच अरण्यो मे चातुर्मास कर उनके साथ सवाद स्थापित किया, उनकी समस्याओ को समझा-परखा और समाज को आह्वान किया, उनको अपनाने के लिये। पूज्यश्री की प्रेरणा से सराकोत्थान का एक नया युग प्रारम्भ हुआ है जिसके कुछ प्रतीक है उस क्षेत्र मे निर्मित हो रहे नये जिनालय तथा सराक केन्द्र एव औषधालय आदि जहाँ धार्मिक तथा

लौकिक शिक्षण की व्यवस्था की जा रही है। इन भाइयो से शेष समाज का सवाद स्थापित करने का गुरुतरकार्य कर रही है छोटी सी पर बहुत मजबूत सी पत्रिका सराक सोपान।

गुणानुवाद प्रज्ञान का

इस आदर्श तपस्वी और महान विचारक के द्वारा धर्म के वास्तविक स्वरुप की प्रतिष्ठा एव रूढियो के समापन मे सन्नद्धता सत्य की शाश्वतता को अनुसधित्सुओ/ जिज्ञासुओ के माध्यम से सस्थापित कराने की प्ररणा और उनके प्रति वात्मल्य अनुराग के प्रति सभी नतमस्तक है। जिनवाणी के आराधको का उनक कृतित्व के आधार पर प्रतिवर्ष श्रुत सवर्द्धन सस्थान के अवधान मे सम्मानित करन की योजना का क्रियान्वयन पूज्य उपाध्यायश्री क मगल आशीर्वाद एव प्रेरणा स सम्भव हो सका है। यह सस्थान प्रतिवर्ष श्रमण परम्परा क विभिन्न आयामो म किय गय उत्कृष्ट कार्यो के लिय पॉच वरिष्ठ जैन विद्वानो का इकतीस हजार रुपया की राशि स मम्मानित कर रहा है। सस्थान क उक्त प्रयामो की भूरि भूरि सराहना करत हुए बिहार क तत्कालीन राज्यपाल महामहिम श्री सुन्दरसिह जी भण्डारी न तिजारा मे पुरस्कार समारोह क मुख्य अतिथि के रूप म अपन उद्‌गार व्यक्त करत हुए कहा था कि विलुप्त हो रही श्रमण परम्परा क साधको क प्रज्ञान गुणानुवाद की आवश्यकता का इस तपोनिष्ठ साधक न पहचान कर तीर्थकर महावीर की दशना को गौरवमण्डित करन क महायज्ञ मे जो अपनी समिधा अर्पित की है वह इस दश क सास्कृतिक इतिहास का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एव प्ररक प्रसग है जिसके प्रति युगो युगो तक इस दश की बौद्धिक परम्परा ऋणी रहेगी।

गुणानुवाद क प्रतिष्ठापन क इस प्रक्रम को अधिक सामयिक बनाने के उददश्य स एव श्रमण परम्परा क चतुर्दिक विकास म सम्पूर्णता मे किय गय अवदानो क राष्ट्रीय स्तर पर किये गय आकलन के आधार पर, एक लाख रुपया की राशि के पुरस्कार का आयोजन इक्कीसवी सदी की सम्भवत पहली रचनात्मक श्रमण घटना है। इस क्रम में प्रथम उपाध्याय ज्ञानसागर श्रुत सवर्द्धन पुरस्कार भारत की यशस्वी साहित्यिक सस्था भारतीय ज्ञानपीठ जो प्रतिवर्ष भारत की सारस्वत परस्वत परम्परा का सम्मान करती है एव जिसे आज तक कभी भी सम्मानित नही किया

गया था को दिया गया है तथा द्वितीय पुरस्कार भारत की सामाजिक सस्कृति के प्रेरणा स्रोत पद्मभूषण डा० डी० वीरेन्द्र हेगडे को दिया गया है। पूज्य गुरुदेव का मानना है कि प्रतिभा और सस्कार के बीजो को प्रारम्भ से ही पहचान कर सवर्द्धित किया जाना, इस युग की आवश्यकता है। इस सुविचार को रॉची से प्रतिभा सम्मान समारोह के माध्यम से विकसित किया गया जिसमे प्रत्येक वय के समस्त प्रतिभाशाली छात्र-छात्राओ का सम्मान, बिना किसी जाति/धर्म के भेद-भाव के किया गया। यह वार्षिक कार्यक्रम भारतवर्ष के विभिन्न प्रान्तो के मेधावी जैन छात्रो का चयन कर सम्मानित करने के उस प्रेरक उत्सव के रूप मे उभरा है जो कश्मीर से कन्याकुमारी तक एकत्व बोध तो कराता ही है, वात्सल्य के साथ गुणो की पहचान का सशक्त माध्यम भी बना है। गुणानुवाद की यह यात्रा गुरुदेव के बिहार स विहार के साथ प्रत्येक ग्राम जनपद और नगर मे विहार कर रही है और नयी पीढी को विद्यालयो से विश्वविद्यालयो तक प्रेरित कर रही है स्फूर्त कर रही है।

मील का पत्थर

परम पूज्य उपाध्याय 108 श्री ज्ञानसागरजी महाराज वर्तमान युग के एक ऐसे युवा दृष्टा क्रान्तिकारी विचारक, जीवन-सर्जक और आचारनिष्ठ दिगम्बर सत है जिनके जनकल्याणी विचार जीवन की आत्यतिक गहराइयो अनुभूतियो एव साधना की अनन्त ऊचाइयो तथा आगम-प्रामाण्य स उद्भूत हो मानवीय चिन्तन के सहज परिष्कार मे सन्नद्ध है। आचार्य परम्परा का नवनीत, गुरुदेव के जीवन मे प्रतिबिबित हुआ है और यही कारण है कि मानवीय ऊर्जा के रचनात्मक उपयोग की सभावनाओ का पता लगाने मे उनकी सतत् अभिरुचि रही है। वे अनुक्षा ऊर्ध्वग है अत. जीवन की उदात्त ऊर्ध्वगामी शक्तियो मे उनकी गहन आस्था रही है। जडता एव प्रमाद की स्थिति से उन्हे इन्कार है और समय के प्रत्येक क्षण का सम्पूर्णता मे उपयोग करने एव रचनात्मक प्रस्तुति करने मे उनका पूर्ण विश्वास है। उनका मानना है कि समय की सही पकड एव उसकी समग्र ऊर्जस्विता के दक्षवत प्रयोग से ही विकास का मार्ग प्रशस्त हो सकता है। वे चिन्ता के स्थान पर चिन्तन, व्यथा की जगह व्यवस्था और प्रशसा की बजाय प्रस्तुति की सस्कृति के उद्घोषक है। यही कारण है कि इस वाग्मी निर्लिप्त निष्काम सत की चिन्तन यात्रा अनेकान्तिक अवधारणाओ का एक ऐसा चमकता आईना है, जिसमे मानवीय सवेदनाओ

का हर रुख सुख और शान्ति के अणुव्रतो के रूप मे प्रतिबिम्बित होता रहता है।

पूज्य गुरुदेव के उपदेश हमेशा जीवन-समस्याओ/सन्दर्भो की गहनतम गुत्थियो के मर्म का सस्पर्श करते है, जीवन को उसकी समग्रता मे जानने और समझने की कला से परिचित कराते है। उनके साधनामय तेजस्वी जीवन को शब्दो की परिधि मे बाँधना सम्भव नही है, हाँ, उनमे अवगाहन करने की कोमल अनुभूतियाँ अवश्य शब्दातीत है। उनका चिन्तन फलक देश, काल, सम्प्रदाय, जाति, धर्म-सबसे दूर, प्राणिमात्र को समाहित करता है एक युग बोध देता है, नैतिक जीवन जीने की प्रेरणा देता है, वैश्विक मानव की अवधारणा को ठोस आधार देता है जहाँ दूर-दूर तक कही भी दुरूहता नही है जा है, वह है भाव-प्रवणता, सम्प्रेषणीयता और रत्नत्रयो के उत्कर्ष से विकसित हुआ उनका प्रखर, तेजोमय व्यक्तित्व, जो बन गया है करुणा समता और अनेकान्त का एक जीवन्त दस्तावेज।

पूज्य उपाध्यायश्री का जीवन क्रान्ति का श्लोक है, साधना और मुक्ति का दिव्य छन्द है तथा है, मानवीय मूल्यो की वन्दना एव मानसिक ऐश्वर्य के विकास का वह भागीरथ प्रयत्न जो स्तुत्य है, वदनीय है और है जाति, वर्ग सम्प्रदाय भेद से परे पूरी इन्सानी जमात की बेहतरी एव उसके बीच सत्वेषु मैत्री की सस्थापना को समर्पित एक छोटा पर बहुत स्थिर और मजबूती भरा कदम। गुरुदेव तो वीतराग साधना पथ के पथिक है निरामय है निर्ग्रन्थ है, दर्शन ज्ञान और आचार की त्रिवेणी है। वे क्रान्तिदृष्टा है और परिष्कृत चिन्तन के विचारो के प्रणेता है। महाव्रतो की साधना मे रचे-बसे उपाध्याय श्री की सवेदनाएँ मानव मन की गुत्थिया को खोलती है और तन्द्रा मे डूबे मनुज को आपाद-मस्तक झिझोडने की ताकत रखती है।

परम पूज्य उपाध्याय श्री के सन्देश युगा-युगो तक सम्पूर्ण मानवता का मार्गदर्शन करे हमारी प्रमाद-मूर्च्छा को तोड, हमे अन्धकार से दूर प्रकाश के उत्स के बीच जाने का मार्ग बताते रहे, हमारी जडता की इति कर हमे गतिशील बनाए सभ्य शालीन एव सुसस्कृत बनाते रहे यही हमारे मगलभाव है हमारे चित्त की अभिव्यक्ति है, और है हमारी प्रार्थना भी।

—प्रो० नलिन कुमार शास्त्री, दिल्ली

तृतीय आवृत्ति पर लेखकीय

जैनशासन के सन् 1947 तथा 1950 मे दो सस्करण भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा प्रकाशित हुए थे। उससे देश के प्रबुद्ध वर्ग का रचना के प्रति आकर्षण वृद्धिगत हुआ। भारतरत्न स्व सतराज श्री विनोबा जी ने रचना के प्रति अपनी समीक्षा इन शब्दों में व्यक्त की थी 'जैनशासन में गभीर चितन और विवेचन है। तुलनात्मक अध्ययन एव विश्लेषण है। जैन विचार नि सशय प्राचीनकाल से है। किताब बहुत मेहनत से लिखी है। जैनधर्म के बारे में काफी जानकारी उससे मिल जाती है। आपके विवेचन पर मतभेद हो सकता है पर उससे ग्रन्थ की योग्यता को बाधा नहीं।" विनोबा का प्रणाम।

इस प्रकार के अनेक चितकों एव प्रबुद्धवर्ग के अभिमत प्रकाशित होने पर उसका तीसरा सस्करण शीघ्र निकलना बहुत आवश्यक था किन्तु विविध कारण-कलाप विघ्नकारी बन गये। सौभाग्य की बात है कि दिगम्बर जैन महासभा के अध्यक्ष **श्री निर्मलकुमार जी सेठी लखनऊ** ने रचना को पढकर उसका समुचित मूल्याकन करके 51,000 रुपया जैनशासन, चारित्र चक्रवर्ती आदि हमारी कल्याणकारी रचनाओ के शीघ्र मुद्रण हेतु प्रदान किये। प्रकाशन विभाग के मत्री **श्री राजकुमार सेठी, डीमापुर** (नागालैण्ड) ने प्रकाशन में तत्परता दिखाई है और शीघ्र कार्य सम्पन्न कराया इसलिए वे धन्यवाद के पात्र हैं। सुदीर्घ काल बीत जाने से कुछ बातें सशोधन योग्य प्रतीत हुई। इस सम्बन्ध में हमारे दिवाकर परिवार के डॉ सुशील दिवाकर, चि यशोधर (इजीनियर), रवीन्द्र कुमार एम कॉम तथा आनन्द एम कॉम ने काफी श्रम उठाया है। वे सभी आशीर्वाद के पात्र हैं।

आशा है विज्ञ वर्ग को यह रचना उपयोगी प्रतीत होगी।

दिवाकर सदन
सिवनी (म प्र)

-सुमेरुचन्द्र दिवाकर

विनोबा के प्रणाम

पवनार
२८-१-५८

श्री दिवाकरजी,

'जैन-शासन' देख लिया।

[illegible]

विनोबा के प्रणाम

(स्वर्गीय आचार्यश्री विनोबा भावे द्वारा 'जैनशासन' पर दिया गया अभिमत)

पूर्व संस्करण का प्रकाशकीय

धर्म दिवाकर विद्वत्रत्न पंडित सुमेरुचन्द्र जी दिवाकर जैन को वाड्मय के लब्ध प्रतिष्ठित अधिकारी विद्वान के रूप में मान्यता प्राप्त है। जैन तत्त्वज्ञान की विविध विधाओ पर उन्होंने गहन गम्भीर शोधपूर्ण ग्रन्थो का निर्माण किया है। उनके साहित्य के माध्यम से पाठकों को कल्याणदायिनी जीवन दृष्टि उपलब्ध हुई है। एक यशस्वी साधक साहित्यकार के रूप मे श्रद्धेय दिवाकर जी सरस्वती के मन्दिर में सतत् ग्रन्थ-पुष्प समर्पित करते रहे हैं।

"जैनशासन" श्री दिवाकर जी की सर्वाधिक लोकप्रिय कृतियों मे है। कुछ दिनो से यह ग्रन्थ लगभग अनुपलब्ध सा हो गया था। जबकि प्रबुद्ध क्षेत्र से उसकी माग दोहरायी जाती रही है। अत ग्रन्थ की उपयोगिता और पाठको की माग को लक्ष्य रख "जैनशासन" अपने परिवर्द्धित एव परिशोधित परिवेश मे पुन ज्ञान पिपासुओ के समक्ष प्रस्तुत किया जा रहा है। इसका प्रकाशन श्री भारतवर्षीय दिगम्बर जैन महासभा की साहित्य प्रकाशन योजना के अन्तर्गत किया जा रहा है।

"जैनशासन" के इस नवीन सस्करण हेतु श्री दिवाकर जी ने आवश्यक सशोधन किया है। इसलिए हम उनके प्रति अपनी कृतज्ञता व्यक्त करते हैं। इस ग्रन्थ के पुन प्रकाशन मे दिये गये सहयोग के लिए डॉक्टर सुशीलचन्द जी दिवाकर (प्रोफेसर), एव शासकीय अधिवक्ता श्री अभिनन्दनकुमार जी दिवाकर, एडवोकेट के प्रति भी मैं आभार प्रदर्शन करता हू। महावीर प्रैस के सचालक श्री बाबूलाल जी फल्गुन ने ग्रन्थ मुद्रण में जो रुचि दिखाई है उसके लिए भी आभारी हू।

-राजकुमार सेठी
मत्री-साहित्य प्रकाशन विभाग
श्री भारतवर्षीय दिगम्बर जैन महासभा

प्रकाशकीय

'जैन शासन' प सुमेरुचन्द्र जी दिवाकर की एक प्रतिष्ठित कृति है जो सरल सुबोध भाषा मे जैनधर्म के मर्म से जन-जन को परिचित तो कराती ही है, आम आदमी को इस विश्वास से भी जीने की प्रेरणा देती है कि हर आत्मा अविनाशी-अनन्तशक्ति-समन्वित है जो ज्ञान और आनन्द के सिन्धु से आप्लावित है। चैतन्य-पुज है। आवश्यकता सिर्फ इस बात की है कि अज्ञान/असयम/अविवेक के आवरण को हटा कर आत्मा की अनन्तशक्ति और अनन्त ज्ञान का साक्षात्कार किया जाए। जहाँ विज्ञ लेखक ने आत्मा के बहुआयामी स्वरूप से हमे परिचित कराया है वहाँ धर्म की विभिन्न परिभाषाओ के अभिमन्यन द्वारा सच्च धर्म की सीधी-सच्ची समझ पैदा करने की भी कोशिश की गयी है और यह बताया गया है कि विश्व मे यदि शाति स्थापित करनी है तो उसकी बुनियाद धर्म के सच्चे/पवित्र सिद्धान्तो की पाषाणिक दृढता से परिलक्षित होगी जिससे सर्वोदय/सर्वागीण समृद्धि के साथ सत्य एव न्याय की उपलब्धि भी सभव हो सकेगी और इस धर्म की सप्राप्ति के प्रमुख हेतु के रूप मे आत्म तत्व का महत्वपूर्ण योगदान आध्यात्मिक अवबोध का एक नया मानदण्ड रचता है जो तार्किक आधार पर ईश्वर के कर्ताभाव के सिद्धान्त से परे/प्रतिगामी, प्रकृति की एक विभ्रता और अविनाशी सिद्धान्त के तहत आत्मा द्रव्य के सर्वज्ञ स्वरूप को स्वीकार कर उसे मानव जीवन के चरम लक्ष्य के रूप मे रेखाकित करता है- जीव, पुद्गल, आकाश, काल जैसे द्रव्यो के अस्तित्व के साथ, यदि आत्मजागरण हेतु प्रवृत्त हो तो एक ही त्रिवेणी होती है प्रवाहित, अवगाहन के लिये- सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की। विद्वान लेखक ने सयम को साधना का सर्वोत्तम मानक मानते हुए दिगम्बरी साधना की मीमासा प्रामाणिक रूप से की है और जैनधर्म के दो प्रमुख चिन्तन आयाम अहिसा और अनेकान्त की सारगर्भित विवेचना जैन कर्म सिद्धान्त के सशक्त प्रस्तुतीकरण के साथ की है।

प दिवाकर जी ने प्रस्तुत पुस्तक, एक आस्तिक श्रावक के चित्र को मानस पटल पर रख कर रची है। इस कारण उन्होने श्रावक की चर्या पर भी पैनी नजरे रखी है। स्वाध्याय हेतु आवश्यक ग्रन्थो का सरल परिचय, तीर्थों की यात्रा के सुयोगो का महत्व, जैन इतिहास के प्रेरक प्रसग आदि विषयो का सस्पर्श कर इस कृति की रोचकता को भी लेखक ने वृद्धिगत किया है।

जैनशासन का प्रकाशन **परमपूज्य उपाध्याय 108 श्री ज्ञान सागर जी महाराज** की मगल प्रेरणा से सभव हो सका है। पूज्य उपाध्याय श्री की अभिरुचि जैन वाड्मय के प्रकाशन मे रही है तथा उनकी हार्दिक इच्छा है कि स्वाध्याय की परम्परा सतत् पुष्पित और पल्लवित होती रहे। इस प्रसग मे पूज्य श्री ने जैन परम्परा के सुधी आराधको/सारस्वतपुत्रो की कालजयी कृतियो का प्रकाशन करने के हमारे प्रयासो को आशीर्वाद दिया है, और उन्हे अनुपलब्ध होने से बचाने का गुरुत्तर कार्य किया है। इस शृखला मे शताधिक कृतियो का प्रकाशन अब तक किया जा चुका है। पूज्य उपाध्याय श्री का विद्यानुराग पूरी भारतीय सस्कृति का वह गौरवशाली प्रसग है जो स्तुत्य है क्योकि जहाँ सास्कृतिक सदूषण की दुरभि-सन्धि पर जब आज सम्पूर्ण विश्व मूल्यो के विघटन की कहानी लिखने मे तल्लीन है वही इस निर्ग्रन्थ, निरामय दिगम्बर सन्त की शान्त पर अत्यन्त स्थिर मुद्रा और मजबूती भरा कदम, आने वाली पीढी को दिया गया वह पाथेय है जो काल के किसी भी खण्ड मे अपनी आभा को चतुर्दिक विस्तीर्ण करने मे पूरी तरह सक्षम है। पूज्य श्री एक प्रयोग धर्मी आचारनिष्ठ साधक है जो सकल समाज को सस्कारित करने एव सूत्रबद्ध करने के अधुनातन प्रयोगो मे अकेले ही सम्बद्ध है, चाहे वे झारखण्ड, उडीसा और पश्चिम बगाल के सराक भाइयो को प्रतिबोध देते हो, या जैन चिकित्सको को उनके सम्मेलनो मे अहिसक जीवन शैली के माध्यम से रोगियो को उपचारित करने की प्रेरणा देते हो, या जिनवाणी आराधको को सम्मानित कराने की प्रेरणा को आशीर्वाद दे उनके अवदानो को अपना सम्बल देते हो या समाज के हर वर्ग के बीच जाकर सम्यग्दर्शन की वात्सल्यजन्य व्याख्या उनकी उस शब्दावली मे और उनके व्याकरण के साथ करने के प्रयोग करते हो, उनका केन्द्रतत्व एक सभ्य और शालीन समाज को निर्मित करना रहा

है- एक ऐसा समाज जहाँ अहिसा का फलसफा जन-जन का बोध बने और जहाँ सघर्षो का निराकरण अनेकान्त की भाषा से हो; जहाँ विपरीत वृत्तियो मे माध्यस्थ भाव रखते हुए सत्वेषु मैत्री का चतुर्दिक सार सभव हो सके, पूरी मजबूती के साथ, स्थिरता के साथ-बिना किसी उहापोह के/सशय के/ हमारी यही प्रार्थना है कि पूज्य श्री अपने आशीर्वाद से हमे सदा सदैव अभिसिंचित करते रहे ताकि हम जिनवाणी के प्रचार प्रसार के एक छोटे से निमित्त का पुण्यार्जन कर सके। पूज्य श्री के पावन पाद-पुञ्जो मे पुन पुन प्रणति अर्पित करते हुए सुधी जनो के कर-कमलो मे पुण्यार्जक श्रीमती दर्शन देवी जैन धर्मपत्नी स्व० श्री कैलाशचन्द जैन - विकास पेपर दिल्ली के सहयोग से प्रकाशित यह कृति सविनय समर्पित कर हम अत्यन्त आभार व्यक्त करते है, सस्था के कोषाध्यक्ष मनीष जैन एव श्री मनोहरलाल जैन (दीप प्रिन्टर्स), दिल्ली जिनके प्रयत्न से यह पुस्तक तैयार की गई उनका भी हृदय से आभार व्यक्त करते है। श्री अभिनदन कु जी दिवाकर (शिवनी), श्रीमती अल्पना जैन ग्वालियर (म प्र), श्री ज के जैन कृष्णानगर (दिल्ली) जिन्होने इस पुस्तक की अल्प समय मे प्रुफ रीडिग का कार्य करके हमे जो सहयोग दिया है उनका भी हम हृदय स आभार करते है।

मत्री
रविन्द्र जैन (नावले वाले)
प्राच्य श्रमण भारती

समर्पण

उन तत्व जिज्ञासुओं को

जो सदैव तत्वचिन्तन मे निमग्न रहते हैं,
सत्य और अहिंसा ही जिनकी साधना के
ओर-छोर हैं,
दुराग्रह तथा एकागी विचारों से चित्त
को दूषित न कर जो समत्व और
समन्वय के मार्ग अपनाये हुए हैं,
तथ्य को परखते समय विश्‌व के विराट् स्वरूप
को विविध दृष्टिभंगियों से देखने का
जिन्हें अभ्यास हैं—

सुमेरूचन्द्र दिवाकर

FOREWORD

It is with great pleasure that I accepted the kind invitation of the learned author of this book to write a foreword This book was first published in 1947 That it should have passed to the second edition in the course of three years, is itself a tribute to the learned author and an incontestable testimony to its wide appeal

We are living in an age in which religion has lost its hold on the human mind With the rapid advance of science and technology, faith has been displaced by what is styled reason which is, in fact, identified with the intellect It is taken for granted that the law of Cause and Effect which unmistakably operates in the material world, operates as universally and effectively in the sphere of the mind on the theory that mind is the product of organised matter No wonder that our ethics have become utilitarian, and our psychology behaviouristic With the aid of science, we are daily piling up means on means for satisfying our physical wants and cravings without any idea of the ends of human existence

What is matter? To answer in the epigrammatic form of Bertrand Russel, "matter is a convenient formula for describing what happens where it is not" This is pure and simple Nastikvad On such a philosophy, there would be no room for the problems of the meaning and value of life, apart from the immediate purpose of gratifying the bodily appetitism, accumulation of wealth and conquest of power To speak in terms of Chaturvidha Purusharth as conceived by our ancient system, Artha and Kama are now our masters and Dharma, with its

link with the unseen broken, stands identified with the positive law, and Moksha is cast to the winds

In such a state of human consciousness, has this book any contribution to make towards the moulding of thought to-day? The answer would be-Yes, if philosophy means, as it did in ancient times, a Way of Life That is as true of the Jain as of the Vedantic or Buddhistic philosophies Their fundamental concepts were these–Man is mind, the real nature of mind is rational, reason is essentially ethical

On these premises, they inculcated training of the mind as prerequisite to the life of reason They conceived progress in terms of perfection of the inner man

What is the idea of Progress in the modern world? As Toynbee has said, it means advance in intellectual efficiency and the technic of research which helps the process of the improvement of the breed of man and the acquisition of the command on the blind forces of nature This conception of progress has brought mankind to a stage where Competition and Struggle rule the day, with war and carnage looming ahead

What is the remedy? The remedy may perhaps be found on a review of the chart of life as conceived by man from time to time

From the dawn of civilisation, there have been two points of view on the problem of human existence–one was purely terrestrial (this-worldly) as propounded by Brihaspati and Charvak–the forerunners of the modern materialism, and the other was purely transcendental (other-worldly) as taught by all the great religions of the world-with their emphasis on God, Heaven and Hell The first is based on the denial of the soul in man, and

therefore the end of human existence is not the spiritual development of individual man but the corporate development of the human society as a whole It places man on the same footing as the gregarious insects like bees and ants, ignoring the vital fact that man is endowed with self-consciousness which creates the sense of personality The individual thus ceases to be a moral being gifted with a will of his own by becoming a servile instrument in the hands of interested and ambitious political authority in an artificial institution called the state His Dharma is then the man-made law which is sustained by the policeman round the corner, and his only incentive is the fear of punishment in this world His world is thus a world of fact shorn of all values that exalt and ennoble man in the animal kingdom

On the other hand, the established religions of the world extol life in the next world and denounce this world as ephemeral and illusory They accordingly preach obedience to the will of God so that man may enjoy an honoured seat in heaven to sing eternally the paeans of praise of the Lord, his creator But here also the fear of punishment in the hell is the incentive to the acts, which are but ritualistic, and are, by themselves, not supposed to be sufficient to win His Grace

According to both these modes of thought, the individual must need be governed by an external authority and forced to obedience by the fear of corporal punishment This is founded obviously on the principle that the law of Cause and Effect which regulates the blind forces of nature and the physical life of man, applies equally to the human mind

There is, however, a third view which regards the individual as a fully self-conscious and self-determined

human being, who after attaining the human form of organism through a long course of evolution, has to realise, by his own efforts, his perfection This view was propounded by the Jain thinkers from time immemorial According to them, man is neither wholly spiritual nor wholly material but a compound of both, and that his progress was to rise from the bondage imposed by the law of Cause and Effect to the state of full freedom On this view, man is free to determine his own course of life, and is himself responsible for the consequences of his acts

The primitive motive of action is the desire for gratification of the carnal passions for wealth and power It is these motives which prompt him to aggressive and harmful actions, i e Hinsa The Jain teachers were the first and foremost in the history of human thought to propound the principle of Ahinsa That teaching is much misunderstood Essentially it signifies control of the primary passions (Raga, Dwesha, etc) as the learned author explains in this book That teaching apparently originated as a protest against the Vedic institution of animal sacrifice In broad terms, the protest meant "Thou shalt not build thy happiness on the misery of another " This was the first voice of reason raised against what is now termed exploitation In the Vedic literature both the lines of thought are presented in such passages as "Ma Hinsyat Sarva Bhutani", and "Sarva Medhe Sarvam Hanyat" The exponents of Ahinsa were the pioneers in the line of thought which culminated in the Atmavidya, the School which propounds self-realisation as superior to the attainment of Swarga, viz plenitude of happiness

The most prominent teaching of Jainism is the Moksha-marga, otherwise known as Ratna-Traya Three

jewels are Right Belief, Right Knowledge, and Right Conduct (Samyak Darshan, Jnan, Charitrani Moksha Margah) Not any of the three in isolation, but all of them combined are declared to be essential for Perfection In plain language, it emphasises harmony and coordination between Heart, Head and Hand The modern man with his undue stress on the intellect ignores the first element of this Triad, viz Right Belief

What is Right Belief? Belief appears when the intellect fails to function The central problem of man is "Who am I?" The primary condition for the functioning of the intellect is the dichotomy of I and not-I The intellect identifies the I with the body and since one body is different from another, one body's I must be different from another body's I It finds in the Ego the unity of the universe, but experience proves that the unity is faced by other unities It is Ekam Sadwitiyam, not Ekamewa Adwitiyam, which stands for that unity which absorbs all diverse unities within itself, that is real I, the Universal I Being transcendental, it cannot be an object of cognition, its presence in consciousness can be experienced only in ethical life That really constitutes the foundation of virtues such as benevolence, sympathy, charity and compassion, which have their seat in the Heart Hence the universal I, the Atma, is regarded as residing in the Heart Samyak Darshan means that the "I felt in the heart, and not that functioning in the Head is the real I " The action backed and permeated by this feeling embodies the moral values, which elevate the individual The same idea underlies the description of the Vigyan Purush occurring in the Brahmanand Valli of the Taittiriya Upanishad in these words "Tasya Shradhavia Shirah, Ritam Daxina Pakshah, Satyam Uttarah Pakshah, Yoga Atma, Mahah

Puchham Pratishta " The Ratna Traya of the Jain thinkers is the true path towards liberty and justice, and not the power politics which masquerades in the world today under the label of Secular Religion such as Democracy or Communism

The right way to look at the problem of human existence is that indicated by Jeeva, Ajeeva, Ashrva, Bandha, Samvara, Nirjara, and Moksha The Jeeva is the speck of consciousness which embarks on the voyage of life in the frail boat of body on this vast and illimitable ocean of Nascience Egoism, selfishness, will to live and will to power are caused by the influx of the inert matter of Nascience into the consciousness through the apertures of the senses The striving of the sailor ought, therefore, to be, to clear the boat, of all this influx, and save it from drowning This is the discipline meant to train the individual mind and is different from the trend of the modern social thought which ignores the individual in seeking to build up a new social order

It is a tribute to the Jain thinkers that they never claimed monopoly of truth of their own teachings, under the guise of revelation They, thereby, kept away the evils of dogmatism and fanaticism which are responsible for the sharp conflicts and bloodsheds, which disfigure the history of man The Anekanta Vada or the Syad-Vada stands unique in the world's thought It is criticised as being self-contradictory and vague It can be understood if one recognises that the reality eludes the grasp of the blind human understanding which gropes for the truth in the dark chamber of the intellect The intellect builds up a system of logical thought and tries to embody it in an institution which really turns out to be the grave of the truth The remains of the truth are

Dogmas, which become the objects of worship, giving rise to Priest-craft and intolerance Nor is the case different with the secular religions of today There the State-craft takes the place of the Priest-craft and flourishes on propaganda The philosophy of Anekanta Vada is true to experience in this world of changing identities and innumerable relations If followed in practice, it will spell the end of all the warring beliefs and bring harmony and peace to mankind

The Jain thought is of high antiquity The myth of its being an off-shoot of Hinduism or Buddhism has now been exploded by recent historical research Germinating in the protest against animal sacrifices, it influenced the warrior class as represented by Janaka, Mahavira and Buddha It denounced all forms of ritualistic and external forms of worship and commended the path of introspection and self–realisation That way lies the hope even today of creating the Ethical man, the good man as conceived by Aristotle, who can be relied upon to be a good citizen as well The principle of Samyak Darshan and Syad-Vada will go a long way in the solution of the complex problems created by the Industrial system Social peace is universally desired and that has to be attained by peaceful methods such as discussion, negotiation and compromise, eschewing all recourse to force and violence Today there is the profession of the desire for peace in plenty, nevertheless the clouds of bloody revolution and war are hanging heavy over us That is because of absence of the Belief in the all-inclusive I (Samyak Darshan) It is the irrational concept of the Exclusive-I which has resulted in the concentration of wealth and the sweets of life in the hands of the few, and that irrationality is the evil cause of the unsocial

behaviour Action proceeding from the Belief in the Inclusive-I would alone be rational and is calculated to promote social justice and establish harmony and peace for the obvious reason that the society is founded on reason Syad-Vada stands for Toleration and Forbearance for it assumes that the "other fellow" has also something to say

The teachings of Jainism will be found on analysis to be as modern as they are ancient They are not sectarian, as they lie in some form or another as the basis of all the great religions of the world which have influenced the destiny of man

I warmly congratulate the learned author for having concieved the idea of presenting the lofty thought of Jainism in the major language of the country and executing it with marked success While it will illumine the minds of all, it will serve as a clarion call particularly to the Jain community, which holds a dominant position in the social order as it is taking shape today, to be true to the teaching of their own master-minds

18th May, 1950
Amba Vihar
Nagpur

(Dr Sir) M B Niyogi
(M A , LL M LL D)
Ex–Vice-Chancellor, Nagpur
University and Chief Justice
Nagpur High Court

भूमिका

(हिन्दी अनुवाद)

मैने इस पुस्तक के विद्वान लेखक के भूमिका लिखने के स्नेहपूर्ण आमत्रण का बडी प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार किया। यह पुस्तक सन् 1947 मे प्रथम बार प्रकाशित हुई थी। उसका तीन वर्ष मे ही द्वितीय सस्करण मुद्रित होना विद्वान् लेखक की योग्यता तथा रचना के व्यापक आकर्षण का स्पष्ट प्रमाण है।

हम एस युग मे है, जिसमे मानव अत.करण पर धर्म का आकर्षण शिथिल हो गया है। विज्ञान तथा शिल्पकला क द्रुत विकास के कारण धर्म का स्थान उस तर्क ने ल लिया है, जो वस्तुत विचार शक्ति का पर्यायवाची है। एसा माना जाता है कि कार्य कारण का नियम, जो भौतिक जगत् मे अव्याहत गति स प्रवृत्ति करता ह, वह उसी सामर्थ्य और व्यापक्तापूर्वक मानमिक क्षेत्र मे भी चग्तिार्थ हाता है, इसका कारण यह सिद्धान्त है कि मन व्यवस्थित जड पदार्थ जन्य है। यह कोई आश्चर्य की बात नही है कि, हमारा नीति शास्त्र उपयोगितावादी और मनोविज्ञान व्यवहारवादी (Behaviouristic) बन गया है। विज्ञान की सहायता स हम अपनी आधिभौतिक आवश्यकताओ और आकाक्षाओ की पूर्ति निमित्त मनुष्य जीवन क ध्यय पर तनिक भी ध्यान न देकर निरतर साधन पर साधन सचित करने मे सलग्न है।

पदार्थ क्या है? श्री बर्ट्रेड रशेल (Bertrand Russel) के सक्षिप्त व्यग्यात्मक शब्दो मे अपनी अभावात्मक अवस्था मे जो होता है, उसे समझाने का सुलभ सूत्र पदार्थ (Matter) है। यह तो शुद्ध और स्पष्ट नास्तिकवाद है। ऐसे दर्शन मे अपनी शारीरिक आवश्यकताओ की शीघ्र पूर्ति, धनसचय एव शक्ति-अर्जन के अतिरिक्त जीवन के ध्येय और मूल्य की समस्या के लिए कोई भी स्थान न होगा। अपने पुरातन तत्त्वज्ञो द्वारा मान्य चतुर्विध-पुरूषार्थ मे से अर्थ और काम तो हमारे प्रभु बन गए है, और धर्म अदृष्ट से विच्छिन्न सबध हो स्थायी नियम

(Positive Law) हो गया है, तथा मोक्ष का अस्तित्व लुप्त प्राय· हो गया है।

मानव चेतना की ऐसी स्थिति मे क्या यह पुस्तक आधुनिक विचार शैली को सुधारने के लिए कोई मार्ग प्रस्तुत कर सकती है? यदि दर्शन का अर्थ प्राचीनकाल के सदृश जीवन पथ की ओर प्रवृत्ति करना (Way of life) है, तो इसका उत्तर "हा" ही होगा। बौद्ध और वेदात दर्शन के समान जैनदर्शन के विषय मे भी यह बात सत्य चरितार्थ होती है। इन दर्शनो क मौलिक सिद्धात थे कि मनुष्य ही मन है और उसका वास्तविक स्वरूप विचारकता है जो मुख्यतया नैतिक है। इसी भूमिका पर उन्होने विचारपूर्ण जीवन के लिए मानसिक शिक्षण की प्राथमिक आवश्यकता बतलाई है। उन्होने अतर्मानव की पूर्णता म ही उन्नति का स्वरूप माना है।

इस युग मे उन्नति का क्या अर्थ है? टाइनबी (Toynbee) के शब्दो मे बौद्धिक दक्षता एव शोधन विधि का विकास, जो मानव सृजन पद्धति तथा प्रकृति की प्रसुप्त शक्तिया पर अधिकार प्राप्ति मे सहायता दता हे उन्नति है। उन्नति की इस कल्पना ने मनुष्य जाति को उस श्रणी पर पहुचा दिया हे, जहा युद्ध एव जीव-वध समन्वित प्रतिस्पर्धा और द्वन्द की प्रधानता है।

इस स्थिति क निवारण का क्या उपाय हे? सभवत समय समय पर मनुष्य द्वारा किए गए जीवन-चित्रण क गभीर निरीक्षण स इसके प्रतिकार का उपाय प्राप्त हा सकता है।

सभ्यता क उषाकाल स ही मानव-अस्तित्व की समस्या के सबध मे विविध-प्रकार की पद्धतिया विद्यमान रही है, जिनमे एक तो आधुनिक भौतिकवाद क जनक बृहस्पति और चार्वाक द्वारा प्रस्थापित पूर्णतया एहिक हे और दूसरी पूर्णतया पारलौकिक हे, जिसका उपदेश विश्व के सभी प्रमुख धर्मो न दिया है, जा ईश्वर-स्वर्ग तथा नरक पर जोर देते है। आद्य दृष्टि मनुष्य मे आत्मा के अभाव पर अवस्थित है, इसलिए मानव अस्तित्व का लक्ष्य व्यक्तिगत आत्मा का विकास न होकर समस्त मानव समाज का सामूहिक अभ्युदय है। यह मनुष्य क पदको यूथचारी चीटियो एव मक्षिकाओ के सदृश आकता है और इस

तत्व को विस्मृत कर देता है कि मानव ऐसे आत्मबोध सपन्न हैं, जिसके द्वारा व्यक्तित्व की भावना का निर्माण होता है। इस प्रकार व्यक्ति अपनी इच्छा-शक्ति समन्वित कर नैतिक-प्राणी नही रह पाता, किंतु वह राज्य नामधारी कृत्रिम महत्वाकाक्षा और स्वार्थी राजनैतिक शक्ति का दास बन जाता है। तब मनुष्य निर्मित नियम ही उसका धर्म बन जाता है, जिसका सरक्षण पुलिस शक्ति द्वारा होता है और जिसकी परिपालना मे प्रेरक इस जगत् मे प्रदान की जानेवाली शक्ति दड की भाँति ही है। इस प्रकार उसका ससार, प्राणिमात्र मे मनुष्य को समुन्नत और पवित्र बनाने वाले सकल सद्‌गुणो से शून्य बन जाता है।

इसके विपरीत विश्व के प्रमुख धर्म पुनर्जन्म मे विश्वास करते है और ससार को विनाशी तथा मायावी मानते हैं। अत. ये ईश्वर की इच्छापूर्ति का उपदेश देते है, जिससे मनुष्य स्वर्ग मे महत्वपूर्ण स्थान को पाकर अपने जनक परमात्मा का निरतर गुणगान करता रहे। इस प्रसग मे भी नारकीय व्यथा की भीति उन कार्यो की ओर प्रेरित करती है, जो पूर्णतया बाह्य आडम्बर युक्त है। और जो स्वय ईश्वरीय-प्रसाद प्राप्ति मे पर्याप्त साधन नही समझे जाते।

इन दानो विचार धाराओ के अनुसार व्यक्ति पर किसी न किसी बाह्य शक्ति का शासन तथा शारीरिक-दड प्राप्ति की भीतिवश बलात् आज्ञापालन आवश्यक बन जाते है। यह स्पष्टतया इस सिद्धात पर अवस्थित है कि कार्यकारण भाव का यह नियम, जा प्रकृति की प्रसुप्त शक्तियो तथा मनुष्य के बाह्य जीवन का परिचालित करता है, मानव-मन पर भी उसी प्रकार लागू होता है।

एक तीसरी दृष्टि और है जो व्यक्ति को पूर्णतया आत्मबोध युक्त तथा स्व-सहाय (Self-determined) जीवधारी मानती है, जिसने विकास के लबे मार्ग को तय करते हुए नर देह को प्राप्त किया है और जिसको अपने प्रयत्नो के द्वारा अपनी पूर्णता को प्राप्त करना है। यह दृष्टि अतीव प्राचीनकाल से जैन आचार्यों द्वारा प्रस्तुत की गई थी। उनके सिद्धातानुसार मनुष्य न तो पूर्णतया आध्यात्मिक है और न जड ही, किन्तु उन दोनो का सयोग (Compound) है। और उसकी उन्नति, कार्य कारण के नियम द्वारा लादे गए बधन से उन्मुक्त हो, पूर्ण स्वातत्र्य

की उपलब्धि रही है। इस दृष्टि से वह अपना जीवन-मार्ग निर्धारण करने मे स्वतत्र है तथा वह स्वय अपने अपने कार्यों के फल भोगने का उत्तरदायी भी है।

मनुष्य के द्वारा किये जाने वाले किसी भी कार्य का प्रारंभिक ध्येय धन और शक्ति सबधी सासारिक वासनाओ की पूर्ति है, जो उसे आक्रमणात्मक तथा हानिप्रद कार्यों अर्थात् हिसा की ओर प्रेरित करते है। मानव चितन के इतिहास मे जैनाचार्यो ने अहिसा के सिद्धात पर सर्वप्रथम प्रकाश डाला। वास्तव मे अहिसा को लोगो ने ठीक प्रकार से समझा ही नही है। जैसाकि विद्वान् लेखक ने इस पुस्तक मे समझाया है अहिसा का भाव राग-द्वेष आदि प्रमुख दुर्भावो पर विजय प्राप्त करना है। प्रथम दृष्टया ऐसा दिखता है कि यह उपदेश वैदिकी जीव-बलि क प्रतिवाद मे दिया गया। व्यापक रूप मे देखे तो उस विरोध का अभिप्राय यह है, "तू दूसरो के उत्पीडन पर अपने सुख का निर्माण न कर।" (Thou shalt not build thy happiness on the misery of another) आज जिसे शोषण नीति (Exploitation) क नाम स कहत है उसके विरोध मे यह सर्वप्रथम तर्कपूर्ण उद्घोष था। वैदिक साहित्य म उभय प्रकार की विचारधाराए इस प्रकार के वाक्या मे- "मा हिंस्यात् सर्वभूतानि" "सर्व मेधे सर्व हन्यात्"-पाई जाती है। अहिसा क प्रवर्तक उस विचारधारा के प्रमुख नेता थ, जिसकी पूर्णता आत्म-विद्या म हे, जो आनदप्रचुर स्वर्ग की उपलब्धि की अपक्षा आत्मत्व की प्राप्ति का श्रेष्ठ बताती थी।

जैन धर्म की प्रमुख शिक्षा, रत्नत्रय रूप मे प्रख्यात् मुक्ति का मार्ग है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का रत्नत्रय कहते है-"सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्ष मार्ग " पूर्णताकी उपलब्धि क लिए इन तीनो के पार्थक्य के बदले इस त्रयी की सयुक्त अवस्था आवश्यक है। सरल शब्दो मे कहा जा सकता है कि यहा हृदय, मस्तिष्क और कृत्य के ऐक्य और सहयोग पर जोर दिया गया है। आधुनिक मानव, बुद्धि को अनावश्यक महत्त्व देता हुआ इस त्रयी के प्रथम तत्त्व सम्यक्दर्शन (Right belief) को विस्मृत करता है।

सम्यग्दर्शन है क्या? जब बुद्धि निष्क्रिय हो जाती है, तब श्रद्धा का उदय होता है। मानव की प्रमुख समस्या है "मै कौन हूँ?" ज्ञान की

क्रियाशीलता की प्राथमिक आवश्यकता आत्मा तथा अनात्मा का विश्लेषण करना है। बुद्धि आत्मा को शरीर के रूप मे जानती है और यत· एक शरीर दूसरे से भिन्न है, तत एक शरीरस्थ आत्मा दूसरे शरीरस्थ आत्मा से पृथक् होनी चाहिये। "वह स्व मे विश्वैक्य का दर्शन करता है, किंतु अनुभव प्रमाणित करता है, कि इस ऐक्य का सपर्क अन्य एकताओ के साथ है। वह "एक सद्वितीय" है। "एकमेव अद्वितीय" नही। वह इस प्रकार का ऐक्य है जिसमे विभिन्न ऐक्य विलीन हो जाते है और वही वास्तविक आत्मा है। यह आत्मा इद्रियातीत होने से दृश्य नही है। चैतन्य मे उसकी अवस्थिति की अनुभूति, केवल नैतिक जीवन मे प्राप्त होती है इस नैतिक जीवन की आधार भूमि परोपकार, सहानूभूति, दान तथा करूणा सदृश सद्वृत्तिया है, जो अत करण मे अवस्थित रहती हैं। इसीलिये आत्मा को हृदयस्थ माना है। सम्यग्दर्शन का भाव यह है कि हृदय द्वारा अनुभूत आत्मा ही वास्तविक है, न कि मस्तिष्कगत क्रिया का विषय। इस भावना सहित एव अनुप्रमाणित कार्यो मे उन नैतिक विशेषताओ का समावेश है, जिनसे व्यक्तित्व उन्नत बनता है। तैत्तिरीय उपनिषद् के 'ब्रम्हानदवल्ली' मे जो विज्ञान पुरूष का वर्णन है उसमे यही भाव है। उसे इन शब्दा द्वारा व्यक्त किया गया है,-"तस्य श्रद्धैव शिर , ऋत दक्षिणपक्ष , सत्यम् उत्तर पक्ष , योग आत्मा, मह. पुच्छम् प्रतिष्ठा"। जैन आचार्यो द्वारा प्रतिपादित रत्नत्रय, न्याय और स्वतत्रता का वास्तविक मार्ग है, न कि राजनैतिक सत्ता, जो प्रजातत्र अथवा साम्यवाद सदृश्य लौकिक धर्म के नाम पर आधुनिक जगत् मे प्रचार पा रही है।

मानव जीवन की समस्या का सम्यक् अवबोध जीव, अजीव, आस्रव, बध, सवर, निर्जरा तथा मोक्ष द्वारा होता है। चैतन्यपुञ्ज जीव शरीररूपी जर्जर पोत द्वारा अज्ञान के विशाल तथा अपार महासागर मे अपनी जीवनयात्रा करता है। इंद्रियो के द्वार से आत्मा मे अहकार, स्वार्थ, जीवनाकाक्षा एव सत्ता की लालसा के कारण निष्क्रिय (Inert) ज्ञानहीन द्रव्यका आस्रव होता है। अत नाविक का यह प्रयत्न होना चाहिये कि इस सम्पूर्ण आस्रव से नौका को बचाते हुए उसकी डूबने से रक्षा करे। प्रत्येक व्यक्ति को इसी अनुशासन को सीखने की आवश्यकता है यह आधुनिक सामाजिक विचारधारा से भिन्न है, जो नवीन समाज व्यवस्था के निर्माण मे व्यक्ति को विस्मृत करता है।

जैनाचार्यो की यह वृत्ति अभिवन्दनीय है कि उन्होने ईश्वरीय आलोक (Revelation) के नाम पर अपने उपदेशो मे ही सत्य का एकाधिकार नही बताया। इसके फलस्वरूप उन्होने साम्प्रदायिकता और धर्मान्धता के दुर्गणो को दूर कर दिया, जिनके कारण मानव-इतिहास भयकर द्वद और रक्तपात के द्वारा कलकित हुआ है। अनेकातवाद अथवा स्याद्‌वाद विश्व के दर्शनो मे अद्वितीय है। इसकी आलोचना अस्पष्ट और परस्पर विरोधी कहकर की जाती है। स्याद्वाद उस समय ठीक तरह से समझ मे आ सकता है, जब कोई इस बात को जान ले कि वास्तविकता मानवीय अज्ञानपूर्ण दृष्टि के परे है, जो सत्य को बुद्धि के अन्धकारपूर्ण कमरे म ढूँढता फिरता है। बुद्धि तर्कसगत विचारपद्धति को बनाती है और उसे एसा रूप देती है, जो यथार्थ मे सत्य की चिता (Grave) प्रमाणित हाती है। सत्य तो नष्ट हो जाता है और मतो, मान्यताओ के रूप मे उसक अवशेष रह जाते है जिनक द्वारा पुरोहिती-प्रपच और असहिष्णुता उत्पन्न होते है। आज क लौकिक-धर्मो (Secular religions) की इससे भिन्न स्थिति नही है, कारण यहा पुरोहिती-प्रपच क स्थान पर शासकीय-प्रपच आ जाता है ओर वह प्रोपेगेडा- प्रचार द्वारा ही पनपता है। अनुभव की कासौटी पर देखे ता इस परिवर्तनशील ध्रौव्यतायुक्त तथा असख्य सम्बन्धो वाल विश्व मे अनकातवाद ही सत्य उतरता है। यदि इसका व्यवहार मे उपयोग किया जाय, तो उसस परस्पर विरोधी विश्वासो की समाप्ति हा जायगी तथा मानव जाति का शाति और समता की उपलब्धि हागी।

जैन दर्शन अत्यन्त प्राचीन है। आधुनिक एतिहासिक अनुसधान ने जैन धर्म के हिन्दू या बौद्ध धर्म की शाखा हान की कल्पना का मूलोच्छेद किया हे जीव-बलिदान के विरोध मे प्रवर्धन पाकर उसने क्षत्रियवर्ग-जिसका प्रतिनिधित्व जनक, महावीर और बुद्ध करत है-पर प्रभाव डाला। वह सभी प्रकार के क्रियाकाडो और पूजा के बाह्य आडम्बरो का विरोध करता है और अन्तर्दर्शन तथा आत्मोपलब्धि के मार्ग की प्रशसा करता है। इस प्रकार आज भी 'अरस्तू' द्वारा कल्पित "नैतिक मनुष्य" (Ethical man) निर्माण की आशा की जा सकती है और उसके सुयोग्य नागरिक बनने का भी विश्वास किया जा सकता है। सम्यग्दर्शन और स्याद्वाद के सिद्धात औद्योगिक-पद्धति द्वारा प्रस्तुत की

गई जटिल समस्याओ को सुलझाने मे अत्याधिक कार्यकारी होगे। सामाजिक शाति की, सारा विश्व, आकाक्षा करता है जो विचार-विनिमय, चर्चा-वार्ता तथा समझौता सदृश शात उपायो द्वारा प्राप्य है। एतदर्थ सभी हिसा और बल-प्रयोग का अवलम्बन त्यागना होगा। आज बहुजन के लिए शाति की आकाक्षा का एक धधा सा बन गया है। फिर भी रक्तरजित क्राति और युद्ध के मेघ हम पर मडरा रहे हैं। इसका कारण सम्यग्दर्शन मे विश्वास का अभाव है। यह विवेकशून्य बहिरात्मता के ही कारण है, जिसने कुछ व्यक्तियो के हाथो मे धन एव सुविधा के साधनो को कन्द्रित कर दिया है और यही विवेक शून्यता असामाजिक व्यवहार का दुष्कारण है। मम्यग्दर्शन मे श्रद्धा के द्वारा उत्पन्न होने वाला कार्य ही केवल युक्तिपूर्ण हागा। वह ही सामाजिक न्याय को उत्पन्न करगा तथा शान्ति और समता लावेगा, क्योकि यह स्पष्ट ही है कि समाज विवेक की नीव पर टिका है। स्याद्वाद् सहिष्णुता और क्षमा का प्रतीक है, कारण है कि वह यह मानता हैं कि दूसर "व्यक्ति को" भी कुछ कहना है।

विश्लेषण करन पर जैन धर्म क उपदेश उतने ही आधुनिक ज्ञात होग, जितने कि वे प्राचीन है। वे साम्प्रदायिकतापूर्ण नही है, क्योकि व किसी न किसी रूप मे विश्व क उन सभी महान धर्मो के आधारभूत हैं, जिन्होन मनुष्य के प्रारब्ध का प्रभावित किया है।

मै विद्वान् लेखक का जैन धर्म क उज्ज्वल विचारो को देश के बहुजन वर्ग की भाषा मे प्रस्तुत करन की मनोवृत्ति तथा उसे उल्लेखनीय सफलता पूर्वक सपन्न करने के कारण, हार्दिक अभिनन्दन करता हू। वह प्रस्तुत कृति जहॉ जनमानस का आलोकित करेगी वही विशेषकर जन ममुदाय, जा वर्तमान समाज व्यवस्था मे महत्वपूर्ण स्थान रखता है क लिय आवाहन का कार्य करेगी कि वे अपने महान् आचार्यो के उपदेशो के अनुकूल आचरण करे।

18 मई सन् 1950
अम्बा बिहार
नागपुर

(डॉ,सर) एम बी नियोगी
(एम ए , एलएल एम एलएल डी)
(पूर्व प्रमुख न्यायाधीश नागपुर हाईकोर्ट
एव पूर्व कुलपति, नागपुर विश्वविद्यालय)

प्राक्कथन

भारतवासियो के अन्त करण मे धर्म तत्व के प्रति बहुत अधिक आदर भाव विद्यमान है। सामान्यतया धर्मो पर दृष्टिपात करे, तो उनमे कहीं-कही इतनी विविधता और विचित्रता का दर्शन होता है कि वैज्ञानिक दृष्टि विशिष्ट व्यक्ति क अन्त करण म धर्म के प्रति अनास्था का भाव जागृत हो जाता है। काई कोई सिद्धात अपने को ही मत्य की साक्षात् मूर्ति मानकर यह कहते है तुम हमारे मार्ग पर विश्वास करो, तुम्हारा बेडा पार हो जायगा। कार्य तुम्हारा कुछ भी हो केवल विश्वास के कारण परमात्मा तुम्हारे अपराध को क्षमा करगा, और अपनी विशेष कृपा क द्वारा तुम्हे कृतार्थ करगा। इस सम्बन्ध मे तर्क की तर्जनी उठाना महान् पाप माना जाता हे। ऐसी धार्मिक पद्धति का विचारक व्यक्ति अन्तिम नमस्कार करता है ओर हृदय मे सोचता है कि यदि धर्म मे सत्य की सत्ता विद्यमान है, तो उस अग्नि परीक्षा से भय क्या लगता हे?

कई लोग धर्म का अत्यन्त गभीर सूक्ष्म बता सकत है कि धर्म का समझना 'टेढी खीर' है। जिस व्यक्ति क पास विवक चक्षु विद्यमान है, वह टेढी खीर की बात को स्वीकार नही कर सकता। वह तो अनुभव करता है, कि धर्म टढा या वक्र नही है। हृदय और जीवन की वक्रता या कुटिलता का दूर कर सरलता को प्रतिष्ठित करना धर्म का प्रथम कर्त्तव्य है। इस युग का जीवन इतना कृत्रिम, कुटिल तथा थोथा हा गया है कि उसके प्रभाव स नीति लाकव्यवहार, धर्माचरण आदि सब मे कृत्रिमता का अधिक अधिवास हा गया है।

अनुभव और विवक के प्रकाश म यथार्थ धर्म का अन्वेषण किया जाए, ता विदित होगा कि आत्मा की असलियत, स्वभाव , प्रकृति अथवा अकृत्रिम अवस्था को ही धर्म कहत है, अथवा कहना चाहिय। हम कहते है, "आपस मे लडना, झगडना कुत्तो का स्वभाव है, मनुष्य का धर्म नही है।" इससे स्पष्ट होता है कि धर्म 'स्वभाव' का द्योतित करता है। विकृति, कृत्रिमता, विभाव को अधर्म कहत है जिस कार्यप्रणाली से आत्मा क स्वाभाविक गुणो को छुपाने वाला विकृति का परदा दूर हाता है और आत्मा क प्राकृतिक गुण

प्रकाशमान होने लगते है, उसे भी धर्म कहते हैं। मोहरूपी भिन्न भिन्न रगवाले काचो से धर्म का दर्शन, विविध रूप मे होता है। मोहमयी काच का अवलम्बन छोडकर प्राकृतिक दृष्टि से देखे, तो यथार्थ धर्म एक रूप मे उपलब्ध होता है। राग, द्वेष, मोह, अज्ञान, मिथ्यात्व आदि के कारण आत्मा अस्वाभाविकता के फन्दे मे फसी हुई है। इनके जालवश ही यह पराधीन, दीन हीन, दुखी बनी हुई ससार मे परिभ्रमण किया करती है। इन विकृतियो का अभाव हुए बिना यथार्थ धर्म की जागृति असभव है। विकारो के अभाव होने पर यह आत्मा अनतशक्ति, अनतज्ञान, अनन्त आनन्द सदृश अपूर्व गुणो से आलोकित हो जाती है।

विकारो पर विजय प्राप्त करने का प्रारभिक उपाय यह है कि यह आत्मा अपन को दीन, हीन, पतित न समझे। इसमे यह अखण्ड विश्वास उदित हो कि मेरी आत्मा ज्ञान और आनन्द का सिन्धु है। मेरी आत्मा अविनाशी तथा अनन्तशक्ति-समन्वित है। विकृति जड शक्तियो के सपर्क से आत्मा जड सा प्रतीत होता है किन्तु यथार्थ मे यह चैतन्य का पुञ्ज है। अज्ञान, असयम तथा, अविवेक के कारण यह जीव हतबुद्धि हो अनेक विपरीत कार्य कर स्वय अपने कल्याण पर कुठाराघात किया करता है। कभी-कभी यह कल्पित शक्तियो को अपना भाग्य-विधाता मान मानवोचित् पुरूषार्थ तथा आत्मनिर्भरता को भी भुला दता है। बडी कठिनता से सत्समागम द्वारा अथवा अनुभव के द्वारा इसे यह दिव्य दृष्टि प्राप्त होती है कि जीव अपने भाग्य का स्वय निर्माता है। यह हीन एव पापाचरण कर किसी की कृपा से उच्च नही बन सकता। श्रेष्ठ पद प्राप्ति निमित्त इसे ही अपनी अधोमुखी सकीर्ण प्रवृत्तियो का परित्याग कर आलोकमय भावनाओ तथा प्रवृत्तियो को प्रबुद्ध करना होगा।

जीवन मे उच्चता को प्रतिष्ठित करने के लिए साधक को उचित है कि वह सयम तथा सदाचरण की अधिक से अधिक समाराधना करे। असयम-पूर्ण जीवन मे आत्मा शक्ति का सचय नहीं कर सकता। विषयोन्मुख बनने से आत्मा मे दैन्य, परावलम्बन के भाव पैदा होते हैं। इससे शक्ति का क्षय होता है, सग्रह नही। सयम (Self-control) और आत्मावलम्बन (Self-reliance) के द्वारा यह आत्मा विकास को प्राप्त होता है। इससे आत्मा मे अद्‌भुत शक्तियो की जागृति होती है। अपने मन और इंद्रियो को वश मे करने के कारण साधक तीन लोक को वश मे करने योग्य अपूर्व शक्ति का स्वामी

बनता है। इतना ही क्यो, इन सद्‌वृत्तियो के द्वारा यह परमात्मपद को प्राप्त कर लेता है। जिस प्रकार सूर्य की किरणे विशिष्ट काच द्वारा केन्द्रित होने पर अग्नि उत्पन्न कर देती है उसी प्रकार सदाचरण, सयम सदृश साधनो के द्वारा चित्तवृति एकाग्र होकर ऐसी विलक्षण शक्ति उत्पन्न करती है कि जन्म-जन्मान्तर के समस्त विकार तथा दोष नष्ट हो जाते है और यह आत्मा स्फटिक के सदृश निर्मल हा जाती है।

आज पश्चिम तथा उसके प्रभावापन्न देशो मे जडवाद (Materıalısm) का विशेष प्रभुत्व है। इसने आत्मा को अन्धा सदृश बना दिया है इस कारण शरीर और इद्रिया की आवाज तो पद-पद पर सुनाई देती है, किन्तु अन्तरात्मा की ध्वनि तनिक भी नही प्रतीत हाती। आत्मा स्वामी है। इन्द्रियादिक उसके सवक है। आत्मा अपन पद का भूलकर सवको की आज्ञानुसार प्रवृत्ति करता है। जडवाद के जगत् म आत्मा अस्तित्वहीन सा बना है। उसे इन्द्रिया तथा शरीर का दासानुदास सदृश कार्य करना पडता है।

जडवाद की नीव पर प्रतिष्ठित वैज्ञानिक विकास की वास्तविकता यूरोप क प्रागण मे खेल गय महायुद्धो न दिखा दी। इसम सन्दह नही विज्ञान न हम बहुत कुछ आराम और आनन्दप्रद सामग्री प्रदान की, किन्तु अन्त मे उसन ऐस घातक पदार्थ देना शुरू किया कि उन्हे देख मनुष्य सोचता है कि जितना हमे प्राप्त हुआ, उसकी अपेक्षा अलाभ अधिक हुआ। किसी व्यक्ति न एक बालक का सुमधुर भाजन खिलाया और मनोरजक सामग्री दी, किन्तु अन्त म उस बालक क प्राण ले लिय। प्रतीत हाता हे कि युद्ध क पूर्व विज्ञान न बडी-बडी माहक तथा आनन्दप्रद सामग्री प्रदान की ओर अन्त म 'अणुबम' सदृश प्राणान्तक निधि अर्पण की जिसन जापान की लाखा जनता क प्राणा का तथा राष्ट्र की स्वाधीनता का स्वाहा, अत्यन्त अल्प काल म कर दिया। राष्ट्र रक्षा, विजय विश्व-शान्तिसुरक्षा आदि क नाम पर वेज्ञानिक मस्तिष्क कैस कैस घातक यत्र, गोले, गैस आदि के निर्माण म अपने अमूल्य मनुष्य भव का व्यय करता है, और सभ्य जगत् के द्वारा सगृहीत, निर्मित तथा सुरक्षित अमूल्य अपूर्व तथा दुर्लभ सामग्री का क्षणमात्र म ध्वस कर दता है।

विज्ञान के कार्यो पर विचार करे, ता ज्ञात होगा कि इसस निर्माण तथा ध्वस की सामग्री समान रूप से प्राप्त हा सकती है। यदि इस विज्ञान का अध्यात्मवाद का प्रकाश मिलता, तो इसके द्वारा अनर्थपूर्ण सामग्री का निर्माण

न होता। वैज्ञानिको का कथन है कि वैज्ञानिक प्रयोग द्वारा परिशुद्ध किया गया कोयला हीरा बन जाता है। इसी प्रकार यह भी कहना सगत है कि पवित्र अध्यात्मवाद के वातावरण मे सुरक्षित एव सवर्धित विज्ञान का यदि विकास हो, तो मानव-जगत् मे लोकोत्तर शान्ति, समृद्धि तथा तेज का उदय होगा। जड पदार्थ के गर्भ मे अनत चमत्कारो को प्रदर्शित करने वाली अनन्त शक्तिया विद्यमान है, जिन्हे समझने तथा विकसित करने मे अनत-मनुष्य भव व्यतीत हो सकते हैं, किन्तु प्राप्त हुआ है एक दुर्लभ नरजन्म, उसका वास्तविक और कल्याणकारी उपयोग इसमे है कि आत्मा पर-पदार्थ के प्रपच मे फस अपने अमूल्य क्षणो का अपव्यय न करे, किन्तु अपनी सामर्थ्य भर प्रयत्न कर, जिसस यह आत्मा, विभाव या विकृति का शनै शनै परित्याग कर स्वभाव के समीप आवे। जिस जन्म जरा, मृत्यु की मुसीबत मे यह जगत् ग्रसित है, उससे बचकर अमर जीवन और अत्यन्त सुख की उपलब्धि करना सबसे बडा चमत्कार है। यह महाविज्ञान (Science of Science) है। भौतिक विज्ञान, समुद्र क खारे पानी के समान है। उसे जितना जितना पिओग उतनी उतनी प्यास बढगी। इसी प्रकार विषय भागा की जितनी-जितनी आराधना और उपभोग होगा उतनी अशान्ति और लालसा तथा तृष्णा की अभिवृद्धि हागी। एक आकाक्षा के पूर्ण होन पर अनक लालसाआ का उदय हा जाता हैं जो अपनी पूर्ति होने तक चित्त को आकुलित बनाती है। आकुलता तथा मुसीबत पूर्ण जीवन को देख लोग कभी कभी सोचत है, यह आफत कहा स आ गई? अज्ञानवश जीव अन्या को दाष दता है, किन्तु विवेकी प्राणी शात भाव स विचारने पर इसका उत्तरदायी अपन का मानता है और निश्चय करता है कि अपनी भूल के कारण ही मै विपत्ति के सिन्धु म डूबा हूँ। **दौलतरामजी** का कथन कितना सत्य है -

> **"अपनी सुधि भूलि आप, दु ख उपायो।"**
> **ज्यो शुक नभ चाल बिसरि नलिनी लटकायो॥**
> **चेतन अवरूद्ध, शुद्ध-दर्श-बोधमय, विशुद्ध,**
> **तल, जड-रस-फरस-रूप पुद्गल अपनायो॥१॥"**
> कवि और भी महत्त्व की बात कहते है-
> **"चाह दाह दाहै, त्यागै न चाह चाहै।**
> **समतासुधा न गाहै, 'जिन' निकट जो बतायो॥२॥"**

यथार्थ मे कल्याण का मार्ग समता का ग्रहण और विषमता का त्याग। मोह राग, द्वेष, मद, मात्सर्य ने विषमता का जाल जगत् भर मे फैला रखा है।

समता के लिए इस जीव को उनका आश्रय ग्रहण करना होगा। जिनके जीवन से राग द्वेष मोहादि की विषमता निकल गई है, उनको ही वीतराग, जिन, जिनेन्द्र, अर्हन्त परमात्मा कहते है। कर्म शत्रुओ के साम्राज्य का अन्त किए बिना साम्य को ज्योति नही मिलती। समता के प्रकाश मे भेद, विषाद, व्यामोह या सकीर्णता का सद्भाव नही रहता। वीतराग, वीतमोह, वीतद्वेष बने बिना, समता-सुधा का रसास्वादन नही हो पाता। जो प्राणी कर्मों तथा वासनाओ का दास बना हुआ है, उसे सयम और समतापूर्ण श्रेष्ठ जीवन को अपना आदर्श बनाना होगा। असमर्थ साधक शक्ति तथा योग्यता को विकसित करता हुआ, एक दिन अपन पूर्णता के ध्येय को प्राप्त करेगा।

प्राथमिक साधक मद्य, मासादि का परित्याग करता है, किन्तु लोक जीवन तथा सासारिक उत्तरदायित्व रक्षण निमित्त वह शस्त्रादि का सचालन कर न्याय पक्ष का सरक्षण करने से विमुख नही होता। ऐसे साधको मे सम्राट चन्द्रगुप्त, बिम्बमार, सप्रति, खारवेल, अमोघवर्ष, कुमारपाल प्रभृति जैन नरन्द्रो का नाम सम्मानपूर्वक लिया जाता है। उनके शासन काल मे प्रजा सुखी थी। उनका नैतिक जीवन भी आदरणीय था। इन नरेशो ने शिकार खेलना, मास भक्षण सदृश सकल्पी हिसा का त्याग किया था, किन्तु आश्रितजनो के रक्षणार्थ तथा दुष्टो क निग्रहार्थ अस्त्र शस्त्रादि के प्रयोग मे तनिक भी प्रतिबन्ध नही रखा था। अन्याय क दमन निमित्त इनका भीषण दण्ड प्रहार होता था। भगवत् **जिनसेन स्वामी** के शब्दो म इसका कारण यह था–

"प्रजा दण्डधराभावे मात्स्य न्याय श्रयन्त्यमू ॥"

महापुराण १६१२५२१

यदि दण्ड धारण मे नरश शैथिल्य दिखाते, ता प्रजा म मात्स्य न्याय(बडी मछली छोटी मछलिया का खा जाती है, इसी प्रकार बलवान् के द्वारा दुर्बल का सहार होना मात्स्य न्याय है) की प्रवृत्ति हो जाती है।

इस वैज्ञानिक युग के प्रभाववश शिक्षित वर्ग मे उदार विचारो का उदय हुआ है और व ऐसी धार्मिक दृष्टि या विचारधारा का स्वागत करने को तैयार है, जो तर्क और अनुभव स अबाधित हो और जिससे आत्मा म शान्ति, स्फूर्ति तथा नव चतना का जागरण होता हो। जैनधर्म का तुलनात्मक अभ्यास करन पर विदित होता है कि जैनधर्म स्वय विज्ञान (Science) है। उस आध्यात्मिक विज्ञान के प्रकाश तथा विकास से जडवाद का अन्धकार दूर होगा तथा विश्व का कल्याण होगा।

जैन-शासन मे भगवान् वृषभदेव आदि तीर्थंकरो ने सर्वाङ्गीण सत्य का साक्षात्कार कर जो तात्विक उपदेश दिया था, उस पर संक्षिप्त प्रकाश डाला गया है।

जैन ग्रन्थो का परिशीलन आत्मसाधना का प्रशस्त-मार्ग तो बतायेगा ही, उससे प्राचीन भारत की दार्शनिक तथा धार्मिक प्रणाली के विषय मे महत्वपूर्ण बातो का भी बोध होता है। स्व जर्मन विद्वान् **डा जैकोबी** ने यह बात दृढतापूर्वक प्रतिपादित की है कि जैन धर्म पूर्णतया मौलिक तथा स्वतन्त्र है तथा अन्य धर्मों से पृथक् है। इसका अभ्यास प्राचीन भारत के दर्शन और धार्मिक जीवन के अवबोधार्थ आवश्यक है-

"In conclusion let me assert my conviction that Jainism is an original system, quite distinct, and independent from all others, and that, therefore, it is of great importance for the study of Philosophical thought and religious life in ancient India "[1]

आशा है विचारक बन्धु इस पुस्तक का ध्यानपूर्वक पढेगे और अपने अनुभव से मिलान करते हुए विचारेगे, कि इसम उनके कल्याण की कितनी सामग्री है। 'बाबावाक्य प्रमाणम्' का प्रतिबन्ध विचारको क सत्य को शिरोधार्य करने मे समक्ष नही आता। धर्म आत्मा और उसक विश्वासो की वस्तु है। उसक यथार्थ स्वरूप तथा उपलब्धि पर आत्मा का यथार्थ कल्याण अवलम्बित हे। अत आशा है, सहृदय विचारक उदार दृष्टि से जैनशासन का परिशीलन करेग।

दिवाकर-सदन *सुमेरूचन्द्र दिवाकर*
सिवनी (म प्र)

1 Originally published in the Transactions of the third International Congress for History of Religions, Vol II pp 59-66 Oxford 1908 and reprinted in the Jain Antiquary of June, 1944

आभार

धर्म दिवाकर विद्वतरत्न विद्यावारिधि श्री सुमेरूचन्द्रजी दिवाकर बी ए एलएल बी न्यायतीर्थ शास्त्री द्वारा लिखित एव सपादित अनेको ग्रथो मे "जैन शासन" मर्वाधिक लोकप्रिय है। इसके छह सस्करण प्रकाशित होना इस ग्रथ की लोकप्रियता एव जनापयोगिता का म्पष्ट प्रमाण है। सन् 1947 मे भारतीय ज्ञानपीठ बनारस द्वारा इसका प्रथम सस्करण प्रकाशित हुआ तथा इसक तीन वर्ष क ही अदर सन् 1950 मे इसी सस्था स द्वितीय सस्करण प्रकाशित हुआ। भारतवर्षीय दिगम्बर जैन महामभा द्वारा इसका तृतीय सस्करण सन 1982 मे तथा प्रशात मूर्ति आचार्य भरतसागर जी महाराज की म्वर्ण जयती क अवसर पर भारतवर्षीय अनेकात विद्वत् परिषद् द्वारा मन् 1998 म इमका चतुर्थ मस्करण तथा इम ही वर्ष परम पूज्य उपाध्याय श्री 108 ज्ञानमागर जी महाराज की प्ररणा एव अनुकपा म प्राच्य श्रमण भारती मुजफ्फरनगर द्वारा इम ग्रथ का पचम मम्करण प्रकाशित किया गया।

मयोगवश जब कि इम ग्रथ का पचम सस्करण प्रकाशित हुआ, अपन परिवार क माथ उत्तरभारत क तीर्थो की यात्रा क दौरान 8 अक्टूबर 1998 का अतिशय क्षत्र तिजारा म मुझ पूज्य उपाध्याय महाराज श्री क दर्शन का पुण्य लाभ मिला। प्रकाशित पचम सस्करण का दखकर मैन पूज्य महाराज जी स "जैन शामन" की अप्रकाशित कृति, जा पूज्य दिवाकर जी द्वारा म्वय अपन जीवन काल मे अपने दीर्घकालीन अध्ययन चितन व अनुभव के आधार पर लिखी गई थी, का मागन का सविनय निवदन किया। जिस पर अपनी सहज सहमति से उपकृत करने मे पूज्य महाराज श्री का एक क्षण भी नही लगा।

मैन पूज्य उपाध्याय श्री 108 ज्ञानसागर जी महाराज स चर्चा के दरम्यान यह अनुभव किया कि व म्वय ता ज्ञान क सागर है ही साथ ही उनक सरल हृदय मे प्राचीन विद्वानो, तत्वज्ञानियो, जिन्हान कितनी

कठिन विषम परिस्थितियो मे साहित्य सृजन कर जिनवाणी की सेवा, धर्म प्रभावना की, के प्रति अत्यत वात्सल्य, अनुराग सम्मान का भाव है। अनेको आर्ष परपरा के प्राचीन विद्वानो का सम्मान, मुनिग्रथो का प्रकाशन, धार्मिक सगोष्ठियो का आयोजन, उनकी सतत् धर्म प्रभावना की भावना से साकार करते प्रतीत होते है। उनकी इस श्रुत जिनवाणी सेवा भक्ति के प्रति समाज सदैव ऋणी रहेगा। पूज्य महाराज जी अपने तपोमय सयमी जीवन द्वारा स्वहित के साथ मानव समाज का अकथनीय उपकार कर रहे है। उनके उपदेशो मे आत्म कल्याण के पथ पर प्रवृत्ति को प्रोत्साहन प्राप्त हो रहा है। विशेषकर युवा वर्ग मे पाप प्रवृत्तियो से दूर रह कर अहिसा पथ पर लगने की प्रेरणा उनसे सतत् प्राप्त हो रही है। व यथार्थ मे "ज्ञानोपासक" मत है। वे आगम निष्ठ, ज्ञान ध्यान तपोनिष्ठ, विद्वत्परपरा के सवर्द्धक, परम यशस्वी आध्यात्मिक सत है, जो वर्तमान युग मे सम्यक चारित्र प्रचार प्रसार मे अनवरत सलग्न रहते हैं। निरतर श्रुताभ्यास, सयम परिपालन आदि साधु जीवन की कठिन प्रवृत्तियो मे वे आगम को अपना मार्गदर्शन मानते है। तथा उनके द्वारा सयमी सुधी समुदाय को उच्च अध्ययन, मनन, चितन, सयम पालन की सतत् प्रेरणा मिलती रहती है। "जैन शासन" का यह षष्ठम सशोधित सवर्धित सस्करण इन महान उपकारी, सरल हृदय, वात्सल्य गुण समन्वित, करूणाशील, उज्जवल श्रुताभ्यासी, तत्व चितक, आर्य ऋषि प्रणीत प्राचीन परपरा के महान् सरक्षक पोषक साधुराज की प्रेरणा अनुकपा से प्रकाशित हो रहा है, इनके पावन चरणो मे कृतज्ञता सुमन अर्पित करते हुए बार-बार नमोस्तु।

आज सारा विश्व हिसा व अशाति की आग मे झुलस रहा है। भौतिक वैज्ञानिक विकास के परिप्रेक्ष्य मे मानवता का विकास नगण्य होता प्रतीत हो रहा है, यह भी निश्चित है कि मात्र धर्म ही शाश्वत् शाति प्रदाता है। जीवन का दर्शन धर्म के माध्यम से ही सभव है। धर्म ही मनुष्य के अदर के देवत्व को जागृत करने एव पशुत्व को नाश करने की सामर्थ्य रखता है। मात्र धर्म ही यथार्थ सुख को परिभाषित एव जीवन के लक्ष्य को निर्धारित करता है। जिसके बिना जीवन मे यथार्थ सुख शाति समृद्धि की कल्पना ही व्यर्थ है। किन्तु आज का बुद्धिजीवी मानव

धर्म के नाम पर हुये और हो रहे अत्याचार एव विनाश के परिप्रेक्ष्य मे मानो धर्म शब्द से भयभीत होता या नफरत करता प्रतीत होता है। इस कारण इस ग्रथ के लेखक श्री दिवाकर जी के शब्दो मे "धर्मान्धो की विवेकहीनता, स्वार्थपरता अथवा बुद्धि के ही कारण आज के वैज्ञानिक जगत मे धर्म की अवर्णनीय अवहेलना हुयी और उच्च विद्वानो ने अपने आपको ऐसे धर्म से असबद्ध बताने या समझने मे कृतार्थता समझी। यदि धर्मान्धो ने अमर्यादापूर्ण तथा उच्छृखलता पूर्ण आचरण कर सहार न किया होता तो धर्म के विरूद्ध शब्द सुनायी न पडते।" वे आगे लिखते है- "आवश्यकता है भ्रम मे फसे हुए जगत का उद्धार करने वाले सुख और शाति प्रदाता धर्म का ही उद्धार किया जाय, जिससे लोगो को वास्तविकता का दर्शन हो सके।" श्री दिवाकर जी इसी ग्रथ मे अन्यत्र लिखते है- "जीवन मे शाश्वत् तथा यथार्थ शाति लाने के लिए यह आवश्यक है कि कूप मडूक वृत्ति अथवा गतानुगतिकता की अज्ञ प्रवृत्ति का परित्याग कर विवेक की कसौटी पर तत्व एव वर्तमान यथार्थ को दृष्टिगत रखे।" जैनधर्म के अधिकारी मूर्धन्य विद्वान श्री दिवाकर जी ने "जैन शासन" मे जैन धर्मदर्शन के गूढ विषयो का वैज्ञानिक, तार्किक, व्यवहारिक, सहजग्राह्य प्रमाणिक विवेचन प्रस्तुत किया है। उनक द्वारा प्रस्तुत धर्म का तुलनात्मक समीक्षात्मक विवेचन बुद्धिजीवी चितनशील वैज्ञानिक मस्तिष्क के हृदय को स्पर्श करता है।

महान ज्ञानी दार्शनिक सत श्री विनोबा भावे "जैन शासन" से अत्यत प्रभावित थे। पवनार आश्रम मे जब श्री दिवाकर जी उनस मिले एव ग्रथ भेट किया (मार्च 1948) तब अपनी अतिव्यस्तता के कारण उन्होने कहा था कि शायद यह सभव नही हो सकेगा कि वे इस गभीर धर्म विषय रचना को हाल पढ पायेगे। इस पर श्री दिवाकर जी ने कहा था कि आश्रम मे इस पुस्तक का रखने के लिये तो पर्याप्त स्थान का अभाव नही होगा और हो सकता है शायद पुस्तक अपने को पढवाले। वैसे आपको जब भी सुविधा हो तब अवश्य इसके परिशीलन का अनुरोध है और सचमुच एक सप्ताह नही बीता होगा कि श्री विनोबा जी से इस ग्रथ पर अभिमत के रूप मे पत्र प्राप्त हो गया, जो इस ग्रथ मे प्रकाशित है। उन्होने इस ग्रथ के बारे मे उल्लेख किया था कि

"जैन शासन मे गभीर चितन और विवेचन है तुलनात्मक उध्ययन और विश्लेषण इसकी विशेषता है", श्री विनोबा जी का इस ग्रथ के बारे मे अभिप्राय ज्ञात कर तत्कालीन बिहार गवर्नर (राज्यपाल) श्री आर.एस अणे ने लिखा था "जब इस ग्रथ पर प्रशसा के भाव श्री विनोबा भावे जैसे सदृश व्यक्ति ने व्यक्त किए है, तब किसी अन्य व्यक्ति के ग्रथ पर अभिमत की आवश्यकता नही है। विनोबा जी केवल शिष्टाचार के नाते कुछ नही कहेगे। जब वे किसी वस्तु की प्रशसा करते है, तब उसका उच्च श्रेणी का होना अवश्यभावी है।"

इसी तरह और भी अनेक विद्वानो, दार्शनिक चितको, साहित्यकारो आदि के जैन शासन पर व्यक्त अभिमत, ग्रथ प्रमेय के विवेचन की विशेषताओ के अतिरिक्त आज के वैज्ञानिक भौतिक विकास के परिप्रेक्ष्य मे इसकी उपादेयता व प्रासगिकता तथा सामायिकता भी प्रतिभासित कराते है। भारतीय दर्शन के मूर्धन्य विद्वान एव चितक डॉ सर भवानीशकर नियोगी (पूर्व कुलपति नागपुर विश्वविद्यालय एव मुख्य न्यायाधिपति नागपुर हाईकोर्ट) के श्री दिवाकर जी के व्यक्तित्व एव कृतित्व पर व्यक्त विचार सुधी पाठको का इस ग्रथ के परिशीलन एव मूल्याकन मे सहायक सिद्ध होगे। उन्होने लिखा था "जैन धर्म का बडा सौभाग्य है कि वह अत्यत प्राचीन हो कर भी उसका प्रभाव सदैव दृष्टिगत होता रहा है। इसका कारण यही दिखता है कि युग युग मे श्री सुमेरुचद दिवाकर जी समान श्रेष्ठ विचारक तथा लेखक प्रगट होते रहे हैं। आपकी सारगर्भित रचनाये साहित्य का श्रृगार है ही किन्तु वे जनता के जागरण का माध्यम भी है। सुज्ञ जनता यह निश्चित रूप से कह सकती है। आप भारतवर्ष की उन विभूतियो मे से एक है जिन्होने भारतीय सस्कृति की रक्षा तथा समृद्धि मे अपने जीवन का प्रत्येक क्षण बिताया। आपके अनेक ग्रथो द्वारा ससार को अभयता, अहिसा और भद्रता का प्रेरणादायी दिव्य सदेश मिलता है। उनका जीवन एक तपस्वी का जीवन है।"

इस ग्रथ के पूर्व प्रकाशित सस्करणो मे पूज्य दिवाकर जी के द्वारा स्वय अपने जीवन काल मे किये गए सशोधन सवर्धन कार्य मे मेरे पुत्र चि यशोधर दिवाकर (इजीनियर), सुपुत्री डॉ इदिरा एम ए ,पी एच डी , प्रियवदा एम ए ,एलएल बी , स्व आनद कुमार दिवाकर का

योगदान रहा था। जिस श्रुत सेवा हेतु इन्हे उनसे प्रत्यक्ष आशीर्वाद प्राप्ति का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। प्रस्तुत सस्करण की पाडुलिपि, प्रेस कापी तैयार करने तदनतर प्रेस से प्राप्त प्रति, प्रूफ रीडिग एव ग्रथ पर पूर्व मे प्राप्त विद्वानो आदि के अभिमतो को सकलित करने मे मेरे पुत्र चि यशोधर कुमार ने, पूज्य दिवाकर जी द्वारा जिन धार्मिक पवित्र भावना से साहित्य सृजन एव धर्म सेवा की उसी को दृष्टिगत रख अपना पुण्य कर्तव्य समझ जो श्रम किया, मुझे इस कार्य मे सहयोग दिया वह विशेष रूप से उल्लेखनीय है। वैस हमारे परिवार के सभी सदस्य अपने पूज्य भ्राता श्री प सुमेरूचद्रजी दिवाकर जिन्हे सभी दादा जी कहा करते थे, के द्वारा धर्म, समाज एव साहित्य की सेवा मे अपने किचित भी योगदान से अपने को धन्य महसूस करते रहे है। और आज भी करते है। इस सस्करण के प्रकाशन मे सदैव की भाति हमारे भाई पडित श्रेयास कुमार जी दिवाकर, भाई शाति लाल जी दिवाकर के सुपुत्र चि ऋषभकुमार दिवाकर, आइ पी एस का सराहनीय मार्गदर्शन हमे प्राप्त हुआ है।

पुन अत म उन यशस्वी, तपस्वी, मनस्वी महर्षि रत्नत्रय समलकृत परम् पूज्य उपाध्याय श्री 108 ज्ञानसागर जी महाराज, जिनकी सत् प्रेरणा अनुकपा एव शुभाशीष से "जैन शासन" का यह सशोधित सवर्धित षष्टम सस्करण प्रकाशित हुआ, के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करते हुए उनके पावन चरणो मे शत्-शत् वदन करता हूँ।

प्रकाशक "प्राच्य श्रमण भारती" मुजफ्फरनगर के मत्री जी के प्रति भी मै आभार व्यक्त करता हूँ।

"जैनम् जयतु शासनम्"

दिवाकर-सदन
सिवनी-(म प्र) 480 661

अभिनदन कुमार दिवाकर
एम ए , एलएल बी
एडवोकेट

बाल ब्रम्हचारी धर्म-दिवाकर विद्वतरत्न विद्यावारिधि पडित सुमेरूचन्द्र जी दिवाकर न्यायतीर्थ, शास्त्री, बी ए , एलएल बी -सिवनी (म प्र) - जीवन वृत्त

विजयदशमी रविवार 8 अक्टूबर 1905(विक्रम सवत 1962) को श्री सुमेरूचन्द्र जी दिवाकर का जन्म मध्यप्रदेश के सिवनी नगर मे अपनी धार्मिक समाज सेवा के लिये विख्यात प्रतिष्ठित परिवार मे हुआ। आपके पूज्य पिता श्री सिघई कुवरसेन जी दिवाकर भारतवर्षीय जैन समाज मे अपनी महान धर्म समाज सेवा एव जैन सिद्धातो के मर्मज्ञ मूर्धन्य विद्वानो मे परिगणित थे। श्री दिवाकर जी ने स्वय पूज्य पिता जी के सबध मे अन्यत्र लिखा था "वे मेरी बाल्यावस्था से ही अद्‌भुत एव आकर्षक व्यक्तित्व के कारण मेरे आदर्श बन गए थे, जिनके अनन्य अनुराग और आशीर्वाद, अनुकपा और औदार्य के कारण मुझे लौकिक झझटो से मुक्त हो आत्मोत्थान करने वाली उज्जवल अभिलाषा के अनुसार जैन धर्म और सस्कृति की सेवा का सौभाग्य प्राप्त हुआ, जिनकी जैन धर्म मे प्रगाढ श्रद्धा थी, और जिनका मन विषयो की आर से विरक्त था, जो जिनागम के मार्मिक ज्ञाता और आत्मोन्मुख श्रावक थ तथा जिनका अत करण अपूर्व वात्सल्य भाव से समलकृत था।" स्वाभाविक ही पूज्य पिता जी के सद्‌गुणो से श्री दिवाकर जी एव सपूर्ण परिवार का जीवन सस्कारित हुआ। उल्लेखनीय है, अभी भी इस स्वनामधन्य परिवार के अन्य सदस्य श्री दिवाकर जी के अनुज श्री शातिलाल दिवाकर स्व डॉ सुशील चद्र जी दिवाकर, स्व ज्ञानचन्द दिवाकर प श्री श्रेयास कुमार दिवाकर, श्री अभिनदन कुमार दिवाकर स्व सन्मति दिवाकर तथा इन अनुजो के सुपुत्रगण श्री ऋषभ दिवाकर आइ पी एस (वर्तमान मे अतिरिक्त महानिदेशक, ए डी जी म प्र पुलिस), श्री यशोधर कुमार दिवाकर बी ई इजीनियर, डॉ प्रो रविन्द्र दिवाकर, श्री सिद्धार्थ दिवाकर, धन्यकुमार दिवाकर आदि ने यथा शक्ति पारिवारिक परपरा एव प्रतिष्ठा के अनुरूप धर्म समाज से साहित्य की सेवा की है, और कर रहे हैं।

प्रारभिक शिक्षा प्राप्ति के दरम्यान राष्ट्रपिता महात्मा गाधी जी के आह्वान पर असहयोग आन्दोलन मे विदेशी सत्ता द्वारा सचालित अग्रेजी स्कूल से श्री दिवाकर जी ने सबध त्याग, धर्म और भारतीय सस्कृति के शिक्षा केन्द्र कारजा (महाराष्ट्र), मुरैना (मध्यप्रदेश) के जैन गुरूकुलो मे सस्कृत एव धर्म का अध्ययन किया। वहा से उच्च सास्कृतिक शिक्षा के केन्द्र स्याद्वाद् विद्यालय वाराणसी गए तथा "न्यायतीर्थ" एव "शास्त्री" हुए। स्वर्गीय विद्यावारिधि बैरिस्टर चपतराय जी की सलाह पर आपने पुन अग्रेजी का अध्ययन प्रारभ किया एव क्रमानुसार हिन्दु विश्वविद्यालय बनारस से इटर, जबलपुर राबर्टसन् कॉलेज से बी ए तथा नागपुर विश्वविद्यालय से एलएल बी की परीक्षाओ मे सफलता प्राप्त की। श्री दिवाकर जी के विद्यार्थी जीवन काल मे ही उनके व्यक्तित्व मे "विद्वत्व सच्चरित्रत्व" के समन्वय से आकर्षित होकर नागपुर उच्चन्यायालय के प्रधान न्यायाधीश सर ग्रिल (Grille) ने श्री दिवाकर जी से पूछा था 'क्या तुम्हे गवर्नमेट सर्विस चाहिए?" उनका अभिप्राय इन्हे उच्चपद पर नियुक्त करने का था। दिवाकर जी ने नम्रतापूर्वक निवेदन किया था कि– "मै अहिसा मय जैन धर्म की सेवा करते हुए अपने जीवन का व्यतीत करने का सकल्प कर चुका हूॅ। प्राणि मात्र की सेवा करना मेरे जीवन का लक्ष्य बिन्दु बन चुका है। मेरी दृष्टि धन कमाने की नही है।" एक भारतीय युवक की इस पवित्र भावना से सर ग्रिल न अत्यत प्रसन्नता व्यक्त करते हुए कहा- "मेरा विश्वास है तुम सफल, यशस्वी और महान लोक कल्याणकारी व्यक्ति बनोग। मेरी तुम्हारे प्रति हार्दिक मगल कामना है।" श्री दिवाकर जी का धार्मिक, सामाजिक, साहित्यिक जीवन इस मगल कामना को शत्प्रतिशत् सत्यता प्रदान करता प्रतीत होता है। राजनीति से, सब परिस्थितियो के अनुकूल होते हुए भी, अपन जीवन मे धार्मिक नैतिक सिद्धातो की प्रबलता एव सकल्पित जीवन लक्ष्य के परिणाम स्वरूप वे दूर ही रहे। अपनी सेवाओ को कभी भी उन्होने अर्थोपार्जन का साधन नही बनाया और न कभी अर्थोपार्जन उनके जीवन का लक्ष्य ही रहा। आज के जगत मे अपनी ज्ञानाराधना, जन सेवा को चरित्र एव इस परोपकारी भावना से दीक्षित करना साधारण बात नही है।

जैन धर्म एव सस्कृति विषयक अनेकानेक ग्रथो का श्री दिवाकर जी ने प्रणयन एव सपादन किया है। "जैन शासन", महाश्रमण महावीर, तीर्थकर, तात्विक चितन, विश्वतीर्थ श्रवणबेलगोल, निर्वाणभूमि चपापुरी, अध्यात्मवाद की मर्यादा, आगम पथ, भगवान महावीर-जीवन दर्शन, आचार्य देशभूषण महाराज का जीवन चरित्र, सुलझे पशु उपदेश सुन, कुदकुद की देशना, अहिसा और विश्वशाति आदि ग्रथो की रचना श्री दिवाकर जी ने की है। इनके अतिरिक्त जैन बागड्मय के महाबध, कषाय-पाहुड, मोक्ष पाहुड, समाधिशतक, इष्टोपदेश, पचास्तिकाय दीपिका, जिन सहस्त्रनाम आदि ग्रथो का सपादन किया।

आपके ही प्रयत्न एव प्रभाव के फलस्वरूप दक्षिण भारत के मुडबिद्रीमठ से कर्म सिद्धात के सर्वप्राचीन दिगबर जैन ग्रथराज "महाध वल" (महाबध) की प्राप्ति हुई। जिसका सपादन भी आप ने किया तथा इस सपूर्ण महाबध का ताम्र पत्र पर उत्कीर्णन सबधी सपादन भी किया।

अग्रेजी भाषा मे श्री दिवाकर जी ने "रिलीजन एण्ड पीस" "ग्लिमसेज ऑफ जेनिज्म," "महावीर-लाइफ एण्ड फिलासफी" "एटीक्विटी ऑफ जेनिज्म, "लार्ड पार्श्वनाथ", "न्यूडिटी ऑफ जैन सेट्स", "इज जेनिज्म एन इनडिपेन्डेन्ट एण्ड सेपरेट रिलीजन", "फिलासफी ऑफ वेजीटेरियनिज्म", "डाक्ट्रिन ऑफ अहिसा", "विदर पीस", आदि ग्रथ लिखे है। श्रमण जगत मे महामुनि चारित्र चक्रवर्ती आचार्य शान्ति सागर महाराज का सर्वोपरि स्थान है। आज वर्तमान मे श्रमण सस्कृति के साधक मुनिगण को उनकी सयमाराधना आगमोक्त पथ प्रदर्शक है उन ऋषिराज के श्री दिवाकर जी अनन्य भक्त थे। उनके सान्निध्य, सत्सग से प्राप्त अनुभवो को उन्होने उन ऋषिराज के जीवन चरित्र "चारित्र चक्रवर्ती" नामक ग्रथ मे लिखकर श्रमण जगत के समक्ष एक आदर्श श्रमण का रूप प्रस्तुत किया। इस महान ग्रथ रचना के सबध मे सुप्रसिद्ध साहित्यकार श्री वीरेन्द्र कुमार जैन (बबई) ने लिखा है। 'चारित्र चक्रवर्ती' जैसा ग्रथ लिखकर श्री दिवाकर जी ने परमपूज्य आचार्य शाति सागर जी महाराज के व्यक्तित्व मे महावीर के असिधारा व्रत को सागोपाग परिभाषित करने का महान और अपूर्व कार्य किया है। और भी विपुल ग्रथ रचकर उन्होने जिनेश्वरो के अनादिकालीन धर्म दर्शन को आज के युग की वैज्ञानिक रोशनी मे पुनर्व्याख्यायित करने का महत्वपूर्ण

अनुष्ठान किया है। जिनेश्वरो की परपरा और आगामी पीढिया चिरकाल उनके अवदान की ऋणी रहेगी। आचार्य शातिसागर जी महाराज की अप्रतिम सल्लेखना के उपरात श्री दिवाकर जी ने चारित्र चक्रवर्ती ग्रथ की श्रखला के रूप मे 'आध्यात्मिक ज्योति' ग्रथ लिखा।

धार्मिक सिद्धातो का तार्किक वैज्ञानिक व्यवहारिक विश्लेषण एव तदानुसार प्रस्तुतीकरण श्री दिवाकर जी के लेखन की विशेषता रही। फलस्वरूप उनके द्वारा किया गया विषय प्रतिपादन आज के वैज्ञानिक बुद्धि प्रधान व्यक्ति के हृदय को स्पर्श करता है एव इन धार्मिक नैतिक सिद्धातो के अनुपालन की दिशा मे प्रेरणा देता है। यही कारण है कि श्री दिवाकर जी द्वारा लिखित अनेक हिन्दी ग्रथो के कन्नड, तमिल, मराठी, गुजराती, बगाली भाषाओ मे अनुवाद प्रकाशित हो चुके है। एव कई ग्रथो के अनेक सस्करण भी निकल चुके है। यह तथ्य श्री दिवाकर जी की रचनाओ की लोकप्रियता एव जनोपयोगिता की परिचायक है। श्री दिवाकर जी ने वर्तमान युग के अनुकूल विद्वानो के निर्माण की दिशा मे श्री शातिनाथ जैन गुरूकुल रामटेक (नागपुर) की स्थापना कर अपार श्रम उठाया और शिक्षा के क्षेत्र मे महनीय सेवा की। हरिजन मंदिर प्रवेश एव आचार्य शांतिसागर जी महाराज द्वारा अन्न त्याग प्रकरण मे श्री दिवाकर जी द्वारा जैन सस्कृति की रक्षा हेतु की गयी सेवा चिरस्मरणीय रहेगी।

भारतवर्षीय दिगबर जैन महासभा क समाचार पत्र "जैन गजट" के श्री दिवाकर जी अनेक वर्षो तक सपादक भी रहे तथा अपने सफल कुशल सपादन के लिए विद्वत्वर्ग मे विख्यात हुए।

धर्म सस्कृति के क्षेत्र मे देश विदेशो मे श्री दिवाकर जी का योगदान महान है। वे उच्च विचारक, धर्मनिष्ठ विद्वान चितक लेखक होने के अतिरिक्त वक्तृत्वता के क्षेत्र मे "वाक् सिद्धि" समन्वित रहे है। सन् 1956 मे जापान के शिमजू नगर मे आयोजित सर्वधर्म सभा मे श्री सुमेरूचन्द्र जी दिवाकर का अहिसा सस्कृति एव जैन धर्म पर दिया गया उद्‌बोधन ऐतिहासिक चिरस्मरणीय रहेगा। उन्होने जापान की राजधानी टोक्यो, सिगापुर, हागकाग, आदि महानगरो मे अपने भाषणो से जैन धर्म के गौरव की वृद्धि की। अतर्राष्ट्रीय थियोसोफिकल सोसायटी के महासम्मेलन सेल्जवर्ग (आस्ट्रिया) मे आपका जैनधर्म पर लिखा सारगर्भित निबन्ध पढा गया। सन् 1964 मे दिल्ली के विज्ञान भवन मे एन्टीक्वटी ऑफ जैनिज्म पर लेख अतर्राष्ट्रीय प्राच्य विश्व सम्मेलन मे पढा गया। आपके

निबध की सुदूर देश के अनेक विद्वानो ने सराहना की। देश मे आयोजित कितने ही राष्ट्रीय अतर्राष्ट्रीय धर्म सम्मेलनो मे उन्होने भाग ले धर्म सस्कृति के प्रचार प्रसार मे महान योगदान दिया है। उनकी भाषण शैली, अन्य धर्मों के प्रति सद्भावना रखते हुए स्याद्वाद् दृष्टि से वस्तुतत्व का प्रतिपादन कर अपने आप मे एक विशेषता लिए हुये रही है।

आपकी समर्पित भावना एव निष्ठापूर्वक की गई बहुमुखी धार्मिक, सामाजिक, साहित्यिक, सास्कृतिक सेवाओ को दृष्टिगत रख समाज ने समय समय पर श्री दिवाकर जी को सम्मानित किया। उनका सादर अभिनदन किया। जैन सस्कृति के रक्षणार्थ महाबध सदृश कर्म सिद्धात के महान ग्रथ की उपलब्धि तथा उसका ताम्र पत्र पर उत्कीर्णन एव सफल सपादन पर चारित्र चक्रवर्ती परम् पूज्य आचार्य शातिसागर जी महाराज के सानिध्य मे उनके आशीर्वादात्मक स्वरूप भारतवर्षीय जैन समाज ने आपको 'धर्म दिवाकर' के पद से अलकृत किया था। इसी तरह भारत वर्षीय दिगबर जैन महासभा ने अपने गोहाटी (आसाम) मे हुए अधिवेशन मे जैन साहित्य और समाज के लिए की गई आपकी दीर्घकालीन सेवाओ पर "विद्वत्रत्न" की उपाधि से विभूषित किया था। धर्म सरक्षणीय महासभा ने आपको अपनी सस्था के महनीय सरक्षक पद पर प्रतिष्ठित कर गौरवान्वित किया। देहावसान के कुछ ही माह पूर्व 25 10 93 को महान जैन तीर्थ श्रवणबेलगोला (कर्नाटक) मे श्री चारूकीर्ति भट्टारक जी के सानिध्य मे दक्षिण भारत जैन समाज द्वारा आपको "विद्यावारिधि" की उपाधि से अलकृत कर रजत पत्र प्रदत्त किया गया। सन् 1976 मे जबलपुर (म प्र) नगर मे बडे महोत्सव के मध्य आपको आपके व्यक्तित्व एव कृतित्व पर सपादित "अभिनदन ग्रथ" मध्यप्रदेश उच्चन्यायालय के न्यायाधिपति श्री नवीन चद्रजी द्विवेदी की अध्यक्षता मे भेट किया गया। "अखिलभारतीय दार्शनिक परिषद्" द्वारा 1980 मे भारत वर्ष के सभी धर्मो, दर्शन के दिग्गज विद्वानो, दार्शनिक मनीषियो द्वारा श्री दिवाकर जी का सम्मान किया गया था। भगवान महावीर के 2500 वे निर्वाणोत्सव समारोह के समय दिल्ली मे पूज्य आचार्य विद्यानद जी महाराज के सान्निध्य मे श्री दिवाकर जी को उनकी श्रमण सस्कृति के वर्तमान युग मे महान पुनर्स्थापक चारित्र चक्रवर्ती आचार्य शातिसागर जी महाराज का जीवन चरित्र "चारित्र चक्रवर्ती" के लेखक के रूप मे सम्मानित किया गया। इसी तरह परम् पूज्य आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज के सागर चातुर्मास के अवसर पर दिगबर जैन

आचार्य धरसेन के शिष्य आचार्य पुष्पदत तथा आचार्य भूतबलि द्वारा प्रणीत कषायपाहुड एव अन्यान्य सिद्धात ग्रथो की हिन्दी टीका के माध्यम से धर्म की अपूर्व प्रभावना करने पर दिगबर जैन समाज सागर एव श्री गणेश दिगबर जैन स विद्यालय सागर (म प्र) द्वारा दिनाक 17 06 80 श्रुतपचमी को श्री दिवाकर जी को रजत पत्र प्रदत्त कर सम्मानित किया था।

उल्लेखनीय है कि श्री दिवाकर जी ने यह सब सम्मान, जिनमे से कुछ का ही उल्लेख ऊपर किया गया है, हमेशा उदासीन भाव से स्वीकारे। वे अक्सर कहा करते थे कि चारित्र चक्रवर्ती आचार्य शातिसागर महाराज के चरणो के समीप बैठने की मेरी पात्रता मेरा सबसे बडा सौभाग्य एव सम्मान है।

चारित्र, विद्वत्ता और भक्ति का सगम श्री दिवाकर जी के जीवन मे था। अपने पवित्र जीवन की स्वर्णिम सध्या मे भी आप निरतर अध्ययन एव लेखन मे व्यस्त रहे, और पूर्ण सावधानी पूर्वक महामत्र णमोकार का श्रवण मनन करते हुए दिनाक 25 जनवरी 1994 को इस नश्वरदेह का त्याग किया। एक अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी के रूप मे अध्ययन और अनुभव से अनुप्राणित उनकी अभिव्यक्तिया, उनका व्यक्तित्व एव कृतित्व समाज के लिए सदैव प्रकाश स्तभ सदृश रहेगी। उनकी धर्म समाज और साहित्य सेवा के लिए समाज सदैव उनका ऋणी रहेगा।

यह सर्वविदित है कि दिनाक 20 अक्तूबर 2002 को भगवान ऋषभदेव के तप एव ज्ञान कल्याणक से पावन ''तीर्थकर वृषभदेव'' की तपस्थली (दिगम्बर जैन तीर्थ) प्रयाग (इलाहबाद) मे पूज्य आर्यिकारत्न श्री ज्ञानमती माता जी की प्रेरणा से ''महाश्रमण महावीर'' ग्रथ के लेखक एव आर्ष परम्परा के महान सरक्षक के रूप स्व श्री दिवाकर जी को मरणोपरात जैन त्रिलोक शोध सस्थान जम्बू द्वीप हस्तिनापुर द्वारा ''जिन शासन रत्न'' की गरिमामय उपाधि से समलकृत किया गया। तत्सबधी आयोजित समारोह मे श्री दिवाकर जी की धार्मिक सामाजिक एव सास्कृतिक सेवाओ को कृतज्ञतापूर्वक स्मरण करते हुए ''रजत प्रशस्ति पत्र'' भी दिया गया। जिसे श्री दिवाकर जी के अनुज श्री अभिनन्दन कुमार दिवाकर (एडवोकेट, सिवनी) ने पूज्य आर्यिका ज्ञानमती माता जी के आशीर्वाद सहित स्वीकार किया।

★★★

जैन शासन

(मनीषियों के अभिमत)

भारत रत्न दार्शनिक सत आचार्य विनोबा भावे -

"जैन शासन" देख लिया किताब बहुत मेहनत से लिखी है, जैनधर्म के बारे मे काफी जानकारी इसमे से मिल जाती है। मै तो अहिसा और मध्यस्थ दृष्टि, यही जैन विचार का सार मानता हूँ। उसमे भी मध्यस्थ दृष्टि उसकी खास देन है। अहिसा का भी विचार उसी दृष्टि से सम्यक हो सकता है।

जैन विचार नि सशय प्राचीन काल से है। क्योकि "अर्हन इद दयसे विश्व-मभवम्" इत्यादि वेद वचनो मे वह पाया जाता है। आपके विवेचन पर मत भेद हो सकता है लेकिन उससे ग्रथ की योग्यता को बाधा नही है।"- विनोबा के प्रणाम।

श्री माननीय डॉ एम एस अणे -(पूर्व राज्यपाल, बिहार राज्य)

जब श्री विनोबा भावे जैसे सदृश व्यक्ति ने "जैन शासन" पर प्रशसा के भाव व्यक्त किए है तब मुझ समान अल्पज्ञ का अभिमत अनावश्यक है, विनोबा जी केवल शिष्टाचार के नाते कुछ नही कहेगे। जब वे किसी वस्तु की प्रशसा करते हैं। तब उसका उच्च श्रेणी का होना अवश्यभावी है।

राष्ट्र कवि मैथिलीशरण गुप्त:-

"जैन शासन लिखकर आपने अपन धर्म और साहित्य की अच्छी सेवा की है।"

डॉ रामकुमार वर्मा:- (सुप्रसिद्ध साहित्यकार)

''इस प्रकार के साहित्य की आधुनिक हिन्दी मे आवश्यकता है।'' श्री दिवाकर जी की साहित्य सेवाओ एव जैन शासन के प्रमेय से प्रभावित हो वे लिखते है "हिन्दी साहित्य के इतिहास के प्रारभिक भाग

मे शीर्ष स्थान जैन साहित्य को ही है। जैन साहित्य की यह कृति, हिन्दी को सदैव सुशोभित रहेगी। अभी-अभी चार पक्तिया लिखी है, वे ही भेज रहा हूँ:-

आत्म जागरण हो जीवन में
साधन का हो मार्ग प्रशस्त।
सत्य अहिंसा के बल पर ही
सुखी बने जीवन सत्रस्त॥
सहज समन्वय मे श्रद्धा हो
सयम-रवि हो कभी न अस्त
षट्-द्रव्यो मे आत्म तत्व
निज पद मे रहे सदा आश्वस्त॥"

श्री माखनलाल चतुर्वेदी -

आप जैसे विद्वान और जैन धर्म के अधिकारी व्यक्ति की लिखावट मे सार वस्तु की अधिकता होना स्वाभविक है, कृपा रखे।

डॉ प्रोफेसर हीरालाल जैन - (पूर्व पाली प्राकृत विभागाध्यक्ष नागपुर विश्वविद्यालय) "जैन शासन अपने अतरग और बहिरग दोनो रूपो मे सुन्दर और उपयोगी है। आशा है, इसका खूब प्रचार होगा और लोग जैन धर्म के सिद्धातो का समझेगे।"

श्री लक्ष्मी चन्द्र जैन - (भारतीय ज्ञानपीठ वाराणसी)

"जैन शासन" मे जैन धर्म के प्रमुख सिद्धानो का परिचय और जैन सस्कृति की विभिन्न प्रगतियो का आधुनिक दृष्टिकोण से दिग्-दर्शन कराने का प्रयत्न किया गया है पुस्तक की विशेषता इसकी शैली और विषय के प्रतिपादन मे है। जैन धर्म पर कई परिचयात्मक पुस्तके लिखी गई है। यह पुस्तक उसी दिशा मे एक और अगला कदम है। लेखक दिगबर समुदाय के ख्यातनामा विद्वान है परपरागत मान्यताओ क विषय में उनका दृष्टि कोण स्पष्ट है। उन्होने अनेक शास्त्रीय गहन विषयो को सरल और सुबोध बनाकर धर्म के सहज और सुदर रूप के दर्शन कराने का प्रयत्न किया है। उन्हे इसमे पर्याप्त सफलता मिली है।

जैन शासन का केन्द्र बिन्दु जीवन उपलब्धि है। वह जीवन जो प्राणियो के लिए सपूर्ण सुख की कल्पना करता है और उसकी प्राप्ति

का उपाय बताता है। इस रूप मे जैन धर्म किसी समुदाय विशेष का धर्म नही, बल्कि वह मानव मात्र, प्राणि मात्र का धर्म है। तत्व चर्चा मे और दार्शनिक उहापोह मे सभी का मत एक नही होता। भारतीय दर्शन मत भिन्नता के कारण ही समृद्ध है। दार्शनिक चर्चा के प्रसग मे लेखक ने अनेक स्थलो पर ऐसे तर्क और प्रमाण दिए है जो कई दार्शनिक विद्वानो के लिए चुनौती है, जहा शुद्ध धर्म तत्व का दर्शन है वहा बुद्धि और भावना का ऐसा सुदर सामन्जस्य हुआ है, कि चुनौती की गुजाइश ही नही। पुस्तक मे स्थान स्थान पर श्लोक, दोहे छन्द, शेर और अन्य उद्धरण देकर लेखक ने तर्क को निरर्थक कर दिया है। पाठक को वही तत्व की सहज प्राप्ति का आनद मिलता है।" (भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित सस्करण के "निवेदन" से उद्धृत)

श्री कुजीलाल जी दुबे - (पूर्व उपकुलपति नागपुर विश्वविद्यालय एव पूर्व अध्यक्ष विधान सभा म प्र)

"जैन शासन" मेरे पढने मे आई उसमे सरल भाषा और रोचकशैली मे दुरूह आध्यात्मिक विचारो का सर्वसाधारण के लिए सुलभ बनाने का स्तुत्य प्रयत्न किया गया है। कर्म सिद्धात की विवेचना इसकी विशेषता है, लेखक ने जैनियो की इस धारणा को तर्क पर प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया है। मेरी राय मे अध्यात्म के विद्यार्थी को जैन शास्त्र मार्मिक सिद्धात अवश्य पढना चाहिए जैन तत्वो का ज्ञान प्राप्त करने के लिए यह ग्रथ उपयोगी है।"

श्रीमान माननीय पकवासा जी - (पूर्व राज्यपाल म प्र शासन)

"जैन शासन सुरूचि पूर्ण एव शिक्षा प्रद है।"

डॉ सुकुमाल जैन - (नवभारत टाइम्स, लखनऊ)

जैन वाड्गमय के विद्वान श्री सुमेरूचन्द्र दिवाकर के अनेकानेक जैन सस्कृति विषयक ग्रथो मे "जैन शासन" को अत्यधिक लोक प्रियता प्राप्त हुई है। आचार्य विनोबा भावे का ग्रथ मे प्रकाशित पत्र इस कृति के महत्व पर प्रकाश डालता है। ग्रथ मे जैन धर्म से सबधित लगभग सभी विषयो पर विद्वत्ता पूर्वक प्रकाश डाला गया है। लेखक की उदार भावना, अपार अध्ययन, चितन और मनन का सर्वत्र परिचय ग्रथ के विभिन्न परिच्छेदो मे उपलब्ध होता है।

जैन सस्कृति का साधिकार परिचय देने वाली इस पुस्तक के माध्यम से इस बात का सहज ही ज्ञान हो जाता है कि जैन धर्म के सिद्धात उतने ही आधुनिक है जितने प्राचीन। यह पुस्तक पढकर यह आशा की जा सकती है कि- "अरस्तु का नैतिक मनुष्य सिर्फ एक कल्पना नही है, ऐसे मनुष्य का विकास सभव है और जरूरी भी।"

डॉ रामजी सिह - पी एच डी डी लिट(दर्शन), डी लिट(राजनीति शास्त्र) भूतपूर्व ससद सदस्य, पूर्वाध्यक्ष भारतीय दर्शन परिषद, पूर्व अध्यक्ष गाधी विचार विभाग भागलपुर विश्वविद्यालय बिहार -

"जैन शासन" जैन विचार धारा मे सामान्य एव विद्वत समाज के लिए एक अत्यत उपयोगी ग्रथ है आधुनिक सदर्भ मे जैन सिद्धातो की सार्थकता इसमे अत्यत सफलता पूर्वक दिखाई गई है। मै समझता हूँ इस ग्रथ के अध्ययन का मुझे पहले सौभाग्य मिला होता तो मुझे और भी अधिक सृजनात्मक एव परिपक्वता मिलती।

इस ग्रथ मे एक दूसरी विशेषता यह है कि यह शास्त्रीय ग्रथ या पाठ्य ग्रथ के अतिरिक्त समाजोन्मुख लोकोपयोगी ग्रथ है, इसमे शान्ति, धर्म, विश्व निर्माता, परमात्मा, आत्म जागरण, सयम, अहिसा एव विश्व समस्याये जैसे समाज अभिमुख विषय का भी अच्छी तरह से विवेचन किया गया है लेखक ने इस वैज्ञानिक युग की चुनौती स्वीकार कर धर्म और धर्म मार्ग की प्रासगिकता का उल्लेख किया है जैन धर्म वस्तुत आत्म साधना का प्रशस्त मार्ग है। आत्म साधना के बिना समाज साधना एक प्रवचन हो जायेगी और फिर विश्वशाति की साधना मात्र एक दिखावा हो जायगी। सच्ची आत्म साधना ही धर्म साधना है धर्म के नाम पर जो दुर्भाग्य हमने देखे है, वह धर्म नही हो सकता आज धर्म, भ्रम के भवर मे फस गया है लेकिन इससे उद्धार करना होगा भौतिकवाद अथवा उसपर आधारित साम्यवाद धर्म का विकल्प कभी नही बन सकता है। जैन दर्शन के अनुसार पूर्ण मनुष्यत्व ही काल्पनिक देवत्व है, क्योकि उसमे अनत चतुष्टय रहते है। बैरिस्टर चपतराय के एक उद्धरण का उल्लेख किया गया है, कि मनुष्य-वासना=ईश्वर, ईश्वर+वासनाए =मनुष्य। यह समझने के लिए अत्यत आकर्षक है।

मेरी विनम्र दृष्टि मे "जैन दर्शन" पर इतनी उदार प्रामाणिक एव लोकोपयोगी रचना शायद ही मिलेगी।

ब्र जीवराव गौतमचन्द दोशी :- (सस्थापक जैन सस्कृति सरक्षक सघ, सोलापुर)

जैन शासन के निर्माण मे श्री दिवाकर जी ने अत्यत परिश्रम किया है, विषय विवेचन और विषय विभाग बहुत ही सुदर है। आपकी हिन्दी प्रौढ और हृदयगम होने से बाचते समय साहित्य का सच्चा आनद आता है। आपकी लेखन कला इतनी साध्य हुई है यह देखकर परम् सतोष हो रहा है। इस ग्रथ का हमारी महाराष्ट्र भाषा मे अनुवाद कराने का विकल्प हो रहा है। आपके इस ग्रथ से आजकल के पाश्चात्य विद्या विभूषित विद्वान और नूतन युवक को बहुत फायदा होगा। आपके इस परिश्रम के लिए धन्यवाद देने को हमारे पास उचित शब्द नही है।

नवभारत दैनिक समाचार पत्र, जबलपुर (श्री गुलाबराय नारद)

प्रस्तुत पुस्तक (जैन शासन) द्वारा जैन दर्शन के प्रख्यात विद्वान श्री सुमेरूचन्द्र जी दिवाकर न हिन्दी साहित्य की एक बडी कमी को दूर किया है।

पुस्तक का प्रत्यक अध्याय जहा लेखक के विशाल अध्ययन और अध्यात्म वृत्ति का दिग्दर्शन कराता है, वही ज्ञान जिज्ञासुओ को सत्य निरूपण और मानसिक भोजन प्रदान कराता है जैसा कि लेखक ने पुस्तक के समर्पण मे लिखा है -

"उन तत्व जिज्ञासुओ को जो सदैव तत्व चिन्तन मे निमग्न रहते है। सत्य और अहिसा ही जिनकी साधना के ओर छोर है, दुराग्रह और एकागी विचारो से चित्त को दूषित न कर जो समत्व और समन्वय का मार्ग अपनाये हुए हैं।"

जैन धर्म के विशिष्ट सिद्धातो का तुलनात्मक विवेचन बडे आकर्षक और प्रभावक ढग से किया गया है। प्रत्येक स्थल पर अपने पाठको को आत्मोन्नति की ओर प्रेरित होने का प्रयत्न किया है। अनेको

अवतरण और विविध भाषाओ मे विषय पोषण लेखक के अधिकार को सूचित करते है।

दर्शन शास्त्र जैसे नीरस विषय को लेखक ने इतना सरल और रोचक बना दिया है कि इतर कार्यो मे उलझा मानव भी पुस्तक मे शाति का मार्ग पायेगा। जैन धर्म पर प्रस्तुत पुस्तक अपने ढग का नवीनतम प्रकाशन है। प्रकाश की ओर जाने वाले प्रत्येक भारतीय के लिये "जैन शासन" का अध्ययन और मनन अनिवार्य सा है।

विश्वभारती - (शाति निकेतन)

"जैन शासन" पुस्तक मे जैन धर्म, दर्शन और साहित्य का बडा सुदर अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। पुस्तक मे दी गई असख्य टिप्पणियो मे लेखक के विशाल अध्ययन का पता चलता है। जैन साहित्य को सामान्य रूप और विस्तार से समझने के लिए पुस्तक उपयोगी और सग्रहणीय है।"

सन्मार्ग - (मासिक पत्रिका, कलकत्ता)

जैन शासन पुस्तक मे जैन धर्म के सभी प्रमुख सिद्धातो और प्रगतियो का आधुनिक ढग से विश्लेषण करने का प्रयत्न किया गया है। अपने वादो का साधारण जनता भी किस प्रकार समझले इसको ध्यान मे रखा गया है, साथ ही गूढ रहस्यो की उद्घाटन शैली विद्वानो के लिए भी रूचिकर सिद्ध होगी।

जैन सदाचार निरूपण के लिए विशेष स्थान दिया गया है जिनका परिशीलन न केवल जैन धर्मावलबियो के लिए ही मननीय होगा प्रत्युत सर्वसाधारण के लिए भी लाभकर होगा। सदाचार सबधी परिच्छेदो पर पाश्चात्य विद्वानो के सिद्धातो का तुलनात्मक विवेचन भी किया गया है, जिससे नवीनो को भी ग्रन्थ के प्रति आकर्षण होगा। स्याद्वाद आदि दार्शनिक सिद्धातो के भेदभाद प्रकरण को लेकर विद्वान लेखक ने अपनी शैली से विचार चलाया है। जो लोग सिद्धात से मत भेद भी रखेगे वे भी पुस्तक की उपादेयता अवश्य स्वीकार करेगे।

वीरवाणी - जयपुर(राजस्थान)

जैन शासन मे जैन धर्म के सिद्धातो का विशद विवेचन है। पुस्तक काफी परिश्रम से लिखी गई है। भाषा परिमार्जित आकर्षक है। पुस्तक उपादेय है।

Dr Sir M B Niyogi - (Ex-Chief Justice, Nagpur High Court)

Shri S C Diwaker, an erudite scholar, profound thinker and well-known author of several books on religion and philosophy, has laid the public under a deep of obligation by publishing "Jain Shasan" (Hindi) Written in a simple style, the book is well suited to make the truths of the Jain thought intelligible even to the common man

The emphasis laid by the Jain, as well as the Buddhist and Vedantic thought, on pure ethical life, was never more needed than in the present intellectual age Through-out the bygone ages, the Indian thought was devoted to the production of the Ethical man who is now faced with the product of the Industrial age The Economic man is striving to entrench himself in this sacred soil The problem of bread has now captured the stage of life and is driving the outer man to seek its solution in the ruin of the inner man I am sure that the publication will imbue the inner man with strength and courage to meet the challenge of the age

★ ★ ★

विषय सूची

जैन शासन

शान्ति की ओर

इस विशाल विश्व पर जब हम दृष्टि डालते है, तब हमे सभी प्राणी किसी-न-किसी कार्य मे सलग्न दिखायी देते है। चाहे वे कार्य शारीरिक हो, मानसिक हो अथवा आध्यात्मिक। उनका अन्तिम ध्येय आत्मा के लिए आनन्द अथवा शान्ति की खोज करना है। लेकिन ऐसे पुरुषो का दर्शन प्राय: दुर्लभ है, जो प्रामाणिकतापूर्वक यह कह सके कि–'हमने उस आनन्द की अक्षय निधि को प्राप्त कर लिया है।' हमारा यह अभिप्राय नही है कि विश्व मे पाये जाने वाले पदार्थ कुछ भी आनन्द प्रदान नही करते, कारण, अनुकूल शारीरिक, मानसिक अथवा आध्यात्मिक पदार्थ को पाकर प्राणी सतुष्ट होते हुए पाये जाते है और इसीलिए लोग कह भी बैठते है–भाई, आज बडा आनन्द आया! किन्तु, वह आनन्द स्थायी नही रहता। मनोमुग्धकारी इन्द्र-धनुष अपनी छटा से प्रेक्षको के चित्त को आनन्द प्रदान करता है; किन्तु अल्प-काल के अनन्तर उस सुरचाप का विलीन होना उस आनन्द की धारा को शुष्क बना देता है। इसी प्रकार विश्व की अनन्त पदार्थ-मालिका जीवो को कुछ सतोष तो देती है, किन्तु उसके भीतर स्थायित्व का अभाव पाया जाता है।

उस भौतिक पदार्थ से प्राप्त होने वाले आनन्द मे एक बड़ा सकट यह है कि जैसे जैसे विशिष्ट आनन्द-दायिनी सामग्री प्राप्त होती है, वैसे वैसे इस जीव की तृष्णा की ज्वाला अत्यधिक प्रदीप्त होती जाती है। और वह यहा तक बढ जाती है कि सम्पूर्ण विश्व के पदार्थ भी उसके मनोदेवता को पूर्णतया परितृप्त नही कर सकते।

महर्षि गुणभद्र ने लिखा है कि–"जगत् के जीवो की आशा, तृष्णा का गड्ढा बहुत गहरा है-इतना गहरा कि उसमे हमारा सारा विश्व

अणु के समान दिखायी देता है। तब भला, जगत् के अगणित प्राणियो की आशा की पूर्ति इस एक विश्व के द्वारा करे तो एक-एक प्राणी के हिस्से मे इस जगत् का कितना-कितना भाग आएगा।"[1]

विश्व के वैभव आदि से आत्मा की प्यास का बुझना यह अज्ञ जीव मानता है। किन्तु, वैभव और विभूति के बीच मे विद्यमान व्यक्तियो के पास भी दीन-दुखी जैसी आत्मा की पीडा दिखायी देती है। देखिये न, आज का धन-कुबेर माना जाने वाला **हेनरी फोर्ड** कहता है कि–"मेरे मोटर के कारखाने मे काम करने वाले मजदूरो का जीवन मुझसे अधिक आनन्द-पूर्ण है; उनके निश्चिन्त जीवन को देखकर मुझे ईर्ष्या-सी होती है कि यदि मै उनके स्थान को प्राप्त करता तो अधिक सुन्दर होता।" कैसी विचित्र बात यह है कि धन-हीन गरीब भाई आशा-पूर्ण नेत्रो से धनिको की ओर देखा करते है, किन्तु वे धनिक कभी-कभी सतृष्ण नेत्रो से उन गरीबो के स्वास्थ्य, निराकुलता आदि को निहारा करते है। इसीलिए योगिराज **पूज्यपाद ऋषि** भोगी प्राणियो को सावधान करते हुए कहते है–"कठिनता से प्राप्त होने वाले कष्ट-पूर्वक सरक्षण योग्य तथा विनाश-स्वभाव वाले धनादि के द्वारा अपने आपको सुखी समझने वाला व्यक्ति उस ज्वर पीडित प्राणी के समान है जो गरिष्ठ घी सेवन कर क्षण-भर के लिए अपने मे स्वस्थता की कल्पना करता है।"[2]

भौतिक पदार्थो से प्राप्त होने वाले सुखो की निस्सारता को देखने तथा अनुभव करने वाला एक तार्किक कहता है–'भाई, जगत् की वस्तुओ से जितना भी आनन्द का रस खीचा जा सके, उसे निकालने मे क्यो चूको? शून्य की अपेक्षा अल्प लाभ क्या बुरा है।' इस तार्किक ने इस बात पर दृष्टिपात करने का कष्ट नही उठाया कि जगत् के क्षण-स्थायी आनन्द मे निमग्न होने वाले तथा अपने को कृत-कृत्य मानने वाले व्यक्ति की कितनी करुण अवस्था होती है, जब इस आत्मा को वर्तमान शरीर तथा अपनी कही जाने वाली सुन्दर, मनोहर, मनोरम प्यारी वस्तुओ से सहसा नाता तोडकर अन्य लोक की महायात्रा करने को बाध्य होना पडता है।

कहते है, सम्राट् सिकन्दर जो विश्व विजय के रग मे मस्त हो अपूर्व साम्राज्य-सुख के सुमधुर स्वप्न मे सलग्न था, मरते समय केवल

इस बात से अवर्णनीय आन्तरिक व्यथा अनुभव करता रहा था कि मै इस विशाल राज-वैभव का एक कण भी अपने साथ नही ले जा सकता। इसीलिए, जब सम्राट् का शव बाहर निकाला गया, तब उसके साथ राज्य की महान् वैभवपूर्ण सामग्री भी साथ मे रखी गयी थी। उस समय सम्राट् के दोनो खाली हाथ बाहर रखे गये थे; जिसका यह तात्पर्य था कि विश्व विजय की कामना करने वाले महत्त्वाकाक्षी तथा पुरुषार्थी इस प्रतापी पुरुष ने इतना बहुमूल्य सग्रह किया जो प्रेक्षको के चित्त मे विशेष व्यामोह उत्पन्न कर देता है। किन्तु फिर भी यह शासक कुछ भी सामग्री साथ नही ले जा रहा है। ऐसे सजीव तथा उद्बोधक उदाहरण से यह प्रकाश प्राप्त होता है कि बाह्य पदार्थो मे सुख की धारणा मूल मे ही भ्रमपूर्ण है। प्यासा हरिण ग्रीष्म मे पानी प्राप्त करने की लालसा से मरु-भूमि मे कितनी दौड नही लगाता, किन्तु मायाविनी मरीचिका के भुलावे मे फँसकर वृद्धिगत पिपासा से पीडित होता है और प्यारे पानी के पास पहुँचने का सौभाग्य ही नही पाता– उसकी मोहनी-मूरत ही नयन-गोचर होती है, पुरुषार्थ करके ज्यो ज्यो आगे दौडता है, वह नयनाभिराम वस्तु दूर होती जाती है। इसी प्रकार भौतिक पदार्थो के पीछे दौडने वाला सुखाभिलाषी प्राणी वास्तविक आनन्दामृत के पान से वचित रहता है और अन्त मे इस लोक से बिदा होते समय सग्रहीत ममता की सामग्री के वियोग-व्यथा से सन्तप्त होता है। ऐसे अवसर पर सत्-पुरुषो की मार्मिक शिक्षा ही स्मरण आती है–

"रे जिय, प्रभु सुमिरन मे मन लगा लगा।
लाख करोर की धरी रहैगी, सग न जइहै एक तगा॥"

इस प्रसग मे विद्या-प्रेमी नरेश भोज का जीवन-अनुभव भी विशेष उद्बोधक है। कहते है, जब महाराज अपनी सुन्दर रमणियो, स्नेही मित्रो, प्रेमी बन्धुओ, हार्दिक अनुरागी सेवको, हाथी-घोडे आदि की अपूर्व सर्वागीण आनन्ददायिनी सामग्री को देखकर अपने विशिष्ट सौभाग्य पर उचित अभिमान करते हुए अपने महाकवि से हृदय की बाते कर रहे थे, तब महाराज भोज के भ्रम को भगाने वाले तथा सत्य की तह तक पहुँचाने वाले कवि के इन शब्दो ने उनकी आँखे खोल दी–"ठीक है महाराज, पुण्य-उदय से आपके पास सब कुछ है, लेकिन यह तब तक ही है जब तक आपके नेत्र खुले हुए है। नेत्रो के बन्द होने पर यह कहा

रहेगा।"[3] **महाकवि भूधरदास** जी की निम्न पंक्तिया अन्तस्तल तक अपना प्रकाश पहुँचा वास्तविक मार्ग-दर्शन कराती है–

"तेज तुरग सुरग भले रथ, मत्त मतग उतग खरे ही।
दास खवास अवास अटा धन, जोर करोरन कोश भरे ही॥
ऐसे भये तो कहा भयौ हे नर! छोर चले जब अत छरे ही।
धाम खरे रहे काम परे रहे, दाम गरे रहे ठाम धरे ही।"

–जैनशतक 33।

कवि की यह उक्ति ध्यान देने योग्य है–

साझ भई सूरज भयौ पश्चिम दिशि की ओर।
नभ अधियारौ बढ़ि चल्यौ, हिय कसकी निशि-चोर॥
सोच भयौ हिय, देखि कै अपनी जीवन सांझ।
दिन की घड़िया रहि गयीं हाय बाझ की बाझ॥

ऐसी ही गम्भीर चिन्तना मे समुज्जवल दार्शनिक विचारो का उदय होता है। पश्चिम के तर्कशास्त्री **प्लेटो** महाशय कहते है– Philosophy begins in wonder (दर्शन-शास्त्र का जन्म आश्चर्य मे होता है)। इसका भाव यह है कि जब विचित्र घटना-चक्र से, जीवन पर विशेष प्रकार का आघात होता है, तब तात्त्विकता के विचार अपने आप उत्पन्न होने लगते है। गौतम की आत्मा मे यदि रोगी, वृद्ध तथा मृत व्यक्तियो के प्रत्यक्ष दर्शन से आश्चर्य की अनुभूति न हुई होती तो वह अपनी प्रिय यशोधरा और राज्य से पूर्णतया निर्मम हो बुद्धत्व के लिए साधना-पथ पर पैर नही रखते।

वास्तविक शान्ति की प्यास जिस आत्मा मे उत्पन्न होती है, वह सोचता है–"मै कौन हूँ?, मै कहा से आया हूँ?, मेरा क्या स्वभाव है?, मेरे जीवन का ध्येय क्या है?, उसकी पूर्ति का उपाय क्या है?"[4] पश्चिमी पण्डित **हेकल** (Hackel) महाशय कहते हैं–"Whence do we come? What are we? Whither do we go?" ऐसे प्रश्नो का समाधान करने के लिए जिस सत्पुरुष ने सदाशयतापूर्वक प्रयत्न किया वही महापुरुषो मे गिना जाने लगा और उस महापुरुष ने जिस मार्ग को पकड़ा

वही भोले तथा भूले भाइयो के लिए कल्याण का मार्ग समझा जाने लगा–'**महाजनो येन गतः स पन्थाः।**'

आज के उदार जगत् से निकट सम्बन्ध रखने वाला व्यक्ति सभी मार्गों को आनन्द का पथ जान उसकी आराधना करने का सुझाव सबके समक्ष उपस्थित करता है। वह सोचता है कि शान्त तथा लोक-हित की दृष्टिवाले व्यक्तियो ने जो भी कहा वह जीवन मे आचरण योग्य है। तत्त्व के अन्तस्तल को स्पर्श न करने वाले ऐसे व्यक्ति 'रामाय स्वस्ति' के साथ-ही-साथ 'रावणाय स्वस्ति' कहने मे सकोच नही करते। ऐसे भाइयो को तर्कशास्त्र के द्वारा इतना तो सोचना चाहिए कि सद्भावना आदि के होते हुए भी सम्यक्-ज्ञान की ज्योति के बिना सन्मार्ग का दर्शन तथा प्रदर्शन कैसे सम्भव होगा। इसलिए अज्ञानता अथवा मोह की प्रेरणा से तत्त्वज्ञो को रावण की अभिवन्दना छोडकर राम का पदानुसरण करना चाहिए। जीवन मे शाश्वत् तथा यथार्थ शान्ति को लाने के लिए यह आवश्यक है कि कूपमण्डूकवृत्ति[5] अथवा गतानुगतिकता की अज्ञ-प्रवृत्ति का परित्याग कर विवेक की कसौटी पर तत्त्व को कसकर अपने जीवन को उस ओर झुकाया जावे।

*****

सदर्भ सूची

1 "आशागर्त प्रतिप्राणि यस्मिन् विश्वमणूपमम्।
कस्य कि कियदायाति वृथा वो विषयैषिता।।"

—*आत्मानुशासन श्लो० 36।*

2 "दूरर्ज्येनासुरक्ष्येण नश्वरेण धनादिना।
स्वस्थम्मन्यो जन कोऽपि ज्वरवानिव सर्पिषा।।13।।"

—*इष्टोपदेश*

3 "चेतोहरा युवतय सुहृदोऽनुकूला , सद्बान्धवा प्रणयगर्भगिरश्च भृत्या ।
वल्गन्ति दन्तिनिवहा· तरलास्तुरगाः, सम्मीलिते नयनयोर्नहि किञ्चिदस्ति।।"

4 "कोऽह कीदृग्गुण· क्वत्य कि प्राप्य. किंनिमित्तक·।"

—*वादीभसिह सूरिकृत क्षत्रचूडामणि 1-78।*

5 "तातस्य कूपोऽयमिति ब्रुवाणा क्षार जल कापुरुषाः पिबन्ति।"

*****

धर्म के नाम पर

आत्म-साधना द्वारा कल्याण-मंदिर दु खी प्राणियो को प्रविष्ट कराने की प्रतिज्ञापूर्वक प्रचार करने वाले व्यक्तियो के समुदाय को देखकर ऐसा मालूम होता है कि यह जीव एक ऐसे बाजार मे जा पहुँचा है जहाँ अनेक विज्ञ विक्रेता अपनी प्रत्येक वस्तु को अमूल्य कल्याणकारी बता उसे बेचने का प्रयत्न कर रहे है। जिस प्रकार अपने माल की ममता तथा लाभ के लोभवश व्यापारी सत्य सम्भाषण की पूर्णतया उपेक्षा कर वाक्-चातुर्य द्वारा हत-भाग्य ग्राहक को अपनी ओर आकर्षित कर उसकी गाँठ के द्रव्य को प्राप्त करते है, उसी प्रकार प्रतीत होता है कि अपनी मुक्ति अथवा स्वर्ग प्राप्ति आदि की लालसावश भोले-भाले प्राणियो के गले मे साधनामृत के नाम पर न मालूम क्या-क्या पिलाया जाता है और उसकी श्रद्धा-निधि वसूल की जाती है।

ऐसे बाजार मे धोखा खाया हुआ व्यक्ति सभी विक्रेताओ को अप्रामाणिक और स्वार्थी कहता हुआ अपना कोप व्यक्त करता है। कुछ व्यक्तियो की अप्रामाणिकता का पाप सत्य तथा प्रामाणिक व्यवहार करने वाले पुरुषो पर लादना यद्यपि न्याय की मर्यादा के बाहर की बात है, तथापि ठगाया हुआ व्यक्ति रोषवश यथार्थ बात का दर्शन करने मे असमर्थ हो अतिरेकपूर्ण कदम बढाने से नही रुकता। ऐसे ही रोष तथा आन्तरिक व्यथा को निम्नलिखित पक्तिया व्यक्त करती है—

"धर्म ने मनुष्य को कितना नीचे गिराया, कितना कुकर्मी बनाया, इसको हम स्वय सोचकर देखे। ईश्वर को मानना सबसे पहले बुद्धि को सलाम करना है। जैसे शराबी पहला प्याला पीने के समय बुद्धि की बिदाई को सलाम करते है, वैसे ही खुदा के मानने वाले भी बुद्धि से बिदा हो लेते है। धर्म ही हत्या की जड है। कितने पशु धर्म के नाम पर रक्त के प्यासे ईश्वर के लिए ससार मे काटे जाते है, उसका पता लगाकर पाठक स्वय दख ले। समय आवेगा कि धर्म की बेहूदगी से

ससार छुटकारा पाकर सुखी होगा और आपस की कलह मिट जाएगी। एक अत्याचारी, मूर्ख शासक, खुदमुख्तार एव रद्दी ईश्वर की कल्पना करना मानो स्वतत्रता, न्याय और मानव धर्म को तिरस्कार करके दूर फेक देना है। यदि आप चाहे कि ईश्वर आपका भला करे तो उसका नाम एकदम भुला दे, फिर ससार मगलमय हो जायगा।

"वेद, पुराण, कुरान, इजील आदि सभी धर्म पुस्तको के देखने से प्रकट है कि सारी गाथाएँ वैसी ही कहानियाँ है जैसे कुपढ बूढी दादी-नानी अपने बच्चो को सुनाया करती है। बिना देखे-सुने, अनहोने, लापता ईश्वर या खुदा के नाम पर अपने देश को, जाति को, व्यक्तित्व और धन-सम्पत्ति को नष्ट कर डालना, एक ऐसी मूर्खता है जिसकी उपमा नही मिल सकती। यदि हम मनुष्य जाति का कल्याण चाहते है तो हमे सबसे पहले धर्म और ईश्वर को गद्दी से उतारना चाहिए।"[1]

इस विषय मे अपना रोष व्यक्त करने वालो मे सम्भवत. रुस ने बहुत लम्बा कदम उठाया है। वहाँ तो बडे-बडे सम्मेलन करके वोटो (मतो) द्वारा ईश्वर का बहिष्कार तक किया गया, बेचारे धर्म की बात तो जाने दीजिए। रुसी लेखक दास्तोइवस्की एक कदम आगे बढाकर लिखता है-"ईश्वर तो मर चुका है, अब उसका स्थान खाली है।" जर्मन दार्शनिक नीत्शे कहता है- "सर्व देवताओ की मृत्यु हो गई है। अब हम महामानव को जीवित देखना चाहते है।[2]"

पूर्वोक्त कथन मे अतिरेक होते हुए भी निष्पक्ष दृष्टि से समीक्षक को उसमे सत्यता का अश स्वीकार करना ही होगा। देखिए, **श्री विवेकानन्द** अपने राज-योग मे लिखते है-"जितना ईश्वर के नाम पर खून खच्चर हुआ उतना अन्य किसी वस्तु के लिए नही।"

जिसने रोमन-कैथोलिक और प्रोटेस्टेट नामक हजरत ईसा के माननेवालो का रक्त-रंजित इतिहास पढा है अथवा दक्षिण-भारत मे मध्य-युग मे शैव और लिगायतो ने हजारो जैनियो का विनाशकर रक्त की वैतरणी बहायी तथा जिस बात की प्रामाणिकता दिखाने वाले चित्र मदुरा के मीनाक्षी नामक हिन्दू मन्दिर मे उक्त कृत्य के साक्षी स्वरूप विद्यमान है;[3] ऐसे धर्म के नाम पर हुए क्रूर-कृत्यो पर दृष्टि डाली है,

वह अपनी जीवन की पवित्र श्रद्धानिधि ऐसे मार्गो के लिए कैसे समर्पण करेगा?

धर्मान्धो की विवेक-हीनता, स्वार्थ-परता अथवा दुर्बुद्धि के कारण ही धर्म की आज के वैज्ञानिक जगत् मे अवर्णनीय अवहेलना हुई और उच्च विद्वानो ने अपने आपको ऐसे धर्म से असम्बद्ध बताने मे या समझने मे कृतार्थता समझी। कविवर रवीन्द्रनाथ ने एक गीत मे अपने प्रभु से प्रार्थना की है कि- वह धर्मान्धता के महान अभिशाप से हम सबको बचावे। धर्म शून्य की अपेक्षा धर्मान्ध अधिक भयकर है। यदि धर्मान्धो ने अमर्यादापूर्ण तथा उच्छृखलतापूर्ण आचरण कर सहार न किया होता तो धर्म के विरुद्ध ये शब्द न सुनायी पडते। ऐसी स्थिति मे इस बात की आवश्यकता है कि भ्रम की भँवर मे फँसे हुए जगत् का उद्धार करने वाले सुख तथा शन्तिदाता धर्म का ही उद्धार किया जाय, जिससे लागो को वास्तविकता का दर्शन हो।

सदर्भ सूची

1 प्रपञ्चपरिचय, पृ॰ 217-20।

2. Dead are all Gods, Now we want the superman to live

3 देखो, जर्मन डॉ॰ वान् ग्लेप्नेस का जैन-धर्म सम्बन्धी ग्रथ

- Jainimus, p 64

*****

धर्म और उसकी आवश्यकता

साम्यवाद सिद्धान्त का प्रतिष्ठापक तथा रुस का भाग्य-विधाता **लेनिन** धर्म की ओट मे हुए अत्याचारो से व्यथित हो कहता है कि विश्व-कल्याण के लिए धर्म की कोई आवश्यकता नही है। उसके प्रभाव मे आये हुए व्यक्ति धर्म को उस अफीमी गोली के समान मानते है, जिसे खाकर कोई अफीमची क्षण-भर के लिए अपने मे स्फूर्ति और[1] शक्ति का अनुभव करता है। इसी प्रकार उनकी दृष्टि से धर्म भी कृत्रिम आनन्द अथवा विशिष्ट शान्ति प्रदान करता है।

यह दुर्भाग्य की बात है कि इन असतुष्ट व्यक्तियो को वैज्ञानिक धर्म का परिचय नही मिला, अन्यथा ये सत्यान्वेषी उस धर्म की प्राण-पण से आराधना किये बिना न रहते। जिन्होने इस महान् साधना के साधनभूत मनुष्य जन्म की महत्ता को विस्मृत कर अपनी आकाक्षाओ की पूर्ति को ही नर-जन्म का ध्येय समझा है, वे गहरे भ्रम मे फँसे हुए है और उन्हे इस विश्व की वास्तविक स्थिति का बोध नही प्रतीत होता।

सम्राट् अमोघवर्ष अपने अनुभव के आधार पर मनुष्य-जन्म को ही असाधारण महत्त्व की वस्तु बताते है। अपनी अनुपम कृति प्रश्नोत्तर-रत्न-मालिका मे उन्होने कितनी उद्‌बोधक बात लिखी है–

"कि दुर्लभ? नृजन्म, प्राप्येव भवति कि च कर्तव्यम्?
आत्महितमहितसगत्यागो रागश्च गुरुवचने॥"

इस मानव-जीवन की महत्ता पर प्राय: सभी सन्तो ने अमर-गाथाएँ रची है। इस जीवन के द्वारा ही आत्मा सर्वोत्कृष्ट विकास को प्राप्त कर सकती है। **कबीरदास** ने कितना सुन्दर लिखा है–

"मनुज जनम दुरलभ अहै, होय न दूजी बार।
पक्का फल जो गिर गया, फेर न लागै डार॥"

वैभव, विद्या, प्रभाव आदि के अभिमान मे मस्त हो यह प्राणी अपने को अजर-अमर मान अपने जीवन की बीतती हुई स्वर्ण-घडियो की महत्ता पर बहुत कम ध्यान देता है। वह सोचता है कि हमारे जीवन की आनन्दगगा अविच्छिन्न रूप से बहती ही रहेगी, किन्तु वह इस सत्य का दर्शन करने से अपनी आखो को मीच लेता है कि परिवर्तन के प्रचण्ड प्रहार से बचना किसी के भी वश की बात नही है।

महाभारत मे एक सुन्दर कथा है– पाचो पाण्डव तृषित हो एक सरोवर पर पानी पीने के लिए पहुँचे। उस जलाशय के समीप निवास करने वाली दिव्यात्मा ने अपनी शकाओ का उत्तर देने के पश्चात् ही जल पीने की अनुज्ञा दी। प्रश्न यह था कि जगत् मे सबसे बडी आश्चर्यकारी बात कौन-सी है? भीम, अर्जुन आदि भाइयो के उत्तरो से जब सन्तोष न हुआ, तब अन्त मे धर्मराज युधिष्ठिर ने कहा–

"अहन्यहनि भूतानि गच्छन्ति यममन्दिरम्।
शेषा जीवितुमिच्छन्ति किमाश्यर्चमत परम्।।"[2]

इस सबध मे **गुणभद्राचार्य** की उक्ति अन्तस्तल को महान् आलोक प्रदान करती है। वे कहते है–अरे, यह आत्मा निद्रावस्था द्वारा अपने मे मृत्यु की आशका को उत्पन्न करता है और जागने पर जीवन के आनन्द की झलक दिखाता है। जब यह जीवन-मरण का खेल आत्मा की प्रतिदिन की लीला है, तब भला, यह आत्मा इस शरीर मे कितने काल तक ठहरेगा?[3]

मोह की नीद मे मग्न रहने वालो को **गुरु नानक** जगाते हुए कहते है .–

जागो रे जिन जागना, अब जागनिकी बार।
फेरि कि जागो 'नानका', जब सोवउ पाव पसार।।

आज के भौतिक-वाद के भँवर मे फँसे हुए व्यक्तियो मे से कभी-कभी कुछ विशिष्ट-आत्माएँ मानव-जीवन की अमूल्यता का अनुभव करती हुई जीवन को सफल तथा मगल-मय बनाने के लिए

छटपटाती रहती है। ऐसे ही विचारो से प्रभावित एक भारतीय नरेश, जिन्होने आइ० सी० एस० की परीक्षा पास की थी। एक दिन कहने लगे–"मेरी आत्मा मे बडा दर्द होता है, जब मै राजकीय कागजातो आदि पर प्रभात से सध्या तक हस्ताक्षर करते-करते अपने अनुपम मनुष्य-जीवन के स्वर्णमय दिवस के अवसान पर विचार करता हूँ। क्या हमारा जीवन हस्ताक्षर करने के जडयत्र के तुल्य है? क्या हमे अपनी आत्मा के लिए कुछ भी नही करना है? मानो हम शरीर ही हो और हमारी आत्मा ही न हो। कभी-कभी आत्मा बेचैन हो सब कामो को छोडकर वनवासी बनने को लालायित हो उठता है।"

मैने कहा, इस तरह घबराने से कार्य नही चलेगा। यदि सत्य, सयम, अहिसा आदि के साथ जीवन को अलकृत किया जाय, तो अपने लौकिक उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य करने मे कोई बाधा नही है। अध्यात्म दीप के प्रकाश मे कर्त्तव्य पालन कीजिए। आत्म विस्मृति नही होनी चाहिए। सतुलित जीवन बनाइये। भय की कोई बात नही है। आप वैज्ञानिक धर्म के उज्जवल प्रकाश मे अपने को तथा अपने कर्त्तव्यो को देखने का प्रयत्न कीजिए। इससे शान्तिपूर्वक जीवन व्यतीत होगा तथा मनुष्य-जीवन की सार्थकता भी होगी। इमरसन ने कहा है, "Nothing can bring you peace, but your self " तुम्हारी आत्मा के सिवाय दूसरी वस्तु तुम्हे शांति नही प्रदान कर सकती है। यह सिद्धात महत्वपूर्ण है।

गौतमबुद्ध ने अपने भिक्षुओ को धर्म के विषय मे कहा है–

'देसेथ भिक्खवे धम्म आदिकल्लाण मज्झे कल्लाण परियोसानकल्लाण'[4]–भिक्षुओ, तुम आदिकल्याण, मध्यकल्याण तथा अन्त मे कल्याण वाले धर्म का उपदेश दो। **आचार्य गुणभद्र** आत्मानुशासन मे लिखते है कि–"धर्म सुख का कारण है। कारण अपने कार्य का विनाशक नही होता। अतएव आनन्द के विनाश के भय से तुम्हे धर्म से विमुख नही होना चाहिए।"[5]

इससे यह बात प्रकट होती है कि विश्व मे रक्तपात, सकीर्णता, कलह आदि उत्पातो का उत्तरदायित्व धर्म पर नही है। धर्म की मुद्रा धारण करनेवाले धर्माभास का ही कलकमय कारनामा है। अधर्म या पाप

से उतना अहित अथवा विनाश नही होता, जितना धर्म का दम्भ दिखाने वाले जीवन अथवा सिद्धान्तो से होता है। व्याघ्र की अपेक्षा गोमुख व्याघ्र के द्वारा जीवन अधिक सकटापन्न बनता है।

लार्ड एवेबरी ने ठीक ही कहा है कि "विश्व मे शांति तथा मानवो के प्रति सद्भावना का कारण धर्म है, जो घृणा तथा अत्याचार को उत्तेजित करता है, उसे शब्दशः धर्म भले ही कहा जाय, किन्तु भाव की दृष्टि से यह पूर्णतया मिथ्या है।"[6] **डा० भगवानदास का कथन है**[7]–"सल्तनतो और कूटनीति की बाँदी बनकर साइस ने मजहब से कही ज्यादा मारकाट की है, पर यह सब झगडा न सच्ची साइस का नतीजा है और न सच्चे धर्म या मजहब का। यह नतीजा है हमारे अन्दर के शैतान, हमारी खुदी, हमारे स्वार्थ और हमारे अहकार का। हम अपनी छोटी झूठी शान और चदरोजा गरजो के लिए साइस और मजहब दोनो का गलत उपयोग करते है और दोनो को बदनाम करते है। मजहब के नाम पर झगडे दुनिया मे हुए है और होगे, पर इन झगडो की वजह से मजहब को दुनिया से मिटाने की कोशिश ऐसी है जैसे रोग को दूर करने के लिए शरीर को मार डालने की कोशिश। जब तक दुनिया मे दु.ख और मौत है तब तक लोगो को धर्म की जरूरत रहेगी . ।"

न्यायमूर्ति डॉ० सर एम० बी० नियोगी महाशय ने धर्मतत्त्व के समर्थन मे एक बहुत सुन्दर बात कही थी–"यदि इस जगत् मे वास्तविक धर्म का वास न रहे तो शान्ति के साधनरूप पुलिस आदि के होते हुए भी वास्तविक शान्ति की स्थापना नही की जा सकती। जैसे पुलिस तथा सैनिक बल के कारण साम्राज्य का सरक्षण घातक शक्तियो से किया जाता है उसी प्रकार धर्मानुशासित अन्तःकरण के द्वारा आत्मा उच्छृखल तथा पापपूर्ण प्रवृत्तियो से बचकर जीवन तथा समाज-निर्माण के कार्य मे उद्यत होता है।"

उस धर्म के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए तार्किक चूड़ामणि आचार्य **समन्तभद्र** कहते है–"जो ससार के दुखो से बचाकर इस जीव को उत्तम सुख प्राप्त करावे, वह धर्म है[8]।" **वैदिक दार्शनिक** कहते हैं–"जिससे सर्वांगीण उदय-समृद्धि तथा मुक्ति की प्राप्ति हो, वह धर्म

है।"[9] **श्री विवेकानन्द** मनुष्य मे विद्यमान देवत्व की अभिव्यक्ति को धर्म कहते हैं।"[10] **राधाकृष्णन्** 'सत्य तथा न्याय की उपलब्धि को एव हिसा के परित्याग को, धर्म मानते है।[11] धर्म की अब स्थिति तर्क सगत जीवन के रूप मे आवश्यक है क्योंकि उस धर्म का अत जीवन से मुख्य सबध रखता है। इस प्रकार जीवन मे 'सत्य शिव सुन्दरम्' को प्रतिष्ठित करने वाले धर्म के विषय मे और भी विद्वानो के अनुभव पढ़ने मे आते हैं।

कार्तिकेय आचार्य ने धर्म पर व्यापक दृष्टि डालते हुए जैनागम में लिखा है– **'वत्थुसहावो धम्मो'**[12]–आत्मा की स्वाभाविक अवस्था धर्म है–इसे दूसरे शब्दो मे कह सकते है कि स्वभाव-प्रकृति (Nature) का नाम धर्म है। विभाव, विकृति का नाम अधर्म है। इस कसौटी पर लोगो के द्वारा आक्षेप किये गये हिसा, दम्भ, विषय-तृष्णा आदि धर्म नामधारी पदार्थ को कसते हैं, तो वे पूर्णतया खोटे सिद्ध होते है। क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, मोह, आदि जघन्य वृत्तियो के विकास से आत्मा की स्वाभाविक निर्मलता और पवित्रता का विनाश होता है। इनके द्वारा आत्मा मे विकृति उत्पन्न होती है जो आत्मा के आनन्दोपवन को स्वाहा कर देती है।

अहिसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि की अभिवृद्धि एव अभिव्यक्ति से आत्मा अपनी स्वाभाविकता के समीप पहुँचते हुए स्वय धर्म-मय बन जाता है। हिसा आदि को जीवनोपयोगी अस्त्र मानकर यह पूछा जा सकता है कि अहिसा, अपरिग्रह आदि को अथवा उनके साधनो को धर्म सज्ञा प्रदान करने का क्या कारण है?

राग-द्वेष-मोह आदि को यदि धर्म माना जाय तो उनका आत्मा मे सदा सद्भाव पाया जाना चाहिये। किन्तु, अनुभव उन क्रोधादिको के अस्थायित्व अतएव विकृतपने को ही बताता है। अग्नि के निमित्त से जल मे होने वाली ऊष्णता जल का स्वाभाविक परिणमन नही कहा जा सकता, उसे नैमित्तिक विकार कहेगे। अग्नि का सम्पर्क दूर होने पर वही पानी अपनी स्वाभाविक शीतलता को प्राप्त हो जाता है। शीतलता के लिए जैसे अन्य सामग्री की आवश्यकता नही होती और वह सदा पायी जा सकती है, उसी प्रकार अहिसा, मृदुता, सरलता आदि गुणयुक्त

अवस्थाएँ आत्मा मे स्थायी रूप मे पायी जा सकती है। इस स्वाभाविक अवस्था के लिए बाह्य अनात्म पदार्थ की आवश्यकता नही रहती, क्रोधादि विभावो अथवा विकारो की बात दूसरी है। इन विकारो को जाग्रत तथा उत्तेजित करने के लिए बाह्य सामग्री की आवश्यकता पडती है। बाह्य साधनो के अभाव मे क्रोधादि विकारो का विलय हो जाता है। कोई व्यक्ति चाहने पर भी निरन्तर क्रोधी नही रह सकता। कुछ काल के पश्चात् शान्त भाव का आविर्भाव हुए बिना नही रहेगा। आत्मा के स्वभाव मे ऐसी बात नही है। यह आत्मा सदा क्षमा, ब्रह्मचर्य, सयम आदि गुणो से भूषित रह सकता है। इसलिए, क्रोध-मान-माया-लोभ, राग-द्वेष-मोह आदि को अथवा उनके कारणभूत साधनो को अधर्म कहना होगा।[13] आत्मा के क्षमा, अपरिग्रह, आर्जव आदि भावो तथा उनके साधनो को धर्म मानना होगा, क्योंकि वे आत्मा के निजी भाव है।[14]

सात्त्विक आहार-विहार, सत्पुरुषो की सगति, वीरोपासना आदि कार्यो से आत्मीय पवित्रता का प्रादुर्भाव होता है इसलिए उन्हे भी उपचार से धर्म कहा जाता है। यहा धर्म के साधनो मे साध्य रूप धर्म का उपचार किया जाता है। उस आत्म-धर्म की अथवा उस आत्म-निर्मलता की उपलब्धि के लिए आत्मा की अनन्त-शक्ति, अनन्त ज्ञान, अनन्त आनन्द के विषय मे अखण्ड आत्मश्रद्धा, अनात्मपदार्थो से आत्मज्योति का विश्लेषण करनेवाला आत्म-बोध तथा अपने स्वाभाविक आनन्द-स्वरूप मे तल्लीनता रूप आत्मनिष्ठा की हमे नितान्त आवश्यकता है। इन तीन गुणो के पूर्ण विकसित होने पर यह आत्मा सम्पूर्ण दुःखो से मुक्त हो जाता है। इस अवस्था को ही निर्वाण या मुक्ति कहते है। **महापण्डित आशाधर** ने बडे मार्मिक शब्दो मे धर्म के स्वरूप को चित्रित किया है-

"धर्म पुसो विशुद्धिः सुदृगवगमचारित्ररूपा सच स्वा " [आत्मा की विशुद्ध मनोवृत्ति-सत्य श्रद्धा, सत्य-ज्ञान तथा सत्याचरण रूप परिणति धर्म है। (अनगारधर्मामृत 1, 90)।[15]] गाधी जी द्वारा समाहत विद्वान **रायचद्र भाई** ने कहा है, "धर्म का अर्थ मत-मतान्तर नही है। वह आत्मा का गुण है। उसके द्वारा हम दूसरे जीवो के साथ अपना सच्चा सबध पहिचान सकते है। धर्म वह साधन है जिसके द्वारा हम अपने आपको स्वय पहिचान सकते है। यह साधन जहा कही भी मिले वही से प्राप्त करना चाहिए। (रायचन्द्र ग्रथ पृ 9)

धर्म के नाम से रुष्ट होने वाले व्यक्तियो को इस आत्म-निर्मलता रूप पुण्य तथा परिपूर्ण जीवन की ओर व्यक्ति तथा समाज को पहुँचाने वाले धर्म के विरुद्ध आवाज उठाने का कोई कारण नही रहता। ऐसा धर्म जिस आत्मा मे, जिस जाति मे, जिस देश मे, अवतीर्ण होता है, वहा आनन्द का सुधाशु अपनी अमृतमयी किरणो से समस्त सन्तापो को दूर कर अत्यन्त उज्ज्वल तथा आह्लाद-प्रद अवस्था को उत्पन्न करता है। ऐसे धर्म की अवस्थिति मे शत्रुता नही रहती। स्वतन्त्रता, स्नेह, समृद्धि, शान्ति सभी आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक आदि सर्वतोमुखी अभिवृद्धि से वह व्यक्ति अथवा राष्ट्र पवित्र होता है। जब इस पुण्य-भू भारत मे धर्ममय जीवन वाली विभूतियो का विहार होता था, तब यही भारत सर्वतोमुखी उन्नति का क्रीडास्थल बना हुआ था और मनु के शब्दो मे इस देश की गुणगाथा देवता भी गाया करते थे।

*****

सदर्भ सूची

1 "Religion to his master, Marx, had been the "opium of the people" and to Lenin it was "a kind of spiritual cocaine in which the slaves of capital drown their human perception and their demands for any life worthy of a human being "

- *Fulop Miller, Mind and Face of Bolshevism, p 78*

2 प्रतिदिन प्राणी मरकर यम-मन्दिर मे पहुँचते रहते है। यह बडे आश्चर्य की बात है कि शेष व्यक्ति जीवन की कामना करते है– (मानो यमराज उन पर दया कर देगा।)।

3 "प्रसुप्तो मरणाशका प्रबुद्धो जीवितोत्सवम्।
प्रत्यह जनयत्येष तिष्ठेत् काये कियच्चिरम्।।82।।" *–आत्मानुशासन*

4 महावग्ग विनय-पिटक।

5 "धर्म सुखस्य हेतुर्हेतुर्न विराधक स्वकार्यस्य।
तस्मात् सुखभगभिया मा भू धर्मस्य विमुखस्त्वम्।।20।।" *–आत्मानुशासन*

6. "Religion was intended to bring peace on earth and goodwill towards men, whatever tends to hatred and persecution, however correct in the letter, must be utterly wrong in the spirit "

7 विश्ववाणी अक 4।8

8 "देशयामि समीचीन धर्म कर्मनिबर्हणम्।
ससारदु:खत· सत्त्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे।।2।।" *–रत्नकरण्डश्रावकाचार*

9 ''यतोऽभ्युदयनि·श्रेयससिद्धि. स धर्म.।''

—*वैशेषिकदर्शन 1।1।2*

10 Religion is the manifestation of divinity in man

11 "Religion is the pursuit of truth and justice and abdication of violence " Religion must establish itself as a rational way of living Religion is essentially a concern of the inner soul"—*My Search for Truth*

12. धम्मो वत्थु सहावो खमादिभावो य दसविहोधम्मो
रयणत्तय च धम्मो जीवाण रक्खण धम्मो।।478।।

- *कार्तिकेयानुप्रेक्षा*

(वस्तु का स्वभाव धर्म है। क्षमादि दस प्रकार भाव धर्म है। सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय रुप धर्म है। जीवो की रक्षा करना धर्म है।)

13 उत्तमक्षमा मार्दवार्जव-शौच-सत्य-सयम-तपत्यागाकिचन्य ब्रह्मचर्याणि धर्म ।

—*तत्त्वार्थसूत्र अ 8 सू 6*

14 भारतीय धर्मों का अथवा विश्व के प्राय सभी धर्मों का अध्ययन करने से ज्ञात होगा कि उन धर्मो की प्रामाणिकता का कारण यह है कि परमात्मा ने उस धर्म के मान्य सिद्धान्तो को बताने वाले ग्रन्थ की स्वय रचना की है। जब परमात्मा जैसे परम आदर्श ने अपनी पुस्तक द्वारा कल्याण का मार्ग बताया, तब उसे अप्रमाणिक कहने का कौन साहस करेगा। हा एक प्रबल तर्क इस मान्यता की जड को शिथिल कर देता है कि यदि परमात्मा ने किताब बनाकर दी या भेजी तो उन पुस्तको मे पूर्णतया परस्पर सामजस्य होना चहिए था। वेद, कुरान, बाइबिल आदि ईश्वरकृत रचनाओ मे निष्पक्ष अध्येताओ को सहज सामजस्य नही दिखता। इसीलिए तो ईश्वर का नाम ले-लेकर और उनकी कथित पुस्तक के अवतरण देकर एक दूसरे को झूठा कहते हुए अपने को सच्चा समझ कर सतुष्ट होते है। ईश्वर के सम्बन्ध मे विशेष प्रकाश हम आगे स्वतत्र अध्याय मे डालेगे।

15 दुर्भाग्य से अथवा कल्पना के सहारे यदि कोई चिन्तक विश्व-नियता-निर्मित पुस्तको के ध्वस अथवा अभाव की अवस्था का अनुमान करे तो उसे यह जानकर आश्चर्य होगा कि ग्रन्थो से सम्बन्धित ''किताबी'' कहे जाने वाले धर्मों की बहुत बडी सख्या अदृश्य हो जायगी, उनका अस्तित्व नहीं मिलेगा। किन्तु 'वस्तु-स्वभाव' रूप सुदृढ शिला पर अवस्थित धर्म सदा अपना अस्तित्व बनाये रहेगा। कदाचित् इसका सारा साहित्य लुप्त हो जाये, तो भी प्रकृति की अविनाशी पुस्तक को पढकर विवेकी मानव इस प्राकृतिक रूप धर्म के मनोरम मन्दिर का क्षणमात्र मे पुनर्निर्माण कर सकेगा। इसलिए कहना होगा कि ऐसे प्रकृति की गोद में पले हुए धर्म को कालबलि कभी भी कोई क्षति नहीं पहुँचा सकता। यथार्थ मे सनातनत्व के सच्चे बीज ऐसे धर्म मे ही मानना तर्क-सगत होगा।

*****

धर्म की आधारशिला–आत्मत्व

भारतीय दर्शनो मे चारु-वाक् अर्थात् मधुर-भाषी चार्वाक-सिद्धान्त अपना निराला राग आलापता है। इस दर्शन की दृष्टि मे वे ही बाते मान्य है जो प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय बनती है। सुकुमार-बुद्धि तथा भोग-लोलुपी लोगो को विषयो मे प्रवृत्त कराने मे यह ऐसी तर्कपूर्ण सामग्री प्रदान करता है कि लोग इसके चक्कर मे उसी प्रकार फँस जाते है, जिस प्रकार मधु के माधुर्य से आकर्षित मक्षिका मधु-पुञ्ज मे रस-पान करते-करते अन्त मे कष्टपूर्वक प्राणो का विसर्जन कर बैठती है।

इस चार्वाक की प्रत्यक्ष की एकान्त मान्यता अनुमान-प्रमाण को माने बिना टिक नही सकती। कम से कम अपने सिद्धान्त के समर्थन मे वह कुछ युक्ति तो देगा, जिससे प्रत्यक्ष मे प्रामाणिकता पायी जाए। उस युक्ति से यदि पक्ष समर्थन किया तो 'साधनात् साध्यविज्ञानम्' रूप अनुमान प्रमाण से चार्वाक की 'प्रत्यक्ष ही प्रमाण है' इस मान्यता का मूलोच्छेद हुए बिना न रहेगा।[1]

इस विचार प्रणाली वाले धर्म का उपहास करते हुए कहते है–'बास के बिना जैसे बासुरी नही बनती, उसी प्रकार आत्म तत्त्व के अभाव मे धर्म की अवस्थिति भी कैसे हो सकती है।' ऐसी स्थिति मे धर्म द्वारा उस काल्पनिक आत्मा के लिए शान्ति तथा सुख की साधन सामग्री एकत्रित करना ऐसा ही है जैस किसी कवि का यह कहना–"देखो, वध्या का पुत्र चला आ रहा है, उसके मस्तक पर आकाश-पुष्पो का मुकुट लगा हुआ है, उसने मृग-तृष्णा के जल मे स्नान किया है, उसके हाथ मे खरगोश के सीग का बना धनुष है।"

इसलिए, आधिभौतिक पण्डित इन्द्रियो को सन्तुष्ट करते हुए जीवन व्यतीत करने की सलाह देते है। जब मरण के उपरान्त शरीर भस्म हो जाता है, तब आत्मा के पुनरागमन का विचार व्यर्थ और कल्पना मात्र है।[2] अतएव, यदि पास मे सम्पत्ति न हो तो भी "ऋण

कृत्वा घृत पिबेत्" कर्जा लेकर भी घी पिओ। **स्व० लोकमान्य तिलक** ने पश्चिमी आधिभौतिक पण्डितो को लक्ष्य करके 'घृत पिबेत्' के स्थान पर 'सुरा पिबेत्' का पाठ सुझाते हुए यूरोपियन लोगो की मद्य-लोलुपता का मधुर उपहास किया है।[3] पाश्चात्य दार्शनिक काट (Kant) के विषय मे कहा जाता है कि एकबार पर्यटन करते हुए धोखे से उसकी छडी एक भद्र पुरुष को लग गई। उसने इस प्रमादपूर्ण प्रवृत्ति को देख पूछा–महाशय आप कौन है? उत्तर मे काट ने कहा–"If I owned the whole world, I would give you one-half, if you could answer that question for me who am I "–"कदाचित् मै सपूर्ण जगत् का स्वामी होता, तो मै तुम्हे आधी दुनिया का अधिपति बना देता, यदि तुम उस प्रश्न का उत्तर स्वय देते, कि "मै कौन हूँ।" भ्रान्ति के कारण यह जीव 'मै' को नही जानता। आधिभौतिक दृष्टि वाले स्वर्गादि को मधुर कल्पना मात्र मानते है। गालिब कहता है–

हमको मालूम है जन्नत की हकीकत लेकिन।
दिल को खुश करने को 'गालिब' ये खयाल अच्छा है॥

धर्म-तत्त्व के आश्रय स्वरूप आत्मा को आधिभौतिक पण्डित जड-तत्त्वो के विशेष सम्मिश्रण रूप समझते है। उन्हे इस बात का पता नही है कि अनुभव और प्रबल युक्तिवाद आत्मा के सद्भाव को सिद्ध करते है। ज्ञान आत्मा की एक ऐसी विशेषता है जो उसके स्वतत्र अस्तित्व को सिद्ध करती है।

पञ्चाध्यायी मे लिखा है कि प्रत्येक आत्मा मे जो 'अहम्' प्रत्यय-'मै' पने का बोध है, वह जीव के पृथक् अस्तित्व को सूचित करता है।[4] **डीकार्टे** कहता है–"Cogito ergo Sum , I think, therefore I am"–'मै विचारता हूँ, इस कारण मेरा अस्तित्व है।' **प्रो० मैक्समूलर** ठीक इसके विपरीत शब्दो द्वारा आत्मा का समर्थन करते हुए कहते हैं–'मेरा अस्तित्व है अतएव मै सोचता हूँ'–'I am, therefore I think ' जीव की प्रत्येक अवस्था मे उसका ज्ञान-गुण उसी प्रकार सदा अनुगमन करता है, जिस प्रकार अग्नि के साथ-साथ ऊष्णता का सद्भाव पाया जाता है। सोते-जागते प्रत्येक अवस्था मे इस आत्मा मे 'अहं प्रत्यय'–मै-पने

का बोध पाया जाता है। यही कारण है कि निद्रा मे अनेक व्यक्तियो के समुदाय मे से व्यक्ति-विशेष का नाम पुकारा जाने पर वह व्यक्ति ही उठता है, कारण, उसकी आत्मा मे इस बात का ज्ञान विद्यमान है कि मेरा अमुक नाम है।

जो व्यक्ति, महुआ आदि मादक वस्तुओ के सन्धान मे विशेष उन्मादिनी शक्ति की उद्भूति देख पृथ्वी, जल आदि तत्त्वो के सम्मिश्रण से चैतन्य के प्रकाश का आविर्भाव मानते है, वे इस बात को भूल जाते है कि जब व्यक्तिशः जड तत्त्वो मे चैतन्य का लव-लेश नही है, तब उनकी समष्टि मे अद्भुत चैतन्य का उदय कहा से होगा? एक प्राचीन जैन आचार्य का कथन है कि आत्मा शरीरोत्पत्ति के पूर्व था एव शरीरान्त के पश्चात् भी विद्यमान रहता है "तत्काल उत्पन्न हुए बालक मे पूर्वजन्मगत अभ्यास के कारण माता के दुग्ध-पान की ओर अभिलाषा तथा प्रवृत्ति पायी जाती है। मरण के पश्चात् व्यन्तर आदि रूप मे कभी-कभी जीव के पुनर्जन्म का बोध होता है। जन्मान्तर का किसी-किसी को स्मरण होता है। जड-तत्त्व का जीव के साथ अन्वय-सम्बन्ध नही पाया जाता। इसलिए, अविनाशी आत्मा का अस्तित्व माने बिना अन्य गति नही है।[5]"

'न्यायसूत्र' के रचयिता कहते है–"यदि जन्म के पूर्व मे आत्मा का सद्भाव न होता, तो वीतराग-भाव सम्पन्न शिशु का जन्म होना चाहिए था; किन्तु अनुभव से ज्ञात होता है कि शिशु पूर्व अनुभूत वासनाओ को साथ लेकर जन्म-धारण करता है।"[6]

आत्मा के विषय मे एक बात उल्लेखनीय है, कि वह अपने को प्रत्येक वस्तु का ज्ञाता के रूप मे (Subjectively) अनुभव करता है और अन्य पदार्थों को केवल ज्ञेयरूप से (Objectively) ग्रहण करता है। भाषा-विज्ञान की दृष्टि से भी आत्मा का अस्तित्व अगीकार करना आवश्यक है, अन्यथा उत्तम पुरुष (First Person) के स्थान मे अन्य पुरुष या मध्यम पुरुष रूप शब्दो के द्वारा ही लोक-व्यवहार होता। अग्रेजी भाषा मे आत्मा का वाचक 'I' शब्द सदा बड़े अक्षरो मे (Capital letter) लिखा जाता है। क्या यह आत्मा की विशेषता की ओर सकेत नही करता है?

विख्यात वैज्ञानिक **सर ओलिवर लॉज** ने अपने गम्भीर प्रयोगो द्वारा मरण के उपरान्त आत्मा के अस्तित्व को प्रमाणित किया है।[7]" **टैरटूलियन** (Tertulıan) नामक यूरोपियन पण्डित लिखता है कि- आत्मा एक मौलिक खण्ड-विहीन (Sımple and ındıvısıble) वस्तु है। अतएव उसे अविनाशी होना चाहिए, कारण अखण्ड तथा मूलभूत असयुक्त पदार्थ विनाश-विहीन होता है। आत्मा मे जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह खण्ड खण्ड रूप न होकर अखण्ड समष्टि रूप मे पाया जाता है। उदाहरणार्थ हम कहते है 'आम एक मधुर फल है' इस शब्द-मालिका मे परस्पर भेद होते हुए भी हमे 'आ' 'म' 'ए' 'क' आदि का पृथक्-पृथक् बोध न होकर समष्टि रूप से आम वस्तु का परिज्ञान होता है। यह ज्ञान भौतिक मस्तिष्क से उत्पन्न नही होता। इस ज्ञान की पुनरावृत्ति भी की जा सकती है। इस कारण, जडत्व से भिन्न (Immaterıal) तत्त्व का सद्भाव मानना चाहिए।[8] **मैकडानल, शॉपन हॉयर, लेसिग, हर्डर** आदि पश्चिम के चिन्तको ने आत्मा की मौलिकता को एव अविनाशिता को स्वीकार किया है। अमूर्तिक आत्मा का विचार अनुभव का विषय है, वह भौतिक विज्ञान की परिधि के बाहर की वस्तु है। मनोवैज्ञानिक शोधनमण्डल (Psychıcal Research Socıety) ने आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार किया है।[9] मृत्यु के उपरात भी जीव का सद्भाव पाया जाता है। इस विषय की प्रामाणिकता बताने वाली अनेक घटनाओ का वर्णन सामायिक पत्र पत्रिकाओ मे प्रगट होता रहता है। उनसे यह बात स्पष्ट होती है कि मृत्यु के बाद भी जीव का सद्भाव रहता है। देह के विनाश होने पर भी देही की अवस्थिति पाई जाती है।

प्रमाण- पुनर्जन्म के विषय मे इस्तम्बूल (तुर्की) मे एक महत्वपूर्ण घटना की जाच करके आत्मविद्या तथा वैज्ञानिक अनुसधान परिषद् के अध्यक्ष ने कहा कि, "स्पष्ट ही यह आत्मा के देहान्तरण का मामला है।' घटना का सक्षिप्त रूप 1964 अप्रैल के 'नवनीत' मे इस प्रकार लिखा है-

आबिद नामक एक व्यक्ति की हत्या होने के उपरान्त उसने महमूद नामक व्यक्ति के यहा जन्म लिया। उसे इस्माइल कहा जाता था। जब वह अट्ठारह माह का था तभी से वह बोलने लगा था। जब वह 2½ वर्ष का हुआ, तब उस बालक ने अपने को आबिद कहना शुरु

किया। चार साल का इस्माइल अपने तीन बच्चो का नाम लिया करता था। वह सोते सोते उठ बैठता तथा चिल्लाने लगता–बेटी गुलशरॉ! तुम कहा हो? महमूद के घर के सामने से एक फेरी वाला आइसक्रीम बेचता हुआ जा रहा था। बालक ने उसका नाम लेते हुए कहा–तुम तो पहले साग-सब्जी बेचते थे न? तुम मुझे भूल गए। मै आबिद हूँ। तुम सब्जिया मुझसे ही खरीदा करते थे। एक दिन एक पत्र प्रतिनिधि उस बालक को अदना नामक नगर मे ले गया। बालक जब आबिद के घर पहुचा तो उसने एक वृद्धा को भोजन बनाते हुए पाया एव कहा, यह मेरी पहली औरत आतिस है। उसने पत्र प्रतिनिधि के साथ जब अस्तबल मे प्रवेश किया तब वह अत्यत गभीर हो गया तथा बताया कि 31 जनवरी 1956 को वहा उसकी हत्या की गई थी। उसने अपनी कब्र को पहिचान कर कहा–यहा मुझे दफनाया गया था। आबिद की हत्या का हाल जैसा कि पुलिस की रिपोर्ट मे था, उससे पूर्णतया मिलता था। बालक को इस्माइल नाम से पुकारने पर वह कहा करता था कि मेरा नाम तो आबिद है। जब उसे बच्चे खेलने के लिए बुलाते थे तो वह जवाब देता था कि बच्चो के साथ खेलने के मेरे दिन गए। इस प्रकार आबिद ने इस्माइल के रूप मे जन्म धारण कर यह प्रमाणित कर दिया कि पुनर्जन्म कल्पना नही है।

महाकवि **कालिदास** अपने अभिज्ञानशाकुन्तल मे लिखते है–"कभी-कभी सुखी प्राणी भी मनोरम पदार्थो का दर्शन, मधुर शब्दो का श्रवण करते हुए भी अत्यन्त उत्कण्ठित हो जाता है, इससे प्रतीत होता है कि वह अत.करण मे पूर्व-जन्म के प्रेम को स्मरण करता है।"[10] कवि का भाव यह है कि अनुकूल तथा प्रिय वातावरण मे विद्यमान सुखी व्यक्ति की मनोवृत्ति मे परिवर्तन होने का कारण जन्मान्तर के सस्कारो का प्रभाव है।

पश्चिम का सन्तकवि **वर्ड्सवर्थ** (Wordsworth) कहता है–"हमारा जन्म एक ऐसी निद्रित अवस्था है, जिसमे पूर्व जन्म के अस्तित्व की अनुभूति विस्मृत हो जाती है। जिस आत्मा का शरीर के साथ जन्म होता है वह हमारे जीवन का एक ऐसा नक्षत्र है जो पूर्व मे दूसरी जगह अस्तगत हुआ था। और, जो बडी दूर से आता है।"[11]

ड्रायडन का कथन भी बडा मार्मिक है–"अविनाशी आत्मा का विनाश करने की क्षमता मृत्यु मे नही है। जब विद्यमान शरीर का मृत्तिकारूप परिणमन होता है, तब आत्मा अपने योग्य जीवन आवास-स्थल का अन्वेषण कर लेता है एव अबाध गति से अन्य शरीर मे जीवन तथा ज्योति भर देता है।"[12]

तार्किक-शिरोमणि **अकलङ्क स्वामी** से इस विषय मे अत्यन्त विमल प्रकाश प्राप्त होता है। उनका युक्तिवाद इस प्रकार है–"आत्मा के विषय मे उत्पन्न होने वाले ज्ञान के विषय मे सभी विकल्पो द्वारा आत्मा की सिद्धि होती है। आत्मा के विषय मे यदि सन्देह है तो भी आत्मा का सद्भाव सिद्ध होता है, क्योकि सन्देह अवस्तु को विषय नही करता। सशय-ज्ञान उभय कोटि को स्पर्श किया करता है। आत्मा का यदि अभाव हो तो दो विकल्पो की ओर झुकने वाले ज्ञान का उदय कैसे होगा? अनध्यवसाय-ज्ञान भी जात्यन्ध को रूप के समान प्रकृत मे बाधक नही है, कारण अनादि से आत्मा का परिज्ञान होता आया है। विपरीत-ज्ञान के मानने पर भी आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है, पुरुष को देखकर उसमे स्थाणु-ठूँठ-रूप विपरीत बोध के द्वारा जैसे स्थाणु की सिद्धि होती है, उसी प्रकार आत्मा का यथार्थ बोध होगा। आत्मा के विषय मे समीचीन बोध मानने पर उसका अस्तित्व अबाधित सिद्ध होता है।" (**तत्त्वार्थराजवार्तिक** 2/8)

स्वामी **समन्तभद्र** का युक्तिवाद इस विषय को और भी हृदय-ग्राही बनाता है–"जैसे 'हेतु' शब्द से 'हेतु' रूप अर्थ का बोध होता है, क्योंकि हेतु शब्द सज्ञारूप है, इसी प्रकार 'जीव' शब्द अपने वाच्य रूप 'आत्मा' नामक बाह्य पदार्थ को स्पष्ट करता है, क्योकि 'जीव' शब्द भी सज्ञा रूप है। सज्ञा रूप वाचक का विषय-भूत वाच्य पदार्थ होना चाहिए। जैसे 'प्रमाण' शब्द प्रत्यक्ष आदि प्रमाण रूप प्रमाण को बताता है, वैसे ही माया आदि भ्रान्तिपूर्ण शब्द अपने-अपने वाच्य-भूत माया आदि पदार्थो का परिज्ञान कराते हैं।"[13]

स्याद्वाद-विद्यापति आचार्य **विद्यानन्दि** का कथन है–"यह 'जीव' शब्द का व्यवहार आत्मतत्त्व को छोडकर शरीर के विषय मे प्रसिद्ध नही

है; कारण शरीर अचेतन है और वह आत्मा के भोग का आश्रय रूप से प्रसिद्ध है, आत्मा तो भोक्ता है। इन्द्रियो मे भी 'जीव' व्यवहार नही होता, कारण उनकी उपभोग के साधन रूप से प्रसिद्धि है–जैसे हम कहते है 'मै' 'आखो' 'से' 'देखता' 'हूँ' यहा 'देखना' रूप क्रिया का साधन नेत्र इन्द्रिय है, देखने वाला आत्मा पृथक् पदार्थ है।

रूप-रस-गध शब्द आदि इन्द्रियो के विषयो मे 'जीव' शब्द का व्यवहार करना उचित नही है, कारण वे भोग्य रूप से विख्यात है–जैसे 'मै' 'पानी' 'पीता' 'हू'। यहा पीना क्रिया के विषय मे पानी रूप भोग्य पदार्थ का ग्रहण किया जाता है तथा 'मै' शब्द कर्त्ता आत्मा को बताता है। अतएव भोक्ता आत्मा ही 'जीव' पद वाच्य है। चैतन्य को शरीर आदि का कार्य मानने पर आत्मा मे भोक्तापने की बुद्धि का औचित्य सिद्ध नही होता।"

अकलक स्वामी भाषा-शास्त्रियो के इस सन्देह का भी निराकरण करते है कि 'जीव' शब्द के सद्भाव मे भी जीव रूप अर्थ न माने तो क्या बाधा है? कारण प्रत्येक शब्द का अपने वाच्यार्थ के साथ निश्चित सम्बन्ध हो, ऐसा विदित नही होता। इस भ्रम के निराकरण मे आचार्य कहते है–'जीव शब्द से उत्पन्न होने वाला जीव अर्थ का बोध अबाधित है। जैसे, धूमदर्शन से अग्नि का परिज्ञान किया जाता है और अबाधित होने से उस ज्ञान पर विश्वास किया जाता है उसी प्रकार प्रकृत प्रसग मे समझना चाहिए। मरीचिका मे उत्पन्न होने वाले जल का ज्ञान बाधित होने से दोषयुक्त है। जो ज्ञान अबाधित है उसे निर्दोष मानना होगा। इस नियमानुसार 'जीव' शब्द वास्तविक 'जीव' अर्थ को द्योतित करता है।

उस जीव की हर्ष-विषाद की अवस्थाए है। यह प्रत्येक व्यक्ति के अनुभव-गोचर है और प्रत्येक शरीर मे पृथक्-पृथक् अनुभव मे आता है। इस अनुभव का परित्याग भी नही किया जा सकता। यही अनुभव अपना निषेध करने वाले व्यक्ति को स्वय अपना परिचय कराता है।[14]

इस प्रकार युक्ति, अनुभव आदि जिस आत्म-तत्त्व को सिद्ध करते हैं, उसके धर्म आदि की अभिव्यक्ति करने मे प्रयत्नशील होना प्रत्येक चिन्तक तथा समीक्षक का परम कर्तव्य है।

सदर्भ सूची

1 ''प्रत्यक्ष प्रमाणम् अविसवादित्वात् अनुमानादिकमप्रमाण विसवादित्वादिति लक्षयताऽनुमानस्य बलात् व्यवस्थितेर्न प्रत्यक्षमेकमेव प्रमाणमिति व्यवतिष्ठते।''

–अष्टसहस्त्री विद्यानन्दि पृ० 95

2 "While life is yours live joyously,
None can escape Death s searching eye
When once this frame of ours they burn,
How shall it e'er again return?"

3 देखो–'गीतारहस्य'।

4 ''अहप्रत्ययवद्यत्वात् जीवस्यास्तित्वमन्वयात्।'' 2-50।।

5 ''उक्तच-तदहर्जस्तनेहातो रक्षादृष्टेर्भवस्मृते ।
भूतानन्वयनात्सिद्धध प्रकृतिज्ञ सनातन ।।''

–प्रमेयरत्नमाला चतुर्थ समुद्देश , 40

6 ''वीतरागजन्मादर्शनात्''–न्यायसू० 3।1।25।

7 **Hindustan Review**

8 **A Scientific Interpretation of Christianity** by Dr Elizabeth Fraser p 20

9 "The investigations of the Psychical Research Society have conclusively established the existence of the soul and in some cases even the truth of the theory of transmigration '—'*Key of Knowledge*'

10 ''रम्याणि वीक्ष्य मधुराश्च निशम्य शब्दान्
पर्युत्सुकीभवति यत्सुखितोऽपि जन्तु ।
तच्चेतसा स्मरसि नूनमबोधपूर्वम्
भावस्थिराणि जन्मान्तरसौहृदानि।।'' *–अक 5, पृ० 140*

11 Our birth is but a sleep and a forgetting,
The soul that rises with us our life's star
Hath had elsewhere it's setting
And cometh from afar — Ode on Intimations of immortality

12 Death had no power the immortal soul to stay
That when it's present body turns to clay,
Seeks a fresh home and with unlessoned might
Inspires another frame with life and light

13 ''जीवशब्द सबाह्यार्थ सञ्ज्ञात्वात् हेतुशब्दवत्।
मायादिभ्रान्तिसञ्ज्ञाश्य मायाद्यै स्वै प्रमोवितवत्।।'' *–आप्तमीमासा श्लो० 84*

14 ''भावश्चात्र हर्षविषादाद्यनेकाकारविवर्त प्रत्यात्मवेदनीय , प्रतिशरीर भेदात्मकोऽप्रत्याख्यानार्ह प्रतिक्षिपन्तमात्मान प्रतिबोधयतीति कृत प्रयत्नेन।''

–अष्टशती

*****

विश्वनिर्माता

आत्मा नामक पदार्थ के स्वतन्त्र अस्तित्व के सिद्ध होने पर चित्त मे यह सहज शका उद्‌भूत होती है, कि आत्मत्व अथवा चैतन्य की दृष्टि से जब सब आत्माए समान है, तब उनमे दु ख-सुख का तरतम भाव अथवा विविध वृत्तिया क्यो दृष्टिगोचर होती है? यदि इस समस्या को सुलझाने के लिए लोक-मत का सग्रह किया जाए तो प्राय: यह उत्तर प्राप्त होगा—"जीवो का भाग्य ईश्वर के अधीन है, वही विश्व-नियन्ता उन्हे उत्पन्न करता है, रक्षण करता है तथा अपने-अपने कर्मानुसार विविध योनियो मे भेज उन्हे दण्डित या पुरस्कृत करता है।" वेद-व्यास महाभारत मे लिखते है—'यह जीव बेचारा अज्ञानी है, अपने दु.ख-सुख के विषय मे स्वाधीन नही है, यह तो ईश्वर की प्रेरणानुसार कभी स्वर्ग मे पहुँचता है, तो कभी नरक मे।'[1]

एक ईश्वर-भक्त अपने भाग्य निर्माण के समस्त अधिकार उस परमात्मा के हाथो मे सौपते हुए लोगो को शिक्षा देता है—

दुनिया के कारखाने का खुदा खुद खानसामा है।
न कर तू फिक्र रोटी की, अगर्चे मर्ददाना है।।

इस विचारधारा से अकर्मण्यता की पुष्टि देख कोई-कोई यह कहते है कि कर्म करने मे प्रत्येक जीव स्वतन्त्र है, हा, कर्मो के फल-विभाजन मे परमात्मा न्याय-प्रदाता का कार्य करता है।

कोई चिन्तक सोचता है कि जब जीव स्वेच्छानुसार कर्म करने मे स्वतन्त्र है और इसमे परमात्मा के सहयोग की आवश्यकता नही है तब फलोपभोग मे परमात्मा का अवलम्बन अगीकार करना आवश्यक प्रतीत नही होता। एक दार्शनिक कवि कहता है—

को काको दुख देत है, देत करम झकझोर।
उरझे-सुरझे आप ही, ध्वजा पवन के जोर।।

—'भैया' भगवतीदास।

अध्यात्म-रामायण मे कहा है–सुख-दुःख देने वाला कोई नही है; दूसरा सुख-दुःख देता है यह तो कुबुद्धि ही है–

"सुखस्य दुःखस्य न कोऽपि दाता परो ददातीति कुबुद्धिरेषा।"

इस प्रकार जीव के भाग्य निर्णय के विषय मे भिन्न-भिन्न धारणाएँ विद्यमान है। इनके विषय मे गम्भीर विचार करने पर यह उचित प्रतीत होता है कि अन्य विषयो पर विचार के स्थान मे पहले परमात्मा के विषय मे ही हम समीक्षण कर ले। कारण, उस गुत्थी को प्रारम्भ मे सुलझाए बिना वस्तु-तत्त्व की तह तक पहुँचने मे तथा सम्यक् चिन्तन मे बडी कठिनाइया उपस्थित होती है। विश्व को ईश्वर की क्रीडा-भूमि अगीकार करने पर स्वतत्र तथा समीचीन चिन्तन का स्रोत सम्यक् रूप से तथा स्वच्छन्द गति से प्रवाहित नही हो सकता। जहा भी तर्कणा ने आपत्ति उठायी वहा ईश्वर के विशेषाधिकार के नाम पर सब कुछ ठीक बन जाता है क्योंकि परमात्मा के दरबार मे कल्पना की बटन दबायी कि कल्पना और तर्क से अतीत तथा तार्किक के तीक्ष्ण परीक्षण मे न टिकने वाली बाते भी यथार्थता की मुद्रा से अंकित हो जाती है और अनन्त आपत्तियो तथा महान् विरोधो के बीच मे उस लीलामय परमपिता परमात्मा की लोकोत्तर शक्ति आदि के बल पर असम्भव भी सम्भव तथा तर्क-बाह्य भी तर्क-सगत बना दिया जाता है। अतएव यह आवश्यक है कि साम्प्रदायिक सकीर्णता को निर्ममतापूर्वक निकालकर निर्मल मनोवृत्ति के साथ परमात्मा के विषय मे विचार किया जाए।

ईश्वर को विश्व का भाग्य-विधाता जैन-दार्शनिको ने न मानकर उसे ज्ञान, आनन्द, शक्ति आदि अनन्त-गुणो का पुञ्ज परम-आत्मा (परमात्मा) स्वीकार किया है। इस मौलिक विचार-स्वातन्त्र्य के कारण महान् दार्शनिक-चिन्तन की सामग्री के होते हुए भी वैदिक दार्शनिको ने षट्दर्शनो की सूची मे जैन-दर्शन को स्थान नही दिया। अस्तु, प्रसिद्ध षट्-दर्शनो मे अपना विशिष्ट स्थान रखने वाला साख्यदर्शन ईश्वर-विषयक जैन-विचार-शैली का समर्थन करता है।[2] सेश्वर साख्य नाम से विख्यात योगदर्शन भी ईश्वर को जगत् का कर्त्ता नही मानता। वह क्लेश, कर्म, कर्मविपाक तथा कर्मो के सस्कार समुदाय रूप आशय से असम्बन्धित

पुरुष-विशेष को ईश्वर कहता है।[3] न्याय और वैशेषिक सिद्धान्त ने मूल परमाणुओ आदि का अस्तित्व मानकर ईश्वर को जगत् का उपादान कारण न मान निमित्त कारण स्वीकार किया है।[4]

पूर्व मीमासा-दर्शन भी निरीश्वर साख्य के समान कर्त्ता-वाद का निषेध करता है। उत्तर-मीमासा अर्थात् वेदान्त मे भी ईश्वर कर्तृत्त्व का तत्त्वत· दर्शन नही होता है। उस दर्शन मे इस विश्व को ब्रह्म का अभिव्यक्त विवर्त माना है। इस प्रकार, शान्त भाव से दार्शनिक वाङ्मय का परिशीलन करने पर विदित होता है कि जैनदर्शन के अकर्तृत्त्व सिद्धान्त मे बहुत से दार्शनिको ने हाथ बँटाया है। फिर भी, यह देखकर आश्चर्य होता है कि केवल जैन-दर्शन पर ही नास्तिकता का दोष लादा गया है। इस कथन के प्रकाश मे जैनधर्म वेद विरोधी नही कहा जा सकता है। जैन धर्म मे ईश्वर का अस्तित्व स्वीकार किया गया है। वह पुनर्जन्म के सिद्धान्त को भी मानता है, अत जैन धर्म की नास्तिक दर्शन (negativist) मे परिगणना करना सत्य चितन के प्रतिकूल है। वैयाकरण पाणिनीय ने लिखा है, "अस्ति नास्ति दिष्ट मति." (4, 4-60)। इस पर **काशिकाकार** ने लिखा है-'परलोकोस्तीति यस्य मति· स आस्तिक:, तद्विपरीतो नास्तिक.'-परलोक है, ऐसी जिसकी बुद्धि है वह आस्तिक (affirmist) है। इसके विपरीत नास्तिक है। भट्टोजी दीक्षित ने भी यही कहा है। आप्टे सस्कृत कोष मे लिखा है, आस्तिक:-One who believes in god and another world-जो ईश्वर तथा परलोक मे विश्वास करता है वह आस्तिक है।

प्रकाण्ड विद्वान पद्मभूषण प० माखनलाल जी चतुर्वेदी ने लिखा है,-"मै तो जैनधर्म को आस्तिक धर्म मानता हू क्योकि वह ईश्वर को तथा परलोक को भी स्वीकार करता है।" ऐसी स्थिति मे धर्मनिरपेक्ष केन्द्रीय शासन के शिक्षा विभाग का यह पवित्र कर्त्तव्य है कि वह देश के शिक्षालयो मे जैनधर्म की नास्तिक धर्म मे परिगणना के मिथ्या प्रचार को अविलम्ब रोके और सत्य की प्रतिष्ठा बढावे। यह बात सत्य है कि जैनधर्म ऋग्वेदादि वैदिक वाङ्मय को अपने लिए पथ-प्रदर्शक नहीं मानता। शुद्ध अहिसात्मक विचार प्रणाली को अपनी जीवन निधि मानने

वाला जैन तत्त्वज्ञान हिसात्मक बलि-विधान के प्रेरक वैदिक वाड्मय का किस प्रकार समर्थन करेगा? इसका अर्थ यह नही है कि जैन-दार्शनिक वेद (ज्ञान) के विरोधी है। जैनधर्म प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग रूप अपने अहिसामय विशिष्ट ज्ञानपुञ्जो का आराधक है। **भगवज्जिनसेन** ने हिसात्मक वाक्यो को यम की वाणी बताते हुए अहिसामय निर्दोष जैनधर्म मे वर्णित द्वादशागमय महाशास्त्रो को ही पूज्य वेद माना है।

श्रुत सुविहित वेदो द्वादशागमकल्मषम् ।

–आदिपुराण, पर्व 39, श्लोक 22

जैन धर्म क्रोध-मान-माया-लोभ, हास्य, भय, विस्मय आदि विकारो से रहित वीतराग, सर्वज्ञ परम-आत्मा को ईश्वर मानता है। वह विश्व की क्रीडा मे किसी प्रकार भाग नही लेता। वह कृतकृत्य है, विकृतिहीन है तथा सर्व प्रकार की पूर्णताओ से समन्वित है। उसी परमात्मा को राग, द्वेष, मोह, अज्ञान आदि से अभिभूत व्यक्ति अपनी भावना और अध्ययन के अनुसार विचित्र रूप से चित्रित करते है। आत्मत्व की दृष्टि से हम मे और परमात्मा मे कोई अन्तर नही है, केवल इतना ही भेद है कि हममे दैवी शक्तिया प्रसुप्त स्थिति मे है और उनमे गुणो का पूर्ण विकास होने से वे आत्माएँ स्फीत बन चुकी है–इतनी निर्मल और प्रकाशपूर्ण है कि उनके आलोक मे हम अपना जीवन उज्ज्वल और दिव्य बना सकते है। विद्या-वारिधि **बैरिस्टर चम्पतरायजी** ने अपने महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'की ऑफ नॉलेज' (Key of Knowledge) मे लिखा है–

Man – Passions = God
God + Passions = Man
अर्थात् मनुष्य – वासनाएँ = ईश्वर
ईश्वर + वासनाएँ = मनुष्य

जैन दार्शनिको ने परमात्मा का पद प्रत्येक प्राणी के लिए आत्म-जागरण द्वारा सरलतापूर्वक प्राप्तव्य बतलाया है। यहा ईश्वर का पद किसी एक व्यक्ति-विशेष के लिए सर्वदा सुरक्षित नही रखा गया है। अनन्त

आत्माओ ने पूर्णतया आत्मा को विकसित करके परमात्मपद को प्राप्त किया है तथा भविष्य मे प्राप्त करती रहेगी।

जस्टिस जे॰ एल॰ जैनी ने Outlines of Jainism मे लिखा है, "The Jaina god is the soul at it's best, i e when freed from all that is material it has attained perfect knowledge, faith, power and bliss (XXII)

आत्मा की श्रेष्ठ स्थिति को जैनधर्म मे ईश्वर माना है अर्थात् जब आत्मा समस्त जड तत्त्व से विमुक्त होकर पूर्णज्ञान, श्रद्धा, शक्ति तथा आनन्द को प्राप्त करता है, तब ईश्वरत्व की प्राप्ति होती है। सच्ची साधना वाली आत्माओ को कौन रोक सकता है? वास्तविक प्रयत्न-शून्य दुर्बल अपवित्र आत्माओ को किसी विशिष्ट शक्ति की कृपा द्वारा मुक्ति मे प्रविष्ट नही करवाया जा सकता। जैन दर्शन के ईश्वरवाद की महत्ता को हृदयगम करते हुए एक उदारचेता विद्वान् ने कहा था–"यदि एक ईश्वर मानने के कारण किसी दर्शन को 'आस्तिक' सज्ञा दी जा सकती है, तो अनन्त आत्माओ के लिए मुक्ति का द्वार उन्मुक्त करने वाले जैन-दर्शन मे अनन्त गुणित आस्तिकता स्वीकार करना न्याय प्रद होगा।"[5]

परमात्मा अनन्त ज्ञान, अनन्त आनन्द, अनन्त शक्ति तथा अनन्त दर्शन आदि गुणो का भडार है। वह ससार-चक्र मे परिभ्रमण कर जन्म-जरा-मरण की यन्त्रणा नही उठाता। उस ज्ञान, आनन्द, वीतराग, मोह-विहीन, वीत-द्वेष, निर्भीक, प्रशान्त, परिपूर्ण परमात्मा का विश्व के सुख-दु:ख-दान मे हस्तक्षेप स्वीकार करने पर वह आत्मा राग-द्वेष मोह आदि दुर्बलताओ से पराभूत हो साधारण प्राणी की श्रेणी मे आ जाएगा।

जब, परमात्मा मे परम करुणा, त्रिकालज्ञता और मर्यादातीत शक्ति का भण्डार विद्यमान है, तब ऐसे समर्थ और कुशल व्यक्ति के तत्त्वावधान या सहयोग से निर्मित जगत् सुन्दरता, पूर्णता तथा पवित्रता की साकार प्रतिमा बनता और कही भी दु:ख और अशान्ति का लव-लेश भी न पाया जाता। कदाचित् परिस्थिति-विशेषवश कोई पथ-भ्रष्ट प्राणी विनाश की ओर झुकता, तो वह करुणा-सागर पहले ही उस पथ-भ्रष्ट

को सुमार्ग पर लगाता और तब इस भूतल का स्वरूप दर्शनीय ही नही, सर्वदा वन्दनीय भी होता। विश्व के विधान मे विधाता का हस्तक्षेप होता, तो एक कवि के शब्दो मे सुवर्ण मे सुगन्ध, इक्षु मे फल, चन्दन मे पुष्प, विद्वान मे धनाढ्यता और भूपति मे दीर्घजीवन का अभाव न पाया जाता।[6]

प्रभु की भक्ति मे निमग्न पुरुष निर्मल आकाश, रमणीय इन्द्रधनुष, विशाल हिमाचल, अगाध और अपार सिधु, सुगन्धित तथा मनोरम पुष्प आदि आकर्षक सामग्री को देखकर प्रभु की महिमा का गान करते हुए उन सुन्दर पदार्थो के निर्माण के लिए उस परमपिता के प्रति हार्दिक श्रद्धाजलिया अर्पित करता है। किन्तु जब उसी भक्त की दृष्टि मे इस जगत् की भीषण गन्दगी, बाह्य तथा आन्तरिक अपवित्रता, अनन्त विषमताएँ आती है, तब उन पदार्थो से परमात्मा का न्याय-प्राप्त सम्बन्ध स्वीकार करने मे उसकी आत्मा को अत्यधिक ठेस पहुँचती है। कौन ज्ञानवान् मास-पीप-रुधिर-मल-मूत्र सदृश बीभत्स वस्तुओ मे जीवो की उत्पत्ति करने के कौशल प्रदर्शन का श्रेय सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, परमानन्दमय परमात्मा को प्रदान करने का प्रयत्न करेगा।

शान्त भाव से विचार करने पर यह शका प्रत्येक चिन्तक के अत.करण मे उत्पन्न हुए बिना नही रहेगी कि उस परम प्रवीण पिता ने अपनी श्रेष्ठ कृति रूप इस मानव-शरीर को 'पल-रुधिर-राध-मल-थैली, कीकस बसादितै मैली' बनाने का कष्ट क्यो उठाया? यदि विचारक व्यक्ति परमात्मा के प्रयत्न के बिना अपवित्र तथा घृणित पदार्थो का सद्भाव स्वीकार करने का साहस करता है, तो उसे अन्य पदार्थो के विषय मे भी इसी न्याय को प्रदर्शित करने का सत्-साहस दिखाने मे कौन-सी बाधा है?

'असहमत सगम' 'Confluence of opposites'[7] मे इस शका का समाधान किया है कि जगत् रूप कार्य का कर्ता ईश्वर को क्यो नही माना जाए? जगत् का बनाने वाला ईश्वर है, तो ईश्वर का बनाने वाला अन्य होगा, उसका भी निर्माता कोई अन्य मानना पडेगा। इस प्रकार बढ़ने वाली अनवस्था के निवारणार्थ यदि ईश्वर का सद्भाव बिना अन्य कर्त्ता के स्वीकार किया जाता है, तो यही नियम जगत् के विषय मे भी

मानना होगा। कम से कम ऐसी बात तो नहीं स्वीकार की जा सकती कि परम आत्मा मनुष्य या पशु के पेट मे अपनी शक्ति द्वारा मल-मूत्रादि का निर्माण करता रहता है। यदि भौतिक और रासायनिक प्रक्रिया के द्वारा पेट मे उपरोक्त कार्य होता है, ऐसा अगीकार करने पर यह धारणा, कि प्रत्येक पदार्थ का निर्माता होना ही चाहिए, धराशायी हो जाती है।

प्रभु की महिमा का वर्णन करते हुए राम-भक्त कवि **तुलसी** कहते है-**'सीयराममय सब जग जानी'** दूसरा कवि कहता है-**"जले विष्णुः स्थले विष्णुः आकाशे विष्णुरेव च"**-इन भक्तजनो की दृष्टि मे विश्व के कण-कण मे एक अखण्ड परमात्मा का वास है। सुनने में यह बात बडी मधुर मालूम होती है, किन्तु तर्क की कसौटी पर नही टिकती। यदि सम्पूर्ण विश्व मे परमात्मा ठसाठस भरा हुआ हो तो उसमे उत्पाद-व्यय गमनागमन आदि क्रियाओ का पूर्णतया अभाव होगा। क्योंकि, व्यापक वस्तु मे परिस्पन्दन रूप क्रिया का सद्भाव नही हो सकता। अतः अनादि से प्रवाहित जड-चेतन के प्राकृतिक सयोग-वियोग रूप इस जगत् के पदार्थो मे स्वय सयुक्त-वियुक्त होने की सामर्थ्य है, तब विश्व-विधाता नामक अन्य शक्ति की कल्पना करना तर्कसगत नही है।

वैज्ञानिक **जूलियन हक्सले** कहता है-"इस विश्व पर शासन करने वाला कौन या क्या है? जहा तक हमारी दृष्टि जाती है, वहा तक हम यही देखते है कि विश्व का नियत्रण स्वय अपनी ही शक्ति से हो रहा है। यथार्थ मे देश और उसके शासक की उपमा इस विश्व के विषय मे लगाना मिथ्या है।"[8]

कर्तृत्व पक्ष वालो के समक्ष यह युक्ति भी उपस्थित की जाती है कि जब कर्त्ता के अभाव मे प्रकृति सिद्ध सनातन ईश्वर का सद्भाव रह सकता है और इसमे कोई आपत्ति या अव्यवस्था नही आती है; तब यही न्याय जगत् के अन्य पदार्थों के कर्तृत्व के विषय मे क्यो न लगाया जाए? ऐसा कोई प्रकृति का अटल नियम भी नही है कि कुछ वस्तुओ का कर्त्ता पाया जाता है, इसलिए सब वस्तुओ का कर्त्ता होना चाहिए। ऐसा करने से तर्कशास्त्रगत अल्प-पदार्थ-सबधी नियम को सार्वत्रिक पाया जाने वाला नियम मानने रूप दोष (Fallacy) आएगा।

इस प्रसग मे 'की ऑफ नॉलेज' की निम्न पंक्तिया उपयुक्त है–

"सृष्टिकर्तृत्व के विषय मे यह प्रश्न प्रथम उपस्थित होता है कि ईश्वर ने इस विश्व का निर्माण क्यो किया? एक सिद्धान्त यह कहता है कि इससे उसे आनन्द की उपलब्धि हुई तो दूसरा कहता है कि वह अकेलेपन का अनुभव करता था और इसलिए उसे साथी चाहिए थे। तीसरा सिद्धान्त कहता है कि वह ऐसे प्राणियो का निर्माण करना चाहता था जो उसका गुणगान करे तथा पूजा करे। चौथा पक्ष यह कहता है कि वह विनोदवश विश्व निर्माण करता है। इस विषय मे यह विचार उत्पन्न होता है कि विश्वकर्त्ता की ऐसा जगत् निर्माण करने की इच्छा क्यो हुई जिसमे बहुत बडी सख्या मे प्राणियो को नियमत दु ख और शोक भोगने पडते है? उसने अधिक सुखी प्राणी क्यो नहीं बनाए जो उसके साथ मे रहते।"[9]

कर्तृत्व का परमात्मा मे आरोप करने से वह वन्दनीय विभूति राग-द्वेष, मोह आदि विकार युक्त बन साधारण मानव के धरातल पर आ गिरेगी और ऐसी स्थिति मे वह दिव्यानद के प्रकाश से वञ्चित हो पवित्र आत्माओ का आदर्श भी न रहेगी।

कर्तृत्व के फेर मे फँसे हुए उस परमात्मा के विरुद्ध विवेक के न्यायालय मे **बैरिस्टर चम्पतरायजी** का यह आरोप विशेष आकर्षक तथा प्रभावक मालूम होता है–"जिसने मलिनता की मूर्ति अत्यन्त बीभत्स मल-मूत्र की खानि स्वरूप शरीर मे इस मानव को उत्पन्न करके उस शरीर के ही भीतर इसे कैद कर रखा है, वह परम-पिता, परम-दयालु, बुद्धिमान् परमात्मा जैसी पवित्र वस्तु नही हो सकती। ऐसी कृति तो निर्दयता एव प्रतिशोध के दुर्भाव को स्पष्टतया प्रमाणित करती है।"

प० जवाहरलाल नेहरु अपने आत्म-चरित्र 'मेरी कहानी' मे अपने हृदय के मार्मिक उद्गारो को व्यक्त करते हुए लिखते है–"परमात्मा की कृपालुता मे लोगो की जो श्रद्धा है, उस पर कभी-कभी आश्चर्य होता है कि किस प्रकार यह श्रद्धा चोट-पर-चोट खाकर जीवित है और किस

तरह घोर विपत्ति और कृपालुता का उल्टा सुबूत भी उस श्रद्धा की दृढता की परीक्षाएँ मान ली जाती है।"

जे॰ राई हापकिन्स की ये पंक्तिया अन्तःकरण मे गूँजती है–

[10]**"सचमुच तू न्यायी है स्वामी, यदि मै करूँ विवाद,**
किन्तु नाथ मेरी भी है, यह न्याय-युक्त फरियाद।
फलते और फूलते है क्यो, पापी कर-कर पाप,
मुझे निराशा देते है क्यो, सभी प्रयत्न कलाप।
हे प्रिय-बन्धु, साथ मेरे यदि तू करता रिपु का व्यवहार।
तो क्या इससे अधिक पराजय, औ बाधाओ का करता वार।
अरे उठाई गीर वहा वे मद्य और विषयो के दास,
भोग रहे वे पड़े मौज मे है जीवन के विभव विलास।
और यहा मै तेरी खातिर काट रहा हूँ जीवन नाथ,
हा, तेरे पथ पर ही स्वामी घोर निराशाओ के साथ।

विश्व का ऐसा अस्त-व्यस्त चित्र चिन्तक को चकित बना कर्तृत्व की ओर से पराङ्मुख कर देता है। बिहार के भूकम्प पीडित प्रदेश मे पर्यटन द्वारा दु.खी व्यक्तियो का प्रत्यक्ष परिचय प्राप्त कर **पडित नेहरुजी** लिखते है–"हमे इस पर भी ताज्जुब होता है, कि ईश्वर ने हमारे साथ ऐसी निर्दयतापूर्ण दिल्लगी क्यो की कि पहिले तो हमको त्रुटियो से पूर्ण बनाया, हमारे चारो ओर जाल और गड्ढे बिछा दिए, हमारे लिए कठोर और दु.खपूर्ण ससार की रचना कर दी, चीता भी बनाया और भेड भी, और हम को सजा भी देता है।" इडियन नेशनल काग्रेस का इतिहास भाग (1) (पृ 565) मे **डॉ॰ पट्टाभि सीतारमैय्या** ने लिखा है, "सन् 1934 मे 16 जनवरी को बिहार मे भूकम्प आया था। उसमे 20 हजार मनुष्य मरे थे, 10 लाख घर क्षतिग्रस्त एव विनष्ट हुए थे, 10 लाख बीघा जमीन रेत से भर गई थी। तब सब फसले नष्ट हो गई थी। उस भूकम्प के द्वारा तीस हजार वर्गमील का क्षेत्र क्षतिग्रस्त हुआ था तथा लगभग डेढ करोड लोगो को हानि पहुची थी।"

धर्म के विषय मे **नेहरुजी** के विचारो से कितनी ही मतभिन्नता क्यो न हो, किन्तु निष्पक्ष विचारक व्यक्ति की आत्मा उनके द्वारा

आन्तरिक तथा सत्यता से पूर्ण विचार-धारा का समर्थन किए बिना न रहेगी।

देखिए, मृत्यु की गोद मे जाते-जाते **पजाब-केसरी लाला लाजपतराय** कितनी सजीव और अमर बात कह गए है–"क्या मुसीबतो, विषमताओ और क्रूरताओ से परिपूर्ण यह जगत् एक भद्र परमात्मा की कृति हो सकता है? जब कि हजारो मस्तिष्कहीन, विचार तथा विवेकशून्य, अनैतिक, निर्दय, अत्याचारी, जालिम, लुटेरे, स्वार्थी मनुष्य विलासिता का जीवन बिता रहे है और अपने अधीन व्यक्तियो को हर प्रकार से अपमानित, पद-दलित करते है और मिट्टी मे मिलाते है, इतना ही नही, चिढाते भी है। ये दु खी लोग अवर्णनीय कष्ट, घृणा तथा निर्दयतापूर्वक अपमान सहित जीवन व्यतीत करते है, उन्हे जीवन के लिए अत्यन्त आवश्यक वस्तुएँ भी नही मिल पाती। भला, ये सब विषमताए क्यो है? क्या ये न्यायशील और ईमानदार ईश्वर के कार्य हो सकते है?" आगे चलकर **पजाब-केसरी** कहते है–"मुझे बताओ-तुम्हारा ईश्वर कहा है? मै तो इस निस्सार जगत् मे उसका कोई भी निशान नही पाता।"[11]

स्व० लालाजी के अमर उद्गारो के विरुद्ध शायद कर्तृत्व का प्रगाढ पोषक यह कहे कि यह तो सफल राजनीतिज्ञ की जोशभरी वाणी है, जो प्रशान्त दार्शनिक चिन्तन के विमल प्रकाश से बहुत दूर है। ऐसे व्यक्तियो को पाश्चात्य तर्क-विद्या के पिता **अरस्तू** महाशय जैसे शान्त, विचारवान् चिन्तक की निम्नलिखित पंक्तियो को पढकर अपने व्यामोह को दूर करना चाहिए–"ईश्वर किसी भी दृष्टि से विश्व का निर्माता नही है। सब अविनाशी पदार्थ परमार्थिक है। सूर्य, चन्द्र तथा दृश्यमान आकाश सब सक्रिय है। ऐसा कभी नही होगा कि उनकी गति अवरुद्ध हो जाए। 'यदि हम उन्हे परमात्मा के द्वारा प्रदत्त पुरस्कार माने तो हम उसे अयोग्य न्यायाधीश अथवा अन्यायी न्याय-कर्त्ता बना डालेगे। यह बात परमात्मा के स्वभाव के विरुद्ध है। जिस आनन्द की अनुभूति परमात्मा को होती है वह इतना महान् है कि हम उसका कभी रसास्वाद कर सकते है। वह आनन्द आश्चर्यप्रद है।"[12]

ईश्वर-कर्तृत्व के सम्बन्ध में अत्यन्त आकर्षक युक्ति यह उपस्थित की जाती है-"क्या करे, परमात्मा तो निष्पक्ष न्याय-दाता है, जिन्होने पाप की पोटली बाध रखी है, उनके कर्मानुसार वह दण्ड देता है। दया की अपेक्षा न्याय का आसन ऊँचा है।"

ऐसे कर्तृत्व समर्थक व्यक्ति को सोचना चाहिए कि अनन्तज्ञान, अनन्तशक्ति तथा अनन्त करुणापूर्ण परमपिता परमात्मा के होते हुए दीन प्राणी पापो के सचय मे प्रवृत्ति करे उस समय तो वह प्रभु चुपचाप इस दृश्य को देखता रहे और दण्ड देने के लिए उद्यत हो उठे। यह बड़ी विचित्र बात है। क्या सर्व-शक्तिमान परमात्मा अनर्थ अथवा अनीति के मार्ग मे जाने वाली अपनी सन्तति समान जीवराशि को पहिले से नहीं रोक सकता? यदि ऐसा नही है तो सर्वशक्तिमान् क्या अर्थ रखता है?

गाधी जी ने 1927 मे **'यग इडिया'** मे एक अग्रेज के ईश्वर के सबध मे लेख को प्रकाशित कर उसके सबध मे अपना विशिष्ट दृष्टिकोण उसी पत्र मे व्यक्त किया था। शकाकार अग्रेज ने लिखा था-

> "Should not God, omniscient and omnipotent as He is, know where wickedness is by His omniscience and kill wickedness by His omnipotence, there and then nip all rascality in the bud and allow wicked people to flourish?"

क्या सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान होने के कारण अपनी सर्वज्ञता के द्वारा ईश्वर यह नही जान पाता कि कहा दुष्टता है? और अपनी सर्वशक्तिमत्ता के द्वारा उस दुष्टता को नष्ट नही कर सकता? इस प्रकार दुष्टता को प्रारम्भ मे ही नष्ट करके दुष्टो को आगे बढने से नही रोक सकता? अर्थात् यदि सर्वशक्तिमान एव सर्वज्ञ परमात्मा विश्व के विधान मे सक्रिय भाग लेता है तो जगत मे दुष्टो तथा उनकी दुष्टता की परिसमाप्ति हुए बिना न रहती, किंतु बात ऐसी नही है।

इस सबध मे प्रश्नकर्त्ता पुनः यह तर्क उपस्थित करता है-

> "If God allows a tyrant to dig his own grave, why should He not weed out a tyrant before his tyranny oppresses the poor? Why allow full play to tyranny and then allow a tyrant, after

his tyranny has ruined and demoralised thousands of people, to go to his grave"

यदि ईश्वर अत्याचारी को स्वय का विनाश करने की अनुज्ञा देता है तो क्या यह उचित न होता कि वह उस अत्याचारी को, दीनो पर अत्याचार करने के पहले ही विनष्ट कर देता। वह क्यो अत्याचारीपने को बढ़ने मे पूर्ण स्वतत्रता देता है और उसके द्वारा हजारो व्यक्तियो का सर्वनाश तथा नैतिक पतन किए जाने पर उसे मृत्यु के मुख मे जाने देता है?

शकाकार का अभिप्राय यह है कि आततायी तथा अत्याचारी शासको आदि के क्रूर कृत्यो द्वारा मनुष्य के सन्तप्त होने से पहिले ही ऐसे पापी व्यक्ति को मृत्यु के मुख मे पहुचाया जाना चाहिए था। परमात्मा यह क्यो नही करता?

इस सबध मे गाधी जी ने इस बात का स्पष्टीकरण किया है कि वे क्यो ईश्वर पर विश्वास करते है? वे प्रश्नकर्त्ता के तर्को के विपरीत अपना भाव व्यक्त करते हुए यह कहते है कि जहा तक तर्क का सबध है वहा तक मै स्वीकार करता हू कि मेरे पास इस प्रकार का कोई प्रत्युत्तर नही है कि मै प्रश्नकर्त्ता का समाधान कर सकू।

"I confess to him that I have no argument to convince him through reasons"

गाधी जी अपने विश्वास के आधार पर अपने आराध्य ईश्वर की चर्चा करते हुए कहते है कि, "मै जानता हू कि परमात्मा मे कोई दोष नही है कितु यदि दोष पाए जाते है तो दोषो से अस्पृष्ट रहते हुए भी परमात्मा उनका कर्त्ता है।"

"I know that he has no evil in him and yet if there is evil, he is the author of it and yet untouched by it"

जैन तत्त्वज्ञान परमात्मा को आत्मा की राग, द्वेष, मोह, काम, क्रोध आदि विकृति विमुक्त अवस्था रूप मानता है। परमात्मा से राग, द्वेष, मोह आदि विकार उत्पन्न होते है, यह गाधी जी की श्रद्धा उनकी निजी वस्तु है जिसे स्वय उनके शब्दो मे तर्क का समर्थन प्राप्त नही है। जैन

तत्त्वज्ञान विशुद्ध तर्क और अनुभव पर अधिष्ठित होने के कारण इस बात को स्वीकार नही करता। परमात्मा से दोषो की उत्पत्ति मानना ऐसी ही विलक्षण बात होगी जैसे हस से कौअे का जन्म स्वीकार करना। गाधी जी यह कहते है कि–"मै अपने को जितना अधिक पवित्र बनाता हू उतना अधिक मै परमात्मा की निकटता का अनुभव करता हूँ" – (The purer I try to become, the nearer I feel to be to God)

ये विचार जैन दृष्टि से अधिक निकटता धारण करते है। जैन दृष्टि यह है कि मनुष्य जैसे-जैसे काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि मलिन वृत्तियो का त्याग करता है, वैसे-वैसे उसमे निर्मलता प्रगट होती है। खदान मे से निकला हुआ समल स्वर्ण, पाषाण, अग्नि आदि के निमित्त से निर्मल बनता है। इसी प्रकार आत्मा भी सयम आदि की साधना द्वारा विशुद्ध बनती है। जैनधर्म मे वर्णित परमात्मा का स्वरूप व्यक्तिगत श्रद्धा की भूमि पर अधिष्ठित नही है और न वह तर्क की तर्जनी के द्वारा म्लानमुख ही बनता है। जैनधर्म परमात्मा को मानते हुए उसे विश्व की राग द्वेषमयी सृष्टि का निर्माता स्वीकार नही करता है। जैन दृष्टि तर्क, विज्ञान तथा अनुभव आदि से समर्थित है। जैनदर्शन परमात्मा को अनतज्ञान, अनतशक्ति तथा अनतआनन्द आदि का अधीश्वर स्वीकार करता है। सर्वज्ञ, वीतराग, वीतद्वेष तथा विकार विमुक्त योगियो के द्वारा आराध्य आत्मा क्रीडा, मनोविनोद अथवा सामर्थ्य प्रदर्शन हेतु मायामय जगत का जाल बुनने मे प्रवृत्त होता है। यह विचार व्यक्तिगत श्रद्धा का विषय हो सकता है कितु उसे मुक्ति, तर्क और अनुभव का समर्थन नही मिलेगा।

अतएव मानव-जीवन का सर्वोपरि मूल्याकन करने वाले सत्पुरुष का कर्त्तव्य है कि वह स्वय को अपने भाग्य का निर्माता अनुभव करते हुए जड जगत की ओर पीठ कर आत्म-विकास के क्षेत्र मे साहस पूर्वक बढता जावे। ऐसा पुरुषार्थी पुरुष "दासोस्ह" तथा "सोहँ" से आगे बढकर उत्तम पुरुष हो पुरुषोत्तम बनता है।

ईश्वर को भाग्य विधाता न मानने का जो यह अर्थ लगाया जाता है कि ऐसे लोग निरीश्वरवादी है, वह अनुचित है। परमात्मा को आत्मा

की विशुद्ध अवस्था मानने मे युक्ति, अनुभव आदि का भी समर्थन प्राप्त होता है। जैसे मलिन वस्त्र से मलिनता दूर होने पर उसकी स्वाभाविक स्वच्छता प्रकाश मे आती है, उसी प्रकार क्रोध, अहकार, माया, लोभादि विकारो का ध्वस होने पर जो आत्मा पूर्ण शुद्ध होती है"उसे ही परमात्मा कहते है। ईश्वर के विषय मे **प० जवाहरलाल जी नेहरु** से यह प्रश्न पूछा गया था, "कि आप ईश्वर मे विश्वास करते है या नही? मेरा विश्वास है कि ईश्वर मे आपकी आस्था अवश्य है।" **श्री नेहरु** ने कहा था, "तुम ठीक ही कह रहे हो" इसके पश्चात् उन्होने इस प्रकार स्पष्टीकरण किया, "मै ऐसे भगवान मे अवश्य विश्वास करता हूँ जो वैयक्तिक दृष्टिकोण पर आधारित है और लोगो को स्वर्ग-नरक दिया करता है। (**दैनिक नवभारत टाइम्स**, 4 जून 1964)

"Bankruptcy of Religion" (धर्म का दिवालियापन) मे बडे मार्मिक शब्दो मे परम उपकारी परमात्मा के होते हुए विश्व मे जीवो की कष्टपूर्ण अवस्था के सद्भाव पर आलोचना की गई है। पाप के फलस्वरूप युद्ध का प्रचण्ड दण्ड ईश्वर प्रदत्त मानना अत्यन्त जघन्य तथा महान् प्रतिहिसात्मक कार्य है। एक शक्तिशाली पिता अपनी कन्या पर अत्याचार को चुपचाप देखता है और पीछे यह कहता है कि इस लडकी ने मेरे गौरव पर पानी फेर दिया है। ऐसे पिता के समान ईश्वर का भी कार्य माना जाएगा। समर्थ एव परोपकारी महान् आत्मा पहले ही अनर्थ को रोकने का उद्यम करेगा जिसके पश्चात्, दण्डदान की अप्रिय स्थिति उत्पन्न न होवे।[13]

गाधी जी के द्वारा अत्यन्त पूज्य गुरु-तुल्य आदरणीय माने गए महानुभाव **शतावधानी राजचद्रजी** लिखते है–"जगत्कर्त्ता ने ऐसे पुरुषो को जन्म क्यो दिया? ऐसे नाम डुबाने वाले पुत्र को जन्म देने की क्या जरूरत थी जो विषयादिको मे निमग्न हो अपनी आत्मा को ईश्वरीय प्रकाश से पूर्णतया वचित रखने के प्रयास मे सलग्न रहता है?"[14]

इस प्रकार बहुजन-समाज-सम्मत जगत्-कर्तृत्व की मान्यता के विरुद्ध तर्क और अनुभवो[15] के आधार पर विषय का विवेचन किया जाए तो वह एक स्वतत्र ग्रथ बन जाएगा और प्रस्तुत रचना की समस्त परिधि

को आत्मसात् कर लेगा। विशेष जिज्ञासुओ को **प्रमेयकमलमार्त्तण्ड**,[16] **अष्टसहस्त्री**,[17] **आप्तपरीक्षा** आदि जैन न्याय तथा दर्शन के ग्रन्थो का परिशीलन करना चाहिए। हमारा तो ऐसा विचार होता है कि कर्तृवादी साहित्य का भी सम्यक् प्रकार मनन और चिन्तन किया जाए तो उसी मे इस बात को सिद्ध करने वाली पर्याप्त सामग्री प्राप्त होगी कि परमात्मा सत्+चित्+आनन्द स्वरूप है। जगत् का उद्धार करने और धर्म का सस्थापन करने के लिए अवतार धारण करने वाले, कवि **वेदव्यास** की गीता के प्रमुख पुरुष श्रीकृष्णचन्द्र की वाणी से यह सत्य प्रकट होता है कि–"परमात्मा न लोक का कर्त्ता है, और न कर्म अथवा कर्मफलो का सयोग कराने वाला है; प्रकृति ही इस प्रकार प्रवृत्ति करती है, वह परमात्मा पाप या पुण्य का अपहरण भी नही करता। ज्ञान पर अज्ञान का आवरण पडा इसलिए प्राणी विमुग्ध बन जाते है।"[18]

डॉ॰ कालिपद मित्र एम ए, डी लिट् के ये शब्द ध्यान देने योग्य है, जैनधर्म ईश्वर को विश्व का कर्त्ता और गोचर जगत् का निर्देशक नही मानता है। इस प्रकार जैन तीर्थकरो ने परावलम्बन के बधन से मनुष्य की बुद्धि को मुक्त कर दिया। भगवान महावीर ने मनुष्यो को बतलाया कि वे अपने भाग्य के स्वय निर्माता है और अपने प्रयत्नो के द्वारा ही आध्यात्मिक विकास की चोटी पर पहुच सकते है। इस उपदेश ने मनुष्यो मे आत्मगौरव का एक सुखद भाव भर दिया; उन्हे निर्भीक, बलवान और स्वावलम्बी बनना सिखलाया और उनमे सद्कार्य करने की प्रेरणा को उत्तेजित किया।

प्रकाण्ड तार्किक जैनाचार्य **अकलक** ने अपने अकलकस्तोत्र मे न्याय की कसौटी पर कसी गयी पूजनीय विभूति परमात्मा पर प्रकाश डालते हुए उन्हे महान् देवता के रूप मे मान इन उद्बोधक शब्दो मे निर्दोष, वीतराग परमात्मा को प्रणाम किया है–

"त्रैलोक्य सकल त्रिकालविषय सालोकमालोकितम्
साक्षात् येन यथा स्वय करतले रेखात्रय सागुलि।
रागद्वेषभयामयान्तकजरालोलत्वलोभावयो
नाल कत्पदलङ्घनाय स महादेवो मया वन्द्यते।।"[19]

– जो त्रिकालवर्ती लोक तथा अलोक के समस्त पदार्थों का हस्तगत अगुलियो तथा रेखाओ के समान साक्षात् अवलोकन करते है तथा राग-द्वेष, भय, व्याधि, मृत्यु, जरा, चचलता, लोभ आदि विकारो से विमुक्त है, उन महादेव-महान् देव की मै वन्दना करता हूँ।

जैन धर्म मे भगवान को सर्वज्ञ, वीतरागी, हितोपदेशी माना है तथा परमात्मा मे अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख तथा अनन्त शक्ति का सद्भाव माना गया है। उक्त गुण सम्पन्न प्रभु को लोक तथा अलोक मे व्याप्त ज्ञान के कारण विष्णु कहा गया है। केवल ज्ञानादि ऐश्वर्य सम्पन्न होने से देवेन्द्रादि उनकी आज्ञा का पालन करते है इसलिए उन्हे ईश्वर कहा गया है। अविनाशी मुक्तिपद को प्राप्त होने से वे सुगत है। निर्वाण रूप परम कल्याण मुक्त होने से उन्हे शिव माना है। काम क्रोधादि दोषो को जीतने से वे 'जिन' कहे जाते है। शुद्ध आत्मस्वरूप होने से परम ब्रह्म कहे गए है। इस प्रकार विविध धर्मो के द्वारा सकीर्तित नामो को जैन धर्म मे अन्वर्थता के आधार पर अगीकार किया गया है। भगवान जिनसेन रचित **सहस्रनाम** के परिशीलन से यह ज्ञात होगा कि वैदिक धर्म मे प्रयुक्त विविध परमात्मवाचक नामो को जैनधर्म मे मान्यता दी गई है। **'समाधिशतक'** मे आचार्य पूज्यपाद परमात्मा को इन शब्दो मे प्रणामाजलि अर्पित करते है–

शिवाय धात्रे सुगताय विष्ठावे।
जिनाय तस्मै सकलात्मने नम.॥

*****

सदर्भ सूची

1 ''अज्ञा जन्तुरनीशोऽयमात्मन सुखदु खयो ।
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गे नरकेमव च॥''

–महाभारत वनपर्व 30/28

2 ''ईश्वरासिद्ध ।'' *–साख्य सू॰ 1/92।*

3 ''क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्ट पुरुषविशेष ईश्वर ''

–योगसूत्र 1/24।

4 देखो–मुक्तावली और The Cultural Heritage of India - p 189-191

5 डॉं वासुदेव शरण अग्रवाल ने 9/10/64 के पत्र मे लिखा था, जैन धर्म ईश्वर मे विश्वास रखता है। इस आधार पर उसे आस्तिक मानने मे कोई आपत्ति नही। मूर्धन्य साहित्यकार माखनलाल चतुर्वेदी ने लिखा था-" मै तो जैनधर्म को आस्तिक मानता हूँ, क्योकि वह ईश्वर और परलोक को स्वीकार करता है।

6 "गन्ध सुवर्णे फलमिक्षुकाण्डे, नाकारि पुष्प खलु चन्दनेषु।
विद्वान् धनी भूपतिदीर्घजीवी धातु पुरा कोऽपि न बुद्धिदोऽभूत्।।"

7 "It is certainly not a universal truth that all things require a maker What about the food and drink that are converted in the human and animal stomach into urine, faeces and filth? Is this the work of a God? I shall never believe that a God gets into the human and animal stomach and intestines and there employs himself in the manufacture, storage and disposal of filth Now if this 'dirty work' is not done by a God or Goddess, but by the operation of different kinds of elements and things on one another, in other words, if bodily products be the result of purely physical and chemical process going on in the stomach, intestines and the like it is absolutely untrue to say that it is a rule in nature according to which every thing must have a maker or manufacturer The argument is also self-contradictory with respect to the maker of that supposed world-maker of ours, for on the supposition that every thing must have a maker, we should have a maker of the maker and another maker of this maker's maker and so forth There is no escape from this difficulty, except by holding that the world-maker is self-existent But if nature could produce an 'unmade' maker, there is nothing surprising in its producing a world that is self-sufficient and capable of progress and evolution "

- *Confluence of Opposites, p 291*

8 Who and what rules the Universe? So far as you can see, it rules itself and indeed the whole analogy with a country and it's ruler is false —*Julian Huxley*

9 "The first question which arises in connection with the idea of creation is, why should God make the world at all? One system suggests, that he wanted to make the world, because it pleased him to do so, another, that he felt lonely and wanted company, a third, that he wanted to create beings who would praise his glory and worship, a fourth, that he does it in sport and so on

Why should it please the creator to create a world, where sorrow and pain are the inevitable lot of the majority of his creatures? Why should he not make happier beings to keep him company?"

—*Key of Knowledge p 135*

10. Thou art indeed just, Lord if I contend
With thee, but, sir, so what I plead is just,
Why do sinner's ways prosper? and why must
Disappointment all I endeavour end?
Wert thou my enemy, O, thou my friend,
How wouldst thou worse, I wonder, than thou dost
Defeat, thwart me? Oh, the sots and trills of lust
Do in spare hours more thrive than I that spend
Sir, life upon thy cause

–नेहरुजी की पुस्तक 'मेरी कहानी' से

11 "Can this world full of miseries, inequalities, cruelties and barbarities be the handiwork of a good God, while hundreds and thousands of wicked people, people without brains, without head or heart, immoral and cruel people, tyrant, oppressors, exploiters and selfish people living in luxury, and in every possible way insulting, trampling under foot, grinding into dust and also mocking their victims, these latter are lives of untold misery, degradation, disgrace of sheer want? They do not even get the necessities of life Why all this inequality? Can this be the handiwork of a just and true God?

"Where is thy God? I find no trace of him in this absurd world "

—Lala Lajpatarai in Mahratta 1933

12. God is in no sense the Creator of the universe All imperishable things are actual - sun, moon, while visible heaven is always active There is no time that they will stop If we attribute these gifts to God, we shall make him either an incompetent judge or an unjust one and it is alien to his nature Happiness which God enjoys is as great as that which we can enjoy sometimes It is marvellous

—Aristotle

13 "We should like to see this supreme benevolence that feeds ravens making some mark in the human order helping or halting wisdom to lessen the world-wide flow of tears and blood guarding the innocent from pain and privation, snatching the women and child from war-drunk brute, or what would be simpler and better-preventing the birth of the brute or the germination of his impulses Just this has always been the supreme difficulty of the theologian Even today we gaze almost helplessly upon the wars, the diseases, the poverty, the crimes, the narrow-minds and stunted natures, which darken our life And God, it seems, was busy gilding the sunset or putting pretty eyes in peacock's tails Religious writers say that God permitted the war on account of sin The motives matter little Such 'permission' is still vindictive punishment of the crudest order

"What would you think of the parent, who would stand by and see his daughter outraged, while fully able to prevent it? And would you be reconciled, if the father proved to you that his daughter had offended his dignity in some way?"

—Bankruptcy of Religion, pp 30-34

14 श्रीमद् राजचद्र, पृ॰ 96।

15 अनुभव के आधार पर साधुचेतस्क कवि भूधरदास की वाणी से क्या ही सुन्दर तर्क विधाता के सम्मुख उपस्थित हुआ है–

सज्जन जो रचे तो सुधारस सौ कौन काज,
दुष्ट जीव किये काल-कूट सो कहा रही।
दाता निरमापे फिर थापे क्यो कल्प-वृच्छ,
याचक विचारे लघु तृण हू ते है सही।।
इष्ट के सयोग तै न सीरो घनसार कछु,
जगत को ख्याल इन्द्रजाल सम है वही।
ऐसी दोय-दोय बात दीखै विधि एक ही सी,
काहे को बनाई मेरे धोखो मन है यही।।80।।

–जैनशतक।

16 तार्किक प्रभाचन्द्राचार्य।

17 आचार्य विद्यानन्दि।

18 "न कर्तृत्व न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभु ।
न कर्मफलसयोग स्वभावस्तु प्रवर्तते।।
नादत्ते कस्यचित् पाप न चैव सुकृत विभु ।
अज्ञानेनावृत ज्ञान तेन मुह्यन्ति जन्तव ।।"

–गीता 5-14, 15

19 जय सरवग्य अलोक-लोक इक उडुवत देखै।
हस्तामल ज्यौ हाथलीक ज्यौ, सरब बिसेखै।।
छहौ दरब गुन परज, काल त्रय वर्तमान सम।
दर्पण जेम प्रकास, नास मल कर्म महातम।।
परमेष्ठी पाचौ विघनहरा मगलकारी लोक मे।
मन वच काय सिर लाय भुवि, आनद सौ द्यो धोक मे।।1।।

–द्यानतराय, चर्चाशतक।

*****

परमात्मा और सर्वज्ञता

परमात्मा के कर्तृत्व को विविध दोष-मालिका से ग्रसित देख कोई-कोई विचारक परमात्मा के अस्तित्व पर ही कुठाराघात करने मे अपने मनोदेवता को आनन्दित मानते है। वे तो परमात्मा अथवा धर्म आदि जीवनोपयोगी तत्त्वो को मानव-बुद्धि के परे की वस्तु समझते है। एक विद्वान् कहता है, जिस तर्क के सहारे तत्त्व व्यवस्था की जाती है वह सदा सन्मार्ग का ही प्रदर्शन करता हो, यह नही है। कौन नही जानता कि युक्ति का आश्रय ले अतत्त्व को तत्त्व अथवा अपरमार्थ को परमार्थ-सत्य सिद्ध करने वाले व्यक्तियो का इस युग मे बोलबाला दिखायी देता है। जैसे द्रव पदार्थ अपने आधारगत वस्तुओ के आकार को धारण करता है, उसी प्रकार तर्क भी व्यक्ति की वासना, स्वार्थ, शिक्षा-दीक्षा आदि से प्रभावित हो कभी तो ऋजु और कभी वक्र मार्ग की ओर प्रवृत्ति करने से मुख नही मोडता। इसलिए तर्क सदा ही जीवन-नौका को व्यामोह की चट्टानो से बचाने के लिए दीप-स्तम्भ का कार्य नियम से नही करता।

कदाचित् धर्म-ग्रन्थो के आधार पर ईश्वर-जैसे गम्भीर तथा कठिन तत्त्व का निश्चय किया जाए तो बडी विचित्र स्थिति उत्पन्न हुए बिना न रहेगी। कारण, उन धर्म-ग्रन्थो मे मत-भिन्नता पर्याप्त मात्रा मे पद-पद पर दिखायी देती है। यदि मत-भिन्नता न होती तो आज जगत् मे धार्मिक स्वर्ग का साम्राज्य स्थापित न हो जाता? जो धर्म-ग्रन्थ अहिसा की गुण-गाथा गाने मे अपने को कृत-कृत्य मानता है वह कभी-कभी जीव-वध को आत्मकल्याण का अथवा आध्यात्मिक विकास का विशिष्ट निमित्त बताने मे तनिक भी सकोच नही करता। इस प्रसग मे गाधी जी की 'आत्मकथा' मे दी गई यह चर्चा विशेष उद्‌बोधक है। गाधी जी की धर्मपत्नि कस्तूरबा बाई अफ्रीका के डरबन नगर मे भयकर रोगाक्रात हो गई। डाक्टर उन्हे मास का शोरबा देने का आग्रह कर रहा था। कस्तूरबा बाई ने कहा था, "मै मास का शोरबा नही ले सकती। मनुष्य जन्म

बार-बार नहीं होता। यदि मैं मर जाऊ तो भी अच्छा, किन्तु मै अपनी देह अपवित्र नही होने दूगी। कस्तूरबा बाई को डरबन शहर से फिनिक्स लाया गया। वहा हिन्दू धर्म के विशेषज्ञ एक स्वामी जी आए। गाधी जी लिखते है, "स्वामी जी ने आते ही मासाहार की निर्दोषता पर एक व्याख्यान झाड दिया। प्रमाण मे उन्होने मनुस्मृति के श्लोक भी सुनाए।" अत मे कस्तूरबा बाई ने कहा "स्वामी जी, आप चाहे जो कहे मुझे मास का शोरबा खाकर अच्छी होने की जरूरत नही। आप मेरा सिर न खपावे।" (**आत्मकथा** भाग 2, पृ 103-106)

जो धर्म ग्रथ 'अहिसा परमोधर्म·' का सिद्धान्त प्रतिपादन करे, वही मासाहार तथा जीव वध का राग अलापे, इस विषमता को देख विचारक व्यक्ति का मन गहरी चिता मे डूब जाता है। अहिसा की स्तुति करने वाले एक काग्रेस के मत्री महोदय मास-भक्षण के लिए प्रेरणा देते हुए उसे वनस्पति का ही विशिष्ट रूप बताते हुए असत्य की पराकाष्ठा पर पहुच जाते है। गाधी जी के स्वच्छ विचारो को ध्यान मे रखने वाला शासन की ओर से किए गए इस मिथ्या तथ्य तथा विनिन्दित प्रचार ज्ञातकर आश्चर्यान्वित हुए बिना न रहेगा।

"मास खाने वालो को पहिले से अधिक मास, अण्डा और मछली खाना चाहिए। आखिर मास क्या है? यह सिन्थिटिक वनस्पति है और अधिक लोगो को मास खाकर अपनी नसो मे गर्म खून दौडाना चाहिए। इससे हरी सब्जियो पर जो दबाव है, उसमे भी कमी आएगी"(**वीर**, 30 अप्रैल 1961, पृ 7) ऐसी स्थिति मे घबडाया हुआ मुमुक्षु कह बैठता है-भाई, धर्म तो किसी अँधेरी गुफा के भीतर छुपा है, प्रभावशाली अथवा बुद्धि आचरण आदि से बल सम्पन्न व्यक्ति ने अपनी शक्ति के बल पर जो मार्ग सुझाया, भोले जीव उसे ही जीवन-पथ-प्रदर्शक दिव्य ज्योति मान बैठते है। कवि ने ठीक कहा है-

"तर्कोऽप्रतिष्ठ: श्रुतयो विभिन्ना·
नैको मुनिर्यस्य वच: प्रमाणम्।
धर्मस्य तत्त्व निहित गुहाया
महाजनो येन गत: स पन्था:॥"

गम्भीर चिन्तन से समीक्षक इस निष्कर्ष पर पहुँचेगा कि पूर्वोक्त विचार-शैली ने अतिरेक पूर्ण मार्ग का अनुसरण किया है। सुव्यवस्थित तर्क सर्वत्र सर्वदा अभिवन्दनीय रहा है, इसीलिए पशुजगत् से इस मानव का पृथक्करण करने के लिए ज्ञानवानो को कहना पडा कि—Man is a rational being (मनुष्य तर्कणाशील प्राणी है)। यह विशिष्ट विचारकता ही पशु और मनुष्य के बीच की विभेदक रेखा है। जिस नैसर्गिक विशेषता से मानव-मूर्ति विभूषित है उस तर्क की कभी-कभी असत् प्रवृत्ति को देख तर्क मात्र को विष खिला मृत्यु के मुख मे पहुँचाने से हम मानव जीवन की विशिष्टता से वंचित हो जाएगे। जैसे कोई विचित्र आदमी यह कहे कि मै श्वास तो लेता हूँ किन्तु श्वास लेने के उपकरण मेरे पास नही है। इसी प्रकार सारा जीवन तर्क पर प्रतिष्ठित रहते हुए मानव के मुख से तर्क-मात्र के तिरस्कार की बात सत्य की मर्यादा के बाहर है तथा विवेकी व्यक्तियो के लिए पर्याप्त विनोदप्रद है। इसलिए हमे इस निष्कर्ष पर पहुँचना होगा कि जहा कुतर्क गन्दे जल के सदृश मलिनता तथा अशुद्धता को बढाता है, वहा समीचीन तर्क जीवन की महान् विभूति है और उसका रस पिए बिना मानव का क्षण-भर व्यतीत होना भी कठिन है। असत्य के फेर मे फँसे हुए सत्य को विश्लेषण करने का तथा उसकी उपलब्धि कराने का श्रेय समीचीन तर्क को ही तो है; अत· समीचीन तर्क के द्वारा हमे परमात्मा और उसके स्वरूप के विषय मे वह प्रकाश मिलेगा जिससे अन्वेषक की आत्मा मे नवीन विचारो का जागरण होगा।

समीचीन तर्क के अग्नि-परीक्षण मे विश्वनियन्ता परमात्मा की अवस्थिति नही रहती। किन्तु, उसी परीक्षण से परमात्मा का ज्ञान, आनन्द, शान्त, वीतराग स्वरूप अधिक विमल बन विश्व तथा वैज्ञानिक विचारको को अपनी ओर विवेकपूर्वक आकर्षित करता है। स्वामी **समन्तभद्र** परमात्मा की मीमासा करते हुए लिखते है—"विश्व के प्राणियो मे रागादि दोष तथा ज्ञान के विकास और ह्रास मे तरतमता का सद्भाव पाया जाता है—कोई आत्मा राग-द्वेष-मोह-अज्ञान से अत्यधिक मलीन होता है तो किसी मे उन विकारो की मात्रा हीयमान तथा अल्पतर होती जाती है। इससे इस तर्क का सहज उदय होता है कि कोई ऐसी

भी आत्मा हो सकती है जो राग, द्वेष, मोह आदि विकारो से पूर्णतया विमुक्त हो, वीतराग बन सर्वज्ञता की ज्योति से अलकृत हो। खान से निकाला गया सुवर्ण किट्टकालिमादि से इतना मलिन दिखता है, कि परिशुद्ध सुवर्ण का दर्शन करने वाले का अतःकरण उस मलिन अपरिष्कृत सुवर्ण मे सु-वर्ण वाले सोने के अस्तित्व को स्वीकार नही करना चाहता। यह तो उस अग्नि आदि का कार्य है, जो दोषो को नष्ट कर नयनाभिराम बहुमूल्य सुवर्ण का दर्शन या उपलब्धि कराती है। इसी प्रकार तपश्चर्या, विवेकपूर्वक अहिसा की साधना, आत्म-विश्वास तथा स्वरूप बोध से समन्वित आत्मा अपनी अनादिकालीन राग-द्वेष, मोह, अज्ञान आदि विकृति का विध्वस कर अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त शक्ति सम्पन्न परिशुद्ध आत्मा की उपलब्धि करता है। ऐसे चैतन्य, आनन्द आदि अगणित विशेषताओ से अलकृत श्रेष्ठ आत्मा को परमात्मा कहते है। यही परम-पिता, महादेव, विष्णु, बुद्ध, विधाता, शिव आदि विभिन्न पुण्य नामो से सकीर्तित किया जाता है। समीचीन तर्क वालो की दृष्टि मे यही ईश्वर है, यही भगवान् है। इसी दिव्य ज्योति के आदर्श प्रकाश मे अनन्त दु खी आत्माएँ अपनी आत्मशक्तियो को केन्द्रित करती हुई अपनी आत्मा मे अन्तर्हित परमात्मतत्त्व को प्रकट करने का समर्थ और सफल प्रयास कर सच्ची साधना द्वारा एक समय कृतकृत्य, परिशुद्ध, परिपूर्ण बन जाती है। आचार्य **सिद्धसेन दिवाकर** की यह धारणा है कि–इस परम-पवित्र, परिपूर्ण, परिशुद्ध परमात्मा को ही विविध साम्प्रदायिक दृष्टिवाले अपनी-अपनी मान्यतानुसार पूजा करते है।[1] क्या धवलवर्ण का शख विविध काचकामलादि रोग वाले को अनेक प्रकार के रगोवाला नही दिखाई देता?

भारतीय दार्शनिको मे तत्त्व-मीमासा से अधिक ममत्त्व द्योतित करने के लिए ही अपने को मीमासक कहने वाला इस परमात्म तत्त्व की गुत्थी को सुलझाने मे अक्षम बन, उसे सर्वज्ञ स्वीकार करने मे अपने आपको असमर्थ पाता है। आज भी उस दार्शनिक विचारधारा से प्रभावित

पुरुष कह बैठते है कि परम पवित्र, परिशुद्ध, आत्मा को हम परमात्मा सहर्ष स्वीकार करते है, किन्तु उसकी सर्वज्ञता-युगपत् त्रिकाल-त्रिलोकदर्शीपने की बात हृदय को नही लगती। यह हो सकता है कि तपश्चर्या, आत्मसाधना, आत्मोत्सर्ग आदि के द्वारा कोई पुरुष अपने मे असाधारण ज्ञान का विकास कर ले, किन्तु सकल विश्व का एक साथ एक क्षण मे साक्षात्कार करने की बात तो कवि-जगत् की एक सु-मधुर कल्पना है जो तर्क की तीक्ष्ण ज्वाला को सहन नही कर सकती। जिस प्रकार कोई आदमी चार गज कूद सकता है तो दूसरा इसमे कुछ अधिकता कर सकता है, परन्तु किसी आदमी के हजार मील एक क्षण मे कूदने की बात स्वस्थ मस्तिष्क की उद्भूति नही कही जा सकती। उसी प्रकार सम्पूर्ण विश्व के चर-अचर अनन्तानन्त पदार्थो के परिज्ञाता की बात तीन काल मे भी सम्भव नही हो सकती। क्योकि, जीवन अत्यल्प है, उसमे अनन्त और अपार तत्त्वो का दर्शन नही हो सकता।

ऐसे मीमासको का तर्क साधारणतया बडा मोहक मालूम पडता है, किन्तु, समीचीन विचार-प्रणाली से इसकी दुर्बलता का स्पष्ट बोध हो जाता है। शरीर से हीनाधिक कूदने-जैसी कल्पना अ-भौतिक, अमर्यादित, सामर्थ्य सम्पन्न आत्मा के विषय मे सु-सगत नही है। जिसने अन्धलोक मे रह केवल जुगनू के प्रकाश का परिचय पाया है वह त्रिकाल मे भी इसे स्वीकार करने मे असमर्थ रहेगा कि सूर्य नाम की प्रकाशपूर्ण कोई ऐसी भी वस्तु है जो हजारो मीलो के अन्धकारो को क्षणमात्र मे दूर कर देती है। जुगनू सदृश आत्मशक्ति को ससीम, दुर्बल, प्राणहीन-सा समझने वाला अज्ञानता के अन्धलोक मे जन्म से विचरण करने वाला अज्ञ व्यक्ति प्रकाशमान तेजपुञ्ज आत्मा की सूर्य-सदृश शक्ति के विषय मे विकृत धारणा को कैसे परिवर्तित कर सकता है, जब तक कि उसे इसका (सूर्य का) दर्शन न हो जाए।

इस सर्वज्ञता के रहस्य को हृदयगम करने के पूर्व मीमासक को कम से कम यह तो मानना होगा कि विश्व की सम्पूर्ण आत्माएँ समान है। जैसे खान से निकाला गया सुवर्ण केवल सुवर्ण की दृष्टि से अपने से विशेष निर्मल अथवा पूर्ण परिशुद्ध सुवर्ण से किसी अश मे न्यूनशक्ति

वाला नही है। यदि अग्नि आदि का सयोग मिल जाए तो वह मलिन सुवर्ण भी परिशुद्धता को प्राप्त कर सकता है। इसी प्रकार इस जगत् की प्रत्येक आत्मा राग, द्वेष, अज्ञान आदि विकारो का नाशकर परिशुद्ध अवस्था को प्राप्त कर सकती है। ऐसी परिशुद्ध आत्माओ मे उनकी निज-शक्तिया आवरणो के दूर होने से पूर्णतया प्रकाशमान होगी। जो तत्त्व या पदार्थ किसी विशिष्ट आत्मा मे प्रतिबिम्बित हो सकते है, उन्हे अन्य आत्मा मे प्रतिबिम्बित होने मे कौन सी बाधा आ सकेगी? यह तो विकृत वैभाविकशक्ति तथा साधनो का प्रभाव है जो आत्माओ मे विषमता एव भेद उपलब्ध होता है, और ससारी आत्माए सर्वज्ञता के दिव्य प्रकाश से वचित होती है। अनात्म तत्त्व की भी अद्भुत सामर्थ्य है। अन्यथा स्वतन्त्र, विकास प्राप्त आत्मा के गुणो की अभिव्यक्ति समान रूप से सब आत्माओ मे हुए बिना न रहती।

चैतन्य पुज आत्मा के विकास मे विघ्नकारी जड तत्त्व-पुदगल की अद्भुत शक्ति है। कार्तिकेय अनुप्रेक्षा मे लिखा है–

का व अउव्वा दीसदि पुग्गलदव्वस्स एरिसी सत्ती
केवलणाण सहाओ विणासिदो जाइ जीवस्स ॥211॥

पुदगल द्रव्य की यह अश्र्व सामर्थ्य है कि उसके निमित्त से जीव का केवल ज्ञान स्वभाव-सर्वज्ञता विनाश को प्राप्त हो जाता है।

इस सबध मे यह बात भी ध्यान मे रखनी चाहिए कि विश्व के पदार्थो के अस्तित्व का बोध आत्मा की ज्ञानशक्ति के द्वारा होता है। जो पदार्थ ज्ञान की ज्योति मे अपना अस्तित्व नही बताता उसका अभाव मानना ही न्यायसगत होगा। हर्बर्ट स्पेन्सर के समान 'अज्ञेयवाद' का समर्थन नही किया जा सकता। भला, उस पदार्थ के सद्भाव को कैसे स्वीकार किया जाए जो इस अनन्त जगत् मे किसी भी आत्मा के ज्ञान का विषयभूत नही हुआ, नही होता है अथवा अनन्त भविष्य मे भी नही होगा। पदार्थो के अस्तित्व के लिए यह आवश्यक है, कि वे विज्ञान-ज्योति के समक्ष अपने स्वरूप को बताने मे सकोच न खाएँ; अन्यथा उन पदार्थो को रहने का कोई अधिकार नही है। यो तो पदार्थ अपनी सहज शक्ति के बल पर रहते ही है, उनके भाग्य-विधान के लिए कोई अन्य विधाता

नही है, किन्तु उनके सद्भाव के निश्चयार्थ ज्ञान-ज्योति मे प्रतिबिम्बित होना आवश्यक है। इसका तात्पर्य यही है कि प्रत्येक पदार्थ किसी-न-किसी ज्ञाता के ज्ञान का ज्ञेय अवश्य था, है तथा रहेगा।

जब पदार्थो मे ज्ञान के विषय बनने की शक्ति है, आत्मा मे पदार्थों को जानने की सहज शक्ति है और जब आत्म-साधना के द्वारा चैतन्य-सूर्य का पूर्ण उदय हो जाता है तब ऐसी कौन सी वस्तु है जो उस आत्मा के अलौकिक ज्ञान मे प्रतिबिम्बित न होती हो और जिसे स्वीकार करने मे हमारे तार्किक को पीडा होती है। जिस तरह चलने-फिरने-दौडने मे शरीर की मर्यादित शक्ति बाधक बन मर्यादातीत शारीरिक प्रवृत्ति को रोकती है, उस तरह का प्रतिबन्ध ज्ञानशक्ति के विषय मे नही है। पदार्थो का परिज्ञान करने मे परम-आत्मा को कोई कष्ट नही होता। जैसे, बाधक सामग्रीविहीन अग्नि को पदार्थो को भस्म करने मे कोई रुकावट नही होती, उसी प्रकार राग-मोहादि बाधक-सामग्रीविहीन आत्मा को समस्त पदार्थो को एक ही क्षण मे साक्षात्कार करने मे कोई आपत्ति नही होती।

सर्वज्ञता के सबध मे वैज्ञानिक धर्म का अन्वेषण करने मे प्रयत्नशील और अन्त मे जैन धर्म को स्वीकार करने वाली अग्रेज बहिन **डॉ॰ एलिजाबेथ फ्रेजर** ने बडे सरल शब्दो मे मार्मिक प्रकाश डाला है। उनका कहना है कि—

> [2]"सर्वज्ञता विशुद्ध आत्मा का गुण है। इसे सिद्ध करना सरल बात है। इसका मूल आधार इतर विज्ञानो के समान प्रकृति की एकविधता (Uniformity of Nature) है। प्रकृति अविनाशी है क्योंकि पदार्थो के गुण-धर्म नही बदलते, वे सदा वैसे ही रहते है। यह प्रकृति का नियम है कि एकजातीय पदार्थो मे सर्व-अनुगत-समान धर्म पाया जाता है। जैसे सोना सदा 'सोना' रूप ही मे पाया जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि सोने का एक टुकडा सोने के दूसरे टुकडे के समान सदा होगा। शुद्ध पदार्थ मे भिन्नता नही पायी जाती। सब पदार्थो मे यही नियम है। आत्मा भी एक द्रव्य है, अतएव वह इस नियम के बाहर नही है। इस कारण ज्ञानात्मक आत्म-द्रव्य के गुण प्रत्येक अवस्था मे समान है। इससे ज्ञान-शक्ति की अपेक्षा सब

आत्माएँ समान है। इसका यह तात्पर्य हुआ कि प्रत्येक आत्मा मे इस प्रकार की शक्ति है कि सम्पूर्ण ज्ञान को अभिव्यक्त करे। आत्मा सर्व जगत् और सर्वकाल के पदार्थों को तथा उनकी अवस्थाओ को जान सकती है, जो विषय कोई एक आत्मा जानती है, अतीत मे जिसे जाना था, अथवा भविष्य मे जिसे जानेगी, उसे दूसरी आत्मा भी जान सकती है। भूतकाल मे किसी एक ने जितना ज्ञान प्राप्त किया होगा उसे कोई भी आज विद्यमान प्राणी जान सकता है। इसी प्रकार वर्तमान मे किसी के द्वारा जाना गया पूर्णज्ञान तथा भविष्यत् मे किसी प्राणी के द्वारा ज्ञान की विषय-भूत बनायी जाने वाली वस्तु को हममे से कोई भी जान सकता है। इस प्रकार कालत्रय सम्बन्धी ज्ञान सब आत्माओ मे सम्भव हो सकता है। क्या आकाश हमारे ज्ञान को मर्यादित कर सकता है? सक्षेप मे कहना होगा कि सर्वज्ञ बनने की क्षमता सब आत्माओ मे है—वर्तमान काल मे अनेक पदार्थ अज्ञात रहते है पर इसका अर्थ यह नही है कि वे सदा अज्ञात ही रहेगे। यह निर्विवाद है कि जो पदार्थ सत्यान्वेषी समर्थ हृदयो मे प्रतिभासित नही होते है, उनका अस्तित्व कभी भी सिद्ध नही किया जाता और इसलिए उनका अभाव हो जाएगा।"

उपर्युक्त अवतरण से आत्मा की सकल पदार्थों को साक्षात् ग्रहण करने की शक्ति स्पष्ट होती है। त्रिकालवर्ती अनन्त पदार्थो को क्रम-क्रम से जानना असम्भव है, अत· सर्वज्ञता के तत्त्व को स्वीकार करने पर युगपत् ही सर्व पदार्थो का ग्रहण स्वीकार करना होगा। मर्यादापूर्ण क्रमवर्ती अल्पज्ञ भी विशेष आत्मशक्ति के बल पर स्व० राजचद्र भाई के समान शतावधानी—एक साथ सौ बातो को अवधारण करने की जब क्षमता दिखाता है, तब सम्पूर्ण मोहनीय तथा ज्ञानावरणादि विकारो के पूर्णतया क्षय होने से यदि आत्म-शक्ति पूर्ण विकसित हो एक क्षण मे त्रैकालिक समस्त पदार्थो को जान ले तो इसमे कोई आश्चर्य नही है। हॉ, आत्म शक्ति और उसके वैभव को भूलकर मोह-पिशाच से परतन्त्र किये गये प्राणियो की दुर्बलता की छाप (छाया) समर्थ आत्माओ पर लगाना यथार्थ मे आश्चर्यकारी है। भौतिकता के भयकर भार से अभिभूत जगत्

जहा आत्मतत्त्व के अस्तित्व को स्वीकार करने मे कठिनता का अनुभव करता है, वहाँ त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थों को युगपत् ग्रहण करने की बात उसके अन्त.करण मे बडे कष्ट से प्रविष्ट हो सकेगी। किन्तु सूक्ष्म चिन्तक और यौगिक साधनाओ के बल पर चमत्कारपूर्ण आत्मविकास को स्वीकार करने वाले सर्वज्ञता को सहज शिरोधार्य कर उसे जीवन का चरम लक्ष्य स्वीकार करेगे। **पातजलि योगदर्शन** मे भी योगी के सर्वज्ञता की उद्भूति स्वीकार की गई है। **योगदर्शन** के कैवल्यपाद मे यह सूत्र आया है–

"तदा सर्वावरण मलापेतस्य ज्ञान स्यानन्त्याज्जेयम ॥31॥"

उस समय योगी के सम्पूर्ण आवरण तथा मलिनता का अभाव हो जाने से अनतज्ञान हो जाता है। इस कारण ज्ञेय पदार्थ उस ज्ञान राशि की अपेक्षा अत्यत अल्प हो जाता है। इस सर्वज्ञता (Omniscience) के उत्पन्न होने के पूर्व आत्मा से राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभादि विकारो का पूर्णतया विनाश हो जाना आवश्यक है। बिना इनके पूर्ण विनाश हुए आत्मा का विकास नही हो सकता। निर्विकार परमज्योति परमात्मा अहिसा, सत्य, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य सदृश गुणो से अलकृत होता है। वह ससार के राग-द्वेषमय प्रपच से पृथक् रह स्वरूप मे निमग्न रहते हुए प्रेक्षक का कार्य करता है। सन्मार्ग का प्रकाशन ऐसी आत्मा के द्वारा विशेष समय पर होता है। उनका जीवन ही विश्व के लिए धर्म का महान् उपदेष्टा होता है।

जगदुद्धार के लिए यह परमात्मा मानव रूप मे अवतार धारण करने आता है यह मान्यता उचित नही है। कारण, यदि जगत् के प्रति तनिक भी मोह रहा तो सर्वज्ञता का परम प्रकाश उस परमात्मा को नही मिलेगा। अवतारवाद के विषय मे यह बात जाननी चाहिए कि विशेष परिस्थिति मे आवश्यकतानुसार धर्म सस्थापन तथा अधर्म-उन्मूलन के लिए कोई विश्व कल्याण की सच्ची लगन वाला साधारण मानव सम्यक साधना द्वारा अपनी आत्मशक्तियो का विकास कर सर्वज्ञ बनकर विश्वोपदेष्टा का कार्य करता है और उसी समर्थ एव पूर्ण आत्मा को जगत् दिव्यात्मा के रूप मे देखता है, मानता है तथा अर्चना करता है।

देखिए, आचार्य **अमितगति** कितने मार्मिक शब्दो मे ऐसे स्वपुरुषार्थ के द्वारा बने परमात्मा का मगलमय स्मरण करते है और जिससे जैनधर्म के मान्य परमात्म-स्वरूप का भी स्पष्टीकरण सुन्दर रूप मे प्रत्यक्ष हो जाता है–

"य· स्मर्यते सर्वमुनीन्द्रवृन्दैर्यः स्तूयते सर्वनरामरेन्द्रै·।
यो गीयते वेदपुराणशास्त्रै· स देवदेवो हृदये ममास्ताम् ॥12॥
यो दर्शनज्ञानसुखस्वभावः समस्तससारविकारबाह्य ।
समाधिगम्य· परमात्मसज्ञ. स देवदेवो हृदये ममास्ताम् ॥13॥
निषूदते यो भवदु:खजाल निरीक्षते यो जगदन्तरालम्।
योऽन्तर्गतो योगिनिरीक्षणीय. स देवदेवो हृदये ममास्ताम् ॥14॥
विमुक्तिमार्गप्रतिपादको यो यो जन्ममृत्युव्यसनाद्यतीत ।
त्रिलोकलाक विकलोऽकलक स देवदेवो हृदये ममास्ताम् ॥15॥
क्रोडीकृताशेषशरीरिवर्ग रागादयो यस्य न सन्ति दोषा.।
निरिन्द्रियो ज्ञानमयोऽनपाय स देवदेवो हृदये ममास्ताम् ॥16॥
यो व्यापको विश्वजनीनवृत्ते सिद्धो विबुद्धो धुतकर्मबन्ध ।
ध्यातो धुनीते सकल विकार स देवदेवो हृदये महास्ताम् ॥17॥

–भवनाद्वात्रिंशतिका

*****

सदर्भ सूची

1 "त्वामेव वीततमस परवादिनोऽपि
नून प्रभो हरिहरादिधिया प्रपन्ना ।
किं काचकामलिभिरीश सितोऽपि शखो
नो गृह्यते विविधवर्णविपर्ययेण॥18॥"

–कल्याणमन्दिर।

2 The argument that proves omniscience to be an attribute of the pure soul is very simple It is based on the uniformity of nature, as all science is Nature is constant, so that the attributes and properties of substances cannot vary, they are always the same It is a natural law that all things belonging to the same species, class, genus etc have a common nature Gold, for instance, will always be found to be gold That is to say, one piece of gold is always like any other piece

of gold There are no differences in the pure matter This is the case with all substances The soul being a substance cannot be an exception to the law Therefore, the properties of the soul—the intelligent substances are alike in every case, so it must be that all souls are alike in respect of their knowing capacity This is tantamount to saying that every soul has within itself the ability to manifest the entirety of knowledge The soul can know all things and all conditions of things, of all places, of all times, for what one soul knows or knew or will ever know, can be known by any other soul All knowledge acquired by any one in the past can be known by any one living today Similarly all knowledge known by any one living and all the knowledge which will be ever acquired by any knowing living being in the future can be known by every one of us Thus knowledge of the three periods of times is possible for all Now can localisation in space set a limit to our knowledge ? That every soul in short is capable of omniscience ? Many things remain unknown at the present time That does not mean that it is to be inferred that they will always remain unknown It is indisputable that what can never be known by capable minds engaged in investigating the truth will never be proved to have an existence and is 'therefore' non-existent

—*A Scientific Interpretation of Christianity, pp 44-45*

*****

विश्व-स्वरूप

जो विश्व सर्वज्ञ, वीतराग परमात्मा की ज्ञान-ज्योति के द्वारा आलोकित किया जाता है, उसके स्वरूप के सबध मे विशेष विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है। जब तत्त्व-ज्ञान के उदय तथा विकास के लिए सात्त्विक भावापन्न व्यक्ति यह सोचता है–

"को मै? कहा रूप है मेरा? पर है कौन प्रकारा हो?
को भव-कारन? बध कहा? को आस्रव-रोकनहारा हो?
खिपत बध-करमन काहे सो? थानक कौन हमारा हो?"

–कविवर भागचन्द्र

तब आत्म-स्वरूप के साथ-साथ जगत् के अन्तस्तल का सम्यक् परिशीलन भी अपना असाधारण महत्त्व रखता है। साधारणतया सूक्ष्म चर्चा की कठिनता से भीत व्यक्ति तो यह कहा करता है कि विश्व के परिचय मे क्या धरा है, अरे लोक-हित करो और प्रेम के साथ रहो, इसी मे सब कुछ है। ऐसे सत्त्व-शून्य व्यक्तियो को पथप्रदर्शक यदि माना जाए तो जगत् मे ज्ञान-विज्ञान, कला-कौशल आदि के विकासादि का अभाव होगा। यह सत्य है कि कृति मे पवित्रता का प्रवेश हुए बिना परमधाम की प्राप्ति नही होती, किन्तु उस कृति के लिए सम्यक् ज्ञान का दीप आवश्यक है, जो अज्ञान-अधकार को दूर करे ताकि मार्ग और अमार्ग का हमे सम्यक् बोध हो। जगत् की विशालता और उसके रगमच पर प्रकृति नटी की भाति-भाति की लीलाओ के अध्ययन से सम्यक् आचरण को जितना बल और प्रेरणा प्राप्त होती है, उतनी अन्य उपायो से नही। रेल का इंजिन जिस तरह वाष्प के बिना अवरुद्ध-गति हो जाता है, उसी तरह विश्व क्या है, उसमे मेरा क्या और कौन-सा स्थान है? आदि समस्याओ के समाधान रूपी बल के अभाव मे जीवन की रेल भी मुक्ति-पथ मे तनिक भी नही बढती।

जिस प्रकार आज का शिक्षित भौतिक शास्त्रो के विषय मे सूक्ष्म से सूक्ष्म गवेषणा और शोध का कार्य करता है तथा अपने कार्य मे अधिक सलग्नता के कारण वह अपने प्राणो का खेल करने से भी मुख नही मोडता, यदि उस प्रकार की निष्ठा और तत्परता आत्म-विकास के अगभूत विश्व के रहस्य-दर्शन के लिए दिखाए तो कितना हित न हो? समय और शक्ति के अपव्यय की विचित्र सूझ आत्मा के सच्चे कल्याण की बात सोचने-समझने के मार्ग मे उपस्थित की जाती है। किन्तु आत्मा को विषय-भोगो मे फँसा परतन्त्र और दुखी बनाने वाली सामग्री का सग्रह करना अथवा चर्चा मे समस्त जीवन की आहुति करना भी जीवन का सद्व्यय समझा जाता है—कैसी विचित्र बात है यह।

श्री जे एल जैनी ने लिखा है कि "समस्त दर्शनो तथा विज्ञान का मूलाधार विविध बाते है। उनमे एक तो मनुष्य है तथा दूसरा यह विश्व है। समस्त चितन इस प्रश्न का उत्तर देने का प्रयत्न करते है कि इस विश्व के साथ मानव का क्या सबध है? सर्व प्रकार का व्यावहारिक ज्ञान इसी प्रश्न को सुलझाने का प्रयत्न करता है। सभी धर्म तथा सर्व प्रकार का नीति विज्ञान एव भौतिक विज्ञान उपरोक्त दोनो प्रश्नो के विविध स्वरूपो पर न्यूनाधिक रूप से प्रकाश डालने का प्रयत्न करते है।"[1]

यदि इस विषय का वैज्ञानिक विश्लेषण किया जाए तो विदित होगा कि दृश्य-जगत् मे सचेतन तत्त्व (इसे उपनिषदो मे 'आत्मा' कहा गया है) और अचेतन तत्त्वो का सद्भाव है। 'सत्य ब्रह्म, जगन्मिथ्या'– एक ब्रह्म ही तो सत्य है और शेष जगत् काल्पनिक सत्य है—स्पष्ट शब्दो मे मिथ्या है, यह वेदान्तियो की मान्यता वास्तविकता से समन्वय नही रखती। आत्म-तत्त्व का सद्भाव जितने रूप मे परमार्थ है, उतने ही रूप मे अचतन तत्त्व भी वास्तविक है। दार्शनिक विश्लेषण की तुला पर सत्य की दृष्टि से सचेतन-अचेतन[2] दोनो तत्त्व समान है। अत जगत् को मिथ्या मानने पर ब्रह्म की भी वही गति होगी।

तत्त्व मे उत्पत्ति, स्थिति तथा विनाश स्वभाव पाया जाता है। ऐसी कोई सदात्मक वस्तु नही है, जो केवल स्थितिशील ही हो तथा उत्पत्ति और विनाश के चक्र से बहिर्भूत हो। जैन सूत्रकार आचार्य **उमास्वामी** ने

लिखा है कि–"**उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त सत्**"[3]। इस विषय मे **पञ्चाध्यायीकार** लिखते है कि – "द्रव्य का लक्षण सत् है। अभेद दृष्टि से तत्त्व को सत्स्वरूप कहना होगा। द्रव्य को गुण तथा पर्याय युक्त माना गया है। द्रव्य से जैसे गुण अभिन्न है, उसी प्रकार पर्याय भी अभिन्न है।"[4] यह सत् स्वतः सिद्ध है–इसका अस्तित्व अन्य वस्तु के अवलम्बन की अपेक्षा नही करता। इसी कारण, यह तत्त्व अनादि निधन है–स्वसहाय और विकल्प-रहित भी है।[5]

साधारण दृष्टि से एक ही वस्तु मे उत्पत्ति-स्थिति-व्यय का कथन असम्भव बातो का भण्डार प्रतीत होता, किन्तु सूक्ष्मविचार भ्रम का क्षणमात्र मे उन्मूलन किये बिना न रहेगा। यदि 'आम' को पदार्थ (तत्त्व) का स्थानापन्न समझा जाए, तो कहना होगा कि कच्चे आम मे पकने के समय हरेपन का विनाश हुआ, पीले रग वाली पकी अवस्था का उसी समय प्रादुर्भाव हुआ और इन दोनो अवस्थाओ को स्वीकार करने वाले आम का स्थायित्व-ध्रौव्यत्व बना रहा। यह तो उस 'सत्' के दर्शन की दृष्टि का भेद है जो एक सत् अथवा तत्त्व त्रिविध रूप से ज्ञान-गोचर बनता है। आम की पीली अवस्था पर दृष्टि डालने से सत् का उत्पाद हमारे दृष्टि-प्रधान बिन्दु मे प्रधान बनता है। विनाश होने वाले हरे रग को लक्ष्य-गोचर बनाने पर सत् का विनाश हमे दिखता है। आम-सामान्य पर दृष्टि डालने पर न तो उत्पाद मालूम होता है और न व्यय। इस आम के समान विश्व के सम्पूर्ण पदार्थ, उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य युक्त है। तार्किक **समन्तभद्र** ने इसीलिए तत्त्व को पूर्वोक्त त्रिविधताओ से समन्वित स्वीकार किया है–"**तस्मात् तत्त्व त्रयात्मकम्**।"[6]

इस त्रिविध तत्त्वदृष्टि मे किन्ही को तीव्र विरोध का दर्शनरूपी तर्काभाव चैन नही लेने देता। उन्हे इस बात को ध्यान मे रखना होगा, कि तत्त्व-दर्शन की तीन दृष्टियो के परिणामस्वरूप वह सत् क्रियात्मक प्रतीत होता है। विरोध तो तब हो जब एक ही दृष्टि से तीनो बातो का वर्णन किया जाए। नवीन पर्याय की अपेक्षा उत्पाद कहा है और पुरातन पर्याय की दृष्टि से व्यय बतलाया है। नवीन पर्याय की दृष्टि से उत्पाद के समान व्यय कहा जाए अथवा पुरातन पर्याय की अपेक्षा से ही व्यय के समान उत्पाद माना जाए अथवा ध्रौव्यता स्वीकार की जाए तो विरोध

तत्त्व की अवस्थिति को सकटापन्न बनाए बिना न रहेगा।[7] स्याद्वाद की सञ्जीवनी के सस्पर्श को प्राप्त करने पर विरोधादि विकारो का विष तत्त्व का प्राणापहरण न कर उसे अमर-जीवन प्रदान करता है। इस स्याद्वाद विद्या के विषय मे विशद् विवेचन आगे किया जाएगा। इस प्रसग मे इतनी बात ध्यान मे रखनी चाहिए कि कोई वस्तु एकान्त से स्थितिशील उत्पत्ति अथवा विनाशात्मक नही पायी जाती। अतएव वेदान्तियो का ब्रह्म जितना अधिक सत्य है, उतने ही सत्य अन्य तत्त्व भी है।

विज्ञान-विचारसम्पन्न दार्शनिक चिन्तन तो यह बताता है कि सम्पूर्ण विश्व पर्याय अवस्था (Modification) की दृष्टि से क्षण-क्षण मे परिवर्तनशील है। इस दृष्टि से तत्त्व को क्षणिक विनाशी अथवा असत्रूप धारण करने वाला भी कह सकते है। यदि उस तत्त्व पर द्रव्य (Substance) की अपेक्षा विचार करे तो तत्त्व को आदि और अन्तरहित अगीकार करना होगा। सर्वथा असत् या अभावरूप होने वाली वस्तुओ को आधुनिक-विज्ञान का पण्डित भी तो नही मानता। वस्तु कितने ही उपायो द्वारा मृत्यु अथवा विनाश के मुख मे प्रविष्ट करायी जाए, उसका समूल नाश न होकर मूलभूत तत्त्व अवश्य अवस्थित रहेगा। इस महान् सत्य को स्वीकार करने पर विश्व-निर्माण-कर्त्ता ईश्वर को न मानते हुए भी जगत् की सुव्यवस्था आदि मे बाधा नही पडती, क्योकि यह जगत् सत् स्वरूप होने से अनादि और अनिधन-अनन्त है। भला, जिन तत्त्वो की अवस्थिति के लिए स्वय का बल प्राप्त है, दूसरे शब्दो मे जो स्व का अवलम्बन करने वाले आत्म-शक्ति का आश्रय तथा सहयोग प्राप्त करने वाले है, उनके भाग्य-निर्माण की बात अन्य विजातीय वस्तु के हाथ सौपना अनावश्यक ही नही, वस्तु स्वरूप की दृष्टि से भयकर अत्याचार होगा। एक द्रव्य जो स्वय निसर्गत समर्थ, स्वावलम्बी, स्वोपजीवी है, उस पर किसी अन्य शक्ति का हस्तक्षेप होना न्यायानुमोदित नहीं कहा जा सकता। वास्तव मे देखा जाए तो जगत् पदार्थों के समुदाय का नाम है, पदार्थपुञ्ज को छोड विश्व नाम की और कोई वस्तु नही है जो अपने सृष्टा का सहारा चाहे। वस्तु का स्वाभाविक स्वरूप ऐसा है कि उसे अन्य भाग्य-विधाता की कोई आवश्यकता नही है, जिसकी इच्छानुसार वस्तु को विविध परिणमनरूप अभिनय करने के लिए बाध्य

होना पडे। विधाता के भक्तो के मस्तिष्क मे आदि तथा अन्तरहित सृष्टा के लिए जिस युक्ति तथा श्रद्धा के कारण स्थान प्राप्त है वही औदार्य अन्य वस्तुओ को अनादि निधन मानने मे प्रदर्शित करना चाहिए। इस प्रकार जब विश्व अनादि-निधन है, तब बाइबिल की यह मान्यता कि "परमात्मा ने छह दिन मे सम्पूर्ण जगत् को बनाया, मनुष्य के आकार को बना फूक मारकर उसमे रूह पैदा कर दी, इस महान् कार्य के करने से श्रान्त होने के कारण रविवार को वह विश्राम करता रहा।" तार्किकता की कसौटी पर अथवा दार्शनिक परीक्षण-अग्नि मे नही टिक पाती।

इस विश्व के विषय मे ऋग्वेद का कथन है कि प्रारम्भ मे तत्त्व न सत् रूप था और न असत् रूप था–'**न असत् आसीत् नो इति सत् आसीत् तदानीम्।**' **मेकडॉनल्ड** ने A Vedic Reader मे इसका अनुवाद इन शब्दो मे दिया है–"There was not the non-existent nor the existent then" (p 260)। इस विश्व का प्रारम्भ इच्छा से आरम्भ होता है, ऋग्वेद का मत्र है–'**काम. तत् अग्रे सम अवर्तत अधिमनस· रेत: प्रथमम**' [Desire in the beginning came upon that (Desire) that was the first deed of mine (p 209)] इसके पश्चात् सर्वप्रथम जल उत्पन्न हुआ। पश्चात् अग्नि के द्वारा ज्ञान प्रादुर्भूत हुआ [Water thus came into being first, from it was evolved intelligence by heat (p 207)]

गीता मे इस ससार को अश्वत्थ अर्थात् पीपल का वृक्ष कहा है जिसकी शाखा नीचे है तथा जिसका मूल ऊपर है। उसे व्यय रहित कहा है।

उर्ध्वमूलमध: शाखमश्वत्थ प्राहुरव्ययम् ॥15-1॥

इस ससार वृक्ष का न आदि है और न ही अन्त।

भगवद्गीता मे लिखा है–

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तोनचादिर्नच सप्रतिष्ठा: ॥15-3॥

ब्रह्म के विषय मे उक्त ग्रथ मे लिखा है–

अनादिमत्परब्रह्म न सतन्नासदुच्यते ॥13-12॥

परम ब्रह्म अनादि है। वह न सत् है और न असत् ही कहा जाता है।

इस प्रसग मे गीता का यह कथन भी ध्यान देने योग्य है–

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सत: ॥2-16॥

असत् का सद्भाव नही होता है और सत् का अभाव होता है, अत विश्व को किस रूप मे स्वीकार किया जाए, इस सबध मे तार्किक मनोवृत्ति को सतोषप्रद सामग्री नही मिलती है। कोई-कोई धर्म विश्व को असत् रूप मानकर उसको ईश्वर की कृपा से सत् रूप स्वीकार करते है। इस विषय मे जैनधर्म कहता है कि यह जड चेतन सामग्री समन्वित विश्व अनादि निधन है। दार्शनिक **डेमीक्रिटस** कहता है "ex nihil fit et in nihilum nihil potest reverti (nothing can become something, nor can something became nothing – जिसका अभाव है, उसका सद्भाव नही हो सकता और जिसका सद्भाव है, उसका सर्वथा अभाव नही हो सकता है।)

जैनधर्म ने विश्व को सत् रूप मानने के साथ पयार्य की दृष्टि से उसे परिवर्तनशील भी माना है यह कथन के द्वारा समर्थित भी है। **कुद कुद** स्वामी ने **पचास्तिकाय** मे लिखा है–

दव्व सल्लक्खणय उप्पादव्वय-धुवत्त-सजुत्त।
गुण-पज्जासय वा ज त भण्णति सव्वण्हू॥10॥

द्रव्य (Substance) सत् लक्षण वाला है। वह उत्पाद व्यय तथा ध्रौव्य रूप है। यह गुण और पर्याय का आश्रय है, इस प्रकार सर्वज्ञ भगवान ने कहा है।

यह सत् पना द्रव्य का वास्तविक स्वरूप है। यह बौद्धिक कल्पना मात्र नही है, यह वास्तविकता सम्पन्न है (Rerum Natura)। उत्पाद का अर्थ असत् का आविर्भाव नही है, किन्तु सदात्मक द्रव्य मे नवीन पर्याय की उदभूति है। उस पर्याय का क्षय ही व्यय है, द्रव्य तो ध्रौव्य रूप से अवस्थित है। इस तत्त्व को फ्रास के दार्शनिक **बर्गसन** (Bergson) ने

स्वीकार किया है यद्यपि डारविन और स्पेन्सर ने इसके प्रति असहमति व्यक्त की है।

जैन दर्शन मे द्रव्य (Substratum) को गुण (Qualities) और पर्याय (Modes) का पुन्ज माना है। जैनधर्म मे गुणो को केवल ज्ञानात्मा (Subjective) ही नही माना है कितु उनका बाह्य रूप मे सद्भाव (Objective Reality) भी स्वीकार किया है। इस प्रकार विश्व की ज्ञानात्मक एव बाह्य रूप से सद्भावात्मक सत्ता जैन दर्शन मे मानी गई है। यह जगत् अनादि से है। जिस प्रकार विश्व को ईश्वर की कृति मानने वाले ईश्वर भक्त भाई अपने आराध्य ईश्वर को आदि तथा अन्त रहित स्वीकार करने मे किसी भी प्रकार की कठिनता तथा असम्भवपन नही देखते, जैनदर्शन उसी दृष्टि को परिवर्द्धित कर विश्व के प्रत्येक पदार्थ के विषय मे स्वीकार करता हुआ उसे अनादि निधन मानता है। जब विश्व अनादि निधन है, जिस प्रकार परमात्मा है, तब उस विश्व के निर्माण की कथा स्वयमेव असगत हो जाती है।

जिस प्रकार सचेतन तत्त्व अनादि निधन है, उसी प्रकार अचेतन तत्त्व भी है। ब्रह्मरूप अण्ड से विश्व की उत्पत्ति जिस तरह एक मनोहर कल्पना मात्र है, जिसका सत्य से कोई सम्बन्ध नही है, उसी तरह पश्चिम के पण्डित **लाप्लास** महाशय का यह कहना है कि– "पहले जगत् मे सचेतन-अचेतन नाम की वस्तु नही थी; न पशु-पक्षी थे, न मनुष्य थे और न दृश्यमान पदार्थ ही। पहले सम्पूर्ण सौर-मण्डल प्रकाशमान गैस रूप मे पिण्डित था, जिसे नेबुला (Nebula) कहते है। धीरे-धीरे शीत के निमित्त से वह वाष्प द्रव और दृढ पदार्थ बन चला, उसका ही एक अश हमारी पृथ्वी है।" सचेतन जगत् के विषय मे कल्पना का आश्रय लेने वाले यह पश्चिमी विद्वान् कहते है कि 'अमीवा' नामक तत्त्व विकास करते हुए पशु-पक्षी, मनुष्य आदि रूप मे प्रस्फुटित हुआ। एक ही उपादान से बनने वाले प्राणियो की भिन्नता का कारण **डारविन** अकस्मात्वाद को बताता है, किन्तु **ले मार्क** का अनुमान है कि बाह्य परिस्थितियो ने परिवर्तन और परिवर्धन का कार्य किया है, जिसमे अभ्यास, आवश्यकता, परम्परा आदि विशेष निमित्त बनते है। विकास सिद्धान्त के महान् पण्डित **डारविन** महाशय ने ही यह

नवीन तत्त्व खोज कर बताया, कि मनुष्य बन्दर का विकास-युक्त रूप है। प्रतीत होता है कि यूरोपियन होने के कारण डारविन को सन्तुलन के लिए अपने देशवासी बन्दर और मनुष्यो के विषय मे चिन्तना करनी पडी होगी। इसीलिए, विनोद-शील शायर अकबर कहते हैं-

"बकौले डारविन हजरते आदम थे बुज़ना (बन्दर)।
हो यकीं हमको गया यूरोप के इसा देखकर॥"

यह बताया जा चुका है कि विश्व मे सचेतन-अचेतन तत्त्वो का समुदाय विश्व-विविधता तथा ह्रास अथवा विकास का कार्य किया करता है। आत्म तत्त्व के स्वतन्त्र अस्तित्व के विषय मे पर्याप्त विचार हो चुका, अत जडतत्त्व के विषय मे विशेष विचार करना आवश्यक है। जिस जड-तत्त्व का हम स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु तथा कर्ण इन पाच इन्द्रियो के द्वारा ग्रहण अथवा उपभोग करते है, उस जड तत्त्व को जैन दार्शनिको ने 'पुद्‌गल' सज्ञा दी है। जिसमे स्पर्श, रस, गन्ध तथा वर्ण पाये जाते है उसे पुद्‌गल या मैटर (Matter) कहते है। साख्य दर्शन के शब्दकोश का 'प्रकृति' शब्द पुद्‌गल को समझने मे सहायक हो सकता है। अन्तर इतना है कि प्रकृति सूक्ष्म है और जिस प्रकार पुद्‌गल का प्रत्येक को अनुभव होता है इस प्रकार प्रकृति का बोध तब तक नही होता जब तक कि वह महत् अहकार आदि रूप मे विकसित होती हुई बृहत् मूर्तिमान रूप को धारण न कर ले।

पुद्‌गल मे स्पर्श, रस, गन्ध तथा वर्ण का सद्‌भाव अवश्यम्भावी है।[8] ये चारो गुण प्रत्येक पुद्‌गल के छोटे-बडे रूप मे अवश्य होगे। ऐसा नही है कि किसी पदार्थ मे केवल रस अथवा गन्ध आदि पृथक्-पृथक् हो। जहा स्पर्श आदि मे से एक भी गुण होगा, वहा अन्य गुण प्रकट या अप्रकट रूप मे अवश्य पाये जायगे। वैशेषिक दर्शनकार की दृष्टि मे वायु मे केवल स्पर्श नाम का गुण दिखाई देता है (स्पर्शवान वायुः वैशेषिक दर्शन, अ 2 सू 4)। यथार्थ बात यह है कि पवन मे स्पर्श के समान रस, गन्ध, वर्ण भी है पर वे अनुद्‌भुत अवस्था मे है। यदि केवल स्पर्श ही पवन का गुण माना जाए तो हाइड्रोजन, ऑक्सीजन नाम की पवनो के सयोग से उत्पन्न जल मे भी कारण रूप पवन के समान रूप का बोध नही होना चाहिए था। जब जल पर्याय मे रूप आदि का

बोध होता है तब बीजरूप पवन मे भी स्पर्श आदि के समान रूप आदि का भी सद्भाव स्वीकार करना चाहिए। इसी प्रकार जड-तत्त्व के विषय मे अनेक दार्शनिको की भ्रान्त धारणाएँ है। वस्तुतः देखा जाए तो पुद्गल अगणित रूप से परिवर्तन का खेल दिखाकर जगत् को चमत्कृत करता है। चार्वाक के समान पृथ्वी, जल, अग्नि, वायुरूप भूतचतुष्टय पृथक् अस्तित्व नही रखते। जो पुद्गल के परमाणु पृथ्वी रूप मे परिणत होते है, अनुकूल सामग्री पाकर उनका जल पवनादि रूप परिवर्तन हुआ करता है। दृश्यमान जगत् मे जो पौद्गलिक खेल है उसके आधारभूत प्रत्येक [9]पुद्गल मे स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण पाया जाएगा।

वैशेषिक दर्शन अग्नि के तेजस्वी रूप के समान सुवर्ण के तेजपूर्ण वर्ण को देख उसमे अनुद्भुत अग्नि तत्त्व की अद्भुत कल्पना करता है।[10] यदि शक्ति की अपेक्षा कहा जाए तो जलीय परमाणुओ तक मे अग्नि रूप परिणत होने की सामर्थ्य है। इतना ही क्यो, वह तो अनन्त प्रकार का परिणमन दिखा सकते है। ऐसी स्थिति मे सुवर्ण मे अनुद्भूत अग्नि तत्त्व सदृश विचित्र वैशेषिक मान्यताएँ सत्य की भूमि पर प्रतिष्ठा नही पाती।

साख्यदर्शन जड प्रकृति को अमूर्तिक मान मूर्तिमान् विश्व की सृष्टि को उसकी कृति स्वीकार करता है। पर वैज्ञानिको को इसे स्वीकार करने मे कठिनता पडेगी कि अमूर्तिक से मूर्तिक की निष्पत्ति किस न्याय से सम्भव होगी? जैन दार्शनिक पुद्गल के परमाणु तक को मूर्तिमान् मानकर मूर्तिमान् जगत् के उद्भव को बताते है। वह परमाणु नयनगोचर नही होता है।

रेडियो, ग्रामोफोन, अणुबम आदि जगत् को चमत्कृत करने वाली वैज्ञानिक शोध और कुछ नही पुद्गल की अनन्त शक्तियो मे से कतिपय शक्तियो का विकास मात्र है। वैज्ञानिक लोग एक स्थान के सवाद को 'ईथर' नाम के काल्पनिक माध्यम को स्वीकार कर सुदूर प्रदेश मे पहुँचाते है। इस विषय मे हजारो वर्ष पूर्व जैन वैज्ञानिक ऋषि यह बता गए है कि पुद्गल-पुञ्ज (स्कन्ध) की एक सबसे बडी महास्कन्ध[11] नाम की सम्पूर्ण लोकव्यापी अवस्था है। वह अन्य भौतिक वस्तुओ के

समान स्थूल नही है। डॉ० जे० बी० राजन ने **माडर्न फिजिक्स** मे ईथर के विषय मे लिखा है–"There is a hypothetical medium called ether, which filled uniformly all space and penetrated all matter Light and heavenly bodies were assumed to move freely through ether", (*Modern Physics, p 291*)। उस सूक्ष्म किन्तु जगत्व्यापी माध्यम के द्वारा सुदूर प्रदेश के सवाद आदि प्राप्त होते है। शब्द उस पुद्गल की ही परिणति है। आज भौतिक विज्ञान के पण्डितो ने शब्द का सग्रह करना, यन्त्रो के द्वारा घटाने-बढाने आदि कार्यो से उसे भौतिक या पौद्गलिक कार्य मानने का मार्ग सरल कर दिया है, अन्यथा वैशेषिक दर्शन वालो को यह समझाना अत्यन्त कठिन था कि शब्द को आकाश का गुण कहने वाली उनकी मान्यता सशोधन के योग्य है। शब्द को अनादि आकाश का गुण मान मीमासक लोग भी वेद को अपौरुषेय सिद्ध करने मे ऐडी से चोटी तक पसीना बहाया करते थे। इस तरह शब्द को पुद्गल की पर्याय मानने पर अनेक पुरातन भारतीय दार्शनिको की भ्रान्त धारणाएँ धराशायी हो जाती है। शब्द को पौद्गलिक (Material) मानना जैनदर्शन की अत्यत महत्त्वपूर्ण विज्ञान मान्य बात है। इससे जैन दृष्टि की वैज्ञानिकता सिद्ध होती है।

पुद्गल की अचित्य शक्ति जैन सन्तो के प्रकृति के सूक्ष्म अध्ययन का परिणाम है। पार्थिव पत्थर का कोयला अग्निरूप परिणत होते देखा जाता है, सीप के आधार को पाकर जलबिन्दु का पार्थिव मोती रूप मे परिणमन होता है। इस प्रकार विचित्र पौद्गलिक परिणति को हृदयगम करते हुए दर्शनशास्त्र की भूल-भूलैया से मुमुक्षु को अपने मस्तिष्क की रक्षा करनी चाहिए। आज के विज्ञान ने जहा दर्शन का समर्थन किया है वहा उसने अन्य दर्शनो की मान्यताओ को काल्पनिक सिद्ध किया है।

इस पुद्गल से सम्बद्ध जीव जगत् मे अगणित रूप धारण करता है। ज्ञान और आनन्दस्वरूप आत्मा को पौद्गलिक शक्तिया ही इस शरीर रूपी कारागार मे बन्दी बना अपनी विचित्र शक्ति का प्रदर्शन करती है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वृक्ष, पवन आदि शरीरो को धारण कर यह जीव पृथ्वी आदि नाम से पुकारा जाता है–तत्त्वत. सब आत्माए समान है। यह पुद्गल की पोशाक ही उनमे पार्थक्य की प्रतीति कराती है। पृथ्वी, जल

आदि रूप मे पुद्गल के निमित्त से जीव की परिणति जानकर तथा उसका यथार्थ रहस्य न समझ कुछ शोधक विद्वान्[12] यह विचित्र धारणा कर बैठे कि जैनियो ने सम्पूर्ण पृथ्वी, जल, पवन रूप स्वतन्त्र एक-एक जीवात्मा स्वीकार किया है। उन्हे मालूम होना चाहिए कि पाषाण, मृत्तिका, जल, हिम, अग्नि आदि मे अनन्त विकास-शून्य आत्माओ का सद्भाव जैन दार्शनिको ने माना है। उत्तररामचरित्र[13] मे वर्णित देवी सीता का पृथ्वी माता की गोद मे समा जाने वाली बात यहा नही स्वीकार की गयी है। इस विशाल पृथ्वी को पुद्गल की स्थूल पर्याय मात्र माना गया है, उसमे मातृत्व अथवा देवीपने की कल्पना जैन वैज्ञानिको ने स्वीकार नही की।

इस पुद्गल का सबसे छोटा अश जिसका दूसरा भाग न हो सके परमाणु कहलाता है। यह परमाणु अत्यन्त सूक्ष्म होता है। जब स्निग्धता और रूक्षता के कारण दो या अधिक परमाणु मिलकर बँधते है, तब पुजीभूत परमाणु पिण्ड को 'स्कन्ध' कहते है। वैशेषिक दर्शन अपनी स्थूल दृष्टि से सूर्य के प्रकाश मे चलते फिरते धूलि आदि के कणो को परमाणु समझता है। ऐसे कथित तथा विभाग रहित कहे जाने वाले वैशेषिक परमाणुओ के वैज्ञानिको ने विद्युत् शक्ति की सहायता से अनेक विभाग करके अणुवीक्षण यत्र से दर्शन किए है। जैन दार्शनिको की सूक्ष्मचिन्तना तो यह बताती है कि किसी भी यत्र आदि कि सहायता से परमाणु हमारे नयनगोचर नही हो सकता। जो पदार्थ चक्षु-इन्द्रिय के द्वारा गृहीत होते है, वे अनन्त परमाणुओ के पिण्डीभूत स्कन्ध है। वैज्ञानिक जिसे परमाणु कहेगे, जैन दार्शनिक उसमे अनन्त सूक्ष्म परमाणुओ का सद्भाव बताएँगे। इसका कारण यह है कि सम्पूर्ण विकृति का नाश करने वाले सर्वज्ञ परमात्मा की दिव्य ज्ञान ज्योति से प्रकाशित तत्त्वो का उन्हे बोध प्राप्त हुआ है। इसीलिए वैज्ञानिको ने जो पहले लगभग सात दर्जन से भी अधिक मूल तत्त्व (Elements) माने थे और अब जिनकी सख्या बहुत कम हो गयी है, उनके विषय मे जैनाचार्यो ने कहा है कि स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण वाले अनेक तत्त्व नही है। एक पुद्गल तत्त्व है जिसने बडे-बडे दार्शनिको तथा वैज्ञानिको को भूलभुलैया मे फँसा अनेक मूल तत्त्व के मानने को प्रेरित किया।

वैशेषिक दर्शन की नौ द्रव्यवाली[14] मान्यता पर विचार किया जाए, तो कहना होगा की पृथ्वी, अप्, तेज, वायु नामक स्वतत्र तत्त्वो के स्थान पर एक पुद्गल को ही स्वीकार करने से कार्य बन जाता है क्योंकि उनमे स्पर्शादि पुद्गल के गुण पाये जाते है। दिक् तत्त्व आकाश से भिन्न नही, आदि।

कुद कुद स्वामी ने पुद्गल के बाहर तथा सूक्ष्मावस्था को प्राप्त स्कन्ध के छह[15] भेद बताए है (1) बादर बादर जैसे पृथ्वी (2) बादर जैसे जल (3) सूक्ष्म बादर जैसे छाया (4) बादर-सूक्ष्म जैसे स्पर्शन, रसना, घ्राण तथा कर्ण इन्द्रिय के विषय (5) सूक्ष्म कर्म रूप परिणत पुद्गल द्रव्य (6) सूक्ष्म-सूक्ष्म वह सूक्ष्म स्कन्ध जो कर्मरूपता प्राप्त करने के अयोग्य है।[16] **गोम्मटसार जीवकाण्ड** मे उक्त भेदो की परिगणना करते हुए छटवा भेद परमाणु कहा है। कुद कुद स्वामी ने **पचास्तिकाय** मे उक्त प्रकार के छह भेद स्कध (Molecule) के कहे है, जीवकाण्ड मे छह भेद पुद्गल सामान्य के कहे है, उनमे पचभेद स्कन्ध सम्बन्धी है और षष्टम् भेद परमाणु विषयक है। स्कधो के विभाजन द्वारा अन्त मे परमाणु रूप अवस्था आती है।

जीव तथा पुद्गल मे क्रियाशीलता पायी जाती है। इनको स्थान से स्थानान्तर रूप क्रिया मे सामान्य रूप से तथा उदासीन सहायक रूप मे धर्म द्रव्य (Medium of Motion) नाम के माध्यम का अस्तित्व माना गया है। इसके विपरीत जीव और पुद्गल की स्थिति मे साधारण सहायक माध्यम को अधर्म द्रव्य (Medium of Rest) कहा गया है। ये धर्म और अधर्म द्रव्य जैन दर्शन के विशिष्ट तत्त्व है। जगत्-प्रख्यात सत्कर्म-असत्कर्म, पुण्य-पाप अथवा सदाचार-हीनाचार को सूचित करने वाले धर्म-अधर्म से ये दोनो द्रव्य पूर्णतया पृथक् है। ये गमन अथवा स्थिति कार्य मे प्रेरणा नही करते, उदासीनता पूर्वक सहायता देते है। मछलियो को जल मे विचरण करने मे सरोवर का पानी सहायक है, बलपूर्वक प्रेरणा नही करता। श्रान्त पथिको को अपनी छाया मे विश्रामनिमित्त वृक्ष सहायता करते है, प्रेरणा नही। इसी प्रकार धर्म-अधर्म नामक द्रव्यो का स्वभाव है और यही उनका कार्य है।[17] ये अरूपी (non-material) है। इनमे स्पर्श, रस, गध तथा वर्ण रूप पुद्गल के गुण नही पाये जाते हैं।

जीव आदि मे नवीन से प्राचीन बनने रूप परिवर्तन का माध्यम 'काल' (Time) नाम का द्रव्य स्वीकार किया गया है। सम्पूर्ण जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल को अवकाश-स्थान देने (Localise) वाला आकाश द्रव्य (Medium of Space) माना गया है। धर्म, अधर्म, आकाश ये अखण्ड द्रव्य है। जीव अनन्त है। पुद्गल द्रव्य अनन्तानन्त है। कालद्रव्य असख्यात अणुरूप है।[18] काल को छोड जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश सत्तयुक्त होकर बहुत प्रदेश वाले (multi-dimensional) है, इसलिये इन्हे अस्तिकाय कहते है। काल द्रव्य को अस्तिकाय नही कहा है, क्योंकि वह परस्पर असम्बद्ध पृथक्-पृथक् परमाणु रूप (mono-dimensional) है। धर्म, अधर्म और आकाश तथा काल मे एक स्थान से दूसरे स्थान मे गमनागमन रूप क्रिया का अभाव है इसलिए इन्हे निष्क्रिय कहा है।[19] आकाश के जिस मर्यादित क्षेत्र मे जीवादि द्रव्य पाये जाते है, उसे 'लोकाकाश' कहते है और शेष आकाश को 'अलोकाकाश' कहते है। एक परमाणु द्वारा घेरे गये आकाश के अश को प्रदेश कहते है। इस दृष्टि से नाप करने पर धर्म, अधर्म तथा एक जीव मे असख्यात प्रदेश बताये गये है। जीव का छोटे-से-छोटा शरीर लोक के असख्यातवे भाग विस्तार वाला रहता है। जैसे दीप की ज्योति छोटे-बडे क्षेत्र को प्रकाशित करती है अर्थात् जो ढँका हुआ दीपक एक घड़े को आलोकित करता है, वही दीपक आवरण के दूर होने पर विशाल कमरे को भी प्रकाशयुक्त करता है। इसी प्रकार अपनी सकोच-विस्तार शक्ति के कारण यह जीव चीटी-जैसे छोटे और गज-जैसे विशाल शरीर को धारण कर उतना सकुचित और विस्तृत होता है। यह बात प्रत्यक्ष अनुभव मे भी आती है कि छोटे-बडे शरीर मे पूर्णरूप से आत्मा का सद्भाव रहता है। अतः यह दार्शनिक मान्यता कि—या तो जीव को परमाणु के समान अत्यन्त अल्प-विस्तार वाला अथवा आकाश के समान महत्-परिमाण वाला स्वीकार करना चाहिए, अनुभव और युक्ति के प्रतिकूल है। उन लोगो की ऐसी धारणा है कि आत्मा को यदि अणु और महत्-परिमाणवाला न माना गया तो वह अविनाशीपने की विशेषता से रहित हो जाएगा।

इस विचार-धारा की आलोचना[20] करते हुए जैन दार्शनिको ने कहा है कि अणु या महत्-परिमाण वाला पदार्थ ही नित्य हो, अविनाशी हो

और मध्यम परिमाण वाले पदार्थ विनाशशील हो, ऐसा कोई परिमाणकृत नित्यानित्यत्व का नियम नही पाया जाता। जब एकान्त नित्य अथवा अनित्य स्वरूप वस्तु ही नही है तब अनित्यता की आपत्तिवश अनुभव मे आने वाली आत्मा की मध्यम परिमाणता को भुलाकर प्रतीति और अनुभव विरुद्ध आत्मा को अणु परिमाण या महत् परिमाण वाला मानना तर्क सगत नही है। ऐसा कोई अविनाभाव सम्बन्ध नही है कि मध्यम परिमाण वाला अनित्य हो और अन्य परिमाण वाला नित्य। अत. **तत्त्वार्थसूत्रकार** ने ठीक लिखा है कि–प्रदीप के[21] समान प्रदेशो के सकोच-विस्तार के द्वारा जीव लोकाकाश के हीनाधिक प्रदेशो को व्याप्त करता है।

जैन दार्शनिको के द्वारा वर्णित इस जगत् मे जीव, पुद्गल, आकाश, काल नामक द्रव्यो की मान्यता के विषय मे अनेक दार्शनिको की सहमति प्राप्त होती है। किन्तु धर्म और अधर्म नामक द्रव्यो का सद्भाव जैनदर्शन की विशिष्ट मान्यता है और जिसे माने बिना दार्शनिक-चिन्तना परिपूर्ण नही कही जा सकती। गम्भीर विचार करने पर विदित होगा कि जिस प्रकार अपने स्थान पर रहते हुए पदार्थ मे नवीनता-प्राचीनता रूपी चक्र का कारण काल नामक द्रव्य माना है और सम्पूर्ण द्रव्यो की अवस्थिति के लिए अवकाश देने वाला आकाश द्रव्य स्वीकार किया है, उसी प्रकार क्षेत्र से क्षेत्रान्तर जाने मे सहायक तथा स्थिति मे सहायक धर्म-अधर्म नामक द्रव्यो का अस्तित्व अगीकार करना तर्कसगत है।

जैन दर्शन मे आकाश को परमार्थ तत्त्व (Objectively Real) माना है। युरोप तथा भारत के विचारात्मक विश्व को मानने वाले (Idealists) दार्शनिको ने आकाश को एव काल को वास्तविक पदार्थ (Objectively Real) नही माना है। जैन तत्त्वज्ञानियो ने उक्त आकाश तथा काल तत्त्वो की परमार्थ सत्ता स्वीकार की है। इग्लैण्ड के चितक बर्टेन्ड रसल (Bertend Russell) के चिन्तन मे जैन विचारो का चितन स्पष्ट झलकता है।

आधुनिक् शोध के फलस्वरूप गणितज्ञो ने आकाश तथा काल के अस्तित्व मे परस्पर विरोधी भाव अस्वीकार किया है। **ईक्युलिड** (Euclid) द्वारा स्वीकृत आकाश सभवत. सद्भावात्मक है और उसकी

अवस्थिति सम्भव है। दार्शनिक बर्गसन (Bergson) ने विश्व के विकास के काल को महत्त्वपूर्ण कारण माना है।[22]

प्रो॰ चक्रवर्ती ने लिखा है कि गणितज्ञ केन्टर (Cantor), पीनो (Peano) तथा फ्रिजे (Frege) ने काल तथा आकाश को अवास्तविक बताने वाली मिथ्या युक्तियो का निराकरण किया है।

[23]ये जीवादि छह द्रव्य कभी कम होकर पाच नही होते और न बढकर सात होते है। जिस प्रकार समुद्र मे लहरे उठा करती है, विलीन भी होती है, फिर भी जल की अपार राशिवाला समुद्र विनष्ट नही होता; उसी प्रकार परिवर्तन की भँवर मे समस्त द्रव्य घूमते हुए भी अपने अपने अस्तित्व को नही छोडते। इस द्रव्य समुदाय मे से अपने आत्म तत्त्व को प्राप्त करने का ध्येय, प्रयत्न तथा साधना मुमुक्षु मानव की रहा करती है। विश्व का वास्तविक रूप समझने और विचार करने से यह आत्मा भ्रम से बचकर कल्याण की ओर प्रगति करता है। जीव का स्वरूप प्रवचन सार मे इस प्रकार कहा गया है-

अरस-मरूव-मगध अत्व्वत्त चदेणागुण-मसद्द।
जाण अलिगग्गहण जीव मणिद्दिट्ठ सठाण।।2-80।।

आत्मा या जीव रस, रूप, गध रहित, अत्यक्त अर्थात् स्पर्शगुण की अभिव्यक्ति रहित, शब्द रहित, पुद्गल के चिह्न से ग्रहण न होने वाला तथा सब प्रकार के आकार से रहित-निराकार स्वभाव युक्त तथा चैतन्य गुण युक्त है।

इस विश्व के वास्तविक स्वरूप का विचार करते-करते आत्मा विषय भोगो से विरक्त हो विलक्षण प्रकाशयुक्त दिव्य जीवन की ओर झुकता है। देखिए, एक कवि कितने उद्बोधक शब्दो से मानव-आकृतिधारी इस लोक और उसके द्रव्यो का विचार करता हुआ आत्मोन्मुख होने की प्रेरणा करता है-

लोक अलोक अकाश माहि थिर, निराधार जानो।
पुरुष रूप कर कटी भये, षट्द्रव्यन सो मानो।।

इसका कोई न करता, हरता अमिट अनादी है।
जीव रु पुदगल नाचै यामै, कर्म उपाधी है।।22।।
पाप-पुण्य सो जीव जगत मे, नित सुख दुख भरता।
अपनी करनी आप भरै सिर औरन के धरता।।
मोह कर्म को नाश, मेटकर सब जग की आसा।
निज पद मे थिर होय, लोक के सीस करो वासा।।23।।

-कविवर मगतराय-बारहभावना

*****

सदर्भ सूची

1 'Two facts stand at the basis of all philosophy and science One of these is man, the other, the Universe, all speculation attempts to answer this question What is the relation that exists between man and the universe? All practical wisdom tries to solve the problem All religions and all systems of ethics and metaphysics are attempts, more or less successful, to deal with the various aspects of the above two questions (outlines of Jainism p xix)

2 प० राहुल जी ने इस विषय को असत्य रूप से 'दर्शन-दिग्दर्शन' मे लिखा है।

3 तत्त्वार्थसूत्र 5। 30।

4 गुण पर्ययवद्-द्रव्यम् (त० सूत्र 5-38)।

5 "तत्त्व सल्लाक्षणिक सन्मात्र वा यत स्वत सिद्धम्।
तस्मादनादिनिधन स्वसहाय निर्विकल्प च।।"

6 आप्तमीमासा श्लो० 60।

7 हिन्दू धर्म तथा अन्य धर्मो मे एक ईश्वर मे विश्व निर्माण रक्षण तथा उसका ध्वस रूप तीन बातो का सद्भाव स्वीकार किया है। वैशेषिक दर्शन की टीका (पृ 63) मे यह पद्य आया है -

जनयन्त पालयन्त नाशयन्त जगन्मुहु ।
अगजागज मानदाज्ञाननमह भर्जे।।

ईश्वर को सत् चित् आनन्दरूप माना है। सत् की व्यापक रूपता स्वीकार करने पर निर्माण, पालन तथा विनाश रूप त्रिविधता का एकत्र समावेश स्वीकार करना अनुभव तथा विज्ञान के पूर्णतया अनुकूल रहेगा। इस स्थिति मे जो भी सदात्यक वस्तु होगी वह त्रिविधता की सीमा का कदापि उल्लघन नही करेगी।

8 "स्पर्शरसगन्धवर्णवन्त पुद्गला ।" *-तत्त्वार्थसूत्र, अ० 5 सू० 23*

9 "भेदात् सघातात् भेदसघाताभ्या च पूर्यन्ते गलन्ते चेति पूरणगलनात्मिका क्रियामन्तर्भाव्य पुद्गलशब्दोऽन्वर्थ " *-तत्त्वार्थराजवार्तिक पृ० 190। अ० 5 सू० 11।*

10 "सुवर्ण तैजसम्, असति प्रतिबन्धकेऽत्यन्ताग्निसयोगेऽपि अनुच्छिमद्यमानद्रव-त्वाधिकरणत्वात्" —*तर्कसग्रह पृ० 81*

11 "तत्रान्त्य (स्थौल्य) जगद्व्यापिनि महास्कन्धे।"—*पूज्यपाद· सर्वार्थसिद्धि 5-24*

12. "This doctrine is entirely misunderstood by oriental scholars, who go to the extent of attributing to Jain Philosophy a primitive doctrine of animism, that earth, water, air, etc have their own souls "
Prof A Chakravarty in the 'Cultural Heritage of India', p 202

13 "पृथ्वी-एहि वत्से पवित्रीकुरु रसातलम्। रामः-हा प्रिये। लोकान्तर गता हि। सीता-णेदु म अत्तणो अगेसु विलअ अम्बा। ण सक्कम्हि ईदिस जीअलोअपरिवत्त अणुभविदु।" सप्तमाक पृ० 186, 187।

14 "पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशकालदिगात्ममनांसि नवैव" —*तर्कसग्रह* सू 2

15 पुढवी जल च छाया चउरिंदियविसय-कम्मपाओग्गा।
कम्मातीदा येव छब्भेया पोग्गला होंति।। पचास्तिकाय।।

16 पुढपी जल च छाया चउरिंदियविसय-कम्म-परमाणु
छव्विहभेय भणिय पोग्गलदव्व जिणवरेहि।।601।। गो जी

17 "गतिस्थित्युपग्रहौ धर्माधर्मयोरुपकार ।" —*त० सूत्र 5-17।*

18 देखो त० सूत्र (मोक्षशास्त्र) अध्याय 5 सूत्र 22, 18 6।

19 वही सूत्र 4।

20 अनतवीर्य-प्रमेयरत्नमाला—पृ० 107 8।

21 "प्रदेशसहारविसर्पाभ्या प्रदीपवत्।"—त० सूत्र 5।16।

22 In recent years, mathematicians have clearly shown that space and time are not really self-contradictory education Euclidian space is quite possible and may be real Philosophical description of space as real is not the characteristic of the other Indian systems of philosophy According to the Hindu creation theory, *Akasa* is the primeval substance from which the other elements appear Therefore, *Akasa* must mean some subtle form of matter and not the mathematician's space But the Jain thinkers reject the theory of creation Therefore, they found it possible to acknowledge the objective existence of space, space therefore is a fundamental element of the system of reality according to the Jain view
- *Panchastikaya Samayasara by Prof A Chakravarti, p 99*
Bergson has revealed to the world that time is a potent factor in the evolution of the universe (*Ibid*, p 109)
The wonderful mathematical discoveries of the continental mathematicians such as Cantor, Peano and Frege have shown clearly the intrinsic fallacy in all the arguments against the reality of time and space (Ibid 108)

23 "नित्यावस्थितान्यरूपाणि"—त० सूत्र 5-4।

*****

आत्म-जागरण के पथ पर

इस विश्व की वास्तविकता से सुपरिचित मानव गम्भीर चिन्तना मे निमग्न हो सोचता है, जब मेरी आत्मा जड़-पुद्‌गल-आकाश आदि से गुण-स्वभाव आदि की अपेक्षा पूर्णतया पृथक् है तब अपने स्वरूप की उपलब्धिनिमित्त क्यो न मै समस्त सासारिक मोहजाल का परित्याग कर परम निर्वाण के लिए प्रयत्न करूँ? भगवान् महावीर के समक्ष भी ऐसा ही प्रश्न था, जब तारुण्य-श्री से उनका शरीर अलकृत था और उनके पिता महाराज सिद्धार्थ उनके विवाह-बन्धन को स्वीकार कर राजकीय भोगो की ओर उनकी चित्तवृत्ति को खीचने के प्रयास मे तत्पर थे। भगवान् महावीर की आत्मा सर्वप्रकार समर्थ एव परितुष्ट थी इसलिए उसने मकडी की तरह अपना जाल बुनकर और उसी मे फँस जीवन गवाने की चेष्टा न की, किन्तु सम्पूर्ण विकारो पर विजय पा परिपूर्ण आत्मत्व को पाने के लिए दुर्बलताओ के वर्धक सकीर्ण गृहवास को तिलाजलि दे दिगम्बर मुद्रा धारण कर आत्मसाधनानिमित्त अन्त. बहि: सत्य, अहिसा, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, अचौर्य का प्रशस्त पथ स्वीकार किया, और अपनी सच्ची और सुदृढ साधना के फलस्वरूप उन्होने कर्म-राशि को चूर्ण कर अनन्त-आनन्द, अनन्त-ज्ञान, अनन्त-शक्ति, अविनाशी जीवन आदि अनुपम विभूतियो का अधिपतित्व प्राप्त किया। लेकिन एकदम महावीर बनने के कठिन और लोकोत्तर मार्ग पर चलने की क्षमता मोही और विषयो मे फँसे हुए वासनाओ के दासो मे कहा है? जो आत्मा कर्म शत्रुओ का हस्तक बन अपने आत्मत्व को भूल महाकवि **बनारसीदासजी** के शब्दो मे-"ब्रह्मघाती मिथ्याती महापातकी" के नाम से पुकारा जाता है, वह भला कैसे आत्म-जागरण के उज्ज्वल पथ पर एकदम चल सकता है?

रोगाक्रान्त नेत्र जिस प्रकार प्रकाश को देख पीडा का अनुभव करते हुए आखो को मीच अधे का अनुकरण कराते है, इसी प्रकार मोह-राग

से पीडित अविवेकी प्राणी विषय-भोग की लालसा से आकर्षित हो सम्यक्-ज्ञान के प्रकाशपूर्ण जीवन के महत्त्व को भुला भोगी और विषयासक्त की जिन्दगी को ही अपने जीवन का आदि तथा चरम लक्ष्य समझता है।

सत-समागम, पवित्र ग्रन्थो का अनुशीलन और सदैव से आत्म-निर्मलता के योग्य सुदिन के आने पर किसी सौभाग्यशाली की मोहाधकार निमग्न आत्मा मे निर्मल ज्ञान-सूर्य के उदय को सूचित करने वाली विवेक रश्मिया अपने पुण्य प्रकाश को पहुँचा जीवन को आलोकित करने लगती है। उस समय वह आत्मा निर्वाणसुख के लिए लालायित हो अपना सर्वस्व माने जाने वाले धन-वैभव आदि परिकर को क्षण-भर मे छोडने को उद्यत हो जाता है। ऐसा ही प्रकाश जैन-सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य को ब्रह्मर्षि श्रुतकेवली भद्रबाहु मुनीन्द्र के सान्निध्य मे प्राप्त हुआ था। इसीलिए उन्होने अपने विशाल भारत के साम्राज्य को तृणवत् छोडकर आत्म-सतोष और ब्रह्मानन्द के लिए दिगम्बर अकिचन मुद्रा धारण कर श्रमणबेलगोला की पुण्य वीथियो को अपने पद-चिन्हो से पवित्र किया था।

जिस प्रकार लौकिक स्वाधीनता का सच्चा प्रेमी सर्वस्व का भी परित्याग कर फाँसी के तख्ते को प्रेम से प्रणाम करते हुए सहर्ष स्वीकार करता है, उसी प्रकार निर्वाण का सच्चा साधक और मुमुक्षु तिल-तुष मात्र भी परिग्रह से पूर्णतया सम्बन्ध-विच्छेद कर राग-द्वेष, मोह, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि विकृतियो का पूर्णतया परित्याग कर शारीरिक आदि बाधाओ की ओर तनिक भी दृष्टिपात न कर उपेक्षा वृत्ति को अपनाकर, आत्म-विश्वास को सुदृढ करते हुए सम्यक् ज्ञान के उज्ज्वल प्रकाश मे अपने अचिन्त्य तेजोमय आत्म-स्वरूप की उपलब्धिनिमित्त प्रगति करता है।

आत्मा शक्ति की अपेक्षा प्रत्येक आत्मा यादि हृदय से चाहे और प्रयत्न करे, तो वह अनन्त-शान्ति, अनन्त-शक्ति, अनन्त ज्ञान आदि से परिपूर्ण आत्मत्व को प्राप्त कर सकती है। किन्तु मोह और विषयो की आसक्ति आत्मोद्धार की ओर इसका कदम नही बढने देती। मोह के कारण कोई-कोई आत्मा इतनी अध और पगु बन जाती है कि वह अपने

को ज्ञान ज्योति वाली आत्मा न मानकर जडतत्त्व सदृश समझती है। यह शरीर मे आत्मबुद्धि करके शरीर के ह्रास मे आत्मा का ह्रास और उनके विकास मे आत्म विकास की अज्ञ कल्पना किया करता है। प्रबुद्ध कवि **दौलतरामजी** ने ऐसे बहिर्दृष्टि आत्म-विमुख प्राणी का चित्रण करते हुए कहा है कि यह मूर्ख प्राय सोचा करता है–

"मै सुखी दुखी मै रक राव। मेरे धन गोधन प्रभाव॥
मेरे सुत तिय मै सबल-दीन। बेरूप सुभग मूरख प्रवीन॥4॥
तन उपजत अपनी उपज जान। तन नसत आपको नाश मान॥
रागादि प्रकट ये दुख दैन। तिनही को सेवत गिनत चैन॥5॥
शुभ अशुभ बध के फल मझार। रति अरति करै निजपद विसार॥"
आतम हित हेतू विराग ज्ञान, ते लखै आपको कष्ट दान॥6॥

–छहढाला, दूसरी ढाल

इस प्रकार अपने स्वरूप को भूलने वाला 'बहिरात्मा' 'मिथ्यादृष्टि' अथवा 'अनात्मज्ञ' शब्दो से पुकारा जाता है। अनात्मीय पदार्थो मे आत्मबुद्धि धारण करने की इस दृष्टि को अविद्या कहते है। **अध्यात्मरामायण** मे बताया है–

"देहोऽहमिति या बुद्धिरविद्या सा प्रकीर्तिता।
नाह देहश्चिदात्मेति बुद्धिर्विद्येति भण्यते॥"

'मै शरीर हूँ' इस प्रकार शरीर मे एकत्वबुद्धि अविद्या कही गयी है। किन्तु 'मै शरीर नही हूँ', 'चैतन्यमय आत्मा हूँ', यह बुद्धि विद्या है।

ऐसा अविद्यावान्, अज्ञानी, मोही प्राणी जितने भी प्रयत्न करता है, उतना ही वह अपनी आत्मा को बधन मे डाल कर दु ख की वृद्धि करता है। यद्यपि शब्दो से वह मुक्ति के प्रति ममता दिखाता हुआ कल्याण की कामना करता है, किन्तु यथार्थ मे उसकी प्रवृत्ति आत्मत्व के ह्रास की ओर हो जाती है। मुक्ति के दिव्य-मन्दिर मे प्रवेश पाकर शाश्वतिक शान्ति को प्राप्त करने की काम । करने वाले को साधना के सच्चे मार्ग मे लगना आवश्यक है। इसके लिए आत्मा को पात्र बनाने की आवश्यकता है। इस पात्रता का उदय उग विमल तत्त्वज्ञानी को होता

है, जो शरीर आदि अनात्मीय वस्तुओ से ज्ञान-आनन्दमय आत्मा का अपनी श्रद्धा से विश्लेषण करने का सुनिश्चय करता है। इस पुण्यनिश्चय अथवा श्रद्धा को सम्यक् दर्शन (Right Belief) कहते है। स्व-पर के विश्लेषण करने की इस शक्ति से सम्पन्न जीव को अन्तरात्मा कहते है। उसकी वृत्ति कमल के समान रहा करती है। जिस प्रकार जल के बीच मे सदा विद्यमान रहने वाला कमल जल-राशि से वस्तुत: अलिप्त रहता है, उसी प्रकार वह तत्त्वज्ञ भोग और विषयो के मध्य मे रहते हुए भी उनके प्रति आतरिक आसक्ति नही धारण करता। दूसरे शब्दो मे कमल के समान वह अलिप्त रहता है।

जैन सस्कृति मे जिनेन्द्र भगवान् के चरणो के नीचे कमलो की रचना का वर्णन पाया जाता है। कमलासन पर विराजमान जिनेन्द्र इस बात के प्रतीक है कि वे विषय भोग आदि भौतिक विभूतियो से पूर्णतया अलिप्त है। इस प्रकार आत्म-शक्ति और उसके वैभव की प्रगाढ श्रद्धासम्पन्न व्यक्ति का ज्ञान पारमार्थिक अथवा सम्यक्ज्ञान कहा गया है, और उसकी आत्म कल्याण अथवा विमुक्ति के प्रति होने वाली प्रवृत्ति को जैन ऋषियो ने सम्यक् चारित्र बताया है। बौद्ध साहित्य मे इसे 'सम्यक्-व्यायाम' कहा है।

[1]इन आत्म-श्रद्धा, आत्म-बोध तथा आत्म-प्रवृत्ति को जैन वाड्मय मे रत्नत्रयमार्ग कहा है। तत्त्वार्थ सूत्रकार आचार्य **उमास्वामी** ने अपने मोक्षशास्त्र के प्रथम सूत्र मे लिखा है–

"सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षामार्ग:।"

इस रत्नत्रय मार्ग मे श्रद्धा, ज्ञान तथा आचरण का सुन्दर समन्वय विद्यमान है। इस समन्वयकारी मार्ग की उपेक्षा करने के कारण हिन्दू धर्म मे विभिन्न विचारधाराओ की उद्भूति हुई है।[2] कोई श्रद्धा से प्रसूत भक्ति को ही ससार सतरण का सेतु समझता है, तो ज्ञान-दृष्टिधारी 'ऋते ज्ञानान्न मुक्ति:' ज्ञान के बिना मुक्ति नही हो सकती– कहता है।[3] अर्थात् ज्ञान को ही सब कुछ कहता है। इसने ही ज्ञान-योग नाम की विचारधाराओ को जन्म दिया। इसका अतिरेक इतना अधिक हो गया, कि

ज्ञानयोग की ओट मे सम्पूर्ण अनर्थो और पाप-प्रवृत्तियो का पोषण करते हुए भी पुण्यचरित्र साधुओ के सिर पर सवार होने का स्वप्न देखता है।[4] कोई-कोई ज्ञान की दुर्बलता को हृदयगम करते हुए कर्म को ही जीवन की सर्वस्व निधि बताते है। तुलनात्मक समीक्षा करने पर साधना का मार्ग उपर्युक्त अतिरेकवाद की उलझन से दूर तीनो के समन्वय मे प्राप्त होता है। एक ऋषि ने लिखा है–कर्मशून्य का ज्ञान प्राणहीन है, अविवेकियो की क्रिया नि.सार है, श्रद्धाविहीन बुद्धि और प्रवृत्ति सच्ची सफलता प्राप्त नही करा सकती। अधे, लगडे और आलसी-जैसी बात है–

"अध पगु अरु आलसी जुवे जरै दव लोय।"

साधन का सच्चा मार्ग वही होगा, जहा उपर्युक्त तीनो बातो का पारस्परिक मैत्रीपूर्ण सद्भाव पाया जाए। उस दिन महावीर जयती के जैन महोत्सव के अध्यक्ष के नाते नागपुर हाईकोर्ट के चीफ जस्टिस **डा॰ सर भवानीशकर नियोगी** ने उपर्युक्त रत्नत्रय रूप साधना के मार्ग का सुन्दर शब्दो मे वर्णन करते हुए कहा था – 'The unity of heart, head and hand leads to liberation' श्रद्धा का प्रतीक हृदय, ज्ञान का आधार मस्तिष्क तथा आचरण का निदर्शक हस्त के ऐक्य से मुक्ति प्राप्त होती है। शान्ति से विचार करने पर समीक्षक को स्वीकार करना होगा, कि इस आत्मशक्ति की विशुद्ध श्रद्धा, पुष्ट ज्ञान और तदनुरूप प्रवृत्ति करने पर ही साधक साध्य को प्राप्त कर सकेगा।

दुनिया मे सब प्रकार की वस्तुएँ या विभूतिया सरलता से उपलब्ध हो सकती है, कितु आत्मोद्धार की विद्या को पाना अत्यन्त दुर्लभ है। किसी विरले भाग्यशाली को उस चितामणिरत्नतुल्य परिशुद्ध दृष्टि की उपलब्धि होती है। अपने **पारसपुराण** मे **कविवर भूधरदास जी** भगवान् पाश्र्वनाथ के पूर्व भवो का वर्णन करते समय वज्रदत चक्रवर्ती की भावना का चित्रण करते हुए कहते है–

**"धन कन कचन राजसुख, सबहि सुलभ कर जान।
दुर्लभ है ससार मे, एक जथारथ ज्ञान॥"**

आश्चर्य की बात है कि यह जीव स्वय को समझने की कला से अत्यन्त शून्य है। आत्मा की बाते बनाने वाले अगणित मिलेगे, किन्तु

जिन्होने उस अध्यात्मविद्या मे निपुणता प्राप्त कर जीवन को ज्योर्तिमय बनाया है, ऐसे महापुरुषो का दर्शन भी महाभाग्य से मिलता है। **मोक्ष पाहुड़** मे कुदकुद स्वामी ने लिखा है:-

दुक्खे णज्जइ अप्पा अप्पा णाऊण भावणा दुक्ख।
भाविय-सहाव-पुरिसो विसएसु विरच्चए दुक्ख ॥65॥

यह आत्मा बडी कठिनता से जाना जाता है। उस आत्मा का ज्ञान होने पर भी उसकी भावना का कार्य भी अत्यन्त कष्ट साध्य है। आत्मा की भावना करने वाला पुरुष बडी कठिनता से विषय भोगो से विरक्त भाव को प्राप्त करता है।

इस आत्म बोध के कार्य मे समीचीन गुरुदेव की कृपा का महत्वपूर्ण स्थान है। कुन्दकुन्द मुनीन्द्र कहते है- "सो (अप्पा) झायव्वो णिच्च णाऊण गुरुपयासेण" (64)–गुरु के प्रसाद से उस आत्मा का स्वरूप सम्यक् रूप से अवगत करके उसका सदा ध्यान करना चाहिए।

जो अविवेकी व्यक्ति विषयो की आसक्ति का परित्याग किए बिना आत्म रस का पान करने की सोचते है वे बालू मे से तेल निकालने वाले बुद्धिमानो की श्रेणी मे है। उन्हे प्रतिबुद्ध करने के लिए मोक्ष पाहुड मे कुन्दकुन्द स्वामी कहते है :–

ताम ण णज्जइ अप्पा विसएसु णरो पवट्टए जाम।
विसए विरत्तचित्तो जोई जाणेइ अप्पाण॥66॥

जब तक मनुष्य इन्द्रियो के विषयो मे लगा रहता है तब तक आत्मा को नही जानता है। इसलिए विषयो से विरक्त हुआ योगी ही आत्मा को जानता है।

पूज्यपाद स्वामी ने भी आत्मदर्शन के लिए भोग तथा विषयो के प्रति विरक्ति को परमावश्यक माना है। यथार्थ मे जिसका मन विषयो मे उलझा है, वह आत्म विद्या की समस्या को नही सुलझा पाता। जड़ के जाल मे अनादि काल से जकडी हुई आत्मा का वास्तविक रहस्य समझ कर उसे स्वतन्त्र बनाना सबसे कठिन कार्य है। **मुण्डकोपनिषद्** मे परा

तथा अपरा के भेद से दो प्रकार की विद्या कही गयी है–'द्वे विद्ये वेदितव्ये परा चेवापरा च।' वेद वेदान्ति का ज्ञान आत्म विद्या की अपेक्षा लघुश्रेणी का माना गया है। अपरा अर्थात् जघन्य श्रेणी की विद्या का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है–"**तत्रापरा, ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेद. शिक्षा कल्पो व्याकरण निरुक्त छन्दो ज्योतिषमिति।**"(1-5)

परा विद्या वह है जिसके द्वारा अक्षर अर्थात् अविनाशी आत्मा की उपलब्धि होती है–'**अथ परा यया तदक्षर मधिगम्यते।**' आत्मविद्या से शून्य व्यक्तियो की अवस्था का चित्रण इस पद्य मे किया गया है–

अविद्यायामन्तरे वर्तमाना· स्वय धीरा· पण्डित मन्यमाना ।
जङ्घन्यमाना परियन्ति मूढ़ा अन्धेनेव नीयमाना यथान्ध.॥1-8॥

स्वय अविद्या के मध्य मे रहते हुए अपने को बुद्धिमान तथा पण्डित मानने वाले पुन पुन. कष्टो को सहन करते हुए अन्धो के द्वारा ले जाए गए अन्धो के समान परिभ्रमण करते रहते है -

अविद्याया बहुधा वर्तमाना वय कृतार्था इत्यभिमन्यन्ति बाला.।
यत् कर्मिणो न प्रवेदयन्ति रागात् तेनातुरा क्षीणलोकाश्च्यवन्ते॥19॥

अविद्या मे बहुधा निमग्न बाल-बुद्धि व्यक्ति प्राय स्वय को कृतार्थ मान बैठते है, किन्तु राग का सद्भाव रहने से वे यथार्थ ज्ञान को नही प्राप्त कर पाते। इसलिए जब उनके द्वारा शुभ कर्मो का फल भोग लिया जाता है तब वे व्यथित हो अधोलोक को प्राप्त होते है। आत्मा का ज्ञान करने के लिए कामनाओ का क्षय परमावश्यक माना है.-

कामान् य कामयते मन्यमान स कामभिद् जायते तत्र तत्र।
पर्माप्तकामस्य कृतात्मनस्तु, इहैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामाः ॥3-2॥

जो विषयो को धारण करता हुआ विषयो की कामना करता है, वह उन कामनाओ के कारण अनेक स्थानो पर उत्पन्न होता है, किन्तु कृतकृत्य स्थिति को प्राप्त योगी कामनाओ का क्षय हो जाने से इस लोक मे भी इच्छाओ से विमुक्त हो जाता है।

आत्मा की उपलब्धि करने वाली महान आत्माए ज्ञान तृप्त, कृतार्थ, वीतराग और प्रशान्त होती है–**"ऋषयो ज्ञानतृप्ताः कृतात्मानो वीतरागाः प्रशान्ताः"** (भर्वति) 3-5। वे शुद्ध सात्त्विक भाव सम्पन्न होते है 'शुद्धसत्वाः' (6)। तमोगुण और रजोगुण प्रधान व्यक्ति स्वप्न मे भी आत्म तत्त्व का रसपान नही कर सकते। **छान्दोग्योपनिषद्** मे लिखा है कि विशुद्ध सात्त्विक भाव की प्राप्ति के लिए आहार पान भी शुद्ध होना चाहिए; **''आहार शुद्धौ सत्व शुद्धिः''**–आहार की शुद्धि होने पर सत्व शुद्धि अर्थात् अत करण की निर्मलता होती है। (अ 7, खड 26, 2) आगे लिखा है, **"सत्व शुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः स्मृतिलभे सर्व ग्रथीना विमोश."**–सत्व शुद्धि होने पर अविच्छिन्न रूप से स्मृति होती है तथा उस स्मृति के होने पर समस्त हृदयस्थ ग्रंथियो का नाश होता है–अर्थात् वह निर्ग्रन्थ पद को प्राप्त करता है। आत्मा की उपलब्धि के परम प्रेमी व्यक्ति का जीवन उच्छृखल, स्वच्छन्द एव भोगासक्त न होकर अधिक से अधिक सयमशील होना चाहिए।

इस प्रकार की दिव्यज्योति अथवा वैज्ञानिक दृष्टि समन्वित साधक की जीवन-लीला मोही, बहिर्दृष्टि, मिथ्यात्वी कहे जाने वाले प्राणी से जुडी होती है। वह साधक रोगी, द्वेषी, मोही व्यक्ति को भगवान् मानकर अभिवदना करने को उद्यत नही होता। कारण वह ऐसे कार्य को देवता सम्बन्धी मूढता समझता है। वह भोगी, धन-दौलत आदि सामग्री धारण करने वाले तथा हिसा आदि की ओर प्रवृत्ति करने वाले ससार-सागर मे डूबते हुए व्यक्ति को गुरु नही मानता, क्योकि, वह भलीभांति समझता है कि वे तो 'जन्म जल उपल नाव' के समान ससार-सिधु मे डुबाने वाले कुगुरु है। वह समीक्षक नदी, तालाब आदि मे स्नान करने को कोई आध्यात्मिक महत्त्व न दे, उसे लोक-मूढता मानता है। वह ज्ञान, कुल, जाति, बल, वैभव, सम्मान, शरीर, तपस्या आदि के कारण अभिमान नही करता; क्योंकि उसकी तत्त्व-ज्ञान ज्योति मे सब आत्माएँ समान प्रतिभासित होती है।

वह गुणवान् का असाधारण आदर करता है। तात्त्विक दृष्टि सम्पन्न चाण्डाल तो क्या, पशु तक का वह देवता से अधिक सम्मान करता है;

क्योंकि शरीर अथवा बाह्य वैभव के मध्य मे विद्यमान जीव पर अपने तत्त्वज्ञान की ऐक्स-रे नामक किरणो को डाल कर वह सम्यक्-बोधरूपी गुण को जानता है और बाह्य सौन्दर्य या वैभव के द्वारा विमुग्ध नही बनता। अपनी पवित्र श्रद्धा की रक्षा के लिए भय, प्रेम, लालच अथवा आशायुक्त हो स्वप्न मे भी रागी-द्वेषी देव, हिसादि के पोषक शस्त्र रूप शास्त्रो तथा पापमय प्रवृत्ति करने वाले पाखडी तपस्वियो को प्रणाम, अनुनय विनय आदि नही करता। सर्वज्ञ, वीतराग, हितोपदेशी प्रभु की वाणी मे उसे अटल श्रद्धा रहती है। ससार के भोगो को कर्मों के अधीन, नश्वर, दु:ख मिश्रित और पाप का बीज जान वह उनकी आकाक्षा नही करता। आत्मत्व की उपलब्धि को देवेन्द्र या चक्रवर्ती आदि के वैभव से अधिक मूल्य की आकता है। वह शरीर के सौदर्य पर मुग्ध नही होता, कारण **कविवर दौलतराम जी** की भाषा मे शरीर को–

"पल रुधिर राधमल थैली। कीकस बसादि तै मैली।"

समझता है। और, जानता है कि यह यथार्थ मे कैसी है–

"मत कीज्यौ जी यारी, घिनगेह देह जड़ जानके,
मात-तात रज-वीरत सौ यह, उपजी मल-फुलवारी।
अस्थि, माल, पल, नसा-जाल की, लाल-लाल जल क्यारी ॥ मत०॥
कर्म-कुरग थली-पुतली यह, मूत्र-पुरीष भडारी।
चर्म-मढी रिपुकर्म-घड़ी, धन-धर्म चुरावन हारी॥ मत०॥
जे जे पावन वस्तु जगत मे, ते इन सर्व बिगारी।
स्वेद, मेद, कफ क्लेदमयी बहु मद गद व्याल पिटारी॥ मत०॥
जा सयोग रोग भव तौलौ, जा वियोग शिवकारी।
बुध तासौ न ममत्व करै–यह मूढ़-मतिन को प्यारी॥ मत०॥
जिन पोषी ते भये सदोषी, तिन पाये दुख भारी।
जिन तप ठान ध्यानकर शोषी, तिन परनी शिवनारी॥ मत०॥
सुर-धनु, शरद-जलद, जल बुदबुद, त्यौ झट विनशन हारी।
यातै भिन्न जान निज चेतन, 'दौल' होहु शमधारी॥
मत कीज्यौ जी यारी, घिनगेह देह जड़ जानके॥"

इसलिए शरीर के प्रति आदर न करते हुए भी गुणो से विशिष्ट शरीर को वह अमूल्य वस्तु मानता है। गुणवान्, वीतराग, निस्पृह, करुणामूर्ति मुनीद्रो के दुर्बल, मलीन, क्षीण शरीर को वह सौंदर्य के पुज मोही प्राणियो के देह की अपेक्षा अधिक आकर्षक और प्रिय मान उसकी अभिवदना करता है। उस तत्त्वज्ञ की इस दृष्टि को 'निर्विचिकित्सा' कहते है। वह अविद्या के मार्ग मे प्रवृत्ति करने वाले बडे-बडे साक्षरो को स्वरूप बोध न होने के कारण अपनी श्रद्धा एव प्रशसा का पात्र नही मानता। अध्यात्म के प्रशस्त मार्ग मे जिनके पाव आत्मीक दुर्बलता के कारण डगमगाते है और कभी-कभी जिनका आदर्श मार्ग से स्खलन भी हो जाता है, उनकी अपूर्णताओ को यह जगत् मे प्रकाशित कर उन आत्माओ के उत्साह को नही गिराता है, कारण यह जानता है कि रागादि विकारो के कारण किससे भूल नही होती? भूल को दूर करने का उपाय निदा करना या जगत् भर मे ढोल पीटते फिरना नही है, बल्कि त्रुटि को सार्वजनिक रूप मे प्रदर्शित न करके उस आत्मा के दोषो का एकात मे परिमार्जन करने का प्रशस्त प्रयत्न करना है। कुसगति, अल्प अनुभव अथवा विशिष्ट ज्ञानियो के सम्पर्क न मिलने के कारण सम्यक् ज्ञान के मार्ग से विचलित होते हुए व्यक्ति को अथवा सदाचरण से आत्म दुर्बलताओ के कारण डिगते हुए व्यक्ति को अत्यन्त कुशलतापूर्वक यह सन्मार्ग मे पुनः स्थापित करता है। जब कि अहकारी प्राणी गिरते हुए को ठोकर मार और भी जल्दी पतन के मुख मे प्रविष्ट कराता है, तब यह मानव प्रकृति का अध्येता, कर्मो के विचित्र विपाक का विचार करते हुए डिगते हुए मुमुक्षु को सत्साहस, सद्विचार, सहयोग, सहायता आदि प्रदान कर समुन्नत करने मे अपने को कृत-कार्य मानता है।

जिस प्रकार गाय अपने बछडे पर अत्यन्त प्रेम धारण कर उसकी विपत्ति का निवारण करती है, उसी प्रकार यह साधक साधना के मार्ग मे उद्यत अन्य साधक बधुओ के प्रति वात्सल्य-सच्चे प्रेम को धारण करता है। यह पवित्र विज्ञान ज्योति को प्रकाश मे लाने वाली जिनेन्द्र की वाणी और उसके द्वारा प्रतिपादित सत्य एव उसके अगोपागो को विश्व कल्याण निमित्त दिव्य धर्मोपदेश, पुण्याचरण, लोकसेवा आदि के द्वारा विश्व मे प्रकाशित करता है, जिससे उत्पथ में फँसे हुए और दम्भी

समाधको के द्वारा भ्रम मे फँसाये गये दीन-दु.खी मानवो का परित्राण हो और वे यथार्थ साधना-पथ के पथिक बने। इस तत्त्व-प्रकाशन के प्रशस्त उद्देश्य निमित्त समय तथा परिस्थिति के अनुसार वह प्रत्येक उचित और वैध मार्ग का अवलम्बन कर विश्व कल्याण के क्षेत्र मे अग्रसर होता है।

इन पुण्य कार्यो को करने मे उस साधक को अवर्णनीय और अचिन्त्य आनन्द प्राप्त होता है। भला, भोगो मे लिप्त विषयो के दास उस तत्त्वज्ञानी के आत्मानन्द का क्या अनुमान कर सकते है? मिश्री की मिष्टता, वाणी की नही, अनुभव की वस्तु है। इसी प्रकार परमार्थत. आत्मानुभव का रस-अनुभूति की ही वस्तु है।

सम्यक्त्व-आत्मानुभव यथार्थ मे बहुत सूक्ष्म है और वह वाणी के परे है - **"सम्यक्त्व वस्तुत· सूक्ष्ममस्ति वाचामगोचरम्।"**

यह जीव मोह की मदिरा पीने के कारण उन्मत्त हो अज्ञान से उस वास्तविक आनद से वचित रहता है। जिस प्रकार एक कुत्ता सूखी हड्डियो के टुकडो को अपनी दाढ मे धर चबाता है और अपने मुख से निकलने वाले रक्त को चाट कर कुछ क्षण के लिए आनन्द का अनुभव करता है और पश्चात् अपनी अज्ञ चेष्टा के कारण व्यथित हो चीखा करता है, उसी प्रकार विषयासक्ति मे कृत्रिम सुख की झलक देख अनात्मज्ञ मस्त हो अपने आपको भूल जाता है और अपने स्वाभाविक, प्राकृतिक ज्ञान, आनन्द, शक्ति तथा स्वरूप को विस्मृत कर बैठता है तथा विरुद्ध प्रवृत्ति करने के कारण दीन-हीन बनता है। उसकी अवस्था **बनारसीदास जी** के शब्दो मे बबरुले पत्ते-जैसी हो जाती है-

"फिरै डावाडोल सो, करमकी कलोलनि मे,
है रही अवस्था बबरुले जैसे पातकी।"

प्रकृति भक्त कवि **वर्ड्सवर्थ** की निम्न पक्तिया इस प्रसग मे उद्बोधक प्रतीत होती है-

'The world is too much with us, late and soon,
Getting and spending, we lay waste our powers
Little we see in Nature that is ours,
We have given our hearts away, a sordid boon?

अर्थात्– हम सासारिकता मे आकण्ठ मग्न है। व्यापार आदि के लेन-देन के हेतु हम प्रातः शीघ्र ही उठते है और रात्रि मे देर से सोते है। इस प्रकार हम अपनी शक्ति को नष्ट कर रहे है। हमे 'प्रकृति' के लिए कुछ भी चिन्ता नही है; यद्यपि वह हमारी स्वय की वस्तु है। हमने हृदय को कही दूसरी जगह फँसा रखा है। वास्वत मे वह मलिन वरदान बन गया है।

कैसी विचित्र बात है कि यह आत्मा अनन्त अनात्म पदार्थो की ओर चक्कर मारने अथवा दौडधूप करने के वैभाविक कार्य को स्वाभाविक मानता है और साधना के सच्चे मार्ग रूप अपने स्वरूप की उपलब्धि को भार रूप अनुभव करता है। स्वामी **कुन्दकुन्द** बताते है–

"सुदपरिचिदाणुभूदा सव्वस्सवि कामभोगबधकहा।
एयत्तस्सुवलभो णवरि ण सुलभोऽविहत्तस्स ॥4॥"

–समयसार

काम और भोग सबधी कथा इस जीव ने अनन्त बार सुनी, उसका अनन्त बार परिचय पाया और अनन्त बार अनुभव भी किया। यह जीव, **अमृतचद्राचार्य** के शब्दो मे 'महता मोहग्रहेण गोरिव वाह्यमानस्य' बलवान् मोहरूपी पिशाच से बैल के सदृश जोता गया है। इसलिए काम-भोग सम्बन्धी कथा सुलभ मालूम पडती है, किन्तु कर्मपुञ्ज से विभक्त अपने आत्मा का एकपना अर्थात् अद्वैतरूपता न तो कभी सुना, न परिचय मे आया और न अनुभव मे आया, इसलिए यह अपना होते हुए भी कठिन मालूम पडता है।

कर्म-भार हल्का होने पर, वीतराग वाणी का परिशीलन करने पर और सतजनो के समागम से साधक को वह विमल दृष्टि प्राप्त होती है, जिसके सद्भाव मे नारकी जीव भी अनन्त दु खो के बीच मे रहते हुए विलक्षण आत्मीक शान्ति के कारण अपने को कृतार्थ-सा मानता है और जिसके अभाव मे अवर्णनीय लौकिक सुखो के सिधु मे निमग्न रहते हुए भी देवेन्द्र अथवा चक्रवर्ती भी वास्तविक शांति-लाभ से वंचित रहते है। **पचाध्यायीकार** कितने बल के साथ यह बताते है–

"शक्रचक्रधरादीना केवल पुण्यशालिनाम्।
तृष्णाबीज रतिस्तेषा सुखावाप्तिः कुतस्तनी॥"

ऐसे साधक की मनोवृत्ति के विषय मे अध्यात्म साधना के पथ मे प्रवृत्त साधक कवि **बनारसीदास** जी अपने नाटक समयसार मे लिखते है–

जैसे निसि वासर कमल रहै पक ही मै,
पकज कहावै पै न वाके ढिग पक है।
जैसे मत्रवादी विषधर सौ गहावै गात,
मत्र की सकति वाके बिना विषडक है।
जैसे जीभ गहै चिकनाई रहे रूखे अग,
पानी मे कनक जैसे काईसौ अटक है।
तैसे ज्ञानवत नाना भाति करतूति ठानै,
किरिया कौ भिन्न मानै यातै निकलक है॥ (निर्जरा हार,5)

योग विद्या की अनुभूति करने वाले योगिराज **पूज्यपाद** समाधिशतक मे आत्मबोध को भव-व्याधियो को उन्मूलन करने मे समर्थ औषध बतलाते है–

"मूल ससारदुःखस्य देह एवात्मधीस्तत.
त्यक्त्वैना प्रविशेदन्तर्बहिरव्यापृ तेन्द्रिय. ॥15॥"

ससारपरिभ्रमण का कारण **पूज्यपाद स्वामी** की दृष्टि मे शरीर मे आत्मा की भावना करना है। विदेहत्व-निर्वाण का बीज आत्मा मे आत्म-भावना है–

"देहान्तरगतेर्बीज देहेऽस्मिन्नात्मभावना।
बीज विदेहनिष्पत्ते , आत्मन्येवात्मभावना[8] ॥74॥

–समाधिशतक॥

इस आत्म-दृष्टि के वैभव से सम्पन्न साधक के पास किसी प्रकार की भीति नही रहती। उसकी दृष्टि सदा अमर जीवन और अविनाशी आनन्द की ओर लगी रहती है। उसकी श्रद्धा मे तो **महर्षि कुन्दकुन्द**

के शब्दो मे यह बात टकोत्कीर्ण सी हो जाती है कि- मेरी आत्मा एक है, ज्ञानदर्शन-समन्वित है, बाकी सब बाह्य पदार्थ है – वे सब सयोग लक्षण वाले है, आत्मा के स्वरूप नहीं हैं–

"एगो मे सस्सदो अप्पा, णाणदसणलक्खणो।
सेसा मे बाहिरा भावा, सव्वे सजोग-लक्खणा॥59॥"

–भावपाहुड

जब ऐसे उज्ज्वल विचार आत्मा मे स्थान बना लेते है, तब मृत्यु से भेट कराने वाली मुसीबत भी उस ज्ञानज्योतिर्मय आत्मा को सतप्त नही करती। उसका यह अखण्ड विश्वास रहता है, कि मेरी आत्मा जन्म, जरा, मृत्यु आदि की आपदाओ से परे है। इनका खेल शरीर अथवा जड पदार्थो तक ही सीमित है। आत्मसाधक **पूज्यपाद स्वामी** तो अतरात्मा के लिए प्रबोधपूर्ण यह सामग्री देते है–

"न मे मृत्युः कुतो भीतिर्न मे व्याधि· कुतो व्यथा।
नाह बालो न वृद्धोऽह न युवैतानि पुद्‌गले॥29॥"

-इष्टोपदेश

जब मेरी मृत्यु नही है, तब भय किस बात का? जब मेरी आत्मा रोगमुक्त है तब व्यथा कैसी? अरे, न तो मै बालक हू, न वृद्ध हूँ न तरुण ही हूँ–यह सब पुद्‌गल का खेल है। इस प्रसग मे **अमृतचन्द्रसूरि** के ये शब्द बडे मार्मिक तथा उद्‌बोधक है–

[5]"जिन मुमुक्षुओ का अन्तःकरण ससार, शरीर तथा भोगो से निःस्पृह है उन्हे यह सिद्धान्त निश्चित करना चाहिये कि 'मै' सर्वदा शुद्ध, चैतन्यमय, अखण्ड, उत्कृष्ट ज्ञान-ज्योति-स्वरूप हूँ। जो रागादिरूप भिन्न लक्षण वाले भाव पाये जाते है, उन रूप 'मै' नही हूँ, कारण वे सभी मेरे से भिन्न द्रव्य रूप है।"

ऐसे मुमुक्षु की चित्तवृत्ति पर **बनारसीदास जी** समयसार नाटक मे इस प्रकार प्रकाश डालते है:-

"जिन्ह के सुमति जागी, भोगसो भए विरागी,
परसगत्यागी जे पुरुष त्रिभुवन मे

रागादिक भावनिसो जिनिहकी रहनि न्यारी,
कबहूँ मगन ह्वै न रहे धाम धन मे।
जे सदैव आपकौ विचारै सरवाग शुद्ध
जिन्हके विकलता न व्यापै कहूँ मन मे।
तेई मोक्षमारग के साधक कहावे जीव,
भावे रहो मन्दिर मे भावे रहो वन मे।।"

(मोक्ष द्वार, 16)

इस आत्म-विद्या मे यह अलौकिकता है कि—यह विपत्ति को दुर्दैव की कृपा मानती है कि यह आत्मा पूर्वबद्ध कर्म का कर्जा विपत्ति के बहाने चुका कर ऋणमुक्त हो जाती है।

मर्यादापुरुषोत्तम महाराज रामचन्द्र प्रभात मे साकेत-साम्राज्य के अधिपति बनने का स्वप्न देख रहे थे, कि दुर्दैव ने केकेयी की वाणी के रूप मे अन्तराय आ पटका और राम को वन की ओर जाना पडा। इस भीषण परिवर्तन को देख आत्मज्ञ राम सत्पथ से विचलित नही होते। चित्त मे प्रसाद को स्थान देते हुए वे अपने इष्टजनो को कितने मधुर शब्दो मे अपने वनवास के बारे मे सुनाते है–

"राज्ञा मे दण्डकारण्ये राज्य दत्त शुभेऽखिलम्।"

महाराज दशरथ ने मुझे सम्पूर्ण दण्डक-वन का राज्य दिया है। इस मोही मानव की सम्यक् ज्ञान के प्रभाव से कैसी विलक्षण वीतरागता पूर्ण पवित्र मनोवृत्ति हो जाती है।

नरक मे शारीरिक दृष्टि से वह अवर्णनीय यातनाओ को भोगता है, यह कौन न कहेगा? किन्तु प्रबुद्ध कवि **दौलतराम जी** अपने एक पद मे कहते है–

"बाहर नारक कृत दुख भोगत, अन्तर समरस गटागटी।
रमत अनेक सुरनि सँग पै जिस, परनति से नित हटाहटी।।"

इस आत्मसाधना का प्राण निर्भीकता है। जिसे इस लोक, परलोक, मरण आदि की चिन्ता सताती है, वह साधना के मार्ग मे नही चल

सकता। इसलिए महर्षियो ने प्रत्येक प्रकार के भय से साधक को विमुक्त बताया है।

गीता के शब्दो मे तो ऐसे आत्मदर्शी के हृदय मे यह दृढ विश्वास जमा रहता है–

"नैन छिन्दन्ति शस्त्राणि नैन दहति पावकः।
न चैन क्लेदयन्त्यापोः न शोषयति मारुत.॥2 - 23॥"

इस आत्मा को शस्त्र छेद नही सकते,* अग्नि इसे जला नही सकती, जल गीला नही करता और न पवन ही इसे सुखाता है।

आत्म-शक्ति अथवा आत्मा के गुणो के विषय मे यथार्थ विश्वास (सम्यक् दर्शन) और सत्यज्ञान के समान सम्यक् चारित्र की भी अनिवार्य आवश्यकता है। साधना की भूमिका रूप विशुद्ध श्रद्धा की आवश्यकता है। यथार्थबोध भी निर्वाण के लिए महत्वपूर्ण है। इसी प्रकार साधना के लिए शील, सदाचार, सयम आदि का जीवन भी अपना असाधारण महत्त्व रखता है। विशुद्ध आचरण की ओर प्रवृत्त हुए बिना आत्मशक्ति और विभूति की चर्चा काल्पनिक लड्डू उडाने जैसी बात है। मन-मोदक से भूख दूर न होगी। सम्यक् चारित्र के द्वारा जीवन मे लगी हुई अनादि-कालीन कालिमा को निकालकर उसे निर्मल बनाना होगा। आचार्य **कुन्दकुन्द** का मोक्ष मार्ग के विषय मे यह स्पष्टीकरण महत्त्वपूर्ण है·-

ण हि आगमेण सिज्झदि सद्दहण जदि वि णत्थि अत्थेसु।
सद्दहमाणो अत्थे असजदो वा ण णिव्वादि॥3-37॥

— *प्रवचनसार*

यदि जीवादि वस्तुओ की सम्यक् श्रद्धा नही है, तो आगम के ज्ञानमात्र से मोक्ष प्राप्त नही होगा। कदाचित् पदार्थो की सम्यक् श्रद्धा प्राप्त हो गई है, तो भी असयमी व्यक्ति निर्वाण को प्राप्त नही होता है।

ज्ञान के विकास मात्र से मनोरथ सफल नही होगा इस विषय मे वे ऋषिराज रयणसार मे कहते है·-

णाणी खवेइ कम्म णाणबलेणेवि सुबोलए अण्णाणी।
विज्जो भेसज्जमह जाणे इवि णस्सवे नाही ॥ 7-2॥

ज्ञानी व्यक्ति ज्ञान के बल से कर्म का क्षय करता है, ऐसा कथन करने वाला अज्ञानी है। मै वैद्य हूँ तथा मै औषधि को जानता हूँ क्या इतने ज्ञान मात्र से उसकी व्याधि दूर हो जाती है। कदापि नही, अत. सदाचरण का महत्त्व नही भूलना चाहिये। आज का भोग-प्रधान युग ज्ञान के गीत सुनकर आनन्द विभोर हो झूमने-सा लगता है; किन्तु बिना पुण्याचरण के यथार्थ आनन्द का निर्झर नही बहता। आनन्दरूपी सुवास से युक्त कमल पुष्प के नीचे कण्टको का जाल है। उनसे डरने वाले को पकज की प्राप्ति और उसके सौरभ का लाभ कैसे हो सकता है? अनन्तकाल से लगी हुई दुर्वासना और विकृति को दूर करना सम्यक् चारित्र का सहयोग पाये बिना असम्भव है। अत आगे साधना के विशिष्ट अगभूत आचार के विषय मे विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है।

*****

सदर्भ सूची

1 Self-reverence, self-knowledge, self-control these three alone lead to sovereign power

Lord Jennyson

2 सा (भक्ति) तु कर्म-ज्ञानयोगेभ्योप्यधिकतरा॥15॥

(*नारदकृत भक्ति सूत्र*)

—वह भक्ति कर्मयोग तथा ज्ञानयोग की अपेक्षा अधिकतर है।

3 ज्ञानाग्नि सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा॥4-37॥ - *गीता*

4 सन्यास कर्मयोगश्च नि श्रेयस करावुभौ।
तयोस्तु कर्म सन्यासात कर्मयोगो विशिष्यते॥5-2॥ - *गीता*
—कर्म सन्यास और कर्मयोग दोनो कल्याणकारी है, किंतु उन दोनो मे कर्मसन्यास की अपेक्षा कर्मयोग विशेषता सम्पन्न है।

5 "सिद्धान्तोऽयमुदात्तचित्तचरितैर्मोक्षार्थिभि सेव्यताम्।
शुद्ध चिन्मयमेकमेव परम ज्योति सदैवास्म्यहम्॥
एते ये तु समुल्लसन्ति विविधा भावा पृथग्लक्षणा।
तेऽह नास्मि यतोऽत्र ते मम परद्रव्य समग्रा अपि॥"

*****

संयम बिन घड़िय म इक्क जाहु

भारतीय साहित्य का एक बोधपूर्ण रूपक है जिसे रूस के नामांकित विद्वान् टालस्टाय ने भी अपनाया है। एक पथिक किसी ऊँचे वृक्ष की शाखा पर टगा हुआ है, उस शाखा को धवल और कृष्ण वर्ण वाले दो चूहे काट रहे हैं। नीचे जड को मस्त हाथी अपनी सूड मे फँसा उखाडने की तैयारी मे है। पथिक के नीचे एक अगाध जल से पूर्ण तथा सर्प-मगर आदि भयकर जन्तुओ से व्याप्त जलाशय है। पथिक के मुख के समीप एक मधु-मक्खियो का छत्ता है जिससे यदा-कदा एकाध मधु-बिन्दु टपक कर पथिक को क्षणिक आनन्द का भान कराती है। इस मधुर-रस से मुग्ध हो पथिक न तो यह सोचता है कि चूहो के द्वारा शाखा के काटने पर मेरा क्या हाल होगा? वह यह भी नही सोचता कि गिरने पर उस जलाशय मे वह भयकर जन्तुओ का ग्रास बन जाएगा। उसके विषयान्ध हृदय मे यह भी विचार पैदा नही होता, कि यदि हाथी ने जोर का झटका दे वृक्ष को गिरा दिया तो वह किस तरह सुरक्षित रहेगा? अनेक विपत्तियो के होते हुए भी मधु की एक बिन्दु के रस-पान की लोलुपतावश वह सब बातो को भूला हुआ है। कोई विमानवासी दिव्यात्मा उस पथिक के सकटपूर्ण भविष्य के कारण अनुकम्पायुक्त हो उसे समझाता है और अपने साथ निरापद स्थान को ले जाने की सच्ची तत्परता प्रदर्शित करता है। किन्तु, वह उनकी बात पर तनिक भी ध्यान नही देता और इतना ही कहता है कि मुझे कुछ थोडा-सा मधु-रस और ले लेने दो। फिर मै आपके साथ चलूँगा। परन्तु उस विषयान्ध पथिक को वह अवसर नही मिल पाता कि वह विमान मे बैठ जाए; कारण इस बीच मे शाखा के कटने से और वृक्ष के उखडने से उसका पतन हो जाता है। वह अवर्णनीय यातनाओ के साथ मौत का ग्रास बनता है।

इस रूपक मे ससारी प्राणी का सजीव चित्र अंकित किया गया है। पथिक और कोई नही, ससारी जीव है, जिसकी जीवन-शाखा को शुक्ल

और कृष्ण-पक्ष रूपी चूहे, क्षण-क्षण मे क्षीण कर रहे है। हाथी मृत्यु का प्रतीक है और भयकर जन्तु-पूर्ण सरोवर नरकादि का निदर्शक है। मधु-बिन्दु सासारिक क्षणिक सुख की सूचिका है। विमानवासी पवित्रात्मा सत्पुरुषो का प्रतिनिधित्व करता है। उनके द्वारा पुनः पुन कल्याण का मार्ग-विषय लोलुपता का त्याग बताया जाता है। किन्तु, यह विषयान्ध तनिक भी नही सुनता।

वास्तव मे जगत का प्राणी मधु-बिन्दु तुल्य अत्यन्त अल्प सुखाभास से अपनी आत्मा की अनन्त लालसा को परितृप्त करना चाहता है, किन्तु आशा की तृप्ति होने के पूर्व ही इसकी जीवन-लीला समाप्त हो जाती है। महाकवि **भूधरदास** मोही जीव की दीनतापूर्ण अवस्था का कितना सजीव चित्रण करते है -

"चाहत हो धन लाभ किसी विध, तो सब काज सरैं जियरा जी।
गेह चिनाय करौ गहना कछ, व्याह सुता-सुत बाटिये भाजी॥
चिन्तत यौ दिन जाहि चले, जम आन अचानक देत दगा जी।
खेलत खेल खिलारि गए, रहि जाय रूपी सतरज की बाजी॥"

इस मोही जीव की विचित्र अवस्था है। बाह्य पदार्थो के सग्रह, उपयोग, उपभोग के द्वारा अपने मनोदेवता तथा इन्द्रियो को परितृप्त करने का निरन्तर प्रयास करते हुए भी इसे कुछ साता नही मिलती। कदाचित् तीव्र पुण्योदय से अनुकूल सामग्री और सन्तोष-प्रद वातावरण मिला, तो लालसाओ की वृद्धि उसे बुरी तरह बेचैन बनाती है और उस अन्तर्ज्वाला से यह आत्मा वैभव, विभूति के द्वारा प्रदत्त विचित्र यातना भोगा करता है।

एक बडे धनी को लक्ष्य करते हुए हजरत **अकबर** कहते है-

"सेठ जी को फिक्र थी एक एक के दस कीजिए।
मौत आ पहुँची कि हजरत जान वापिस कीजिए॥"

एक और उर्दू भाषा का कवि प्राण-पूर्ण वाणी मे ससार की असलियत को चित्रित करते हुए कहता है-

"किसी का कदा नगीने पै नाम होता है।
किसी की जिदगी का लब्रएज़ जाम होता है॥
अजब मुकाम है यह दुनिया कि जिसमे शामोशहर–
किसी का कूच-किसी का मुकाम होता है॥"

जब विषय-भोग और जगत् की यह स्थिति है, कि उसके सुखो मे स्थायित्व नही है–वास्तविकता नही है और वह विपत्तियो का भण्डार है, तब सत्पुरुष और कल्याण-साधक उन सुखो के प्रति अनासक्त हो आत्मीक ज्योति के प्रकाश मे अपने जीवन नौका को ले जाते है, जिसमे किसी प्रकार का खतरा नही है। इस प्राणी मे यदि मनोबल की कमी हुई तो विषयवासना इसे अपना दास बना पद-दलित करने मे नही चूकती। इस मन को दास बनाना कठिन कार्य है और यदि मन वश मे हो गया तो इन्द्रिया, वासनाएँ उस विजेता के आगे आत्मसमर्पण करती ही है; यही कारण है कि सुभाषितकार को यह कहना पडा–

"मन एव मनुष्याणा कारण बन्धमोक्षयो ।"

मनो-जय के लिए आत्मा को बहुत बलिष्ठ होना चाहिए। ससार की चमक दमक और मोहक सामग्री को पा जो आपे के बाहर हो जाता है, वह आत्म विकास के क्षेत्र मे असफल होता है।

मन सब पर असवार है मन के मते अनेक।
जो मन पर असवार है, वे लाखन मे एक॥

मनो-जय की कठिनता को विनोदपूर्ण भाषा मे एक स्वर्गीय जैन विद्वान् इस प्रकार समझाते थे–"चालीस सेर का एक मन होता है इसे तो बच्चा-बच्चा भी जानता है।" 'इसी प्रकार चालीस सेर नही शेर (Tiger) से अधिक आत्मीक शक्ति रखने पर मन को जीतने मे समर्थ हो सकता है।'

साधक आत्मदर्शन के द्वारा भौतिक पदार्थो की निज स्वरूप से भिन्नता को समझते हुए और इसी तत्त्व को हृदयगम करते हुए अपनी आत्मा को राग, द्वेष, मोह, क्रोध-मान-माया-लोभ आदि कलको से

निर्मल करने के लिए जो प्रयत्न प्रारम्भ करता है, यथार्थ मे वही सदाचार है, वही सयम है और उसे ही सम्यक् चारित्र कहते है। इसके बिना मुक्ति-मार्ग के लिए मुमुक्षु पूर्णतया पगु है। **स्वामी समन्तभद्र** कहते है-

"मोहरूपी अन्धकार के दूर होने पर दर्शन-शक्ति को प्राप्त करने वाला तत्त्वज्ञानी सत्पुरुष राग, द्वेष दूर करने के लिए चारित्र को धारण करता है। राग-द्वेष के दूर होने से हिसादिक पाप भी अनायास छूट जाते है।" वे यह भी लिखते है कि-"हिसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह रूप पाप के कारणो से जीव का विमुख होना चारित्र है।"[1] आचार्य **अमृतचन्द्र**[2] सम्पूर्ण पापो के परित्याग को चारित्र कहते है और बताते है कि कषाय विमुक्त, उदासीन, पवित्र आत्मपरिणति स्वरूप चारित्र है। हिसा आदि का पूर्णतया परित्याग करने मे असमर्थ प्राथमिक साधक के लिए उनका आशिक परित्याग करना आवश्यक है। पुरुषार्थसिद्ध्युपाय मे **अमृतचन्द्र स्वामी** कहते है-[3] झूठ, चोरी आदि मे आत्मा की निर्मल मनोवृत्ति के हनन की अपेक्षा समानता होने से सब पाप हिसात्मक ही है। स्पष्टतया समझाने के लिए झूठ, चोरी आदि के भेद वर्णित किए गये है। इस दृष्टि से समष्टि की भाषा मे हिसा ही पाप है और अहिसा ही चरित्र तथा साधना का मार्ग है।

प्रवचनसार मे चारित्र के विषय मे यह महत्त्वपूर्ण गाथा आई है.-

चारित्र खलु धम्मो धम्मो जो सो समोत्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु समो ॥1-7॥

चारित्र धर्म है। वह धर्म साम्यभाव रूप है। मोह और क्षोभ से रहित आत्मा का परिणाम साम्यभाव है अर्थात् दर्शन-मोहनीय और चारित्र मोहनीय मलिनता से विमुक्त जीव की अवस्था को चारित्र माना गया है। जिसके हृदय पर मोह का शासन है और जो मोह के इशारे पर अपना जीवन-यापन करता है, वह धर्म की आराधना नही कर सकता।

आध्यात्मिक भाषा मे रागादिक विकारो की उत्पत्ति को हिसा और उनके अप्रादुर्भाव को अहिसा कहा है। सामान्यतया प्राणी के प्राणो का

अपहरण करना हिसा कहा गया है, किन्तु जैन दर्शन मे इस विषय पर सूक्ष्म चितन किया गया है अत: उसका यह कथन है कि हिसा की उत्पत्ति जीवघात के मनोभावो मे है। दुष्ट विचारो मे निमग्न व्यक्ति जीव का घात न करते हुए भी हिसक माना गया है। जहा प्रमाद, कषाय अथवा अयत्नाचार अर्थात् असावधानीपूर्वक-प्रवृत्ति है, वहा हिसा अवश्यभाविनी है। आगम मे कहा है : -

"अयदाचारस्स णिच्छिदा हिसा" *-प्रवचनसार 3-17॥*

व्यावहारिक भाषा मे मनसा-वाचाकर्मणा सकल्पपूर्वक (Intention-ally) त्रस जीवो का (Mobile creatures) न तो स्वय घात करता है, न अन्य के द्वारा घात कराता है, एव प्राणिघात को देख न आन्तरिक प्रशसा द्वारा अनुमोदना ही करता है यह गृहस्थ की स्थूल अहिसा है। प्राथमिक साधक इस अहिसा-अणुव्रत के रक्षार्थ मद्य, मास और मधु का परित्याग करता है। इसीलिए वह शिकार भी नही खेलता और न किसी देवी-देवता के आगे पशु आदि का बलिदान ही करता है। कितनी निर्दयता की बात है यह, कि अपने मनोविनोद अथवा पेट भरने के लिए भय की साकारमूर्ति, आश्रय-विहीन, केवल शरीर रूपी सम्पत्ति को धारण करने वाली हरिणी तक को शिकारी लोग अपने हिसा के रस मे मारते हुए जरा भी नही सकुचाते और न सोचते कि ऐसे दीन प्राणी के प्राणहरण करने से हमारी आत्मा कितनी कलकित होती जा रही है। आचार्य **गुणभद्र** ने आत्मानुशासन मे लिखा है-

"भीतमूर्तिः गतत्राणा निर्दोषा देहवित्तिकाः
दन्तलग्नतृणा घ्नन्ति मृगीरन्येषु का कथा ॥29॥"

जूवा (द्यूत) अनुचित तृष्णा तथा अनेक विकारो का पितामह होने के कारण साधक के लिए सतर्कतापूर्वक ग्राम्य अथवा भद्ररूप मे पूर्णतया त्याज्य है। पापो के विकास की नस-नाडी जानने वालो का तो यह अध्ययन है कि यह सम्पूर्ण पापो का द्वार खोल देता है। **अमृतचन्द्र स्वामी** इसे सम्पूर्ण अनर्थों मे प्रथम, पवित्रता का विनाशक, माया का मन्दिर, चोरी और बेईमानी का अड्डा बताते है।

द्यूत के अवलम्बन से यह प्राणी कितना पतित-चरित्र हो जाता है इसे सुभाषितकार ने एक ढोगी साधु से प्रश्नोत्तर के रूप मे इन शब्दो मे बताया है। पूछते है–

"भिक्षो, मासनिषेवन प्रकुरुषे? कि तेन मद्य विना।
मद्य चापि तव प्रियम्? प्रियमहो वारागनाभि सह॥
वेश्या द्रव्यरुचि कुतस्तव धनम्? द्यूतेन, चौर्येण वा।
चौर्य द्यूतमपि प्रियमहो नष्टस्य कान्या गति·॥"

द्यूत के समान साधक चोरी की आदत, वेश्या-सेवन, परस्त्री-गमन सदृश व्यसन नामधारी महा-पापो से पूर्णतया आत्म-हत्या करता है। साधक के स्मृतिपथ मे ये व्यसन सदा शत्रु के रूप मे बने रहना चाहिए–

जूवा, आमिष, मदिरा दारी।
आखेटक, चोरी, परनारी॥
ये ही सात व्यसन दुखदाई।
दुरित मूल दुरगति के भाई॥

सत्य के विषय मे यह बात ज्ञातव्य है कि जीव के प्राण रक्षण हेतु अयथार्थ प्रतिपादन भी दोषयुक्त नही है क्योकि उस सत्य के द्वारा भगवती अहिसा का पोषण होता है। वर्तमान युग के महान् चिन्तक **बर्ट्रेन्ड रसल** ने लिखा है -

"एक दफा देहात की तरफ घूमते हुए मैने देखा कि एक थकी लोमडी लस्त-पस्त होने की हालत मे भी जबर्दस्ती दौडी चली जा रही थी। इसके कुछ मिनट बाद शिकारियो की एक टोली दिखाई पडी। उन्होने मुझ से पूछा · क्या आपने लोमडी देखी है? और मैने कहा 'हा' देखी है। उन्होने फिर पूछा किधर गई है? और मै उनसे झूठ बोल गया। मै नही समझता कि उनसे सच बात कहकर मै ज्यादा भला आदमी बन गया होता।"

इस विचार की समीक्षा मे **महात्मा गाधी** ने लिखा .-

"शुरू मे ही उन्होने यह कहकर गलती की कि उन्होने लोमडी

देखी है। पहले सवाल का जवाब देना उनके लिए लाजिमी नही था।"

इस विषय मे यह प्रश्न उत्पन्न होता है, कि यदि कोई भद्रतावश किसी अन्वेषक के मनोगत को न जानकर यदि उसे कोई बात बताता है किन्तु इसके पश्चात् उसका दूषित भाव ज्ञात होता है, तब वह भद्र व्यक्ति क्या करे? जैनागम कहता है, कि उस भद्र पुरुष को अपने कथन मे ऐसा सुधार करना चाहिए, जिससे जीव के प्राणो की रक्षा हो। ऐसा करने से उस जीव की दया पलेगी, साथ ही हिसक व्यक्ति के हाथ भी खून से मलिन नही होगे। **समन्तभद्र आचार्य** ने गृहस्थ के सत्य अणुव्रत की चर्चा करते हुए लिखा है कि **'सत्यमपि विपदे जह्यात'**– इस कथन के प्रकाश मे दार्शनिक रसेल के कथन को जैनागम का समर्थन प्राप्त होगा। जैनधर्म मे सर्वोपरि स्थान अहिसा का है। सत्य, ब्रह्मचर्य, अचौर्य, अपरिग्रह आदि सद् वृत्तिया उस अहिसा की ही शाखाए है। सत्य, ब्रह्मचर्य आदि की धर्मरूप मे प्रसिद्धि है किन्तु अहिसा 'परम धर्म' माना गया है। अहिसा अर्थात्, जीव दया से अलकृत अन्त·करण सात्विक भाव से अधिष्ठित होता है। अपनी मजबूरी की दशा मे यदि कोई अहिसा के उज्ज्वल पथ पर न चल सके, तो इसे व्यक्ति की कमजोरी समझनी चाहिए। अहिसा की ज्योत्सना से शान्ति, प्रकाश तथा आनन्द की उपलब्धि होती है।

वह साधक स्थूल झूठ नही बोलता और न अन्य को प्रेरणा करता है। **स्वामी समन्तभद्र** इस प्रकार के सत्य सम्भाषण को भी अपनी मूल-भूत अहिसात्मक वृत्ति का सहार करने के कारण असत्य का अग मानते है, जो अपनी आत्मा के लिए विपत्ति का कारण हो अथवा अन्य को सकटो से आक्रान्त करता हो। यहा सत्य की प्रतिज्ञा लेने वाले प्राथमिक साधक के लिए इस प्रकार के वचनालाप तथा प्रवृत्ति की प्रेरणा की है जो हितकारी हो तथा वास्तविक भी हो। वास्तविक होते हुए भी अप्रशस्त वचन को त्याज्य कहा है–यही सत्याणुव्रत का स्वरूप है।[4]

सत्पुरुषो ने अचौर्याणुव्रत मे साधक को दूसरे की रखी हुई, गिरी हुई, भूली हुई और बिना दी हुई वस्तु को न ग्रहण करने की और न अन्य को देने की आज्ञा दी है।

ब्रह्मचर्याणुव्रत के परिपालन निमित्त बताया है कि–यह पाप सचय का कारण होने से स्वय परस्त्री-सेवन नही करता और न अन्य को प्रेरणा ही करता है। गृहस्थ की भाषा मे इसे स्थूल ब्रह्मचर्य, परस्त्री त्याग अथवा स्व-स्त्रीसतोष व्रत कहते है।

इच्छा को मर्यादित करने के लिए वह गाय आदि धन, धान्य, रुपया-पैसा, मकान, खेत, बर्तन, वस्त्र आदि की आवश्यकता के अनुसार मर्यादा बाधकर उनसे अधिक वस्तुओ के प्रति लालसा का परित्याग कर परिग्रह-परिमाण व्रत को धारण करता है। इस व्रत मे इच्छा का नियन्त्रण होने के कारण इसे इच्छा परिमाण नाम भी दिया गया है।

पूर्वोक्त हिसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह के त्याग के साथ मद्य, मास और मधु के त्याग को साधक के आठ मूलगुण कहे है। वर्तमान युग की उच्छृखल एव भागोन्मुख प्रवृत्ति को लक्ष्य मे रख कर एक आचार्य ने इस प्रकार उन मूल गुणो की परिगणना की है–

> "मद्य, मास, मधु, रात्रिभोजन और पीपल, ऊमर, बड, कठूमर, पाकर सदृश त्रस-जीव युक्त फलो के सेवन का त्याग, अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु नामक अहिसा के पथ मे प्रवृत्त पच परमेष्ठियो की स्तुति, जीव दया तथा पानी को वस्त्र द्वारा भली प्रकार छानकर पीना यह आठ मूलगुण है।[5]

बौद्धधर्म मे पञ्चशीलो का कथन इस प्रकार किया गया है :- (1) पाणातपाता वरमणा सिक्खपाद समादियामि, (2) अदिन्नादाना वेरमणी सिक्खापद समादियामि, (3) कामेसु मिच्छाचारा वेरमणी सिक्खापद समादियामि, (4) मुसावादा वेरमणी सिक्खापद समादियामि (5) सुरामेस्य-मज्ज-सम्पदट्ठाना वेरमणी सिक्खापद समादियामि – अर्थात् मै जीव हिसा से विरत रहूँगा, ऐसा व्रत लेता हूँ। जो वस्तु मुझे नही दी गई, उसे लेने से मै विरत रहूँगा, ऐसा व्रत लेता हूँ। सब कामो मे मिथ्याचार करने से विरत रहूँगा, ऐसा व्रत लेता हूँ। झूठ बोलने से विरत रहूँगा, ऐसा व्रत लेता हूँ। मादक द्रव्यो का सेवन करने से विरत रहूँगा, ऐसा व्रत लेता हूँ। अष्टागशील मे उपरोक्त पाँच व्रत है, केवल तीसरे व्रत "कामेसुभिच्छाचारा वेरमणी ----" के स्थान मे "अबम्हचरिया

वेरमणी" अर्थात् कुशील का त्याग कहा गया है। परिग्रहत्याग का उल्लेख नही पाया जाता है। (मिलिन्द प्रश्न परिशिष्ट पृ 33-34)

पातञ्जल योगदर्शन मे पतञ्जलि ने योग के अष्टअगो मे यमो का उल्लेख करते हुए "अहिसा-सत्यास्तेय-ब्रह्मचर्यापरिग्रहा·" (2-30) - अहिसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह - ये पाँच यम कहे है। इन पच यमो को जाति, देश, काल और निमित्त की सीमा से रहित सार्वभौम होने पर महाव्रत कहा गया है-

जाति-देश-काल-समयानवच्छिन्ना· सार्वभौम महाव्रतम् (2-31)

व्रतो को किस प्रकार निर्दोष रीति से पाला जाए इस विषय का सुव्यवस्थित, तर्क सगत और प्रामाणिक विवेचन जैन धर्म के आचार ग्रथो मे मिलता है।

जैसे मूल के शुद्ध और पुष्ट होने पर वृक्ष भी सबल और सरस होता है, उसी प्रकार मूलभूत उपर्युक्त नियमो द्वारा जीवन अलकृत होने पर साधक मुक्ति पथ मे प्रगति करना प्रारम्भ कर देता है। मद्य और मास की सदोषता तो धार्मिक जगत् के समक्ष स्पष्ट है, किन्तु आज के युग मे अहिसात्मक पद्धति से मक्षिकाओ का बिना विनाश किये जब मधु तैयार होता है, तब मधुत्याग को मूलगुणो मे क्यो परिगणित किया है यह सहज शका उत्पन्न होती है? स्वय गाधीजी ऐसे मधु को अपना नित्य का आहार बनाये हुए थे। हमने 1935 मे बापू से मधु त्याग पर उनके वर्धा आश्रम मे जब चर्चा की, तब उन्होने यही कहा था कि पहले जीव वध पूर्वक मधु बनता था, अब अहिसात्मक उपाय से वह प्राप्त होता है, इसलिए मै उसका सेवन करता हूँ। इस विषय की चर्चा जब हमने चारित्र चक्रवर्ती दिगम्बर जैन आचार्य श्री शान्तिसागर महाराज से चलायी और प्रार्थना की, कि अहिसा महाव्रती आचार्य होने के नाते इस विषय मे प्रकाश प्रदान कीजिये तब आचार्य महाराज ने कहा कि "मक्खी विकलत्रय जीव है, वह पुष्प आदि का रस खाकर अपना पेट भरती है और जो वमन करती है उसे मधु कहते है। वमन खाना कभी भी जिनेन्द्र के मार्ग मे योग्य नही माना गया। उसमे सूक्ष्म जीव राशि पायी जाती है।"

आशा है कि मधु की मधुरता मे जिन साधर्मी भाइयो का चित्त लगा हो, वे आचार्य परमेष्ठी के निर्णयानुसार, अहिसात्मक कहे जाने वाले मधु को वमन होने के कारण, अनतजीव-पिण्डात्मक निश्चय कर सन्मार्ग मे ही लगे रहेगे।''

रात्रि भोजन का परित्याग और पानी छानकर पीना—यह दो प्रवृत्तिया जैनधर्म के आराधक के चिह्न माने जाते है। एक बार सूर्यास्त होते समय मद्रास मे अपना सार्वजनिक भाषण बन्दकर रात्रि हो जाने के भय से गाधीजी जब हिन्दू के सम्पादक श्री कस्तूरी स्वामी आयगर के साथ जाने को उद्यत हुए, तब उनकी यह प्रवृत्ति देख बडे-बडे शिक्षितो के चित्त मे यह विचार उत्पन्न हुआ कि गाधीजी अवश्य जैनशासन के अनुयायी है। जैसे ईसाइयो का चिह्न उनके ईश्वरीय दूत हजरत मसीह की मौत का स्मारक क्रॉस पाया जाता है अथवा सिक्खो के केश, कृपाण, कडा आदि बाह्य चिन्ह है उसी प्रकार अहिसा पर प्रतिष्ठित जैनधर्म ने करुणापूर्वक वृत्ति के प्रतीक और अवलम्बन रूप रात्रि भोजन त्याग और अनछने पानी के त्याग को अपनाया है। वैदिक साहित्य के अत्यन्त मान्य ग्रथ मनुस्मृति मे **मनु** महाशय लिखते है.-

"दृष्टिपूत न्यसेत् पाद वस्त्रपूत जल पिबेत्।"

—अ० 6 । 46

भागवत मे वानप्रस्थ के धर्म का निरुपण करते हुए छने पानी पीने का कथन किया गया है –

"दृष्टिपूत न्यसेत् पाद वस्त्रपूत पिवेज्जलम्"।।

- स्कन्ध (11 अ० 18, 16)

उपर्युक्त दोनो नियमो मे अहिसात्मक प्रवृत्ति के साथ निरोगता का भी तत्त्व निहित है। सन् 1941 जुलाई के "जैनगजट" मे पजाब का एक सवाद छपा था कि—एक व्यक्ति के पेट मे अनछने पानी के साथ छोटा-सा मेढक का बच्चा घुस गया। कुछ समय के अनन्तर पेट मे भयकर पीडा होने लगी, तब ऑपरेशन किया गया और 25 तोले वजन का मेढक बाहर निकला। आज तो रोगो की अमर्यादित वृद्धि हो रही है,

उसका कारण यह है, कि लोगो ने धर्म की दृष्टि से न सही तो स्वास्थ्य-रक्षण के लिए रात्रि-भोजन का परित्याग, अनछना पानी न पीना, जिन वस्तुओ मे त्रस जीव उत्पन्न हो गये हो या जो उनकी उत्पत्ति के लिये बीजभूत बन चुके है, ऐसे पदार्थों के भक्षण का त्याग पूर्णतया भुला दिया है। जीभ की लोलुपता और फैशन की मोहकता के कारण इन बातो को भुला देने मे ही अपना कल्याण समझा है। आजकल के बडे और प्रतिष्ठित माने जाने वाले और अहिसा के साधको की श्रेणी मे बैठने वाले लक्ष्मीजी और आधुनिक आधिभौतिक ज्ञान के कृपापात्र पूर्वोक्त बातो को ढकोसला समझ यथेच्छा प्रवृत्ति करते हुए दिखाई पडते है। उन्हे यह स्मरण रखना चाहिए कि हमारी असत् प्रवृत्तियो का घडा भरने पर प्रकृति अपना भयकर दण्ड-प्रहार किये बिना न रहेगी और तब पश्चाताप मात्र ही शरण होगा।

प० आशाधर जी ने सागार-धर्मामृत मे आयुर्वेद शास्त्र तथा अनुभव के आधार पर लिखा है कि रात्रि-भोजन मे[6] आसक्ति और राग की तीव्रता होती है तथा कभी-कभी अज्ञात अवस्था मे अनेक रोगो को उत्पन्न करने वाले विषैले जीव भी पेट मे पहुँच विचित्र रोगो को उत्पन्न कर देते है। जू अगर पेट मे चली जाए तो जलोदर हो जाता है, मक्खी से वमन, बिच्छू से तालु रोग, मकडी भक्षण से कुष्ठ आदि रोग हो जाते है। अखबारी दुनिया वालो को इस बात का परिचय है कि कभी-कभी भोजन पकाते समय छिपकली, सर्प आदि विषैले जन्तुओ के भोजन मे गिर जाने के कारण उस जहरीले आहार-पान के सेवन करने पर कुटुम्ब के कुटुम्ब मृत्यु के मुख मे पहुँच गये है।

आज के वैज्ञानिक साधन-सम्पन्न युग मे अनेक दृष्टियो से जैनधर्म के रात्रिभोजन के परित्याग व्रत की उपयोगिता और समीचीनता की पूर्णतया पुष्टि होती है। फिर भी रसना इन्द्रिय की लोलुपता, तीव्र प्रमाद तथा कुछ अहकार भी उस व्रत की ओर बढने से विघ्न उपस्थित करते है। **प० रुचिराम जी** की मक्का यात्रा का विवरण 'नवनीत' (नव 1958) मे छपा था। वैदिक धर्म के उत्साही-प्रचारक **प० श्री रुचिराम जी** अदन से जुकार नामक स्थल पर पहुँचे। बद्दुओ ने उनकी केतली

ऊँटनी के दूध से भर दी। चलते चलते वे रास्ता भूल गए और शाम को एक जगल मे जा निकले। रात्रि को उन्होने जगल मे शयन किया। सोते समय केतली का आधा दूध पी लिया। तत्पश्चात् नीद खुलने पर उन्होने पिपासाकुल हो आधा दूध और पी लिया। प्रातः उन्हे जोर का बुखार चढ आया। दिन निकलने से जब उनकी दृष्टि केतली पर पडी तो उन्होने उसे चीटियो से भरा पाया। बुखार का कारण उनकी समझ मे आ गया। आधी रात के दूध मे चीटिया भी थी, जिन्हे वे पी गए थे।

विचारवान् व्यक्ति को यह तो सोचना चाहिए कि उसे जो नरजन्म मिला है, वह बहुत बडी निधि है, अत उसे पशु तुल्य आचरण के द्वारा कलकित करना सभ्य, सुसम्कृत तथा विवेकी मानव के लिए उचित नही है। इस विषय पर साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से विचार न कर वैज्ञानिक विचारो के प्रकाश मे उसका विश्लेषण करना चाहिए। त्याग करने वाले सत्सकल्प और सुदृढ मनोबल का आश्रय ले सहज ही वासना पर विजय प्राप्त कर सकते है।

जो इन्द्रियलोलुप है वे तो सोचा करते है कि भोजन कैसा भी करो, दिलभर साफ रहना चाहिये। मालूम होता है ऐसे ही विचारो का प्रतिनिधित्व करते हुए एक शायर कहता है–

"जाहिद शराब पीने से काफिर बना मै क्यो?
क्या डेढ चुल्लू पानी मे ईमान बह गया?"

ऐसे विचार वाले गभीरतापूर्वक अगर सोच सके, तो उन्हे यह स्वीकार करना होगा कि सात्त्विक, राजस और तामस आहार के द्वारा उसी प्रकार के भावो की उत्पत्ति मे प्रेरणा प्राप्त होती है। आहार का हमारी मन.स्थिति के साथ गहरा सम्बन्ध है। इसी बात को यह कहावत सूचित करती है–

"जैसा खावे अन्न, तैसा होवे मन।
जैसा पीवे पानी, तैसी होवे बानी॥"

इस सम्बन्ध मे **गाधी जी** ने अपनी आत्मकथा मे लिखा है–'मन

का शरीर के साथ निकट सम्बन्ध है। विकारयुक्त मन विकार पैदा करने वाले भोजन की खोज मे रहता है। विकृत मन नाना प्रकार के स्वादो और भोगो को ढूँढता फिरता है; और फिर आहार और भोगो का प्रभाव मन के ऊपर पडता है। मेरे अनुभव ने मुझे यही शिक्षा दी है कि जब मन सयम की ओर झुकता है, तब भोजन की मर्यादा और उपवास खूब सहायक होते है। इनकी सहायता के बिना मन को निर्विकार बनाना असम्भव-सा ही मालूम होता है।" (पृ॰112-13)

अपने राजयोग मे स्वामी **विवेकानन्द** लिखते है-"हमे उसी आहार का प्रयोग करना चाहिए, जो हमे सबसे अधिक पवित्र मन दे। हाथी आदि बडे जानवर शान्त और नम्र मिलेगे। सिह और चीते की ओर जाओगे तो वे उतने ही अशान्त मिलेगे। यह अन्तर आहार भिन्नता के कारण है।"

महाभारत मे तो यहा तक लिखा है कि-आहार-शुद्धि न रखने वाले के तीर्थ-यात्रा, जप-तप आदि सब विफल हो जाते है-

"मद्यमासाशन रात्रौ भोजन कन्दभक्षणम्।
ये कुर्वन्ति वृथा तेषा तीर्थयात्रा जपस्तपः॥
चातुर्मास्ये तु सम्प्राप्ते रात्रिभोज्य करोति यः।
तस्य शुद्धिर्न विद्येत चान्द्रायणशतैरपि॥"

एक शास्त्रकार का कथन है कि जो खान-पान मे जरा भी विवेक नही रखते है वे पूर्व जन्म मे तिर्यच रहे है। ये शब्द ध्यान देने योग्य है, **"अभक्ष्यभक्षणे दक्ष· तिर्यग्योने समागत·।"**

कुछ लोग मासभक्षण के समर्थन मे बहस करते हुए कहने लगते है कि मास-भक्षण और शाकाहार मे कोई विशेष अन्तर नही है। जिस प्रकार प्राणधारी का अग वनस्पति है उसी प्रकार मास भी जीव का शरीर है। जीव-शरीरत्व दोनो मे समान है। वे यह भी कहते है कि अण्डा भक्षण करना और दुग्धपान मे दोष की दृष्टि से कोई अन्तर नही है। जिस अण्डे मे बच्चा न निकले उसे वे unfertilised egg - निर्जीव अण्डा

कहकर शाकाहार के साथ उसकी तुलना करते है। यह दृष्टि भ्रमपूर्ण है। अण्डे के बारे मे गहरे परीक्षण के उपरान्त एक रूसी वैज्ञानिक ने कहा है - life begins in egg - अण्डे मे जीवन का आरम्भ होता है (रीडर्स डाइजेस्ट) अण्डे का बाह्य श्वेत भाग अस्थित रूप है। उसके भीतर का रस अनेक जीवो से भरा हुआ है।

यह दृष्टि अतात्त्विक है। मास भक्षण क्रूरता का उत्पादक है, वह सात्त्विक मनोवृत्ति का सहार करता है। वनस्पति और मास[7] के स्वरूप मे महान् अन्तर है। एकेन्द्रिय जीव जल आदि के द्वारा अपने पोषक तत्त्व को ग्रहण कर उसका खल भाग और रस भाग रूप ही परिणमन कर पाता है। रुधिर, मास आदि रूप आगामी पर्याये जो अनन्त जीवो का कलेवर रूप होती है, वनस्पति मे नही पायी जाती। इसलिए उनमे समानता नही कही जा सकती। दूसरी बात यह भी ध्यान देने योग्य है कि अत्यन्त अशुद्ध शुक्र-शोणित रूप उपादान का मास रुधिर आदि रूप शरीर के रूप मे परिणमन होता है। ऐसी घृणित उपादानता वनस्पति मे नही है। यह तर्क ठीक है कि प्राणी का अग अन्न के समान मास भी है, किन्तु दोनो के स्वभाव मे समानता नही है। इसीलिए साधक के लिए अन्न भोज्य है और मास सर्वथा त्याज्य है। जैसे स्त्रीत्व की दृष्टि से माता और पत्नी मे समानता कही जा सकती है, किन्तु भोग्यत्व की अपेक्षा पत्नी ही ग्राह्य कही गयी है, माता नही।

"प्राण्यगत्वे समेऽप्यन्न भोज्य मास न धार्मिकै.।
भोग्या स्त्रीत्वाविशेषेऽपि जनैर्जायैव नाम्बिका॥"

—सागारधर्मामृत 2 । 10 ।

यूरोप के मनीषी महात्मा **टालस्टाय** ने मास-भक्षण के विषय मे कितना प्रभावपूर्ण कथन किया है—"क्या मास खाना अनिवार्य है? कुछ लोग कहते है—यह तो अनिवार्य नही है, लेकिन कुछ बातो के लिए जरूरी है। मै कहता हूँ कि यह जरूरी नही है। मास खाने से मनुष्य की पाशविक वृत्ति बढती है, काम उत्तेजित होता है, व्यभिचार करने और शराब पीने की इच्छा होती है। इन सब बातो के प्रमाण सच्चे और शुद्ध सदाचारी नवयुवक विशेष कर स्त्रिया और तरुण लडकिया है, जो इस

बात को साफ-साफ कहती हैं कि मास खाने के बाद काम की उत्तेजना और अन्य पाशविक वृत्तिया अपने आप प्रबल हो जाती हैं।" वे यहा तक लिखते हैं कि "मास खाकर सदाचारी बनना असम्भव है।" ऐसी स्थिति मे तो चरित्रवान् और महापुरुष माने जाने वाले व्यक्ति को टाल्स्टाय जैसे विचारक के मत से निरामिषभोजी होना अत्यन्त आवश्यक है।

वैज्ञानिको ने इस विषय मे मनन करके लिखा है कि मास आदि के द्वारा बल और निरोगता सम्पादन करने की कल्पना ठीक वैसी ही है जैसे चाबुक के जोर से सुस्त घोडे को तेज करना। मासभक्षण करने वालो मे क्रूरता की अधिक मात्रा होती है। सहनशीलता, जितेन्द्रियता और परिश्रमशीलता उनमे कम पायी जाती है। मि० **वेरेस** नामक विद्युत् शास्त्रज्ञ ने यह सिद्ध किया है कि फल और मेवा मे एक प्रकार की बिजली भरी हुई है, जिससे शरीर का पूर्णतया पोषण होता है। 'न्यूयार्क ट्रिब्यून' के सम्पादक **श्री होरेस** लिखते है-"मेरा अनुभव है कि मासाहारी की अपेक्षा शाकाहारी दस वर्ष अधिक जी सकता है।" अध्यापक **लारेन्स** का अनुभव है-"मासाहार से शरीर की शक्ति और हिम्मत कम होती है। यह तरह-तरह की बीमारियो का मूल कारण है। शाकाहार के साथ निर्बलता, भीरुता तथा रोगो का कोई सम्बन्ध नही है।" -('मासाहार से हानिया' से उद्धृत)

एक मटनमार्तण्ड उपाधि से विख्यात हिन्दू समाज के हितचिन्तक डॉक्टर साहब हिन्दू जाति को बलिष्ठ बनाने के लिए मास-भक्षण के लिए प्रेरित करते थे। वे सफलता के स्वप्न देखते हुए यह भूल जाते थे कि मास-भक्षण के द्वारा वे विवेकी मनुष्य को पशु जगत के निम्नतर स्तर पर उतारते है। मास-भक्षण न करने वाले अहिसक महापुरुषो ने अपने पौरुष और बुद्धिबल के द्वारा इस भारत के भाल को सदा उन्नत रखा है। अहिसा और पवित्रता की प्रतिमा वीर-शिरोमणि जैन सम्राट चन्द्रगुप्त ने सिल्यूकस जैसे प्रबल पराक्रमी मासभक्षी सेनापति को पराजित किया था। पराक्रम को आत्मा का धर्म न मानकर शरीर सम्बन्धी विशेषता समझने वाले ही यथेच्छाहार को ग्राह्य बतलाते है। शौर्य एव पराक्रम का विकास जितेन्द्रिय और आत्म-बली मे अधिक होगा।

सन् 1962 के मई मास मे कोल्हापुर पचकल्याणक महोत्सव के अवसर पर भारतवर्ष के उच्चकोटि के पहलवान हिन्द केसरी श्रीपति खचनाले तथा उनके गुरु भाऊ साहब लाटकर जैन से मिलने पर ज्ञात हुआ कि दोनो निरामिष-भोजी है। उस प्रान्त मे श्रेष्ठ शारीरिक-सम्पत्ति सम्पन्न उच्च पहलवान प्राय· शाकाहारी जैन होते है अथवा लिगायत धर्मावलम्बी। उन्होने बताया था कि बादाम और खूब औटे गए दूध मे मास की अपेक्षा बहुत अधिक शक्ति है। व्यर्थ मे लोग मास के द्वारा शारीरिक शक्ति-वृद्धि की बात करते है। राष्ट्र के उत्थान-निमित्त जितेन्द्रियता ब्रह्मचर्य-सगठन आदि सद्गुणो को जागृत करना होगा। मनुष्यता का स्वय सहार कर हिसक पशुवृत्ति को अपनाने वाला कैसे साधना के पथ मे प्रविष्ट हो सकता है? ऐसे स्वार्थी और विषयलोलुपी के पास दिव्य विचार और दिव्य सम्पत्ति का स्वप्न मे भी उदय नही होता। अतएव पवित्र जीवन के लिए पवित्र आहारपान अत्यन्त आवश्यक है।

उस प्राथमिक साधक की जीवनचर्या इतनी सयत हो जाती है, कि वह लोक तथा समाज के लिए भार न बन, भूषण-स्वरूप होता है। वह सूक्ष्म दोषो को परित्याग तो नही कर पाता किन्तु राज्य अथवा समाज द्वारा दण्डनीय स्थूल पापो से बचता है। अपने तत्त्वज्ञान के आदर्श की नव-स्मृति और नव-स्फूर्ति निमित्त वह शात, विकार रहित, परिग्रह विहीन, वीतरागता युक्त जिनेन्द्र भगवान की पूजा (Hero worship) करता है। वह मूर्ति के अवलम्बन से उस शान्ति, पूर्णता और पवित्रता के आदर्श को स्मरण कर अपने जीवन को उज्ज्वल बनाने का प्रयत्न करता है। उसकी पूजा मूर्ति (Idol) की नही, आदर्श की (Ideal) पूजा रहती है, इसलिए मूर्तिपूजा के दोष उस साधक के उज्ज्वल मार्ग मे बाधा नही पहुँचाते। जब परमात्मा ज्ञान, आनन्द और शान्ति से परिपूर्ण है, राग, द्वेष, मोह से परिमुक्त है, तब उसे प्रसन्न करने के लिए स्तुति गान करना, ज्ञानवान का काम नही कहा जा सकता। वैज्ञानिक साधक की दृष्टि यह रहती है –

"राग नाश करने से भगवन्, गुण कीर्तन मे है क्या आश।
क्रोध कषाय वमन करने से, निन्दा मे भी विफल प्रयास॥

फिर भी तेरे पुण्य गुणो का, चिन्तन है रोधक जग-त्रास।
कारण ऐसी मनोवृत्ति से, पाप-पुञ्ज का होता ह्रास॥"

अपने दैनिक-जीवन मे लगे हुए दोषो की शुद्धि के लिए वह सत्पात्रो को सदा आहार, औषधि, शास्त्र तथा अभयदान देकर अपने को कृतार्थ मानता है। उसका विश्वास है कि पवित्र कार्यो को करने से सम्पत्ति का नाश नही होता, किन्तु पुण्य के क्षय से उसका विनाश होता है। आचार्य **पद्मनदि** कहते है–

"पुण्यक्षात् क्षयमुपैति न दीयमाना
लक्ष्मीरत· कुरुत सन्ततपात्रदानम्।"

दान के विषय मे पूज्यपाद स्वामी का उपासकाचार का यह कथन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है :-

ज्ञानवान् ज्ञानदानेन निर्भयोऽभयदानत
अन्नदानात् सुखीनित्य निर्व्याधि· भेषजात् भवेत्॥71॥

ज्ञानदान के प्रसाद से ज्ञान सम्पन्नता मिलती है, अभयदान जीवन दान से अभय पद मिलता है, अन्नदान से सुख की प्राप्ति होती है तथा औषधि दान से निरोगता प्राप्त होती है।

धनवान लोगो का भवन प्राय बीमारी का अड्डा रहता है। जितना द्रव्य वे डाक्टर, वैद्यो को देते है, उसका कुछ अश औषधिदान मे वे व्यय करे, तो उनकी शरीर स्थिति विशेष सुखमय हो सकती है। सब दानो मे सार्वजनिक दृष्टि से प्राणरक्षण का बडा महत्त्व है। **महाभारत** के वन पर्व मे यक्ष ने युधिष्ठिर से यह प्रश्न पूछा था–

स्नान च कि पर प्रोक्त दान च किमिहोच्यते?"
(श्रेष्ठ स्नान क्या है तथा श्रेष्ठ दान क्या है?)

धर्मराज ने कहा –

"स्नान मनोमलत्यागो दान वै भूतरक्षणम्"॥

मन मे विद्यमान मलिनता का त्याग श्रेष्ठ स्नान है। शरीर तो मल

से परिपूर्ण घट तुल्य है। उसकी शुद्धि जल द्वारा असम्भव है। पानी से आत्मा भी निर्मल नही हो सकती है।

महाभारत मे कहा है:-

आत्मा नदी सयम पुण्यतीर्था सत्योदका शीलतटा दयोर्मिः।
तत्राभिषेक कुरु पाण्डुपुत्र न वारिणा शुद्धयति यान्तरात्मा॥

हे पाण्डु पुत्र! आत्मा नदी तुल्य है, उसमे सयमरूप पवित्र घाट बना है तथा वह सत्य रूप जल से भरी हुई है। उसमे दया रूपी लहरे उठा करती है। उस आत्मा रूपी नदी मे स्नान करो। भला पानी मे स्नान द्वारा कही अन्तरात्मा शुद्ध हुई है?

श्रेष्ठ दान के विषय मे महाराज युधिष्ठिर ने जीव रक्षा को श्रेष्ठ दान कहा है। स्वामी **समन्तभद्र** ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार मे लिखा है कि सत्पात्र दान का बडा महत्त्व है। जिस प्रकार वट का लघु बीज वृक्ष रूप हो महान विस्तृत बनता है, उसी प्रकार सत्पात्र को सामयिक स्वल्पदान भी महान फलदायी होता है। यह बात नही भूलनी चाहिए कि दातार को मद्य, मासादि का दान नही करना चाहिए। अशुद्ध वस्तुओ को देने वाला दुर्गति का पात्र होता है। दान देने की क्षमता न होने पर हृदय से पवित्र दान की अनुमोदना द्वारा भी महान पुण्य प्राप्त होता है। जिस समय अक्षय तृतीया के दिन कुरुजागल देश के स्वामी श्रेयाँस महाराज ने एक वर्ष से अधिक काल पर्यन्त् आहार ग्रहण न करने वाले विश्ववन्द्य भगवान् ऋषभदेव को इक्षुरस का दान दिया था जिससे श्रेयाँस महाराज ने तो दान तीर्थकर का श्रेष्ठ गौरव प्राप्त किया, साथ ही उस समय महादान की अनुमोदना करने वालो ने भी अपूर्व पुण्य प्राप्त किया था। **महापुराण** मे लिखा है-

दानानुमोदनात् पुण्य परोऽपि बहवोऽभजन्।
यथासाध्य परमरत्न स्फटिकस्य तद्रुचिम् भजेत्॥20-107॥

दान की अनुमोदना करने से अनेक जीवो ने भी परम पुण्य को प्राप्त किया था। सो ठीक ही है, क्योंकि स्फटिक मणि श्रेष्ठ रत्न का सान्निध्य पाकर उसकी कान्ति को प्राप्त करता है। दान न देने पर दान का पुण्य कैसे मिला? इस सबध मे आचार्य कहते है-

कारण परिणामः स्यात् बधने पुण्य पापयोः।
बाह्य कारण प्राहु, आप्ताः कारण कारणम ॥108॥

पुण्य तथा पाप के बध मे जीव के परिणाम कारण हैं। बाह्य सामग्री बध के कारण परिणामो का कारण होने से कारण कारण कही गई है।

जैनधर्म मे दान देना गृहस्थ का धर्म माना गया है। श्रावक के द्वादश व्रतो मे अतिथि संविभाग नाम का एक व्रत बताया गया है। तद्नुसार विवेकी गृहस्थ अपनी न्यायार्जित सम्पत्ति मे से सत्पात्र के समुचित समादर निमित्त अपनी सम्पत्ति का भक्ति तथा प्रेम के साथ उपयोग करता है। वह दान को भार नही किन्तु जीवन को विशुद्ध बनाने का पवित्र साधन स्वीकार करता है।

वह उसी द्रव्य को सार्थक मानता है जो परोपकार मे लगता है। सक्षेप मे साधक के गुणो का सकलन करते हुए **पंडित आशाधर जी** कहते हैं–

> "आदर्श गृहस्थ न्यायपूर्वक धन का अर्जन करता है, गुणी पुरुषो एव उनके गुणो का सन्मान करता है, वह प्रशस्त और सत्य वाणी बोलता है। धर्म, अर्थ तथा काम पुरुषार्थ का परस्पर अविरोध रूप से सेवन करता है। इन पुरुषार्थो के योग्य स्त्री, स्थान, भवनादि को धारण करता है, वह लज्जाशील, अनुकूल आहार-विहार करने वाला, सदाचार को अपनी जीवन निधि मानने वाला सत्पुरुषो की सगति करता है, हिताहित के विचार करने मे वह तत्पर रहता है। वह कृतज्ञ और जितेन्द्रिय होता है, धर्म की विधि को सदा सुनता है, दया से द्रवित अन्त करण रहता है, पाप से डरता है। इस प्रकार इन चौदह विशेषताओ से सम्पन्न व्यक्ति आदर्श गृहस्थी की श्रेणी मे समाविष्ट होता है।"[8]

कोई-कोई व्यक्ति यह सोच सकते है कि जीवन एक सग्राम और सघर्ष की स्थिति मे है, उसमे न्याय-अन्याय की मीमासा करने वाले की सुखपूर्ण स्थिति नही हो सकती। इसलिए जैसे भी बने स्वार्थ-साधना के कार्य मे आगे बढना चाहिए।

यह मार्ग मुमुक्षु के लिए आदर्श नहीं है। वह अपने व्यवहार और आचार के द्वारा इस प्रकार के जगत् का निर्माण करना चाहता है, जहा

ईर्ष्या, द्वेष, मोह, दभ आदि दुष्ट प्रवृत्तियो का प्रसार न हो। सब प्रेम और शान्ति के साथ जीवन-ज्योति को विकसित करते हुए निर्वाण की साधना मे उद्यत रहे, यह उसकी हार्दिक कामना रहती है। जघन्य स्वार्थ और वासना पर जब तक विजय प्राप्त नही की जाती, तब तक आत्मा यथार्थ उन्नति के पथ पर नही पहुचती।

विश्वकवि रवीन्द्र बाबू के ये उद्गार महत्त्वपूर्ण है, "वासना को छोटा करना ही आत्मा को बडा करना है।" भोग प्रधान पश्चिम को लक्ष्य बनाते हुए वे कहते है, "यूरोप मरने को राजी है, किन्तु वासना को छोटा नही करना चाहता। हम भी मरने को राजी है, किन्तु आत्मा को उसकी परमगति-परम सम्पत्ति से वचित करके छोटा बनाना नही चाहते"[9] साधना के पथ मे मनुष्य की तो बात ही क्या, होनहार उज्ज्वल भविष्य वाले पशुओ तक ने असाधारण आत्म-विकास और सयम का परिचय दिया है। भगवान् महावीर के पूर्व भवो पर दृष्टिपात करने से विदित होता है, कि एक बार वे भयकर सिह की पर्याय मे थे और एक मृग को मार कर भक्षण करने मे तत्पर ही थे, कि अमितकीर्ति और अमितप्रभ नामक दो अहिसा के महासाधक मुनीन्द्रो के आत्मतेज तथा ओजपूर्ण वाणी ने उस सिह की स्वाभाविक क्रूरता को धोकर उसे प्रेम और करुणा की प्रतिकृति बना दिया। महाकवि अशग के शब्दो मे ऋषिवर श्री **अमितकीर्ति** ने उस मृगेन्द्र को शिक्षा दी थी कि "स्व सदृशान् अवगम्य सर्व सत्वान्"-अपने सदृश सम्पूर्ण प्राणियो को जानते हुए 'प्रशमरतो भव सर्वथा मृगेन्द्र '-हे मृगेन्द्र। तू क्रूरता का परित्याग कर और प्रशान्त बन। अपने शरीर की ममता दूर कर अपने अन्तःकरण को दयार्द्र कर 'त्यज वपुषि परा ममत्वबुद्धि। कुरु करुणार्द्रमनारत स्वचित्तम्।' उन्होने यह भी समझाया, यदि तूने सयम रूपी पर्वत पर रहकर परिशुद्ध दृष्टि रूपी गुहा मे निवास किया तथा प्रशान्त परिणति रूप अपने नखो से कषाय रूपी हाथियो का सहार किया, तो तू यथार्थ मे 'भव्यसिह' इस पद को प्राप्त करेगा।'-

यदि निवससि सयमोन्नताद्रौ प्रविमलदृष्टि गुहोदरे परिघ्नन्
उपशमनखरै कषायनागास्त्वमसि तदा खलु सिह! भव्यसिह.

- महावीरचरित्र-11 सर्ग, 38

हे सिह श्रेष्ठ। तू पचपरमेष्ठियो को सदा प्रणाम कर। यह नमस्कार उपमातीत आनन्द प्राप्ति का कारण है और सत्पुरुष उसे इस दुस्तर ससार सिधु सतरण निमित्त नौका सदृश बताते है। 43।।[10]

इस दिव्य उपदेश से वह सिह जो पहले 'यम इव कुपितो विना निमित्त' अकारण ही यम की भाति क्रुद्ध रहता था, वह परम दयामूर्ति बन गया। इस अहिसा की आराधना द्वारा प्रवर्धमान होते हुए दसवे भव मे वह जीव 'वर्धमान महावीर' नामक महाप्रभु के रूप मे उत्पन्न हुआ। उस अहिसक सिह ने शनै·-शनै विकास करते हुए तीर्थंकर भगवान् महावीर के त्रिभुवन पूजित पद को प्राप्त किया। उनके पूर्ववर्ती तीर्थकर भगवान् पार्श्वनाथ प्रभु ने मदोन्मत्त हाथी की पर्याय मे महामुनि अरविन्द स्वामी के पास अहिसात्मक और सयमपूर्ण जीवन की शिक्षा ग्रहण की। महाकवि **भूधरदास** ने इस पर प्रकाश डालते हुए लिखा है–

"अब हस्ती सजम साधै। त्रस जीव न भूल विराधै।।
समभाव छिमा उर आनै। अरि-मित्र बराबर जानै।।
काया कसि इन्द्री दण्डै। साहस धरि प्रोषध मडै।।
सूखे तृण पल्लव भच्छै। परमर्दित मारग गच्छै।।
हाथीगन डोल्यो पानी। सो पीवै गजपति ज्ञानी।।
देखे बिन पाव न राखै। तन पानी पक न नाखै।।
निज शील कभी नहि खोवै। हथनी दिशि भूल न जोवै।।
उपसर्ग सहै अति भारी। दुरध्यान तजै दुखकारी।
अधके भय अग न हालै। दिढ़ धीर प्रतिज्ञा पालै।।
चिरलौ दुद्धर तप कीनो। बलहीन भयो तन छीनो।।
परमेष्ठि परमपद ध्यावै। ऐसे गज काल गमावै।।
एकै दिन अधिक तिसायो। तब वेगवती तट आयो।।
जल पीवन उद्यम कीधो। कादो द्रह कुजर बीधो।।
निहचै जब मरन विचारयो। सन्यास सुधी तब धारयो।।"

–पार्श्वपुराण, दूसरा सर्ग।

तिर्यञ्चो को भी सयम साधन मे तत्पर देख **बुधजनजी** मनुष्यो को सयम के लिए उत्साहित करते हुए कहते है–

"सुलझे पसु उपदेस सुन, सुलझे क्यो न पुमान।
नाहर ते भये वीर जिन, गज पारस भगवान्॥"

–सतसई

सत्पुरुषो का कथन है, 'यह मनुष्य जीवन का एक महत्त्वपूर्ण हाट है। यहा की विशेष निधि सयम है। जिसने इस बजार मे आकर सयम-निधि को नही लिया, उसने अक्षम्य भूल की।'

प्राथमिक अभ्यासी साधक के लिए सयम का अभ्यास करने के लिए आचार-शास्त्र के महान् विद्वान् **आशाधरजी** ने लिखा है–"जब तक विषय तुम्हारे सेवन मे नही आते, कम-से-कम उतने काल तक के लिए उनका परित्याग करो। कदाचित् व्रती अवस्था मे मृत्यु हुई तो दिव्य जीवन अवश्य प्राप्त होगा।"[1]

दूसरी बात, जितनी तुम्हारी उचित आवश्यकता हो, उसकी सीमा के बाहर विषयादिक सेवन का सरलता पूर्वक त्याग कर सकते हो। प्राय. अपनी आवश्यकता को भूल लालसा के अधीन हो यह जीव सारी दुनिया से नाता जोडता हुआ-सा प्रतीत होता है। अत. शान्ति और सुखमय जीवन के लिए आवश्यकता से अधिक वस्तुओ का परित्याग करना चाहिए, जिससे अनावश्यक पदार्थो के द्वारा रागद्वेषादि विकार इस आत्मा की शान्ति को भग न करे। सयम का अभ्यास आन्तरिक प्रेरणा के द्वारा सुफल दिखता है। बीमार व्यक्ति अपने चिकित्सक की आज्ञा के अनुसार मजबूर हो जीवन की ममता के कारण पदार्थो का उपयोग न कर कभी-कभी बडे-बडे महात्माओ की सयमपूर्ण वृत्ति का स्मरण कराता है। किन्तु, इसमे यथार्थ सयमी की निर्मलता और शान्ति का सद्भाव नही पाया जाता। भोगो की नि सारता और मेरा आत्मा ज्ञान आनन्द का पुज है, उसे परावलम्बन की आवश्यकता नही है, इस श्रद्धा की प्रेरणा से प्रेरित हुआ सयम अपना विशेष स्थान रखता है। क्षत्रचूडामणि मे यह मार्मिक बात कही गई है·–

अवश्य यदि नश्यति स्थित्वापि विषयाश्चिरम्।
स्वय त्याज्यास्तथा हि स्यान्मुक्ति. संसृतिरन्यथा॥1-68॥

जिन विषयो के प्रति यह जीव सर्वदा अनुरक्त रहता है, वे विषय चिरकाल पर्यन्त स्थित होते हुए भी नियमत: विनाश को प्राप्त होते है। अत: स्वय विनष्ट होने वाले विषयो का परित्याग करना उचित है। इस प्रकार स्वय किए गए त्याग द्वारा मुक्ति की प्राप्ति होती है, अन्यथा यदि विषय स्वय विनष्ट हो गए, तो यह मोही जीव मरकर ससार मे परिभ्रमण करता रहेगा। सयम तथा त्याग अमृत है। असयम महान विष है। जो मनुष्य को असयम की ओर ले जाता है, वह जीव का भयकरतम शत्रु है।

इंद्रिय विजय के द्वारा मनोजय होता है। इसमे मौन का महत्त्वपूर्ण स्थान है। मौन के साथ आत्मा के स्वरूप का चितन हितकारी है। शायर कहता है:-

जुबान खोली है महफिल मे वाहवा के लिए।
कभी तो बन्द कर आखो को भी खुदा के लिए॥

महर्षि कुन्दकुन्द का कथन है-"जिन तीर्थकरो का निर्वाण निश्चित है उन्हे भी बिना सयम का आश्रय लिए मुक्ति नही मिल सकती।" इससे सयम का लोकोत्तरपना स्पष्ट विदित होता है। द्वादशाग रूप जिनेन्द्र भारती मे आचाराग सूत्र का आद्य स्थान है, जिसमे सयम पर विशद् प्रकाश डाला गया है। दर्शन अध्यात्म आदि सबधी वाड्मय का पश्चात् प्रतिपादन किया गया है, इससे जैनशासन मे सयम की महत्ता सुविदित होती है। यह मनुष्य जीवन की अनुपम विभूति है जिसे अन्य पर्यायो मे पूर्णरूप मे पाना सम्भव नही है। विषयवासनाये दुर्बल अन्त:करण पर अपना प्रभाव जमा इंद्रिय तथा मन को निरकुश करने मे सर्वदा सावधान रहती हैं। इसलिए चतुर साधक भी मन एव इन्द्रियो को उत्पथ मे प्रवृत्ति करने से बचाने का पूर्ण प्रयत्न किया करता है। कविवर **द्यानतराय** अपनी आत्मा को सबोधित करते हुए कहते है-

"काय छहो प्रतिपाल, पचेन्द्रिय मन वश करो।
सजम रतन सम्हाल, विषय चोर बहु फिरत है॥"

अपभ्रश भाषा के कवि रइधु सयम की दुर्लभता और लोकोत्तरता को हृदयगम करते हुए मोही प्राणी को शिक्षा देते है–

"सयम बिन घडिय म इक्क जाहु"

*****

सदर्भ सूची

1 रत्नकरण्डश्रावकाचार 47।

2 "चारित्र भवति यत समस्तसावद्ययोगपरिहरणात्।
सकलकषायविमुक्त विशदमुदासीनमात्मरूप तत् ।।39।।"

3 "आत्मपरिणामहिसनहेतुत्वात् सर्वमेव हिसैतत्।
अमृतवचनादि केवलमुदाहृत शिष्यबोधाय ।।42।।"

–पुरुषार्थसिद्ध्युपाय।

4 "स्थूलमलीक न वदति न परान् वादयति सत्यमपि विपदे।
यत्तद्वदन्ति सन्त स्थूलमृषावादवैरमणम्।।" (रत्न० श्रा० 55)

5 सागारधर्मामृत 1/18

6 *अध्याय* 4-25।

7 कच्चे अथवा पके मास मे भी हिसा दोष पाया जाता है कारण उनमे सूक्ष्म जीवो की निरन्तर उत्पत्ति होती रहती है। (पु० सिद्ध्युपाय 67)
स्वय मरे भैसा, बैल आदि का मास भक्षण करना भी दोषयुक्त है? (पृ० 66)

8 न्यायोपात्तधनो यजन् गुणगुरुन् सद्गीस्त्रिवर्ग
भजन्नन्योन्यानुगुण तदर्हगृहिणी स्थानालया ह्रीमय ।
युक्ताहारविहार आर्यसमिति प्राज्ञ कृतज्ञो वशी
शृण्वन् धर्मविधि दयालुरघभी सागारधर्म चरेत्।।

–सागारधर्मामृत 1 । 11।

9 'स्वदेश' से।

10 अनुपमसुखसिद्धिहेतुभूत गुरुषु सदा कुरु पचसु प्रणामम्।
भवजलनिधे सुदुस्तरस्य प्लव इति त कृतबुद्धया वदन्ति ।।43।।

–महावीर चरित्र

11 यावन्न सेव्या विषयास्तावत्तानप्रवृत्तित ।
व्रतयेत्सव्रतो दैवान्मृतोऽमुत्र सुखायते।।

–सागारधर्मामृत 2 । 77 ।

*****

प्रबुद्ध-साधक

"जोलौ देह तेरी काहू रोग सौ न घेरी
जोलौ जरा नाहीं नेरी जासो पराधीन परिहै॥
जोलौ जम नामा बैरी देय न दमामा जोलौ
माने कान रामा बुद्धि जाय ना बिगरिहै॥
तोलौ मित्र मेरे निज कारज सम्हार ले रे
पौरुष थकेगे फेर पाछे कहा करिहै॥
आग के लागे जब झोपड़ी जरन लागी
कुवा के खुदाये तब कहा काज सरिहै ॥26॥"

—जैनशतक, भूधरदास

साधक की आत्मा जब गृहस्थ जीवन की प्रवृत्ति द्वारा सयत बन जाती है तब आध्यात्मिक कवि की उपर्युक्त प्रबोधक वाणी उस मुमुक्षु को सयम के क्षेत्र मे लम्बा कदम बढाने को पुन·-पुनः प्रेरित करती है। यथार्थ मे गृहस्थ जीवन का सयम और अहिसादि धर्मो की परिपालना आत्मीक दुर्बलता के कारण ही सद्गुरुओ ने बतायी है। समर्थ पुरुष को साधन मिलते ही साधना के श्रेष्ठ पथ मे प्रवृत्ति करते विलम्ब नही लगता। तीर्थकर[1] भगवान् के अन्त.करण मे जब भी विषयो से विरक्ति का भाव जागृत होता है, वे त्रिभुवन चमत्कारी वैभव विभूति को अत्यन्त निर्मम हो दृढतापूर्वक छोड देते है।

तत्त्वज्ञानी की आत्मा सम्पूर्ण परिग्रह आदि का त्याग कर श्रेष्ठ साधक बनने को सदा उत्कण्ठित रहती है, किन्तु वासनाएँ और दुर्बलताएँ उसे प्रगति से बरबस रोका करती है और इसलिए साधारण साधक होते हुए भी वह—

"सयम धर न सकत पै सयम धारन की उर चटाचटी।
सदननिवासी, तदपि उदासी, तातै आस्रव छटाछटी॥"

आन्तरिक अवस्था वाला विलक्षण व्यक्ति बनता है। वह अपने मन को समझाते हुए कहता है–अरे मूर्ख, इन भोग और विषयो मे क्या धरा है। इन कर्मो ने तेरे अक्षय-सुख के भण्डार को छीन लिया है। अनन्त ज्ञान निधि को लूट रखा है और तू अनन्त बल का अधीश्वर भी है, इसका पता तक नही चल पाता। यदि तू स्वय नष्ट होने वाले विषयो का परित्याग कर दे, तो ससार-ससरण रुक सकता है। वादीभसिह सूरि समझाते है . -

"अवश्य यदि नश्यन्ति स्थित्वापि विषयाश्चिरम्।
स्वय त्यागज्यास्तथा हि स्यात् मुक्ति ससृतिरन्यथा॥"

- क्षत्रचूडामणि-1/67

आध्यात्मिक कवि **दौलतरामजी** अपने मन को एक पद मे समझाते हुए कहते है कि यह विषय तुझे अपने स्वरूप को नही देखने देते और–

"पराधीन छिन छीन समाकुल दुर्गति विपति चखावै है"

प्रकृति के अन्तस्तल का अन्तर्दृष्टा बन कवि क्रूर कर्म के अत्याचारो को ध्यान मे रखते हुए सोचता है कि जब छोटे-छोटे प्राणियो को एक-एक इन्द्रिय के पीछे अवर्णनीय यातनाओ को भोगना पडता है, तब सभी का आसक्ति पूर्वक सेवन करने वाले इस नरदेहधारी प्राणी का क्या भविष्य होगा?

"फरस विषय के कारन बारन गरत परत दुख पावै है।
रसना इन्द्री वश झष जल मे कण्टक कण्ठ छिदावै है॥
गध लोल पकज मुद्रित मे, अलि नित प्राण गमावै है।
नयन विषय वश दीप शिखा मे, अग पतग जरावै है।
करन विषय वश हिरन अरन मे, खलकर प्राण लुनावै है।
हे मन, तेरी को कुटेव यह करन विषय मे धावै है॥"

एक ओर तो जहा वह विषय और भोगो के दुष्परिणाम को देखता है, तो दूसरी ओर त्याग के माहात्म्य से उसकी आत्मा प्रभावित हुए बिना नही रहती। यह तो तृष्णा-पिशाचिनी का काम है, जो ओस की बूँद के समान विषयभोगो के द्वारा अनन्त तृषा शान्त करने का जीव प्रयत्न करता है। वास्तव मे सासारिक वस्तुओ मे सुख है ही नही। महात्मा लोग ठीक ही कहते है–

"जो ससार विषै सुख होता तीर्थकर क्यो त्यागै!
काहे को शिव-साधन करते, सयम सो अनुरागे?"

यदि अपनी वास्तविक आवश्यकताओ पर दृष्टिपात किया जाए तो समर्थ और वीतराग आत्मा मधुकरी वृत्ति के द्वारा भोजन ग्रहण करते हुए प्राकृतिक-परिधान को धारण कर प्रकृति की गोद मे आत्मीय विभूतियो की अभिवृद्धि कर सकता है। ऐसे व्यक्ति से इष्ट-अनिष्ट कर्म स्वय घबराते है। यदि आत्मा की दुर्बलता दूर हो जाए और उसमे पाशविक वासनाएँ न रहे, तो समर्थ आत्मा को दिगम्बर के वेश के सिवा दूसरी मुद्रा नही रुचेगी। कारण, उस मुद्रा मे उत्कृष्ट ब्रह्मचर्य की अवस्थिति और अभिवृद्धि हाती है। आत्म-निर्भरता और आत्म-निमग्नता के लिए वह अमोघ उपाय है। उस पद से आकर्षित हो इस युग के **राष्ट्रीय महापुरुष गाधीजी** ने इग्लेड के प्रधान मत्री चर्चिल को लिखा था "I would love to be a naked fakır but I am not one yet ' (मै दिगम्बर साधु बनना चाहता हूँ, किन्तु मै अब तक ऐसा नही हो पाया हूँ।)–(L Fıscher, *The Lıfe of M Gandhı*, p 473)। यथार्थ मे श्रेष्ठ पुरुष कृत्रिम वस्त्रभूषणादि व्यर्थ की सामग्री का परित्याग कर प्रकृतिप्रदत्त मुद्रा को धारण कर शान्ति लाभ करते है।

विषय-वासनाओ के दास और भोगो के गुलाम स्वय की असमर्थता और आत्म-दुर्बलता के कारण दिगम्बर मुद्रा को धारण करने मे समर्थ न हो कभी-कभी उस निर्विकार मार विजय की द्योतिनी मुद्रा को लाञ्छित करने का प्रयत्न करते है। **पार्श्वपुराण** मे कितनी सुन्दर बात कही गयी है–

**"अन्तर विषय वासना बरतै, बाहर लोक-लाज भय भारी।
तातै परम दिगम्बर मुद्रा, धर नहि सकै दीन ससारी॥"**

किन्तु वीर पुरुषो की बात और प्रवृत्ति ही निराली है। कवि इसी से कहते है-

**"ऐसी दुद्धर नगन परीषह, जीतै साधु शील व्रतधारी।
निर्विकार बालकवत् निर्भय, तिनके पायन ढोक हमारी॥"**

योगवासिष्ठ मे जिनेन्द्र की दिगम्बर और शान्त परिणति से प्रभावित हो रामचन्द्र अपनी अन्तरग कामना इन शब्दो मे व्यक्त करते है-

**"नाह रामो न मे वाञ्छा भावेषु न च मे मन·।
शान्तिमास्थातुमिच्छामि स्वात्मन्येव जिनो यथा॥"**

भर्तृहरि अपने **वैराग्यशतक** मे अपनी आत्मा की आवाज इन शब्दो मे व्यक्त करते है-"प्रभो वह दिन कब आएगा जब मै स्वतत्र, निस्पृह, शान्त, पाणिपात्रभोजी, दिगम्बर मुनि बन कर्म नाश करने मे समर्थ होऊँगा।"[2] श्रीमद्भागवत मे ऋषभ भगवान् के नौ पुत्रो का वर्णन आया है, जो आत्म विद्या मे निपुण थे और दिगम्बर अवस्था प्राप्त श्रमण अर्थात् मुनिराज थे.-

**नवाभवत्महाभागा मुनयो ह्यर्थशसिन·।
श्रमणा वातरशना आत्मविद्याविशारदा ॥20॥ अ° 2, स्कन्ध 11**

वे आत्मविद्या के अधीश्वर नौ योगिराज सर्वत्र बिना रोकटोक के विचरण करते थे। उन्हे 'अव्याहतेष्यगतय.'-बिना प्रतिबध के इष्ट स्थानो मे विचरण करने वाला कहा गया है। एक बार वे विदेहराज महात्मा गिरी के महान् यज्ञ मे जा पहुचे, उस समय राजा निमि, आहवनीय आदि मूर्तिमान, अग्नि और ऋत्विज आदि ब्राह्मण सबके सब उनके स्वागतार्थ खडे हो गए। भागवत् के शब्द इस प्रकार है -

**तान् दृष्ट्वा सूर्यसकाशान् महाभागवतान् नृपः।
यजमानोऽग्नयो विप्राः सर्व एवोपतास्थिरे ॥25॥**

वास्तव मे दिगम्बर रूप को स्वीकार करने वाले योगियो के हृदय मे उत्कृष्ट ईश्वर की भक्ति तथा श्रद्धा रहती है, जिसका बल पाकर वे उस कठिन तपोमयी मुद्रा को धारण कर अपूर्व शान्ति का अनुभव करते है।

विदेहस्तानभिप्रेत्य नारायण-परायणान्।
प्रीतः सपूजयाचक्रे आसनस्थान् यथार्हितः ॥26॥

प्रवचनसार मे दिगम्बर जैन मुनिराज को श्रमण बताते हुए कहा है, कि उसके जीव मे साम्यभाव पूर्णरूप से प्रतिष्ठित हो जाता है –

सम-सत्तु-बधुवग्गो समसुहदुक्खो पसस-णिदसमो।
समलोट्ठु-कचणो पुण जीविदमरणे समो समणो ॥ 3-41॥

जो शत्रु-बधु वर्ग मे समान भाव रखता है, सुख-दु ख मे समान है; प्रशसा-निदा मे समान है, लोह तथा कचन मे समान तथा जीवन और मरण मे भी समान भाव धारण करता है वह महापुरुष श्रमण है। इस प्रकार राग द्वेष विमुक्त सर्व सगपरित्यागी आत्मा श्रमण है। वह सर्वदा आध्यात्मिक श्रम का आश्रय ले काम-क्रोधादि शत्रुओ से युद्ध करता है। उस उच्च आत्मा मे एक क्षण भी विश्राम के लिए स्थान नही है, क्योंकि "क्षणादयोगी भवति स्वभ्पासोपि प्रमादत." (अनगारधर्मामृत) क्षण भर भी यदि प्रमादी बन वह असावधान हो गया, तो दुर्भाव उस जीव का गहरा पतन कर देते है। इस प्रकार श्रमशील शान्त परिणाम वाला तथा साम्यभाव समलकृत सत्पुरुष श्रमण कहा गया है। गौतम गणधर ने मुनियो के दस धर्मो को श्रमण धर्म कहा है **'दससु समणधम्मेसु'**। **प्रभाचद आचार्य** ने टीका मे लिखा है, **"श्रमणाना मुनीनाधर्मा· श्रमणधर्मः"**–(प्रतिक्रमण ग्रथत्रयी, पृष्ठ 188)।

विदेहराज निमि ने उन योगियो को ईश्वर का परम प्रेमी भक्त जानकर योग्य आसनो पर विराजमान कर हर्षित हो उनकी पूजा की।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन काल मे दिगम्बर मुनियो के प्रति सर्वत्र महान आदर का भाव था और सभी साधु उनकी महत्ता

को मानते थे और राज दरबार तक मे उनका प्रवेश आनन्द का हेतु माना जाता था। भागवत् मे शुकदेव मुनि को अत्यन्त पूज्य तथा पूर्णतया दिगम्बर अवस्था युक्त बताया है। जब वे राजा परीक्षित के दरबार मे गए थे तब राजसभा मे विद्यमान बडे-बडे साधु तथा अन्य सभी लोग उनके प्रति आदर व्यक्त करने हेतु खडे हो गए थे। राजा परीक्षित को सर्प ने काट लिया था। इस सबध मे महाज्ञानी दिगम्बर ऋषिराज शुकदेव मुनि ने कहा था कि- "तुम्हारी सात दिन की आयु शेष है, इसलिए तुम निर्भय होकर परिग्रह त्याग अर्थात् दिगम्बरत्व रूपी शस्त्र द्वारा शरीर मे आकाक्षा का त्याग करो तथा गृह का परित्याग करो।"

भागवत् मे यह भी लिखा है "एक सरोवर मे नग्न अप्सराएँ स्नान कर रही थी। जब वहा से वस्त्रधारी व्यास निकले तब लज्जायुक्त हो उन देवागनाओ ने वस्त्र धारण कर लिए। किन्तु जब व्यास मुनि के पुत्र नग्नरूपधारी शुकदेव मुनि वहा से निकले तब अप्सराओ मे कोई भी चञ्चलता न आई, न उनके मन मे लज्जा का उदय हुआ, न उन्होने वस्त्र ही धारण किए। इस सबध मे व्यास मुनि के प्रश्न पर उन देवियो ने बतलाया कि शुकदेव मुनि दिगम्बर थे। उनकी दृष्टि विकार रहित थी, उसमे स्त्री-पुरुष सबधी भेदभाव न था। ऐसी स्थिति आपकी नही थी। आपकी दृष्टि मे स्त्री-पुरुष सबधी भेद था। इस कारण हमारे मन मे लज्जा का भाव उत्पन्न हुआ और हमने वस्त्र धारण किए।"[3]

भागवत् के पचम स्कध, अध्याय 3 मे लिखा है कि, "ऋषभ भगवान का अवतार, **"वातरशनाना श्रमणाना ऋषीणा धर्मान् दर्शयितुकाम. मेरुद्देव्या तनुवावतार"** - पवनरूप करधनी को धारण करने वाले दिगम्बर मुनियो के धर्म को दिखाने हेतु मेरुदेवी के शरीर मे हुआ। जैन शास्त्रो मे मेरुदेवी को मरुदेवी कहा है। यहा 'वातरशना' शब्द श्रमण का विशेषण है। ऋग्वेद मे "मुनयो वातरशना " पाठ आया है। **वेबर** (Weber) महाशय ने वातरशना को दिगम्बर मुनियो का वाचक बताया है। ऋषभदेव को "गगन परिधान् युक्त" ऋषभावतार स्कन्ध मे कहा है। उन्होने महामुनियो को भक्ति, ज्ञान, वैराग्यलक्षण परमहॅस धर्न की शिक्षा दी थी–"भगवान ऋषभ महामुनीना भक्ति-ज्ञान-वैराग्यलक्षण पारमहस्य धर्ममुपशिक्ष्यमाण।" (स्कन्ध 5, अ० 5, पाद

28)। इससे भगवान ऋषभदेव की हिन्दूधर्म की दृष्टि से अत्यन्त पूज्य अवस्था सिद्ध होती है, क्योंकि भगवान ने परमहस नामक श्रेष्ठ अवस्था वाले साधुओ को भक्ति, ज्ञान तथा वैराग्य रूप रत्नत्रय धर्म का उपदेश दिया था।

जब प्रबुद्ध साधक अध्यात्मविद्या का रस पान करने मे निमग्न होता है, तब वह सहज ही समस्त परिग्रह के भार से स्वय को उन्मुक्त करता है। एक कवि कहता है –

जाके परिग्रह बहुत है, सा बहु दु खं के माहि।
बिन परिग्रह के त्यागते दु:ख ते छूटै नाहि॥

अकिचनता का आश्रय लिए बिना सच्ची ब्रह्मज्ञान की ज्योति दीप्तिमान नही होती। अकिचनता के माध्यम से ही भगवती अहिसा के पुण्य भवन मे प्रवेश प्राप्त होता है। भागवत् मे अवधूत दत्तात्रेय कहते है :–

परिग्रहो ही दु:खाय यद् यत्प्रियतम नृणाम्।
अनत सुखमाप्नोति तद् विद्वान् यस्त्वकिचन ॥ अ॰ 8-1 स्कन्ध 11॥

मनुष्यो को जो-जो वस्तुए अत्यन्त प्रिय लगती है, उनका सग्रह करना ही दु ख का कारण है। यह परिग्रह दु:ख को उत्पन्न करता है। जो ज्ञानवान व्यक्ति परिग्रह का त्याग कर अकिचन अवस्था को अगीकार करता है वह अनन्त सुख को प्राप्त करता है।

जिसने अकिचनता से आत्मा को अलकृत कर दिगम्बरत्व को स्वीकार किया है वह कहता है .–

न मे मानावमानौ स्तो न चिता गेहपुत्रिणाम्।
आत्मक्रीड आत्मरतिविचरामीह बालवत्॥ 9-3, स्कन्ध 11॥

मेरे न मान है, न अपमान है, न घर की चिन्ता है, न पुत्री आदि की आकुलता है। मै अपनी आत्मा मे क्रीडा करता हू, अपनी आत्मा मे ही रमण करता हुआ निर्विकार बालकवत् आचरण करता हू।

विषय भोगो की मदिरा पीकर उन्मत्त रहने वाला व्यक्ति उच्च साधु जीवन की महत्ता का मूल्याकन न कर, अविवेकवश उनका पथानुसरण न कर उनको अपने अनुसार बनाने की आकाक्षा एव अभद्र चेष्टा करता है। जिस किसी भी धर्म वाले का अध्यात्म विद्या से सम्बन्ध स्थापित होता है, वह शरीर सम्बन्धी दासता से स्वय को विमुक्त करने का उद्योग करता है। जब चित्त वृत्ति ब्रह्म की ओर लगी है, तब वह माया के श्रृगार की ओर क्यो अपने मन को मोडेगा? सुधा रस का पान करने वाला कटु विष पान मे क्यो प्रवृत्त होगा।

दिगम्बर अवस्था को स्वीकार कर योग के पथ पर चलने वाले साधक को अद्‌भुत सिद्धिया प्राप्त होती है। योगदर्शन मे लिखा है.–

अपरिग्रह स्थैर्ये जन्म-कथन्ता-सबोधः॥ साधन याद्गर, सूत्र 39॥

परिग्रह त्याग द्वारा अपरिग्रहावस्था मे स्थिरता हो जाने पर योगी को पूर्व जन्मो का तथा वर्तमान जन्म की सब बातो का ज्ञान हो जाता है।

सर्वज्ञ जिनेन्द्र ने कहा है, कि मोक्ष के कारणभूत महाव्रतादि का पालन दिगम्बर मुद्रा स्वीकार करने पर ही होता है। समस्त दु:खो का सर्वदा के लिए मूलोच्छेद अहिसात्मक जीवन का पोषण करने वाली दिगम्बरवृत्ति के माध्यम से सम्पन्न होता है। विचारशील व्यक्ति यदि परिग्रह की अधिकता तथा न्यूनता से होने वाले अपने मनोभावो का ईमानदारी से निरीक्षण करे, तो उसे यह सत्य मानना होगा, कि निराकुलता का सुखद सूर्य वहा ही दर्शन देता है जहा परिग्रह का विकारी भाव अपनी मलिनता से विमुक्त रहता है। दयामूर्ति दिगम्बर साधुराज का दर्शन भी मगलप्रद हो जाता है। महाराज कृष्ण ने अर्जुन से कहा था अर्जुन। अब क्या देखता है, शीघ्र रथ पर सवार हो, हाथ मे गाडीव को ले, देखता नही है, जिसके समक्ष दिगम्बर निर्ग्रन्थ मुनि विद्यमान है, उसके हाथ मे पृथ्वी की विजय है, ऐसा मै मानता हू।

आरोहस्व रथे पार्थ! गाण्डीव च करे कुरु।
निर्जिता मेदिनी मन्ये निर्ग्रन्थो यस्य सम्मुखे॥

परब्रह्म पद की प्राप्ति के लिए पूर्णतया उद्यत श्रेष्ठ साधक जब शरीर को भी अनात्मरूप मानता है, तब बाह्य अन्य अनात्मरूप सामग्री को वह क्यो स्व-रूप से स्वीकार करेगा? आचार्य **कुंदकुंद** कहते है:–

"तध पर दव्वम्मि रदो कधमप्पाण पसाधयादि" (3-21 प्रवचनसार)

आत्मा से भिन्न पर द्रव्य मे आसक्त होकर किस प्रकार अपनी आत्मा का एकाग्रता से अनुभव किया जा सकता है?

भारतीय इतिहास के उज्ज्वल रत्न चन्द्रगुप्त, अमोघवर्ष सदृश नरेन्द्रो ने आत्मा की निर्मलता और निराकुलता के सम्पादन निमित्त स्वेच्छा से विशाल साम्राज्यो का त्याग कर दिगम्बर साधु की मुद्रा धारण की थी।

स्टीवेन्सन[4] नामक आग्ल महिला लिखती है– 'वस्त्रो से विमुक्त होने के कारण मनुष्य के पास अनेक चिन्ताएँ नही रहती। उसे कपडे धोने के लिए पानी की आवश्यकता नही है। निर्ग्रन्थ लोगो ने–दिगम्बर जैन मुनियो ने भले-बुरे के भेद-भाव को भुला दिया है। भला वे लोग अपनी नग्नता को छिपाने के लिए वस्त्रो को क्यो धारण करे।" एक मुस्लिम कवि तन की उरयानी-दिगम्बरत्व से प्रभावित हो कितनी मधुर बात कहता है–

"तनकी उरयानी से बेहतर है नही कोई लिबास।
यह वह जामा है कि जिसका नहीं उलटा सीधा॥"

शायर जलालुद्दीन **रूमी** ने सासारिक कार्यो मे उलझे हुए व्यक्ति से आत्म-निमग्न दिगम्बर साधु को अधिक आदरणीय कहा है। वे कहते है कि वस्त्रधारी 'आत्मा' के स्थान मे 'धोबी' पर निगाह रखता है। दिगम्बरत्व का आभूषण दिव्य है–

"मस्त बोला मुहतसिब से कामजा,
होगा क्या नगे से तू ओहदाबरा।
है नजर धोबी पै जामापोश की,
है तज़ल्ली जेवरे उरियातनी॥"

इस प्रसग मे यह बात विशेष रीति से हृदयगम करने की है, कि शरीर का दिगम्बरत्व स्वय साध्य नही, साधन है। उसके द्वारा इस उत्कृष्ट अहिसात्मक वृत्ति की उपलब्धि होती है, जो अखण्ड शान्ति

और सर्वसिद्धियो का भण्डार है। दिगम्बरत्व का प्राणपूर्ण वाणी मे समर्थन करने वाले महर्षि **कुन्दकुन्द** ने जहा यह लिखा है कि–**"णग्गो हि मोक्खमग्गो, सेसा उमग्गया सव्वे"** (दिगम्बरत्व ही मोक्ष का मार्ग है, शेष सब मार्ग नही है)। वहा वे यह भी लिखते है कि शारीरिक दिगम्बरत्व के साथ मानसिक दिगम्बरत्व भी आवश्यक है। यदि शरीर की नग्नता साधन न हो, साध्य होती, तो दिगम्बरत्व की मुद्रा से अकित पशु-पक्षी आदि सभी प्राणियो को मुक्त होते देर न लगती। जो व्यक्ति इस बात का स्वप्न देखते है, कि वस्त्रादि होते हुए भी श्रेष्ठ अहिसा-वृत्ति का रक्षण हो सकता है और इसलिए निर्वाण का भी लाभ हो सकता है, उन्हे सोचना चाहिए कि बाह्य वस्तुओ के रखने, उठाने आदि मे मोह ममता का सद्भाव दूर नही किया जा सकता।

गाधी जी ने लिखा है, "सच्ची सभ्यता का लक्षण परिग्रह बढाना नही है बल्कि उसका विचार और इच्छापूर्वक घटाना है। ज्यो-ज्यो परिग्रह घटाते है, त्यो-त्यो सच्चा सुख और सतोष बढते है। आदर्श परिग्रह तो उसका होगा जो मन से और कार्य से दिगम्बर है। मतलब वह पक्षी की भाति बिना घर के, बिना वस्त्रो के और बिना अन्न के विचरण करेगा (गाधी वाणी)। ममता का विष मन मे प्रवेश करते तनिक भी देर नही लगती। ममता भाव के द्वारा समता की शुद्धवृत्ति नष्ट हो जाती है। वह गौ रूप धारण करके व्याघ्र का कार्य करती है तथा आत्मा का भयकर पतन कराती है।

एक साधु की कथा प्रसिद्ध है–पहले तो वह सर्व परिग्रहरहित था, लोकानुरोध से उसने दो लँगोटिया स्वीकार कर ली। चूहे द्वारा एक बार वस्त्र कट गए, तब निश्चित सरक्षण निमित्त चूहे की औषधि के लिए बिल्ली पाली गई और, बिल्ली के दुग्धनिमित्त गौ की व्यवस्था भक्तजनो के प्रेम के कारण स्वीकार कर ली गई। गाय के चराने के लिए स्वावलम्बन की दृष्टि से कुछ चरोखर भूमि भी एक भक्त से मिल गई। कहते है–भूमि का कर समय पर न चुकाने से साधु जी से अ-जानकार राज-कर्मचारी ने उनकी बहुत बुरी तरह मान मरम्मत की। उस समय

शान्त अन्त·करण ने अपनी आवाज द्वारा उन्हे सचेत किया—"भले आदमी परिग्रह तो ऐसी आफते पुरस्कार मे प्रदान किया ही करता है"—

"फास तनक सी तन मे सालै। चाह लगोटी की दुख भालै॥
भालै न समता सुख कभी नर बिना मुनि मुद्रा धरे।
धनि नगन[5] पर तन-नगन ठाढ़े सुर-असुर पायनि परे॥"

—द्यानतराय

प्रवचनसार मे **कुन्द-कुन्द स्वामी** ने लिखा है—

मुनियो के गमनागमनादिरूप चेष्टा से त्रस, स्थावर जीवो का वध होते हुए भी कभी बध होता है, कभी नही भी। किन्तु, यह तो निश्चित है कि उपाधियो से—वस्त्रादि परिग्रह से, नियम से बध होता है। इसलिए श्रमण को परिग्रह छोडना चाहिए। त्याग निरपेक्ष नही होता, वस्त्रादि परिग्रह छोडे बिना भिक्षु के चित्त मे निर्मलता नही आती। अ-विशुद्ध चित्त के होने पर कैसे कर्मक्षय होगा? अत· परिग्रह के होने पर ममत्व आरम्भ अथवा असयम क्यो नही होगे? तब परद्रव्य मे आसक्त हुआ साधु किस प्रकार आत्म-साधना कर सकेगा?[6]

अतरग मे यदि निर्मलता है तो जीव बाह्य परिग्रह का परित्याग करता है, किन्तु मलिनता युक्त मन के होने पर व्यक्ति बाह्य परिग्रह को स्वीकार करता है। आचार्य कहते है .—

अतर्विशुद्धितो जीवो बहिर्ग्रथ विमुचित।
अतरामलिनो बाह्य गृहीते हि परिग्रहम॥

॥पृ० 1705—मूलाराधना॥

जैन गुरुओ की दिगम्बरत्व सम्बन्धी मान्यता को वास्तविक रूप से न समझने के कारण कोई यह समझते है कि दिगम्बर धर्मानुयायी गृहस्थो को भी कम-से-कम आहार लेते समय दिगम्बर रहना चाहिए। इसके विपरीत जो सदा सवस्त्र रहे उन्हे श्वेताम्बर कहते है। इन्साइक्लोपीडिया जिल्द 15, 11वे सस्करण के पृ० 28 मे पूर्वोक्त भ्रम इन शब्दो मे व्यक्त किया गया है—"The Jains themselves have abandoned the practice,

the Digambars being sky-clad at meal time only and the Swetambaras being always completely clothed ”

तात्त्विक बात तो यह है कि दिगम्बर साधु और दिगम्बर मूर्ति को पूजने के कारण गृहस्थ दिगम्बर जैन कहे जाते है। सम्पूर्ण अहिसा के धारक जितेन्द्रिय मुनि के सिवाय गृहस्थ मुनिमुद्रा धारण नही करता। गृहस्थ के वस्त्र पहनने की तो बात ही क्या, वह नीतिमत्तापूर्वक बडे-बडे साम्राज्य तक का सरक्षण करता है।

अग्रेजी भाषा का महाकवि **शेक्सपियर** अपने **हेमलेट** नाटक मे लिखता है–“Give me the man, that is not passion’s slave ”[7] मुझे ऐसा मनुष्य बताओ जो वासनाओ का दास न हो। यदि दिगम्बर जैन मुनि का साक्षात् दर्शन अथवा परिचय महाकवि को प्राप्त हुआ होता, तो उसकी यह जिज्ञासा शान्त हुए बिना न रहती।

दिगम्बर मुनि का जीवन व्यतीत करने के लिए महान् आत्मबल चाहिए। मानसिक कमजोरी या प्रमाद क्षण भर मे इस जीव को पतित कर सकते है। उज्ज्वल भावनाओ और विषय-विरक्ति की प्रेरणा से महान् पुण्योदय होने पर किसी विरले माई के लाल के मन मे बालकवत् निर्विकार दिगम्बर मुद्रा धारण करने की लालसा जाग्रत् होती है। आचार्य **गुणभद्र** लौकिक वैभव, प्रतिष्ठा, साम्राज्य-लाभ आदि से अधिक विशाल सौभाग्य मुनित्व की ओर जाने वाले का बताते है; अन्य का जीवन जहाँ विषय लोलुपता के कारण पराधीनता और विपत्तिपूर्ण है, वहा अहिसामय साधु की जीवनी अभय और आनन्द का भण्डार है। **गुणभद्र स्वामी** अपने आश्चर्य को इन शब्दो मे प्रतिबिम्बित करते है–

“न जाने कस्येय परिणतिरुदारस्य तपसः”

–आत्मानुशासन 67

जिस प्रकार शुद्ध सुवर्ण का सर्वत्र आदर किया जाता है उसी प्रकार स्वावलम्बी भावना समलकृत श्रेष्ठ अहिसादि के साधक दिगम्बर मुनियो का विश्व के साहित्य मे महत्त्वपूर्ण स्थान है।

दिगम्बर साधुओ का उल्लेख अन्य सम्प्रदायों मे भी पाया जाता है। परमहस नामक हिन्दु साधु नग्न रहा करते है। सिक्खो के यहा श्रेष्ठ रूप मे दिगम्बर साधु वर्णित है।[8] **अब्बुलकासिम जीलानी** मुस्लिम साधु ने दिगम्बर मुद्रा धारण की थी।[9] **अब्दल** नाम के उच्च मुस्लिम साधु पूर्णतया नग्न विहार करते है।[10]

बम्बई प्रान्त के कापरगाव नामक स्थान पर एक नग्न दिगम्बर मुसलिम साधु का समाधिस्थल मौजूद है।

दिगम्बर जैन साधु का पद वस्त्र मात्र का परित्याग कर स्वच्छन्द विचरण करने वाले को नही प्राप्त होता। उस महापुरुष का जीवन अत्यन्त सयत और सुव्यवस्थित रहता है। वे किसी भी प्राणी का घात नही करते, यद्यपि उनके गमनागमन, श्वासोच्छवास आदि मे प्राण-घात अनिवार्य है, तथापि यथाशक्ति राग-द्वेष आदि विकारो को दूर कर आत्म-निर्मलता का पूर्णतया रक्षण करते है। श्रेष्ठ रीति से सत्य महाव्रत, अचौर्य महाव्रत, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य महाव्रत का भी परिपालन करते है। वे मन, वचन, काय की प्रवृत्ति को सहसा रोकने मे असमर्थ हो, गमनागमन और भाषण के सम्बन्ध मे इस प्रकार प्रवृत्ति करते है–

"परमाद तज चौ-कर-मही लख समिति ईर्या ते चले।
जग सुहितकर सब अहित हर, श्रुति सुखद सब सशय हरै।
भ्रम-रोग हर जिनके वचन मुखचन्द्र ते, अमृत झरै॥"

आहार सम्बन्धी एषणा नामक समिति का वे विशेष ध्यान रखते है। अत :–

"छ्यालीस दोष बिना सु-कुल श्रावकतने घर असन को।
ले तप बढ़ावन हेत नहि तन पोषते तज रसन को॥"

वे ग्रथ सदृश ज्ञान की सामग्री, शौच सम्बन्धी कमण्डलु एव जीवदया निमित्त मयूर पखो से बनी हुई पिच्छी को विवेकपूर्ण अहिसात्मक रीति से उठाते-धरते हैं। दिगम्बर जैन मुनि अत्यत कोमल मयूर पखो की पिच्छी रखकर विश्व बधुत्व की प्रतिज्ञा का प्रतिपालन करते है। उसके

अभाव मे छोटे जीवो का रक्षण किस प्रकार सम्भव होगा। वे मुनिराज मल-मूत्रादि का जन्तु-रहित भूमि मे परित्याग करते है-

"शुचि ज्ञान सजम उपकरन लखि कै गहै लखि कै धरै।
निर्जन्तु थान विलोकि तन मल-मूत्र-श्लेषम परिहरै।।"

वे पाचो इन्द्रियो के विषयो मे राग-द्वेष का परित्याग करते है। केश बढने पर जूँ आदि की उत्पत्ति होती है और केशो को कटाने के लिए नाई आदि की आवश्यकता पडती है। इसके लिए अर्थ की अपेक्षा होगी। केशो को बिना कटाए जीवो का सद्भाव या तो ध्यान मे विघ्न उत्पन्न करेगा अथवा उनके खुजाने आदि से उनका घात होगा। उत्कृष्ट अहिसा, अपरिग्रह और स्वावलम्बी जीवन के रक्षणनिमित्त शरीर के प्रति निर्मम हो वे कम-से-कम दो माह और अधिक-से-अधिक चार माह के भीतर अपने केशो का अपने हाथो से लोच करते है। आत्म-बल की वृद्धि होने के कारण वे साधु प्रसन्नतापूर्वक अपने केशो को घास के समान उखाडते है। जैन उच्च साध्वी, जिन्हे आर्यिका माता कहते है अपने हाथो से प्रसन्न मुद्रा धारण कर केश लौच करती है। उसी समय वे तेज पुज देवी सदृश दिखाई पडती है। इनका उद्देश्य शरीर को एक गाडीतुल्य समझ भोजनरूपी तेल देते हुए जीवन यात्रा करना रहता है। उनका यह दृढ विश्वास है कि शरीर का पोषण आत्मा के सच्चे हित का कार्य नही करेगा। आत्मा का शोषण करने वाली क्रियाएँ शरीर की अभिवृद्धि निमित्त होगी। योगिराज **पूज्यपाद** कितनी मार्मिक बात कहते है-

"यज्जीवस्योपकाराय तद्देहस्यापकारकम्।
यद्देहस्योपकाराय तज्जीवस्यापकारकम्।।"

-इष्टोपदेश 19।

अहिसात्मक दृष्टि और चर्या एव शरीर के प्रति निर्ममत्व होने के कारण वे स्नान, दन्तधावन,[11] वस्त्रधारण करने के प्रति विरक्त हो खडे होकर अपने हाथरूप पात्रो मे दिन मे एक बार गोचरीवृत्ति द्वारा शुद्ध और तपश्चर्या मे वृद्धि करने वाले भोजन को अल्पमात्रा मे ग्रहण करते है। गाय जिस प्रकार घास डालने वाले व्यक्ति के सौन्दर्य आदि पर तनिक

भी दृष्टि न दे अपने आहार को लेती है, उसी प्रकार यह महान् साधक देवागना समान सुन्दरियो आदि के द्वारा भी सादर आहार अर्पित करने पर निर्मल मनोवृत्तिपूर्वक आहार ग्रहण करते है। दाता के शरीर-सौन्दर्य आदि से उनकी आत्मा तनिक भी रागादि विकारपूर्ण नही होती। उनकी आहार चर्या को मधुकरी वृत्ति भी कहते है। जैसे-मधुकर-भ्रमर पुष्पो को पीडा दिए बिना आवश्यक रस-लाभ लेता है, उसी प्रकार ये सन्त-जन गृहस्थ के यहा जैसा भी रुखा-सूखा भोजन बना हो और शुद्ध हो, उसे शान्तिपूर्वक ग्रहण करते है। इनके आहार निमित्त गृहस्थ को कोई कठिनाई नही होती। ऐसे योगियो को आहार अर्पण करने के समय को वह अपने जीवन की सुनहरी घडियो मे गिनता है कारण, इस पवित्र कार्य से गृहवास मे चक्की, चूल्हा, ऊखली, बुहारी, जल-सग्रह रूप, 'पच-सूना' नाम के कार्यो द्वारा सचित दोषो का मोचन होता है। साधु दैन्यपूर्वक आहार ग्रहण नही करते। गृहस्थ श्रद्धा, भक्ति, प्रेम और आदरपूर्वक जब आहार ग्रहण करने की मुनिराज से प्रार्थना करता है, तब वे शुद्ध, सात्त्विक तथा श्रेष्ठ अहिसात्मक वृत्ति के अनुकूल आहार लेते है। अन्य-पथी साधु नामधारी व्यक्तियो के समान गाजा, तम्बाखू, हुक्का ग्रहण करना, मनमाना भोजन लेना, दिन और रात्रि का भेद न रखना आदि बातो से ऐसे सन्त पृथक् रहते है।

कोई-कोई सोचते है—महान् साधु को शुद्ध-अशुद्ध आदि का भेद भुला जैसा भी भोजन जिसने दिया, उसे ले लेना चाहिए। यह विचार भ्रमपूर्ण है। साधुओ का विवेक सदैव सजग रहता है। उसके प्रकाश मे अहिसात्मक वृत्ति की रक्षा करते हुए वे उचित और शुद्ध आहार को ही ग्रहण करते है। **वेदान्त-सार** मे लिखा है—यदि प्रबुद्ध तत्त्वज्ञानी के आचरण मे स्वच्छन्दता का प्रवेश हो जाए तब तत्त्वज्ञानी और कुत्ते की अशुचिभक्षण वृत्ति मे क्या अन्तर रहेगा।[12]

जैन-मुनि का केश-लोच और आहार-चर्या दर्शक के चित्त मे गहरा प्रभाव डाले बिना नही रहते। औरगजेब के समय मे भारत आने वाले **डा० बर्नियर** अपनी पुस्तक मे लिखते है—"मुझे बहुधा देशी रियासतो मे दिगम्बर मुनियो का समुदाय मिलता था। मैने उन्हे बडे शहरो मे विहार करते हुए पूर्णतया नग्न देखा है और उनकी ओर स्त्रियो, लडकियो को

बिना किसी विकार-युक्त ही दृष्टिपात करते हुए देखा है। उन महिलाओ के अन्तःकरण मे वे ही भाव होते थे जो सडक पर से जाते हुए किसी साधु को देखने पर होते है। महिलाएँ भक्तिपूर्ण उनको आहार बहुधा कराती थी।"[13]

एक दूसरे विदेशी यात्री **टेवरनियर** ने लिखा है–"यद्यपि स्त्रिया भक्तिपूर्वक उनके समीप पहुँचती है फिर भी उनमे विकार-भाव का रचमात्र भी दर्शन नही होता। इसके सिवा उनका दर्शन कर तुम यह कहोगे कि वे आत्म-ध्यान मे निमग्न है।"[14]

मेक्क्रिण्डल नामक विद्वान् Ancient India नामक अपनी पुस्तक मे लिखते है–"दिगम्बर विहार करने वाले यह जैन मुनि कष्टो की परवाह नही करते थे। वे सबसे अधिक सम्मान की दृष्टि से देखे जाते थे। प्रत्येक धनी व्यक्ति का घर उनके लिए उन्मुक्त था–यहा तक कि वे अन्तःपुर मे भी जा सकते थे।"[15]

वे समता, जिनेन्द्रस्तुति, वीतरागवन्दन, स्वाध्याय, दोषशुद्धि निमित्त प्रतिक्रमण रूप छह आवश्यक कर्मो को सावधानी पूर्वक पालते है। इनका चरित्र उदात्त होता है।[16]

पूर्व-बद्ध कर्मो की निर्जरा करने के लिए तथा सकट आने पर सन्मार्ग से अपना कदम पीछे तनिक भी न हटे इस दृढता निमित्त वे भूख, प्यास आदि बाईस परीषहो (कष्टो) को राग-द्वेष-मोह को छोड सहन करते है। **पार्श्वपुराण** मे इनके नाम यो है–

"क्षुधा, तृषा, हिम, उष्ण, डस-मशक दुख भारी।
निरावरन-तन, अरति-खेद उपजावन हारी।।
चरिया, आसन, शयन, दुष्ट बाधक, बध बधन।
याचै नहीं, अलाभ, रोग, तिण-फरस निबधन।।
मल-जनित, मान-सन्मान-वश, प्रज्ञा और अज्ञानकर।
दर्शन-मलीन बाईस सब-साधु परीषह जान नर।।"

–भूधरदास

बहिरात्म-भाव वाले भाई सोचते है–"बिना कोई विशेष बलवती भावना उत्पन्न हुए साधु कष्टो को आमन्त्रण दे प्रसन्नतापूर्वक किस

प्रकार सहन कर सकता है? पंडित **आशाधरजी** ने बताया है कि सत्पुरुष सकट के समय सोचते है–"वास्तव मे मै मोक्षस्वरूप हूँ, अविनाशी हूँ, आनन्द का भण्डार हूँ, कल्याणस्वरूप हूँ। शरण रूप हूँ। ससार इसके विपरीत स्वरूप है। इस ससार मे मुझे विपत्ति के सिवाय और क्या मिलेगा?"[17]

आत्मा की अमरता पर अखण्ड विश्वास रख वे नश्वर जगत् के लुभावने रूप के भ्रम मे नही फँसते, सद्भावनाओ के द्वारा स्वय को कहते है–

मोह नीद से उठ रे चेतन - तनिक सोच तो

"सूरज चाद छिपै निकलै, रितु फिर-फिर कर आवै,
प्यारी आयु ऐसी बीतै पता नहि पावै।
काल सिहने मृग-चेतनको घेरा भव-वन मे।
नही बचावन हारा कोई, यो समझो मनमे।।
मत्र-यत्र सेना धन-सम्पत्ति राज-पाट छूटै।
वश नहि चलता, काल-लुटेरा, काय नगरि लूटै।।"

प्रबुद्ध–साधक यह भी विचारता है–

"जनमै मरै अकेला चेतन सुख दुख का भोगी।
और किसी का क्या,–इक दिन यह, देह जुदी होगी।।
कमला चलत न पैड,–जाय मरघट तक परिवारा।
अपने-अपने सुख को रोवै पिता, पुत्र दारा।।
ज्यो मेले मे पथी जन, मिल नेह फिरै धरते।
ज्यो तरवर पै रैन बसेरा पछी आ करते।।
कोस कोई, दो कोस कोई उड़ फिर, थक-थक हारै।
जाय अकेला हस, सग मे कोई न पर मारै।

ससार के विषय मे वह चिन्तवन करता है–

"जन्म मरण अरु जरा रोग से सदा दुखी रहता।
द्रव्य, क्षेत्र अरु काल भाव भव परिवर्तन सहता।।
छेदन भेदन नरक पशु गति, वध बधन सहना।

राग-उदय से दुख सुर गति मे कहा सुखी रहना॥
भोग पुण्य-फल हो इक इन्द्री क्या इसमे लाली।
कुतवाली दिन चार वही फिर खुरपा अरु जाली॥"

जड़ से आत्मा को भिन्न विचारता हुआ अपनी आत्मा को इस प्रकार साधक सचेत करता है–

"मोहरूप मृग-तृष्णा-जगमे मिथ्या-जल चमकै।
मृग-चेतन नित भ्रम मे उठ-उठ दौड़े थकथक कै।
जल नहि पावै प्रान गमावै, भटक भटक मरता।
वस्तु पराई मानै अपनी, भेद नहीं करता।
तू चेतन, अरु देह अचेतन, यह जड़, तू ज्ञानी।
मिलै अनादि, यतन ते बिछुरै, ज्यो पय अरु पानी॥"

इस घृणित मानव देह को सडे गन्ने के समान समझ साधक सोचता है–

"काना पौडा पड़ा हाथ यह, चूसै तौ रोवै।
फलै अनन्त जु धर्मध्यान की भूमि विषै बोवै॥
केशर चन्दन पुष्प सुगन्धित वस्तु देख सारी।
देह परस तै होय अपावन निस-दिन मल जारी॥"

साधन की अनुकूल सामग्री को अपूर्व मान वे महापुरुष सोचते है और अपने अनन्त जीवन पर दृष्टि डालते हुए इस प्रकार विचारते है–

"दुर्लभ है निगोद से थावर अरु त्रस-गति पानी।
नर-काया को सुरपति तरसै, सो दुर्लभ प्रानी॥
उत्तम देश सु-सगति दुर्लभ श्रावक-कुल पाना।
दुर्लभ सम्यक्, दुर्लभ सयम, पचम गुण ठाना॥
दुर्लभ रत्नत्रय आराधन, दीक्षा का धरना।
दुर्लभ मुनिवर को व्रत पालन, शुद्ध भाव करना॥
दुर्लभ-से-दुर्लभ है चेतन, बोधि-ज्ञान पावै।
पाकर केवल-ज्ञान, नहीं फिर इस भव मे आवै॥"

–मगतराय, बारह भावना

विषयभोगो मे मनुष्य-जीवन को लगाने वाले, साधक की दृष्टि मे अज्ञतापूर्ण काम करते है। उस अज्ञता को **बनारसीदास जी** इन शब्दो मे चित्रित करते है–

"ज्यो मति-हीन विवेक बिना नर,
साजि मतग जो ईंधन ढोवै।
कचन-भाजन धूरि भरै शठ,
मूढ सुधारस सो पग धोवै॥
वे-हित काग उड़ावन कारन,
डारि उदधि 'मुनि' मूरख रोवै।
त्यो नर-देह दुर्लभ्य बनारसि,
पाय अजान अकारथ खोवै॥"

–नाटक समयसार

सुकवियो ने अपनी विविध शैली से साधक के जीवन पर बडा सुन्दर प्रकाश डाला है। महाकवि **बनारसीदास**, गृह के त्याग करने वाले और तपोवन-वासी साधु को सद्गुणरूपी कुटुम्ब से गृंहवासी बताते है। देखिए–

"धीरज-तात, क्षमा-जननी, परमारथ-मीत, महारुचि-मासी।
ज्ञान-सुपुत्र, सुता-करुणा, मति-पुत्रवधू, समता अति भासी॥
उद्यम-दास, विवेक-सहोदर, बुद्धि-कलत्र शुभोदय-दासी।
भावकुटुम्ब सदा जिनके ढिग यो मुनि को कहिये गृहवासी॥"

–बनारसीविलास, 205

यद्यपि मुनि भूमि पर शयन करते है और जीवदया निमित्त मयूर की पिच्छी और शुचिता का उपकरण कमण्डलु रखते है, फिर भी कवि-जन मनोहर भाषा मे उनकी सामग्री को इस प्रकार व्यक्त करते है–

"विन्ध्याद्रिर्नगर गुहा वसतिकाः शय्या शिला पार्वती
दीपाश्चन्द्रकरा मृगाः सहचरा मैत्री कुलीनाङ्गना।

विज्ञान सलिल तपः सदशन येषा प्रशान्तात्मना
धन्यास्ते भवपकनिर्गमपथप्रोद्‌वेशका सन्तु नः॥"[18]

—ज्ञानार्णव । शुभचन्द्र, (श्लो॰ 21)

अहिसा पालनार्थ ये मुनिजन वर्षाकाल एक स्थान पर व्यतीत करते है। इस सबध मे 'विद्युन्माला' छन्द मे लिखा गया यह पद्य कितना मधुर है .–

जैनी जोगी वर्षाकाले। आपा ध्यावे बाधा टाले।
कूके केकी मेघ ज्वाला। चौथा नच्चै विद्युन्माला॥

—छन्दशतक 14

वे सन्त-जन कर्मो के फन्दे मे फँस कर अपना अहित नही करते। कर्मो ने इस जगत् मे क्रोधादि कषायरूपी चौपड का खेल जमाया है। उस खेल के चक्कर से दिगम्बर-जैन मुनि बचे रहते है। किन्तु, जगत् के अन्य प्राणी उस खेल मे आसक्तिपूर्वक भाग लेते है तथा हारकर पीछे रोते-पछताते है। **भूधरदास जी** कहते है–

"जगत-जन जूवा हारि चले।
काम कुटिल सग बाजी माडी उनकरि कपट छले॥
चार कषायमयी जहँ चौपरि, पासे जोग रले।
इस सरवस, उत कामिनि-कौड़ी, इह विधि झटक चले॥
कूर खिलारि विचार न कीन्हो, ह्वै है ख्वार भले।
बिना विवेक मनोरथ काके, 'भूधर' सफल फले॥"

जगत् के प्राणी कनक, कामिनी आदि मे अपने को कृतार्थ मानते है, किन्तु, साधक की स्थिति इससे निराली है। मृत्यु के नाम से जहा दुनिया घबराती है, जीवन की ममतावश जहा किये गये बडे से बडे अनर्थ क्षम्य माने जाते है, वहा साधक मृत्यु को अपना स्नेही तथा परम मित्र मान मृत्यु-काल को महोत्सव मानते है। मरण के समय साधक सोचता है–

"यह तन जीर्ण कुटी सम आतम, याते प्रीति न कीजै।
नूतन महल मिलै जब भाई, तब यामे क्या छीजै॥"

आत्मा की अमरता पर विश्वास होने के कारण अपने उज्ज्वल भविष्य का विश्वास करते हुए भावी जीवन को जीर्ण-कुटी के स्थान पर भव्य-भवन मानता है। वह पूछता है–

"मृत्यु होने से हानि कौन है?–याको भय मत लाओ।
समता से जो देह तजे तो-तो शुभ-तन तुम पाओ॥
मृत्यु मित्र उपकारी तेरो–इस अवसर के माहीं।
जीरण तनसे देत नयो यह, या सम साहू नाहीं॥
या सेती यह मृत्यु समय पर उत्सव अति ही कीजै।
क्लेश भाव को त्याग सयाने समता भाव धरीजै॥"

अपनी आत्मा को उत्साहित करते हुए साधक सोचता है–

"जो तुम पूरब पुण्य किये है, तिनके फल सुखदाई।
मृत्यु-मित्र बिन कौन दिखावै, स्वर्ग सम्पदा भाई॥
कर्म महादुठ बैरी मेरो ता सेती दुख पावै।
तन-पिजर मे बन्द कियो मोहि, यासो कौन छुड़ावै॥
भूख तृषा दुःख आदि अनेकन, इस ही तन मे गाढ़े।
मृत्युराज अब आय दयाकर, तन-पिजरसो काढे॥"

मृत्यु को साधक कल्पवृक्ष मानता है इसलिए कवि कहता है–

"मृत्यु-कल्पद्रुम पाय सयाने, मागो इच्छा जेती।
समता धरकर मृत्यु करो तो, पाओ सम्पत तेती॥"

एक बार भी समता सहित मृत्यु-समाधिमरण हो गया तो साधक सात आठ भव मे निर्वाण को प्राप्त करता है। इससे अधिक उसका ससार मे परिभ्रमण नही होता।

मृत्यु को महायात्रा कहते है। मरण-काल को शुद्ध-यात्रा का अवसर मानकर शकुन-शास्त्र की दृष्टि से प्रस्थान निमित्त शुभ-सामग्री सग्रह के लिए कवि **सूरजचन्द जी** कितने पवित्र और उद्बोधक विचार व्यक्त करते है–

"जो कोई नित करत पयानो ग्रामान्तर के काजे।
सो भी शकुन विचारै नीके, शुभ के कारण साजै॥

मातपितादिक सर्व कुटुम मिलि, नीके शकुन बनावै।
हलदी, धनिया, पुगी, अक्षत, दूब दही फल लावै॥
एक ग्राम जाने के कारण, करै शुभाशुभ सारे।
जब परिगतिको करत पयानो, तब नहि सोचो प्यारे॥"

और भी समझाते है–

सब कुटुम्ब जब रोवन लागै, तोहि रुलावै सारे।
ये अपशकुन करै सुन तोको, तू यो क्यो न विचारै?
अब परगति को चालत बिरिया, धर्मध्यान उर आनो।
चारो आराधन आराधो मोहतनो दु.ख हानो॥

मृत्यु के विषय मे साधक की निराली कल्पना होने के कारण अवर्णनीय विपत्तियो के आने पर भी वह सत्पथ से विचलित नही होता। यथार्थ मे ऐसे साधक के आगे कर्मो को भी हार माननी पडती है। महाकवि **गुणभद्र** इसीलिए कहते है–

"जीविताशा धनाशा च येषा तेषा विधिर्विधि·।
कि करोति विधिस्तेषा येषा आशा निराशता॥"

–आत्मानुशासन, 163

साधक की मनोवृत्ति मोही-जगत् से निराली होती है। महामुनि धन-दौलत की कोई आशा नही करते, सन्मार्ग पर अपना कदम बढाने के सिवा जीवन की ममतावश कभी पीछे नही लौटते। अकिचन-पना उनकी सम्पत्ति है। कर्त्तव्य-पालन करते हुए आत्म-जागृतिपूर्वक मृत्यु को वे जीवन मानते है। भला ऐसी बलिष्ठ ज्ञानी आत्माओ का दुर्दैव क्या कर सकता है?

आत्मानुशासनकार की वाणी कितनी प्राणपूर्ण है–

"निर्धनत्व धन येषा मृत्युरेव हि जीवितम्।
कि करोति विधिस्तेषा सता ज्ञानैकचक्षुषाम्"॥162॥

समाधि सहित मृत्यु को जैन धर्म मे गौरव पूर्ण माना गया है। **हरिवशपुराण** मे कहा है–

मिथ्यादृष्टेः सतो जन्तोर्मरण शोचनाय हि।
न तु दर्शन शुद्धस्य समाधिमरण शुचे॥ पर्व 61-97॥

पश्चिम के विद्वान् समाधिमरण की महत्ता को न जान उसे आत्मघात (Suicide) समझते है। विदेशो मे जैन धर्म का प्रचार करने वाले स्वर्गीय विद्वान् बैरिस्टर **चम्पतराय जी** विद्या-वारिधि ने इग्लैड से भारत लौटने का कारण यह बताया था कि 'अब मेरा रोग काबू के बाहर हो गया है। पश्चिम के लोग समतापूर्वक प्राणो का उत्सर्ग करना नही जानते इसलिए समाधि-मरण की लालसा से मै तीर्थकरो की भूमि स्व-देश को लौट आया।' भारतीय-दर्शन के प्रकाण्ड विद्वान् **सर राधाकृष्णन** ने समाधि-मरण को आत्मघात कह दिया है। उन्होने जैन-धर्म के विषय मे कही-कही ऐसी विचित्र बाते लिखी है जो जैन तत्त्व-ज्ञान का प्राथमिक विद्यार्थी भी न लिखता। आचार्य और उपाध्याय साधना के पथ पर चलने वाली प्रगतिशील अपूर्व आत्माएँ है। उनको वे सिद्धो (Perfect Souls) का भेद बताते है। समाधि-मरण को आत्मघात समझने मे भी ऐसा ही भ्रम हुआ है। उन्होने लिखा है-"While Buddhism repudiates, Jainism holds that it "increaseth life" If asceticism is hard to practise, if we cannot resist our passions and endure austerities, suicide is permitted"—*Indian Philosophy*, vol, 1 p 327

("जहा बौद्धधर्म आत्मघात का निषेध करता है, वहा जैनधर्म आत्म-घात को जीवन-वर्धक मानता है। यदि साधु-जीवन का निर्वाह कठिन हो, यदि हम अपनी वासनाओ पर विजय प्राप्त न कर सके और तपश्चर्या न कर पावे, तब आत्मघात की आज्ञा दी गई है।")

इस सम्बन्ध मे यह जानना आवश्यक है कि जैन-शासन मे आत्मघात को महान पाप, हिसा और आत्मा का अहितकारी बताया है। आत्मघात मे घबराकर मानसिक दुर्बलतावश अपनी जीवन डोर काटने की अविवेकता पाई जाती है। आत्मघाती आत्मा की अमरता और कर्मों के शुभाशुभ फल भोगने के बारे मे कुछ भी नही सोच पाता। वह विवेक-हीन बन यह समझता है कि वर्तमान जीवन-दीपक के बुझ जाने

पर मेरी जीवन से उन्मुक्ति हो जाएगी। उसके परिणामो मे मलिनता, भीति, दैन्य आदि दुर्बलताएँ पाई जाती है। समाधि-मरण मे निर्भीकता और वीरत्व का सद्भाव पाया जाता है। राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ का परित्याग कर शुद्ध अहिसात्मक वृत्ति का पालन समाधि-मरण का साधक करता है। यह ठीक है कि आत्म-घात और समाधि-मरण दोनो मे प्राणो का विमोचन होता है, किन्तु दोनो मे मनोवृत्ति का बडा अन्तर है। आत्मघात मे जहा मरने का लक्ष्य है, वहा समाधि-मरण का ध्येय, मृत्यु के योग्य अनिवार्य परिस्थिति आने पर अपने सद्गुणो की रक्षा करने का, अपने जीवन निर्माण का है। एक का लक्ष्य जहा जीवन को बिगाडना है, वहा दूसरे की दृष्टि जीवन को बनाने और सम्हालने की रहती है। समाधि-मरण मे शरीर के रक्षण योग्य न रहने पर उस ओर से दृष्टि हटा आत्मा की रक्षार्थ उद्योग चलता है, अत: वह आत्म शुद्धि मे लग जाता है। समाधि का केन्द्र बिन्दु आत्मा का घात नही आत्मा की रक्षा है। उसमे आत्मघात लक्षण नही पाया जाता है। **पूज्यपाद स्वामी** सर्वार्थसिद्धि मे इस विषय को इस प्रकार स्पष्ट करते है कि किसी गृहस्थ के घर मे बहुमूल्य वस्तुएँ रखी है, भीषण अग्नि से वह घर जलने लगा। यथाशक्ति उपाय करने पर भी आग बढती ही जा रही है। ऐसी अ-साधारण परिस्थिति मे चतुर व्यक्ति मकान का ममत्व छोड अपनी बहुमूल्य सुवर्ण-रत्नादि सामग्री को बचाने मे लग जाता है। उस गृहस्थ को मकान का ध्वसक समझना ठीक नही है। कारण जब तक वश चला, उसने रक्षा का ही प्रयत्न किया, किन्तु जब रक्षा असम्भव हो गई, तब कुशल व्यक्ति होने के नाते अपनी बहुमूल्य सामग्री का रक्षण करना उसका कर्त्तव्य हो गया। इसी प्रकार साधक रोगादि से शरीरादि के आक्रान्त होने पर सहसा समाधि-मरण की ओर दौड नही जाता—वह तो मानव शरीर को आत्मजाग्रति का विशिष्ट साधन समझ अधिक से अधिक समय तब अवस्थित देखना चाहता है। किन्तु जब ऐसी विकट अवस्था आ जाए कि शरीर की सुधि-बुधि लेने पर आत्मा की सुधि-बुधि न रहे, तब वह अपने सद्गुणो, अपनी प्रतिज्ञाओ तथा अपनी आत्मा की रक्षा के लिए उद्यत हो क्रोध, मान, माया, लोभादि का त्यागकर साम्यभाव से भूषित हो मृत्युराज का स्वागत करने के लिए तत्पर हो जाता है। वह अखण्ड शान्ति का समुद्र बन जाता है। स्नेह, बैर,

मोह आदि उसके पास तनिक भी नही फटकने पाते। ऐसी स्थिति मे समाधिमरण और आत्मघात मे उतना ही अन्तर है जितना आत्म-बली दिगम्बर मुनि और दुर्भाग्यवश वस्त्रादि न पाने वाले दैन्य की मूर्ति किसी दीन भिखारी मे।

स्वामी **समन्तभद्र** ने लिखा है–

"उपसर्ग, दुर्भिक्ष, बुढापा अथवा रोग के निष्प्रतीकार हो जाने पर आत्म पवित्रता के लिए शरीर का त्याग करना समाधिमरण है।"[19]

इस विषय का विस्तृत विवेचन **भगवती आराधना** नामक श्रमणचर्या समझाने वाले ग्रथ मे किया गया है। सर्वार्थसिद्धि की निम्न पंक्तिया सक्षेप मे इस विषय को भली प्रकार स्पष्ट करती है–

"रागद्वेषमोहाविष्टस्य ही विषशस्त्राद्युपकरणप्रयोगवशादात्मान घ्नत· स्वघातो भवति न सल्लेखना प्रतिपन्नस्य रागादय· सन्ति , ततो नात्मवधदोष ।" –*सर्वार्थसिद्धि अ० 7 सू० 22*

विष, शस्त्र आदि उपकरणो के प्रयोग से राग-द्वेष मोहाविष्ट प्राणी द्वारा आत्मा का घात करने पर स्व का घात होता है। समाधि-मरण को प्राप्त व्यक्ति के राग-द्वेष मोहादिक नही होते, इसलिए आत्म-वध का दोष नही होता है। उससे आत्मा बलवती और शुद्ध बनती है।

दिगम्बर मुनीन्द्रो की शान्त, श्रेष्ठ, निरीह, निराकुल, उदात्तचर्या का जिस किसी सात्त्विक प्रकृति वाले मानव को दर्शन हो जाता है' उसकी आत्मा मे यह विचार अवश्य उत्पन्न होता है, जिसे **कवि भूधरदास जी** इन शब्दो मे प्रतिबिम्बित करते है–

"कब गृहवाससौ उदास होय बन सेऊँ,
वेऊँ निज रूप गति रोकू मन-करी की।
रहि हौ अडोल एक आसन अचल अग,
सहि हौ परीसह शीत, घाम, मेघ-झरी की।।
सारग समाज खाज कबधौ खुजै है आनि,
ध्यान, दल-जोर जीतू सेना मोह-अरी की।

एकल बिहारी जथाजात लिंगधारी कब,
होऊँ इच्छाचारी बलिहारी हौ वा घरी की॥"

–जैनशतक

दिगम्बर मुनि विज्ञानामृत को पी तथा तपश्चर्यारूपी सुस्वादु बलप्रद आहार को ग्रहण कर शनैः-शनैः विकास पथ पर प्रगति करते हुए इतनी उन्नति करते है, कि जिसे देख जगत् चकित हो जाता है। प्राथमिक अवस्था मे दिगम्बर तपस्वियो के पास विश्व को चमत्कृत करने वाली बात भले ही न दिखे, किन्तु न जाने इनमे से किस साधक को अखण्ड समाधि के प्रसाद रूप अपूर्व सिद्धिया प्राप्त हो जाएँ। भगवान् पार्श्वनाथ ने आनन्द महामुनि के रूप मे तीर्थंकर-प्रकृति का बध किया था–विश्व हितकर अनुपम आत्मा बनने की साधना अथवा शक्ति सचय प्रारम्भ कर दी थी। उस समय उनके योग-बल की महिमा अवर्णनीय हो गई थी। कवि ने उनके प्रभाव को इन शब्दो मे अंकित किया है–

"जिस बन जोग धरै जोगेश्वर, तिस बनकी सब विपत टलै।
पानी भरहि सरोवर सूखे, सब रितुके फल-फूल फलै॥
सिहादिक जे जात विरोधी, ते सब बैरी बैर तजै।
हस भुजगम मोर मजारी, आपस मे मिलि प्रीति भजै।
सोह साधु चढे समता रथ? परमारथ पथ गमन करै।
शिवपुर पहुँचन की उर बाछा, और न कछु चित चाह धरै।
देह-विरक्त ममत्त बिना मुनि सबसौ मैत्री भाव बहै।
आतम लीन, अदीन, अनाकुल, गुन बरनत नहि पार लहै॥"

–पार्श्वपुराण, भूधरदास

दिगम्बर जैन मुनि का जीवन और मुद्रा जगत् को पुकार-पुकार कर जगाती हुई कहती है–क्यो मोह के फदे मे फँसकर विकृति और विपत्ति की ओर दौडे चले जा रहे हो। आओ, अकिचनता का पाठ पढो, प्रकृति के प्रकाश मे आत्मा की विकृति को धो डालो, तब तुम्हारे पास आनन्द तथा शान्ति का निर्झर उद्भूत हो सबका कल्याण करेगा। देखते नही, सारी प्रकृति किसी प्रकार का आवरण धारण नही करती–एक मनुष्य है जो अधिक ज्ञान सम्पन्न होते हुए भी अपने विकारो एव अपनी

दुर्बलताओ को दूर न कर उन पर सुन्दर वस्त्रादि का मोहक आवरण डाल अपने आपको तथा जगत् को ठगता है। देखो न आख पसार कर, हरिण पक्षी आदि सभी प्राणी दिगम्बरत्व की मनोरम मुद्रा से अकित है।

परिग्रह आदि को आत्मदुर्बलता का अग न मान उसके समर्थन मे लगने वालो के समाधान मे तार्किक **अकलकदेव** कहते है कि जगत् मे विविध उपासको के अनेक उपास्यदेव है और उनकी वेश-भूषा पृथक्-पृथक् है। किन्तु जगत् मे एक दिगम्बर मुद्रा का ही व्यापक रूप से प्रसार पाया जाता है–

"नो ब्रह्माकितभूतल न च हरे· शम्भोर्न मुद्राकित
नो चन्द्रार्ककराकित सुरपतेर्वज्राकित नैव च।
षड्वक्त्राम्बुज-बौद्ध-देव-हुतभुक्यक्षोरगैर्नांकित
नग्न पश्यत वादिनो जगदिद जैनेन्द्रमुद्राकितम्॥"

–अकलकस्त्रोत, 11

अपने अन्त करण मे काम-भावना का तनिक भी विकार धारण न कर नारी जाति के लिए चित्त मे मातृत्व की भावना को प्रबुद्ध करने वाले मलिन शरीर किन्तु सुसस्कृत आत्मधारी दिगम्बर मुनिजन जिस देश मे विहार करते है, वहा के लोग सदाचार तथा सद्भावनाओ से सम्पन्न हो सुखी रहते है। आज ऐसी पवित्र आत्माओ की अत्यन्त विरलता के कारण भारतवर्ष मे श्रेष्ठ सदाचार और नैतिक जीवन मे ह्रास दिखाई देता है। पुरातन भारत शान्ति समृद्धि और अभ्युदय का केन्द्र बताया जाता है। उस समय मोहारि-विजेता दिगम्बर-मुनीन्द्रो का सर्वत्र बहु सख्या मे विहार हुआ करता था। **मेगस्थनीज** कहता है–"जब बादशाह सिकन्दर भारत मे आया था तब उसने तक्षशिला मे कुछ दिगम्बर मुनियो के दर्शन किए थे।"[20] **प्रो॰ आयगर** ने लिखा है–"ये जैन आचार्य अपने चरित्र, सिद्धियो और ज्ञान के कारण अलाउद्दीन और औरगजेब जैसे मुस्लिम बादशाहो के द्वारा वन्दित थे।"[21] **स्मिथ** महाशय ने अपने भारतीय इतिहास मे लिखा है कि–"ह्यूएन साग नामक चीनी यात्री ने सन् 640 ई॰ मे दक्षिण भारत को देखा था।" वह मालकूट देश का वर्णन करते हुए लिखता है कि–"वहा दिगम्बर जैन मुनियो का बहुत बडा समुदाय था।"[22]

ऋग्वेद मे दिगम्बर मुनियो का उल्लेख है। विशेषज्ञ उसका सम्बन्ध दिगम्बर जैन मुनियो से बताते है[23]। उपनिषद् साहित्य भी दिगम्बर ऋषियों के विषय मे प्रकाश प्रदान करता है। उपनिषदो मे छः प्रकार के सन्यासियो का उल्लेख है। जिनमे परमहस, भिक्षु, परिव्राजक तथा सन्यासी को नग्न रहना आवश्यक कहा है। परमहस के विषय मे जावाल-उपनिषद् मे लिखा है, "कि जो निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुद्राधारी तथा परिग्रह रहित होकर ब्रह्म के मार्ग मे सम्यक् प्रकार सलग्न है, शुद्ध मनोवृत्ति वाला है, प्राण रक्षण के लिए भिक्षा द्वारा आहार ग्रहण करता है तथा लाभ अलाभ मे समदृष्टि रहता है वह परमहस है।[24] उक्त ग्रथ मे लिखा है कि परमहस साधु आकाश रूपी वस्त्र को धारण करता है।[25]

नारद परिव्राजकोपनिषद् मे लिखा है कि भिक्षु अपने पुत्र, मित्र, कलत्र, कुटुम्बियो को छोडकर दिगम्बर होता है।[26] **भिक्षुकोपनिषद्**, तुनीयत्योपरिषद् मे भी इस बात का समर्थन है।[27] **सन्यासोपनिषद्** मे ऐसे सन्यासी को 'ज्ञान वैराग्य-सन्यासी' कहा है, जिसने सर्व परित्याग कर दिगम्बरत्व को अगीकार किया है।[28] **मैत्रेय उपनिषद्** मे दिगम्बरत्व के साथ आनन्द की उद्भूति का उल्लेख है–**'देशकाल-विमुक्तोऽस्मि दिगम्बरम्सुखोस्म्यहम्'।**

पुराण साहित्य भी इस सबध मे महत्त्वप्रद सामग्री उपस्थित करता है। **शिवपुराण** मे एक कथा आई है कि शिवजी ने दिगम्बर मुद्रा धारण कर देवदारु वन के आश्रम का निरीक्षण किया था। उनके हाथ मे मयूरपख की पिच्छिका भी थी।[29] **कूर्म पुराण**[30] **पद्मपुराण**[31], मे भी दिगम्बरत्व समर्थक सामग्री उपलब्ध होती है। महाभारत मे नग्न क्षपणक अर्थात् दिगम्बर मुनि का उल्लेख आया है। उसमे लिखा है कि उत्तक नाम के ब्राह्मण ने नग्न मुनि को देखा था। इससे दिगम्बर जैन मुनि की महाभारत काल मे अवस्थिति स्पष्ट होती है। महाभारत के शब्द इस प्रकार है,

"सोऽपश्यदथ पथि नग्न क्षपणकमागच्छत
मुहुर्मुहुर्दृश्य मानमदृश्य मान च"

आदिपर्व, अध्याय 3-126, पृ० 57

शकराचार्य के विवेक चूड़ामणि मे ब्रह्मनिष्ठ योगी की स्वाधीन वृत्ति पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि उनके वस्त्र दिशा रूपी होते है, जिन्हे धोने और सुखाने की आवश्यकता नही मालूम पडती।[32] इस प्रकार प्राचीन भारतीय वाड्मय का सम्यक् अवगाहन करने पर प्रचुर प्रमाण मे श्रेष्ठ साधको के दिगम्बरत्व की महिमा को बताने वाली महत्त्वपूर्ण सामग्री प्राप्त होती है। तत्त्वदर्शी तो यही सोचता है कि मै कब आशा रूपी वस्त्रो को धारण करूँगा।"[33] उस श्रेष्ठ अवस्था मे ही यह जीव पूर्ण निराकुल हो ब्रह्मसाक्षात्कार का आनद लेने मे समर्थ होता है। आत्म-निमग्नता की स्थिति मे तन बदन की कैसे सुध रहेगी। अपने युग के विख्यात सन्यासी स्वामी रामकृष्ण परमहस के सबध मे प्रकाशित "श्री श्रीरामकृष्ण कथामृत" बगला भाषा की रचना मे स्वामी जी की दैनिक-चर्या की चर्चा की गई है, कि "जगने पर भक्तो ने देखा कि प्रभात हो गया है। श्री रामकृष्ण बालक के समान दिगम्बर है और कमरे के भीतर ईश्वर का नाम लेते हुए घूम रहे है।" (डायरी 16 अक्तूबर 1882)। श्री अश्विनीकुमार दत्त ने जो बगाल के विख्यात राजनैतिक नेता थे 'रामकृष्ण के सस्मरण' मे उनके दिगम्बरत्व की चर्चा की है। स्वय स्वामीजी ने उनसे कहा था[34] कि "मै सभी भौतिक जगत् की वस्तुओ को भूल जाता हूँ। उस समय वस्त्र भी छूट जाता है।" बौद्ध साहित्य से भी दिगम्बर श्रमणो का सद्भाव ज्ञात होता है। **'विसाख वत्थु धम्मपदत्थकहा'**[35] मे लिखा है कि एक श्रेष्ठि के भवन मे 500 दिगम्बर जैन साधुओ ने आहार किया था। दीर्घनिकाय से विदित होता है कि कौशल नरेश प्रसेनजित् ने 'निर्ग्रन्थो' को नमस्कार किया था। महावग्ग से ज्ञात होता है कि वैशाली मे दिगम्बर जैन श्रमणो का विहार होता था। **'महापरिणिव्वाण सुत्त धम्म पदत्थकहा'** मे भी निर्ग्रन्थो का उल्लेख पाया जाता है।[36]

बाइबिल मे कहा है–"Naked came I out of my mother's womb and naked shall I return thither" मै अपनी मा के उदर से नग्न पैदा हुआ था, तथा मै यहा से नग्न रूप मे ही वहा वापिस जाऊगा।"

जाके परिग्रह बहुत है सो बहु दु:ख के माहि।
बिन परिग्रह के त्यागते परसो छूटे नाहि॥

मुस्लिम समाज मे भी दिगम्बरत्व का सम्मान रहा है।[37] आज से 300 वर्ष पूर्व मुस्लिम सत सरमद शाहजहा के राज्य मे दिगम्बर के रूप मे राजधानी देहली मे विचरण करता था। दिल्ली मे लाल किले के समीप मे सत सरमद का मजार है, जहा सदा दर्शको की भीड लगी रहती है। उसके ये शब्द बडे मार्मिक है, "जिसमे दोष देखता है उसे वस्त्र पहिना देता है, जो दोषरहित है उन्हे नगा ही रहने देता है"।[38]

आचार्य **सोमदेव** ने यशस्तिलकचम्पू मे शकुनशास्त्र की दृष्टि से दिगम्बर मुनि के विहार को राष्ट्र के लिए मगलमय बताया है–

"पद्मिनी राजहसाश्च निर्ग्रन्थाश्च तपोधना ।
य देशमुपसर्पन्ति सुभिक्ष तत्र निर्दिशेत्॥"

आज के भौतिकवादी वातावरण मे किन्ही-किन्ही व्यक्तियो को शिष्टाचार के नाम पर दिगम्बर मुनीन्द्रो का नगरादि मे गमनागमन अप्रिय लगता है। किन्तु यदि वे उपर्युक्त वर्णन के प्रकाश मे उन योगियो की महत्ता को सोचने और समझने का प्रयत्न करे तो उनका हृदय उन मुनीन्द्रो की मुद्रा महत्ता से प्रभावित हुए बिना न रहेगा। सन् 1944 ई० के दिसम्बर मे नागपुर हाइकोर्ट के **चीफ जस्टिस डॉ० भवानीशकर नियोगी** (एल०एल०एम०) डी०लिट० महाशय की अध्यक्षता मे दिगम्बर मुनि श्री सुमतिसागर जी का सार्वजनिक भाषण, हजारो व्यक्तियो की उपस्थिति मे हुआ था। उसे सुनकर जस्टिस नियोगी जी की आत्मा अत्यन्त प्रभावित हुई और उन्होने कहा–आज इन मुनिराज के दर्शन कर मुझे बहुत प्रकाश मिला। कहा तो ये साधु जो बिना किसी परिग्रह के निश्चिन्ततापूर्वक जीवन व्यतीत करते है और कहा हम जो बहुत-सी सामग्री एकत्रित कर शान्ति लाभ करने के लिए प्रयत्न करते है।" उन्होने अपने भाषण मे कहा था–"Nudity is the climax of self-sacrifice and self-purification It is the conquest over vices of greed and other carnal desires When the saint is in direct communication with Divinity, he does not care to bother whether he is clothed or not This is the highest stage of life " (15th January, 1945, *The Leader, Allahabad*) [दिगम्बरत्व आत्म त्याग और आत्म-शुद्धि की पराकष्ठा है। वह लालच तथा अन्य पाशविक आकाक्षा रूपी अवगुणो पर विजय

स्वरूप है। जिस समय मुनिराज का दिव्य जीवन से साक्षात् सम्पर्क हो जाता है, उस समय वह इस बात की तनिक भी परवाह नही करते कि उन्होने वस्त्र धारण किए है अथवा वह वस्त्र रहित है। दिगम्बरत्व जीवन की श्रेष्ठ स्थिति है, (*दैनिक लीडर*, प्रयाग 15 जनवरी 1945)] देशगौरव दिगम्बर आचार्य देशभूषण महाराज के समीप स्व॰ प्रधानमत्री श्री लालबहादुर शास्त्री गए थे। उन्हे प्रणाम कर प्रधानमत्री जी ने आशीर्वाद प्राप्त किया था। 23 फरवरी, 1981 ई॰ मे प्रधानमत्री इंदिरा गाधी ने श्रमणवेलगोला जैन तीर्थ मे पहुचकर दि॰ जैन मुनि विद्यानन्द महाराज की अभिवदना करते हुए उनसे विचार-विमर्श किया था।

जो व्यक्ति अपनी अपरिहार्य साम्प्रदायिक भ्रान्त धारणाओ के कारण ऐसे तपस्वियो को देखकर क्षोभ का अनुभव करते है वे नगर मे जिन मंदिर दर्शन अथवा भोजन आदि आवश्यक कार्यवश साधुओ को आते हुए सुन अपने मनोज्ञमुख को दूसरी ओर मोड सकते है। लेकिन, इसका अर्थ यह नही है कि विश्ववन्द्य पद के धारण करने वाले मुनियो के नगरादि मे प्रवेश के विषय मे शिष्टाचार के नाम पर बाधा उपस्थित की जाए।

प्रीवी कौन्सिल ने इस बात का स्पष्टीकरण कर दिया है कि धार्मिक जुलूस शान्तिपूर्वक आम रास्ते से बिना रोक-टोक के ले जाए जा सकते है।[39]

भारतीय सविधान ने धार्मिक स्वतत्रता के सरक्षण का पूर्णतया अभिवचन दिया है। अत. मुनियो का विहार नैतिक तथा धार्मिक दृष्टि से उचित होने के साथ कानूनी दृष्टि से भी उचित है। प्राचीनता को ही सत्य की कसौटी मानने वाले कहते है–दिगम्बर विचारधारा अर्वाचीन है। सवस्त्र मुद्रा का मार्ग सबसे प्राचीन है। यदि मनुष्य तर्क की दृष्टि से इस पर विचार करे तो उसे स्पष्टता की कोई आवश्यकता नही है। कारण यह तो बालक भी जानता है कि माता के उदर से पहले दिगम्बर-शिशु ही जन्म लेता है; पश्चात् वस्त्रादि परिधान वाला बनाया जाता है। **प्रो॰ बलदेव उपाध्याय** दिगम्बरत्व को भगवान् पार्श्वनाथ के बाद की वस्तु बताते हुए लिखते है–"पार्श्वनाथ वस्त्र धारण के पक्षपाती थे। पर

महावीर ने नितान्त साधना के लिए वस्त्र-परिधान का बहिष्कार कर नग्नता को ही आदर्श आचार बताया है।" (*भारतीय दर्शन*, पृ॰ 146)।

जैन-आगम की दृष्टि से यह बात विपरीत है। भगवान् ऋषभदेव आदि सभी तीर्थंकरो ने परम कल्याण प्राप्ति के लिए स्वय अपने जीवन द्वारा दिगम्बर श्रमण-मुद्रा का प्रचार किया था। अहिसा-तत्त्वज्ञान और अध्यात्म-विज्ञान के प्रकाश मे भी दिगम्बरत्व 'जिन' कहे जाने वाले की आवश्यक मुद्रा हो जाती है। अब तक पुरातत्त्व-विभाग द्वारा जो जैन मूर्तियो आदि की उपलब्धि हुई है, उनके सूक्ष्म निरीक्षण से ज्ञात होता है कि अत्यन्त प्राचीन मूर्ति आदि दिगम्बर-मुद्रा से अंकित है। दिगम्बर सम्प्रदाय के विषय मे अग्रेजी विश्वकोषकार का निम्न कथन विशेष बोधप्रद है[40]–"जैनधर्म दिगम्बर और श्वेताम्बर नामक दो महान् सम्प्रदायो मे विभक्त है। श्वेताम्बर सम्प्रदाय अभी तक सम्भवत 5वी सदी तक का सिद्ध होता है। किन्तु, दिगम्बर-सम्प्रदाय ईस्वी सन् से 5 वी सदी पूर्व तक पक्के तौर पर प्रमाणित होता है। यह दिगम्बर लोग, बौद्धो के पाली पिटको के अनेक उल्लेखो मे 'निग्गण्ठ' नाम से कहे गये है। अतएव इन्हे कम से कम ईसा से 6 सदी पूर्व का तो अवश्य होना चाहिये। अशोक के एक शिलालेख मे निग्गण्ठो का उल्लेख आया है।"

सचेल सम्प्रदाय को प्राचीनता के आसन पर समासीन करने के मोहवश निग्गण्ठ शब्द का अभिधेय दिगम्बर साधु न कर ऐसे सवस्त्र साधु करने का श्रम उठाया जाता है, जो राग द्वेष की ग्रन्थि से उन्मुक्त हो, उनकी मान्यता के अनुसार वस्त्रादि को धारण करते हुए, प्रक्षालनादि करते हुए राग द्वेष का अभाव और परिपूर्ण अहिसा की साधना और निराकुलता बन सकती है।

यह विचार सत्य समर्थित नही है। उपनिषद् साहित्य मे जातरूपधारी-दिगम्बर को निर्ग्रन्थ कहा है। **जाबालोपनिषद्** मे 'परमहस' का स्वरूप बताते हुए उसे "यथाजातरूपधरो निर्ग्रन्थो निस्परिग्रह. " कहा है। वस्त्रादि धारण करने वाला यदि निर्ग्रन्थ पद का वाच्य माना जाए, तो 'यथाजातरूपधरः' इस शब्द के साथ अर्थ का समन्वय नही होता।

'निग्गण्ठ' शब्द का प्रकट अर्थ है 'बिना गाठ वाला'। वस्तुतः दिगम्बर अथवा अचेल अवस्था मे ही यह शब्द सार्थक होता है, अन्यथा अधोवस्त्रादि की गाठो को धारण करते हुए निग्गण्ठ कहना सत्य विरुद्ध होगा।

वस्त्र धारण करते हुए अपने को 'निर्ग्रन्था· पार्श्वशिष्या. वय'– "हम निर्ग्रन्थ है और भगवान् पार्श्वनाथ के शिष्य है", कहने वालो को गोशाल कहता है[41]–"वस्त्रादि ग्रन्थो को धारण करते हुए आप किस प्रकार निर्ग्रन्थ है। यथार्थ मे वस्त्रादि के परित्यागी और शरीर के विषय मे भी उपेक्षा वृत्त धारण करने वाले निर्ग्रन्थ होते है।"

इस सक्षिप्त विवेचन से अग्रेजी विश्वकोष का 'निग्गण्ठ' शब्द द्वारा दिगम्बर जैनियो का भाव अगीकार करना सत्य के सुदृढ आधार पर अवस्थित है। दिगम्बर श्रमण के विषय मे एक साधक कहता है- "देह मैली है, पर दिल उजला है प्यारे, इस खाक के पुतले मे, हीरे की कमी रहती है।"

ये साधक आत्म-ज्योति के प्रकाश मे स्वय को अनुशासित करते है। लौकिक व्यक्तियो द्वारा मानी गई मर्यादाएँ इन महामानवो का पथ-प्रदर्शन नही कर सकती। जडवादी का अन्त करण उनकी गहराई को स्पर्श न कर सके, किन्तु ज्ञान और अनुभव के धनी सत्पुरुष इस बात को स्वीकार करेगे कि ये सन्तजन ही सम्पूर्ण विश्व को अपना बन्धु मान उस बन्धुत्व का सत्यतापूर्वक सरक्षण करते है। जिस आत्मा मे अहिसा की ज्योति जग जाती है, उसका मनुष्यो के सिवाय क्रूर पशुओ तक पर आश्चर्यप्रद प्रभाव दिखता है। एक बार "प्रबुद्ध भारत" मे छपा था कि एक एण्डरसन नामक अग्रेज हाथी पर सवार हो जयदेवपुर के जगल मे शिकार खेलने गया। वहा एक शेर को देख हाथी डरा। उसने साहब को नीचे गिरा दिया। एण्डरसन ने शेर पर दो-तीन गोली चलाई, किन्तु निशाना चूक गया। इतने मे शेर ने पीछा किया। प्राण बचाने को वह पास की एक झोपडी मे पहुँचा, जहा एक दिगम्बर साधु रहा करते थे। साधु के इशारा करते ही शेर शान्त हो गया और कुछ देर बैठकर चुपचाप चला गया। जब एण्डरसन ने नागा बाबा से इस आश्चर्य का

कारण पूछा, तब साधु ने कहा–"जिसके चित्त मे हिसा का विचार नही है, उसे शेर या सर्प कोई भी हानि नही पहुँचाते। तुम्हारे मन मे हिसा का भाव है, इसलिए जगली जानवर तुम पर आक्रमण करते है।"[142] उस दिन से एण्डरसन ने शिकार खेलना छोड दिया और वह शाकाहारी बन गया। ढाका और चिटगाव मे बहुतो ने एण्डरसन के इस परिवर्तित रूप को देखा है।

जयपुर राज्य के दीवान श्री अमरचन्द्र जी जैन बडे ज्ञानवान और सत प्रकृति के महापुरुष थे। एक विशेष अवसर पर राज्य के अजायब घर के भूखे शेर के समक्ष, उन्होने अपने अहिसा व्रत का परम आदर करते हुए, मास न रखवा कर मिठाई रखवाई और शेर से कहा–"यदि तुझे भूख शात करनी है, तो यह मिठाई भी तेरे लिए उपयोगी है; किंतु यदि मास ही खाना है तो मुझको खुशी से खा सकता है" इस अहिसापूर्ण प्रेम भरी वाणी का शेर पर बडा प्रभाव पडा और उसने सबको चकित करते हुए शान्त भाव से मिठाई खा ली। इस अहिसा के द्वारा जो आत्म बल जागृत होता है और उसके प्रभाव से यह जीव अभय और आनन्द की नवीन ज्योति को इस अधकारपूर्ण जगत् मे प्रकाशित कर सकता है।

इस पूर्ण अहिसामयी श्रेष्ठ साधना के पवित्र पथ पर चलने योग्य जब तक आत्मा मे बल उत्पन्न नही होता तब तक प्राथमिक साधक का कर्त्तव्य है वह अपने आदर्श को हृदय मे रख साधुत्व से अंकित सत्पुरुषो को अपने जीवन का पथ-प्रदर्शक माने और उनको अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हुए अन्तःकरण से सयम की साधनार्थ अपनी क्षमता के अनुसार प्रयत्न करे।

लाटी सहिता मे लिखा है·–

तत्रालसो जनः कश्चित्कषाय-भर गौ खात्।
असमर्थस्तथाप्येष गृहस्थव्रतमाचरेत्॥ 2-5॥

अहिसा परमो धर्मः – सिद्धान्त पर पूर्णतया चलने मे कषाय की तीव्रतावश आलसी तथा असमर्थ व्यक्ति का कर्त्तव्य है कि वह गृहस्थोचित् व्रतो का पालन करे। इस अभ्यास द्वारा लघु साधक प्रबुद्ध

साधक की अवस्था को प्राप्त करने की पात्रता प्राप्त कर लेता है। उसका अन्त:करण उस बेला की प्रतीक्षा करता है, जब वह वासनाओ पर विजयी हो आत्मामयी परिशुद्ध स्थिति को प्राप्त करेगा। वह सच्चे सतो की हृदय से आराधना करता हुआ कहता है :– **णमो लोए सव्वसाहूणं।**

*****

संदर्भ सूची

1 भगवान् ऋषभदेव के विषय मे स्वामी **समन्तभद्र** ने लिखा है–
"विहाय य सागर-वारि-वासस वधूमिवेमा वसुधा-वधू सतीम्।
मुमुक्षुरिक्ष्वाकुकुलादिरात्मवान् प्रभु प्रवव्राज सहिष्णुरच्युत ॥"

–स्वयम्भूस्तोत्र 3

2. एकाकी निस्पृहो शान्त पाणिपात्रो दिगम्बर·।
कदाह सम्भविष्यामि कर्मनिर्मूलनक्षम ॥

3 हष्ट्वानुगातभृषि मात्मजमप्यनग्नम्।
देव्यो ह्रिया परिदृधर्नु सुतस्य चित्रम्॥
तद्वीक्ष्य पृच्छति मुनो जगदुस्तवास्ति।
स्त्रीपुंभिदा न तु सुतस्य विविक्त दृष्टे ॥ स्कध 2, अ 1, 5 11

4 Beıng rıd of clothes one ıs also rıd of a lot of other worrıes No water ıs needed ın whıch to wash them The Nırgranthas have forgotten all knowledge of good and evıl Why should they requıre clothes to hıde theır nakedness

- Heart of Jaınısm (p 35)

5 पर्वत।

6. "हवदि वा ण हवदि बधो मदम्हि जीवेऽध काय चेट्ठम्हि।
बधो धुवमुवधीदो इदि समणा छंड्डिया सव्वे ॥ 19॥
णहि णिरवेक्खो चागो ण हवदि भिक्खुस्स आसय-विसुद्धी।
अविसुद्धस्स य चित्ते कह णु कम्मक्खओ विहिओ ॥ 3-20॥
किध तम्हि णत्थि मुच्छा आरम्भो वा असजमो तस्स।
तध परदव्वम्मि रदो कधमप्पाण पसाधयदि॥" (अध्याय 3)

7 Act III Sc II

8. Wilson's "Relıgıous Sects of the Hındus", p 275

9 "Abdul Kasım Gılanı dıscarded even lıon strıp and remaıned completely naked "—From *Relıgıous Lıfe & attıtude ın Islam*, p 203

10 "The higher Saints of Islam called 'Abdals' generally went about perfectly naked "—Mysticism and Magic in Turkey—Quoted in the *Digamber Saints of India*

11 भागवत् मे लिखा है कि वानप्रस्थ तथा सन्यासी दत न धोवे, "दत. न धावेत्" (3-18 अ०)

12 "बुद्धाद्वैतसतत्त्वस्य यथेष्टाचरण यदि।
शुना तत्त्वदृशा चैव को भेदोडशुभिक्षणे।।" पृ० 14

13 "I have often met generally in the territory of some Raja bands of these naked Fakirs I have seen them walk stark naked through a large town, women and girls looking at them without any more emotion than may be created, when a hermit passes through our streets Females often bring them alms with devotion " Dr Bernier's *Travels in the Moghul Empire*, p 317

14 'Although the women reach them out of devotion you do not see in them any sign of sensuality, but on the contrary you would say they are absorbed in abstraction,"—J B Tavernier's *Travels,* p 291-292

15 "These men (Jain Saints) went about naked inured themselves to hardships and were held in highest honour Every wealthy house is open to them even to the apartments of the women "

Mc Crindle's—*Ancient India*, p 71-72

16 "सम्यक् प्रकार निरोध मन-वच-काय आतम ध्यावते।
तिन सु-थिर मुद्रा देखि मृग-गण उपल खाज खुजावते।।
रस-रूप-गध तथा फरस अरु शब्द शुभ-असुहावने।
तिनमे न राग-विरोध पचेद्रिय जयन पद पावने।।
समता सम्हारै थुति उचारै वन्दना जिन देव को।
नित करै श्रुत रति करै प्रतिक्रम तजै तन अहमेव को।।
जिनके न न्हौन न दतधोवन लेश अवर आबरन।
भूमिहि पिछली इयनि मे कछु शयन एकासन करन।।
इक बार दिन मे अहार खडे अलप निज-पान मे।
कच-लोच करन न डरत परिषह सौ लगे निजध्यान म।।
अरि-मित्र महल-मसान, कचन-काच निन्दन-थुतिकरन।
अर्घावतारन असि-प्रहारन मे सदा समता धरन।।"

—छहढाला, छठवी ढाल।

17 माक्ष आत्मा सुख नित्य शुभ शरणमन्यथा।
भवोऽस्मिन् वसतो मेऽन्यत् किं स्यादित्यापदि स्मरेत्।।

—सागारधर्मामृत, 5, 30

18 "जे बाह्य परवत बन बसै गिरि-गुफा-महल मनोग।
सिल-सेज, समता-सहचरी, शशिकिरन-दीपक जोग।।
मृग-मित्र, भोजन-तपमयी, विज्ञान-निरमल नीर।
ते साधु मेरे उर बसौ, मम हरहु पातक पीर।।"

–भूधरदास

19 "उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजाया च नि प्रतीकारे।
धर्माय तनुविमोचनमाहु सल्लेखनामार्या ।।"

–रत्नकरण्डश्रावकाचार 122

20 "When Alexander came to India, he saw some naked saints in Taxila and took one of them with him " — Magesthenes

21 "The Jain Acharyas—by their character, attainments and scholarship-commanded respect of even Mohammadan sovereigns like Allauddin and Aurangzeb Badshaha "—Prof Iyengar's *Studies in South Indian Jainism*, Part 2nd, p 132

22 "Hieun Tsang visited Southern India 640 A D " and describes Malakuts country "—the nude Jain saints were present in multitudes "—Smith's His of India, p 409

23 "मुनयो वातरशना पिशगा वसते मला ।
वातस्यानु ध्राजि यन्ति यद्देवासो अविक्षत।।"–मडल 10 11, 136

24 "यथाजात-रूपधरो निर्ग्रन्थो निष्परिग्रहस्तत्तद् ब्रह्ममार्गे सम्यक् सम्पन्न शुद्धमानस प्राणसधारणार्थ विमुक्तो भैक्षमाचरन् लाभालाभयो समो भूत्वा स परमहसो नाम।"

25 "स परमहस आशाम्बरा न नमस्कारो न स्वाहाकारो, न निन्दा, न स्तुतिर्यादृच्छिको भवेत् स भिक्षु ।"

26 "अथवा यथा विधिश्चेज्जातरूपधरो भूत्वा स्वपुत्र-मित्र-कलत्र-बन्ध्वादीनि कौपीन दण्डाच्छादन च त्यक्त्वा "

27 सन्यस्य जातरूपधरो भवति स ज्ञानवैराग्यसन्यासी।"

28 "विवेशोन्मत्तवेशश्च स्तब्धलिगो दिगम्बर "

29 "मयूरचन्द्रिकापुञ्जपिच्छका धारयन् करे।।" - *शिवपुराण* 10-80 82

30 *कूर्मपुराण*-उपरिभाग 37 7।

31 *पद्मपुराण*-पातालखण्ड 72, 33

32 "चिन्ताशून्यमदैन्यभैक्षमशन पान सरिद्वारिषु
स्वातन्त्र्येण निरकुशा स्थितिरभीर्निद्रा श्मशाने वने।
वस्त्र क्षालन-शोषणादिरहित दिग्वास्तु शय्या मही
सचारो निगमान्तवीथिषु विदा क्रीडा परे ब्रह्मणि।।"

33 "आशावासो वसीमहि"

34 Ramkrishna said, "I lost attention to every thing (mundane) My cloth dropped " — *Reminiscences of Ramkrishna*," Vol I, p 310

35 *Historical Gleaminngs*, pp 93-95

36. See also *Sacred Books of the East*, Vol XXIII, p 223 and XVII p 116), vide the *Digambara Saints of India*, p 75

37 *विश्ववाणी* मासिक 4 पृ॰ 251, वर्ष 8

38 "पोशाद लिबास हरकरा ऐबे दीद।
बे ऐवा रा लिबासे उरियानी दाद।।"

39 "Persons of all sects are entitled to conduct religious processions through public streets so that they do not interfere with the ordinary use of such streets by the public and subject to such directions as the magistrate may lawfully give to prevent obstructions of the thoroughfare or breaches of public place and the worshippers in a mosque or temple which abutted on a highroad could not compel the processionists to interfere their worship while the mosque or temple on the ground that there was continuous worship there "

—*Manzur Hassan* vs *Md. Zaman*, 23 All L J 169 Privy Council

"The first question is Is there a right to conduct a religious procession with the appropriate observances along a highway? Their Lordships think the answer in the affirmative " - Privy Council, *Ibid*

40 "The Jains are divided into two great parties-Digambers or sky-clad ones and the Swetambers or the white robed ones The latter have only as yet been traced and that doubtfully as far back as the 5th century after Christ The former are almost certainly the same as the Niganthas, who are referred to in numerous passages of Buddhist Pali Pitatkas and must therefore be atleast as old as the 6th century B C —The Niganthas are referred to in one of Ashoka's edicts" Vide *Ency Brit* Ed , Eleventh Vol 15, p 127

41 "कथन्तु यूय निर्ग्रन्था वस्त्रादिग्रन्थधारिण ।
केवल जीविका हेतोरिय पाषण्डकल्पना।।
वस्त्रादिसगरहितो निरपेक्षो वपुष्वपि।
धर्माचार्यो हि यादृङ्मे निर्ग्रथास्तादृशा खलु।।"

Vide-Wilson's *Religious Sects of the Hindus*, p 293

42. "One who has no Hinsa is never injured by tigers or snakes Because you have feeling of Hinsa in your mind you are attacked by wild animals " - प्रबुद्धभारत अग्रेजी मासिक 1934 पृ॰ 125-26

*****

अहिंसा के आलोक में

'अहिंसा भूताना जगति विदित ब्रह्म परमम्'

–स्वामी समन्तभद्र, बृहत्स्वयम्भू, 119

पुण्य-जीवन को यदि भव्य-भवन कहा जाए तो अहिसा-तत्त्वज्ञान को उसकी नीव मानना होगा। अहिसात्मक वृत्ति के बिना न व्यष्टि का कल्याण है और न समष्टि का। साधना का प्राण अथवा जीवन-रस अहिसा है। आज भारतीय राष्ट्र मे अहिसा की आवाज खूब सुनाई पडती है। देश ने पराधीनता के पाश से छुटने के लिए अपनी किकर्त्तव्यविमूढ अवस्था मे अहिसात्मक पद्धति को एकमात्र अवलम्बन माना था और इसीलिए रक्तपात के बिना राष्ट्र ने प्रगति के पथ पर द्रुतगति से अपना कदम बढाया और स्वाधीन भी हो गया। फ्रास के विश्वविख्यात विद्वान् **रोम्या रोला** इस अहिसा के विषय मे बहुत उपयोगी तथा प्रबोधप्रद बात कहते है, "The Rishis who discovered the Law of Non-violence in the midst of violence were greater geniuses than Newton, greater warriors than Wellington Non-violence is the law of our species as violence is the law of the brute " (जिन सन्तो ने हिसा के मध्य अहिसा सिद्धान्त की खोज की, वे न्यूटन से अधिक बुद्धिमान थे तथा विलिगटन से बडे योद्धा थे। जिस प्रकार हिसा पशुओ का धर्म है, उसी प्रकार अहिसा मनुष्यो का धर्म है।"[1] अपनी महत्त्वपूर्ण रचना 'हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता' (पृ० 613) मे धुरधर विद्वान् **डाक्टर बेणीप्रसाद** ने लिखा है, "सबसे ऊँचा आदर्श, जिसकी कल्पना मानव मस्तिष्क कर सकता है, अहिसा है। अहिसा के सिद्धान्त का जितना व्यवहार किया जायगा, उतनी ही मात्रा सुख और शांति की विश्वमण्डल मे होगी"। उनका यह भी कथन है कि "यदि मनुष्य अपने जीवन का विश्लेषण करे, तो इस परिणाम पर पहुचेगा कि सुख और शान्ति के लिए आन्तरिक सामजस्य की आवश्यकता है।" यह अन्त:करण की स्थिति तब ही उत्पन्न होती है, जब यह जीव सब प्राणियो के प्रति प्रेम

और अहिसा का व्यवहार करता है। जहा अहिसा समत्व के सूर्य को जगाती है, वहा हिसा अथवा क्रूरता विषमता की गहरी अंधियारी को उत्पन्न करती है, जहा यह अन्य जीवो की हत्या के साथ अपनी उज्ज्वल मनोवृत्ति का भी सहार करता है।

ससार के धर्मो का यदि कोई गणितज्ञ महत्तम-समापवर्तक निकाले तो उसे अहिसा धर्म ही सर्वमान्य सिद्धान्त प्राप्त होगा। इस तत्त्व-ज्ञान पर जैन श्रमणो ने जितना वैज्ञानिक और तर्क-सगत प्रकाश डाला है, उतना अन्यत्र देखने मे नही आता। यह कहना सत्य की मर्यादा के भीतर है कि जैनियो ने इतिहासातीत काल से लेकर अहिसा तत्त्वज्ञान का शुद्ध रीति से सरक्षण किया है। एक समय था, तब वैदिक-युग मे स्वर्ग प्राप्ति के लिए लोगो को स्वार्थी विप्रवर्ग पशुओ की बलि करने का मार्ग बताता था। इससे स्वार्थी व्यक्तियो ने मिथ्यात्व वश अपना भविष्य उज्ज्वल मान अगणित पशुओ का सहार किया। वैदिक-साहित्य के शास्त्रो मे हिसात्मक-यज्ञ की पुष्टि मे विपुल सामग्री सम्मिलित की गई। उस आध्यात्मिक ज्योति-विहीन जगत् मे अपने ज्ञान, शिक्षण और सेवा द्वारा जैन-धर्म ने अहिसा धर्म की पुन प्रतिष्ठा कराई।

प्रोफेसर **आयगर** ने लिखा है, "अहिसा के पुण्य सिद्धान्त ने वैदिक हिन्दू धर्म की क्रियाओ पर प्रभाव डाला है। यह जैनियो के उपदेशो का प्रभाव है जिससे ब्राह्मणो ने पशुबलि को पूर्णतया बन्द कर दिया था तथा यज्ञो के लिए सजीव प्राणियो के स्थान मे आटे के पशु बनाकर कार्य करना प्रारम्भ किया।"[2]

इस प्रसग मे हिन्दू समाज के विवेकी धर्माचार्य महर्षि शिवव्रतलाल बर्मन का यह कथन विशेष ध्यान देने योग्य एव चिन्तनीय प्रतीत होता है, "जहा तक हिन्दू जाति के सद्ग्रन्थो का सबध है वह प्राचीन समय से मास भक्षण करने वाले पाये जाते है। उनके यहा नरमेध, अश्वमेध, गोमेध आदि यज्ञ करने की प्रथा जारी थी जिससे इनके ग्रन्थ भरे पडे है। यहा तक कि रामायण, महाभारत और स्मृतियो तक मे कही इसका निषेध नही पाया गया। हिन्दू नरमास भक्षक थे या नही? इस पर सम्मति प्रगट करना कठिन काम है। फिर भी अब तक हिन्दुओ मे ऐसे लोग पाए जाते है जिनमे इनके गौरव का गीत गाया जाता है। उदाहरण की

रीति से अघोरपन्थ और शाक्तिक मत के वाम मार्ग की ओर दृष्टि डालो। शाक्तिक धर्म मे नरमास महाप्रसाद कहलाता है और अघोरी लोग तो अब तक शमशानो मे जलती हुए चिताओ के इर्द गिर्द चक्कर लगाते रहते है कि कही कच्चा या पक्का नरमास उनके हाथ आ जाए। वाल्मीकि रामायण मे एक जगह वर्णन किया गया है कि जब भरत जी रामचन्द्र जी की खोज मे चित्रकूट जाने लगे तो उनके भोजन के लिए भारद्वाज ऋषि ने बछडा जिवइ किया था। अब गोमास का निषेध है किन्तु हिन्दुओ मे कोई जाति ऐसी न मिलेगी जो मासाहारी न हो और न किसी वर्ण के पुरुष इसके विरोधी है। जैनियो की अवस्था इसके विरुद्ध है और सारी दुनियाँ मे शायद जैन ही एक ऐसा सम्प्रदाय है जो हर प्रकार के मास को निषिद्ध समझता है।" (*अनेकान्त,* 1943 नवम्बर, पृ॰ 131)

लोकमान्य तिलक ने यह स्पष्टतया लिखा है–"अहिसा परमो धर्म " इस उदार सिद्धान्त ने ब्राह्मण धर्म पर चिरस्मरणीय छाप मारी है। ''पूर्व काल मे यज्ञ के लिए पशु-हिसा होती थी। इसके प्रमाण 'मेघदूत काव्य' आदि अनेक ग्रन्थो मे मिलते है। परन्तु इस घोर हिसा का ब्राह्मण धर्म से बिदाई ले जाने का श्रेय जैन-धर्म के हिस्से मे है।" (*मुबई समाचार,* 10-12-1904)

मेघदूत (श्लो॰ 45) मे कवि **कालिदास** अपने मेघ से कहते है कि "उज्जयनी से आगे बढते समय चर्मण्वती नाम की नदी का दर्शन होगा। वह रन्तिदेव नामक नरेश द्वारा गो-वधयुक्त अतिथियज्ञ सम्बन्धी चर्म के जल से युक्त होने के कारण चर्मण्वती कहलाती है। उसे गो-बलि के कारण पूज्य मानते हुए तुम वहा कुछ समय ठहरना।" कवि के शब्द इस प्रकार है :–

आराध्यैन शरवणभव देवमुल्लघिताध्वा
सिद्धद्वन्द्वैर्जलकणभयाद्वीणिभिर्मुक्तमार्ग.।
व्यालम्बेथा सुरभितनयालम्भजा मानयिष्य-
स्त्रोतोमूर्त्या भुवि परिणता रन्तिदेवस्य कीर्तिम्॥

(पूर्वमेघ., 45)

भवभूति ने उत्तररामचरित के चौथे अक मे वाल्मीकि-आश्रम मे सौधातकी और भाण्डायन दो शिष्यो का वार्तालाप वर्णित किया है। वसिष्ठ ऋषि को देख सौधातकी पूछता है-"भाण्डायन, आज वृद्ध साधुओ मे प्रमुख चीरधारी कौन अतिथि आए है? भाण्डायन उनका नाम वसिष्ठ बताता है। यह सुन सौधातकी कहता है-**"मये उण जाणिद, वग्घो वा वियो वा एसो त्ति"** मै तो समझता था कि कोई व्याघ्र अथवा भेडिया आया है। इसका कारण वह कहता है-**'तेण परावडिदेणज्जेवसा वराइया कलोडिया मडमडाइदा'**-जैसे ही वे आये उन्होने एक दीन गोवश को स्वाहा कर दिया। इस पर भाण्डायन कहता है कि धर्मसूत्र मे कहा है कि मधु और दधि के साथ मास का मिश्रण चाहिए। इसलिए श्रोत्रिय गृहस्थ ब्राह्मण अतिथि के भक्षण के लिए गाय, बैल अथवा बकरा देवे।

स्वामी भगवदाचार्य ने 'गोरक्षण' पत्र मे लिखा है-"मनुस्मृति मे मासभक्षण का प्रतिपादन हुआ है। देखिए वहा का वचन-

यज्ञार्थं पशव सृष्टा स्वयमेव स्वयभुवा।
यज्ञस्य भूत्यै सर्वस्य तस्माद्यज्ञे वधोऽवध ॥ 5-39॥

स्वयभू ने स्वय ही पशुओ को यज्ञ के लिए बनाया है। यज्ञ सबके ऐश्वर्य के लिए होता है अत यज्ञ मे पशुवध वध नही है।

मधुपर्के च यज्ञे च पितृदैवतकर्मणि।
अत्रैव पशवो हिस्या नान्यत्रेत्यब्रवीन्मनु॥ 41॥

मधुपर्क, ज्योतिष्टोमादि यज्ञ, पितृकर्म और देवकर्म, इन्ही मे पशु हिसा करनी चाहिए, अन्यत्र नही - यह मनु ने कहा है।

एष्वर्थेषु पशून्हिसन् वेदतत्वार्थ विद्द्विजः।
आत्मान च पशु चैव गमयति उत्तमा गतिम्॥42॥

वेद के तत्त्व को जानने वाला द्विज इन पूर्वोक्त मधुपर्कादि कर्मो मे पशु-हिसा करता हुआ अपने को तथा उस पशु को उत्तम गति प्राप्त कराता है।

या वेदविहिता हिसा नियतास्मिश्चराचरे।
अहिसामेव ता विद्याद्वेदाद्धर्मो हि निर्वभौ॥ 44॥

जो हिसा वेदविहित है और इस चराचर जगत मे नियत है, उसे अहिसा ही समझना चाहिए क्योंकि धर्म वेद से ही निकला है।

यजुर्वेद (अ॰ 23, मण्डल 16) मे पशु के बलिदान का मन्त्र आया है, "हे अश्व। यत् त्वमस्माभिः सज्ञप्यसे एतत् त्व न म्रियसे – मरण न प्राप्नोषि न च ऋष्यासि – विनश्यसि अपितु सुगेभिः – साधुगमनैः पथिभिः – देवयानमार्गैः देवान् इत्–प्रतिगच्छसि, यत्र लोके सुकृत –पुण्यात्मानो यन्ति–गच्छन्ति दुष्कृतश्च न गच्छन्ति तस्मिन् लोके सवितादेवस्त्वा दधातु–स्थापयतु। इति मन्त्रार्थः।" – हे अश्व। हम जो तुम्हारा बलिदान करते है, इससे तुम्हारी मृत्यु नही होती और न तुम्हारा विनाश ही होता है। तुम देवो के मार्ग से देवत्त्व के समीप पहुँचोगे। जिस प्रदेश मे पुण्यात्मा जाते है, पापात्मा नही जाते, ऐसे लोक मे सूर्यदेव तुम्हे स्थापित करे।

स्वामी **भगवदाचार्य** ने लिखा है, कि मास से पितरो को पिण्डदान देने का विधान मनुस्मृति, विष्णुपुराण आदि मे है। ब्राह्मण ग्रन्थो मे भी पशुबलि का कथन है। वे पाणिनी के सूत्र 'दाशगौघ्नौ–सम्प्रदनि'॥ 3-4-73॥ को देते हुए लिखते है कि पाणिनी के समय मे अतिथि के लिए गोवध की प्रथा थी।

लोकमान्य बालगगाधर तिलक के 'गीता-रहस्य' (पृ॰31) मे महाभारत के शान्ति पर्व 141 की यह कथा दी गई है कि– "इसी समय 12 वर्ष तक दुर्भिक्ष रहा तथा विश्वामित्र पर बडी विपत्ति आई। तब उन्होने किसी चाण्डाल के घर से कुत्ते का मास चुराया और वे इस अभक्ष्य भोजन से अपनी रक्षा करने मे प्रवृत्त हुए।"

एक बार 1934 मे हमने महात्मा गाधी से वर्धा मे वैदिक अहिसा की चर्चा करते हुए मनुस्मृति का यह वाक्य कहा था–'वर्जयेत् मधुमास च', इस पर बापू ने कहा था, "आप वैदिक ग्रन्थो की अहिसा के बारे

मे क्या प्रमाण पेश करते है। उनमे नरमेध, गोमेध सदृश यज्ञो के नाम पर भयकर हिसा का समर्थन पाया जाता है।"

प्राचीनकाल मे बेचारे धर्म की बडी दुर्दशा हो रही थी। करुणा के स्थान पर भीषण क्रूरता ने आसन जमाकर धर्म की प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली थी। **गौतम धर्म सूत्र** (12, 4-6) से ज्ञात होता है कि मानव-रूपधारी दीन शूद्रो पर रोमाञ्चकारी कठोरता की जाती थी। वेदध्वनि शूद्र तक पहुच जाने से उसके कानो मे सीसा और लाख भर दिए जाते थे। वेदोच्चारण करने पर शूद्र की जीभ काट ली जाती थी तथा वेदमन्त्र-पाठ करने पर शरीर के दो टुकडे कर दिए जाते थे। इतिहास से ज्ञात होता है कि ब्राह्मण पेशवाओ के शासन मे शूद्रो को गले मे घडा तथा कमर मे झाडू बाधकर चलना पडता था। घडा उनके थूकने के काम मे आता तथा झाडू से उन्हे मार्ग स्वच्छ करना पडता था। बौद्ध जातक से ज्ञात होता है कि दो शूद्रो को धनी-मानी परिवार की स्त्रियो ने नगर के बहिर्द्वार पर देख लिया। इससे अपने नेत्रो को शुद्ध करने के लिए उन महिलाओ को नेत्र धोने पडे।

श्री **विनोबा भावे** अपने गीता प्रवचन (अ० 13, पृ० 192) मे लिखत है, "भक्त की सहायता करने वाला वह भगवान रैदास के चमडे धोता है, सजन कसाई का मास बेचता है, कबीरदास की चादर बुनता है व जनाबाई के साथ चक्की पीसता है।" जहा भगवान ही जीवघात से निष्पन्न मास की बिक्री मे सहकारी बनता हो, वहा गोमेध, नरमेध आदि यज्ञो की प्रवृत्तियो का भक्तो मे प्रचार कौन रोक सकता है?

आज भी जीव बलिदान को धर्म का अग मानने वाले जीव दया की बात सुनने को तनिक भी तैयार नही होते। सन् 1960 मे हम कामरूप देश मे स्थित गौहाटी के निकटवर्ती कामाख्या देवी के मन्दिर मे गए, जहा भीषण रूप मे सदा जीवो का बलिदान हुआ करता है, हमे वहा एक पण्डित मिले। हमने उनसे कहा-'वर्तमान युग मे आप लोगो को मन्दिर मे खून की नदी नही बहाना चाहिए। तुलसीदास जी ने कहा है-

दया धरम का मूल है, पाप मूल अभिमान।
तुलसी दया न छाँड़िए, जब तक घट मे प्राण।।

इसे सुनकर मास रूप प्रसाद को प्राप्त करने वाला वह ब्राह्मण बोल उठा–"हमारे यहा तुलसीदास की नही चलती। हम लोगो का शास्त्र जैसा कहता है, वैसा ही हम करते है। हमारे भगवान ने कहा है कि पशुओ का बलिदान करना कल्याणकारी है।" मुझे स्मरण आया कि सुसस्कृत बगाली विद्वानो से समलकृत कलकत्ता के काली मंदिर मे बलिदान किए गए पशुओ के खून की धारा का प्रवाह नही रोका जा सकता तो अन्य सामान्य स्थानो की कथा निराली है। गाधी जी ने काली मंदिर का चित्रण इस प्रकार किया है–"मै काली मन्दिर मे गया। रास्ते मे देखा बकरो की पक्तिया बलिदान के लिए चली जाती दिखाई दी। मन्दिर मे गए। सामने खून की नदी सी बह रही थी। मुझसे यह दृश्य देखा नही गया। वहा खडा नही रहा गया। शरीर और मन मे उत्तेजना सी आने लगी। जी घबडाने लगा। उस दृश्य को मै आज तक नही भूल सका हूँ।" गाधी जी ने यह भी लिखा है कि उन्होने उपरोक्त हत्याकाण्ड से सम्बद्ध पूजा-पद्धति के विषय मे चर्चा की। इस पर उन बगाली महाशय ने कहा, "वहा ढाक-ढोलो की जो पिटाई होती है, जो हो-हुल्लड मचा रहता है, उससे बकरो को मरते समय कोई कष्ट नही होने पाता।" गाधी जी लिखते है, "मैने उनसे कहा, "अगर बकरो मे बोलने या अपना हाल सुनाने की शक्ति होती तो वे कुछ और ही कहते।" मेरी दृष्टि मे एक बकरे के जीवन का मूल्य एक मनुष्य के जीवन की अपेक्षा किसी तरह कम नही है। मनुष्य का शरीर या जीवन बचाने के लिए मै बकरे की हत्या करने को तैयार नही हूँ। जो जीव जितना अधिक दुर्बल तथा निराश्रय है, मै समझता हूँ कि मनुष्य के द्वारा अनुष्ठित होने वाली अहिसा के लिए उसका दावा उतना ही अधिक है।" (*आत्मकथा*, पृ० 357)।

आज भी धर्म के नाम पर कैसी भीषण हिसा होती है, इसका अत्यन्त दु:खद वर्णन इन पक्तियो से ज्ञात होता है, "मद्रास प्रान्त के **बदुमल पेठ** ग्राम का ता० 21 जुलाई स० 1949 का समाचार है, कि

एक पिता ने अपने पाच वर्ष के बालक का सिर हथियार से इसलिए काट लिया, कि उसे पूर्व रात्रि को यह स्वप्न आया था, जिसमे उसे दैवी शक्ति ने बलि देने को कहा था, यह घटना कालुकरा ग्राम मे हुई। (*वेकटेश्वर समाचार*, 29-7-49)।

इस प्रसग मे इतना उल्लेख और आवश्यक है कि जहा वाल्मीकि के आश्रम मे वसिष्ठ के लिए गो-मास खिलाने का वर्णन है, वहा राजर्षि जनक को मास-रहित मधुपर्क का उल्लेख है। इसीलिए भाण्डायन कहता है-**'निवृत्त-मासस्तु तत्रभवान् जनक.'** (पृ॰105-7)।

वैदिक वाड्मय का परिशीलन करने पर विदित होता है, कि पुरातन भारत मे हिसा और अहिसा की दो विचार-धाराएँ शुक्लपक्ष-कृष्णपक्ष के समान विद्यमान थी। **प्रो॰ ए॰ चक्रवर्ती**, *एम॰ ए॰* तो इस निष्कर्ष पर पहुँचे है कि अहिसा की विचार-धारा उत्तर काल मे जैन कहे जाने वालो द्वारा प्रवर्तित, अनुप्राणित एव समर्थित थी। ब्राह्मण और उपनिषद् साहित्य मे विदेह और मगध मे जहा क्षत्रिय नरेशो का प्राबल्य था-अहिसात्मक यज्ञ का प्रचार था। वे लोग एक विशेष भाषा का उपयोग करते थे जिसमे 'न' को 'ण' उच्चारित किया जाता था, जो स्पष्टत· प्राकृत भाषा के प्रभाव या प्रचार को सूचित करता है। पहिले तो कुरु पाचाल देश के विप्रगण मगध और विदेह भूमि वालो को अहिसात्मक यज्ञ के कारण तुच्छ समझ उन प्रदेशो को निषिद्ध भूमि-सा प्रचारित करते थे, किन्तु पश्चात् जनक के नेतृत्व मे अहिसा और अध्यात्म विद्या का प्रभाव बढा और इसलिए अपने को अधिक शुद्ध मानने वाले कुरु पाचाल देशीय विद्वज्जन आत्मविद्या की शिक्षा-दीक्षा निमित्त विदेह आदि की ओर जाने लगे।

बुद्धकालीन भारत मे भी इसी प्रकार की कुछ प्रवृत्ति दिखाई देती है। जहा 'महावग्ग' मे गौतम बुद्ध धर्मोपदेश देते हुए कहते है-इरादा पूर्वक भिक्षु को किसी भी प्राणी-कीडा अथवा चीटी तक की हिसा नही करनी चाहिए, वहा 'विनयपिटक' मे बुद्ध यह उपदेश देते हुए पाए जाते है-"भिक्षुओ, मै कहता हू कि मछली तीन अवस्था मे ग्राह्य है। पहले यदि तुम इसे इस रूप मे न देखो, दूसरे यदि तुम उसे इस रूप मे न

सुनो और तीसरे तुम्हारे चित्त मे इस प्रकार का सन्देह ही उत्पन्न न हो कि यह तुम्हारे लिए ही पकडी गई है।"[3] महावग्ग[4] मे लिखा है कि–"नवदीक्षित एक मत्री ने बारह सौ पचास भिक्षुओ सहित बुद्ध को आमंत्रित किया और मास परोसा। सघ ने बुद्ध सहित उसे खाया।"[5] सुत्तनिपात मे प्राणियो की हत्या को दोषपूर्ण बताते हुए मास-भक्षण को पाप नही कहा है।

बौद्ध धर्म की दार्शनिक पृष्ठभूमि-क्षणिकवाद-उसके मास भक्षण के मार्ग मे सहायक बनता है। कर्मों का कर्ता जीव नष्ट हो जाता है, उसके पश्चात् नवीन जीव कर्मो के फल का भोगने वाला पैदा होता है।

आचार्य अकलकदेव ने लिखा है:–

"कर्ता कर्मफल न भुक्त इति यो वक्ता स बुद्धः कथम्?" - कर्मो का कर्ता उसके फल का भोक्ता नही होता है, ऐसी असगत बात करने वाले को किस प्रकार बुद्ध-विचारशील माना जाएगा। प्रतीत होता है कि इस नैतिक-उत्तरदायित्व विहीन दृष्टि ने बुद्ध जगत मे मासाहार की अमर्यादित वृद्धि की है। स्वामी सत्यदेव परिव्राजक ने अपनी "कैलाश यात्रा" पुस्तक मे बौद्ध साधु लामाओ की हिसापूर्ण वृत्ति का बडा दर्दनाक वर्णन लिखा है। मानसरोवर के निकटवर्ती दर्चन के मन्दिर मे उन्हे तिब्बती क्रूरता की भयकर व्यवस्था मालूम हुई।" लामाओ ने एक बकरे को पकडकर उसका मुह और नाक कसकर बाध दिया। दम घुटने से पशु छटपटाने लगा। बेचारे ने तडप-तडप कर प्राण दे दिए। अपनी इस क्रूरता का कारण उन्होने यह बताया कि बौद्धधर्म के अनुसार लामाओ को जीव-हिसा का निषेध है इसलिए उस नियम की रक्षा हेतु पशु को शस्त्र से नही मारते। केवल दम बन्द कर देते है। यह फिलॉसफी इन लामाओ की है।" (पृ० 102-3)।

अन्य बुद्ध धर्मी देशो मे भी अहिसा के स्थान पर हिसा का बोलबाला नजर आता है। सन् 1954 मे हमारे अनुज प्रोफेसर सुशील कुमार दिवाकर लका गए थे। वहा उन्होने मासाहार का प्रचुर मात्रा मे प्रचार बताया। सन् 1956 मे जब हम जापान के विश्वधर्म सम्मेलन मे

गए थे, तब हमे मास भक्षण और मद्यपान का अत्यधिक प्रचार देख यह समझ मे आया कि यह देश मासाहारादि हिसात्मक प्रवृत्तियो मे पश्चिम के देशो के ही समान है। बडे-बडे धर्म गुरु भी मास और शराब को जीवन की आवश्यक सामग्री मानते है तथा जीवघात से तनिक भी मनोव्यथा नही अनुभव करते है।

अग्रेजी साहित्य के किसी भी उपन्यास को हाथ मे लो तो उसमे मास भक्षण और सुरापान का पद पद पर उल्लेख प्राप्त होता है। पश्चिम के देशो मे भारतीय जीवन की दाल-रोटी का स्थान मद्य मासादि ने ले लिया है।

डा॰ कालिदास नाग ने विश्व जैन मिशन के अधिवेशन मे कहा था, "मैने ईसाई, बौद्ध, मुसलिम आदि धर्म वालो के देशो मे पर्यटन किया है। मेरे विश्व परिभ्रमण मे भारत के अतिरिक्त मुझे कही भी अहिसा का नाम सुनने को नही मिला। मै आज विश्व की अल्पसख्यक जैन समाज के समक्ष बोल रहा हू। आज का युग आकडो से सच्चाई नापना चाहता है, लेकिन मै बता दू, कि सत्य सदैव अल्पमत मे रहता है।" " अहिसा ही सबसे बडी सेवा है। इसके अनुयायी होने से ही विश्व मे सुख शान्ति स्थापित हो सकती है। (*अहिसा वाणी*, 1852 मई)।

बाइबिल मे हजरत मसीह ने जहा अपने शैल प्रवचन मे (Sermon on Mount) "Thou shalt not kill"–'तू प्राणिहत्या मत कर' इस बात की सुवर्ण शिक्षा दी है वही बाइबिल मे ईसा मसीह को सारे गाव को मछली खिलाते हुए पाते है।[6]

यहा हम इतना ही बताना चाहते थे कि अहिसा का व्यवस्थित पूर्वापर सगत वर्णन भगवान् महावीर आदि जैन तीर्थकरो के शासन के बाहर कही भी नही पाया जाता। अग्रेजी विश्वकोष मे पाली साहित्य के आधार पर भगवान् महावीर को निर्ग्रन्थ दिगम्बर माना है। जब अहिसाव्रत के रक्षार्थ उन्होने दिगम्बर मुद्रा को स्वीकार किया तब **भगवतीसूत्र** सदृश श्वेताम्बर ग्रन्थो के आधार पर पश्चात्वर्ती रचनाकारो के द्वारा एव **प्रो॰ धर्मानन्द जी कोसम्बी** सदृश समर्थको के बल पर भगवान् महावीर को मासाहार से सम्बन्धित करना शान्त चिन्तना के प्रतिकूल है।

नई दिल्ली मे जर्मन राजदूतावास के विद्वान् **डॉ॰ विल्फ्रेड नौले** ने 10 अप्रेल, 1963 को वार्तालाप के प्रसग मे महावीर भगवान के मासाहार के विषय मे चर्चा की थी। इस सबध मे यह बात विचारणीय है कि जब भगवान् के सम-समयवर्ती पाली साहित्य मे विपक्षी लोग उनकी अहिसात्मक चर्या के विरुद्ध एक अक्षर भी नही लिखते, तब सैकडो वर्ष पीछे सकलित पूर्वोक्त साहित्य मे महावीर के चरित्र को हिसात्मक जीवन से किसी भी अवस्था मे सम्बन्धित बताना इन्द्रियलोलुपी लोगो का कार्य होगा, ऐसा प्रतीत होता है। हमारे ध्यान मे तो यह बात आती है कि चन्द्रगुप्त मौर्य के समय मे जो बारह वर्ष का भयकर दुष्काल पडा था, उस समय शैथिल्य परम्परा को प्रचारित करने वाले कुछ प्रभावशाली जीवन-लोलुपी लोगो ने भरण-पोषण का अन्य सम्भव उपाय न पा आपद्धर्म समझ आमिष भोजन की ओर प्रवृत्ति की और, जब दक्षिण भारत से विशाल जैनसघ सु-काल आने पर उत्तर की ओर लौटा और उसके प्रमुख मुनियो ने उत्तर वालो की स्वेच्छापूर्ण वृत्ति की आलोचना की, तब कुछ लोग इन्द्रियो की लोलुपता का परिहार न कर पाए और अपना मुख उज्ज्वल रखने के लिए उन्होने भगवान् महावीर को भी अपने समान चर्यावाला प्रमाणित करने योग्य साहित्य की सृष्टि कर 'आप डुबन्ते पाडे ले डूबे जजमान' वाली कहावत को चरितार्थ किया। सोचने की बात है, कि जिस परम कारुणिक महान् आत्मा ने छोटे-छोटे जीवो तक की पीडा निवारण निमित्त वस्त्रादि का परित्याग किया, वह किसी भी अवस्था मे त्रस जीवो का कलेवर आमिष आहार ग्रहण कैसे करेगा?

यह हर्ष की बात है कि **प्रो॰ धर्मानन्द जी कोसम्बी** ने दिगम्बर शास्त्रो के आधार पर आमिष भोजी-पने से भगवान् महावीर के जीवन को असम्बन्धित स्वीकार किया है। यद्यपि अपनी पुस्तक भगवान् बुद्ध भाग 2 (मराठी) अध्याय 11 मे केवल 'जैन' शब्द देकर दिगम्बर दृष्टि के प्रति कम अन्याय नही किया था। अच्छा हुआ, सुबह का भूला सध्या को घर आ गया। पाली के अध्येता विद्वान् होने के नाते, यदि निष्पक्ष दृष्टि से वे कार्य लेते, तो उन्हे यह प्रकाश अवश्य प्राप्त होता कि यदि भगवान् महावीर शुद्ध शाकाहारी न होते, तो प्रतिद्वन्द्वी बौद्ध-साहित्य

मिर्च-मसाला लगा महावीर की महत्ता पर छीटाकशी किए बिना न रहता। उपर्युक्त विवेचना के प्रकाश मे आशा है साम्प्रदायिको द्वारा प्रसारित भ्रम दूर होगा। विचारक यह भी सोच सकते है कि जिस सस्कृति मे मास को देखने मात्र से दिगम्बर मुनि की तो बात ही क्या, गृहस्थ भी आहार का परित्याग कर देता है, वहा श्रेष्ठ जितेन्द्रिय आजीवन ब्रह्मचारी साम्राज्य परित्यागी परमकारुणिक श्रमणोत्तम महावीर असात्त्विक भावो का प्रेरक और प्राणिघात से निष्पन्न आमिष आहार क्या कभी स्वप्न मे भी ग्रहण कर सकेगे? वास्तव मे विषयो की स्वय की लोलुपता की ओट मे लुब्धक लोग आदर्श-चरित्र पुरुषो को सदोष बना अपनी स्वेच्छापूर्ण प्रवृत्ति करने मे निरकुश हो जाते है।

कुछ टीकाकारो ने यह लिखा है कि भगवती सूत्र मे आगत शब्दो का अर्थ वनस्पति ही है। अत उसके आधार पर भी महावीर भगवान् शाकाहारी ही सिद्ध होते है। कुछ भी हो महाश्रमण महावीर प्रभु दया के देवता थे अत उनका मासाहार से सम्बन्ध जोडने की कल्पना मात्र असत्य की पराकाष्ठा होगी।

यहा यह लिखना आवश्यक है कि विविध धर्मो की श्यामवर्णी धारा के साथ अहिसा की शुभ्र मदाकिनी भी प्रवाहित होती हुई मिलती है। हिसा की अधियारी के मध्य अहिसा की ज्योत्स्ना का दर्शन होने के कारण क्या है? तुलनात्मक शैली से विश्व के साहित्य का मनन करने से ज्ञात होता है, कि जैन साधुओ तथा धर्म प्रचारको ने देश विदेश मे श्रमपूर्वक विहार कर अहिसा तत्त्वज्ञान की प्रतिष्ठा सर्व साधारण के अत करण मे अकित की थी। इसी से भारत के बाहर ईजिप्ट, पैलिस्टाईन आदि देशो मे मासाहार और मद्यपान के त्यागी सत्पुरुषो का उल्लेख इतिहास मे पाया जाता है। ईसा मसीह के गुरु जान वेप्टिस्ट शाकाहारी थे। पायथागोरस भी अत्यन्त दयाशील था। प० जवाहरलाल नेहरू ने अपनी **"इतिहास के महापुरुष"** पुस्तक मे लिखा था "अहिसा मे जैनियो की बडी श्रद्धा है और वे ऐसे कामो के बिल्कुल खिलाफ है, जिनसे किसी भी जीव को तकलीफ पहुचे। इस सिलसिले मे यह जानकारी दिलचस्प होगी कि पाइथागोरस कट्टर निरामिषभोजी

था। उसने अपने शिष्यो के लिए भी यह नियम बना दिया था कि कोई मास न खाये" (पृष्ठ 1)।

अहिसा के विषय मे भगवान महावीर की अधिक ख्याति है। विश्व भारती विश्वविद्यालय शांति निकेतन के प्रोफेसर तान युन शान अध्यक्ष चीनी भवन ने *अमृत बाजार पत्रिका* (सन् 1948, अक्टूबर 31) मे लिखा था "The Gospel of Ahınsa ıs first deeply and systematıcally expounded and properly and specıfically preached by the Jaın Tırthankaras, most promınently by the 24th Tırthankara, the last one Mahavıra Vardhaman " - अहिसा का पवित्र उपदेश गम्भीरतापूर्वक सुव्यस्थित रूप मे चौबीस जैन तीर्थकरो के द्वारा दिया गया था, जिनमे अतिम अर्थात्, चौबीसवे तीर्थकर वर्धमान महावीर का प्रमुख स्थान है।

आज अहिसा का उच्च स्वर मे जयघोष खूब सुनाई पडता है। किन्तु, ऐसे कम लोग है जो अहिसा का मर्म वास्तविक रूप मे जानते है। विरोधी पर शस्त्र-प्रहार मात्र छोड मनमानी विषैली वाणी का प्रयोग करना, मद्य, मास, मधु आदि पदार्थो का सेवन करना, वेश्यासेवन, शिकार खेलना आदि कार्य करते हुए भी श्रेष्ठ अहिसक का सेहरा सिर पर बाधने वालो की भी आज कमी नही है। जब अहिसातत्त्व-ज्ञान का सर्वागीण वर्णन और परिपालन जैन-सस्कृति के ध्वज तले हुआ है, तब जैनदृष्टि से इस विषय पर प्रकाश डालना आवश्यक तथा उपयोगी होगा।

भारत मे अहिसा का हिसा के निषेध रूप निवृत्ति परक अर्थ किया जाता है और चीन देश मे उसका विधि रूप (Posıtıve) अर्थ प्रेम अथवा मैत्री लिया जाता है। इसको चीनी भाषा मे जैन (Jen) कहते है। निषेधात्मक अहिसा को 'पु है' (Pu-Haı) कहते है। अहिसा जैनधर्म और जैन जीवन का प्राण है। उसका पर्यायवाची शब्द चीनी भाषा मे 'जैन' या 'जिन' होना भाषाशास्त्रियो के लिए विशेष चिन्तनीय प्रतीत होता है। जैनधर्म मे अहिसा का विधिपरक (Posıtıve) भी अर्थ किया है। मैत्री, कारुण्य, प्रमोद आदि इसके विधिपरक रूप है। इस प्रकार उसके विधि निषेध रूप दोनो प्रकार के अर्थ लिए गए है। करुणा से जैन धर्म का सम्बन्ध देखकर निष्पक्ष विद्वान् जहा भी विमल प्रेम की गगा या उसकी

शाखा को देखते है, वहा वे जैन प्रभाव को उद्घोषित किए बिना नही रहते हैं। ईसा के तीन चार सदी पूर्व तक्षशिला मे आयुर्वेद का शिक्षण उच्चकोटि का था। वहा पशुओ की श्रेष्ठ चिकित्सा का भी प्रबन्ध था। इस कारण[7] प० जवाहरलाल नेहरु जैनधर्म और बौद्धधर्म का प्रभाव बताते है, जो अहिसा पर अधिक जोर देते है। अहिसा की विचारधारा को एक विशिष्ट मर्यादा के भीतर प्रचारित करने वाले गाधी जी पर, वैष्णव परिवार मे जन्म धारण करते हुए भी, जैन धर्म का विशेष प्रभाव था, कारण वे अपनी माता के प्रभाव मे थे और उनकी माता पर जैन[8] साधु का विशेष प्रभाव था, यह बात उनकी जीवनगाथा पर प्रकाश डालने वाले विदेशी लेखको ने विशेष रूप से प्रकट की है। जार्ज केटलिन तो गुजरात प्रान्त मात्र को जैनधर्म के प्रभावापन्न मानता हुआ उस वातावरण से गाधीजी के जीवन को अनुप्राणित-सा अनुभव करता है। बाह्य वातावरण का जीवन पर गहरा असर होता ही है। अहिसा के उच्च समाराधक होने के कारण ही सौराष्ट्र देश ने भारतीय अहिसात्मक सग्राम मे महान् भाग बटाया था।[9] कैटलिन का कथन है कि भारत मे मासाहार के विरोध मे गुजरात का सबसे प्रमुख स्थान है तथा जैनधर्म का वहा जितना प्रभाव है, उतना भारत के अन्य भागो मे नही है। **'महात्मा गाधी'** नामक अग्रेजी पुस्तक मे श्री पोलक ने[10] गाधी जी की जन्म-भूमि गुजरात मे जैन धर्म के महान् प्रभाव को स्वीकार किया है, जिससे गाधी जी के जीवन को असाधारण प्रकाश तथा बल प्राप्त हुआ। विद्वान् लेखक टाल्सटाय आदि के प्रभाव को उतना महत्त्वपूर्ण नही मानता है। विलायत जाते समय जो गाधी जी ने जैन सन्त श्रीमद् राजचन्द्र भाई से मद्य, मास तथा परस्त्री सेवन त्याग की प्रतिज्ञा ली थी और जिसके प्रभाव से गाधी जी के जीवन मे अहिसात्मक उज्ज्वल क्राति का जागरण हुआ था, उसको फ्रान्स के विश्व विख्यात लेखक रोम्यारोला the three vows of Jains – 'जैनो-की प्रतिज्ञात्रयी' कहते है।[11]

इस सबध मे चीनी विद्वान् **डा० तान युन शा** के उद्गार विशेष मनन करने योग्य है, जो उन्होन 'चीन-भारतीय सस्कृति मे अहिसा' सम्बन्धी चिन्तना युक्त निबन्ध मे व्यक्त किये है। डा० तान का कथन है कि "अहिसा भारतीय एव चीनी सस्कृति का सामान्य तथा प्रमुख अग

है। भारत मे निषेधात्मक अहिसा की व्याख्या प्रचलित है और चीन मे विधिरूप।" गाधी जी ने भारतीय दृष्टिकोण का स्पष्टीकरण करते हुए कहा था, कि "इस देह मे जीवन धारण करने मे कुछ न कुछ हिसा होती है। अत. श्रेष्ठ धर्म की परिभाषा मे हिसा न करना रूप निषेधात्मक अहिसा की व्याख्या की गई है।"[12] यह अहिसा का उपदेश सबसे पहले विशेषतया जैन तीर्थंकरो ने गम्भीरता एव सुव्यवस्थापूर्वक बतलाया और उचित रीति से प्रचारित किया। उनमे भी 24वे तीर्थंकर वर्धमान महावीर मुख्य है। पुनः इस अहिसा का प्रचार बुद्धदेव ने किया। जो लोग जैन धर्म की अहिसा को अव्यवहार्य सोचते है, उनके परिज्ञानार्थ डा० तान का यह कथन है, "मानवता का पर्याप्त विकास नही हो पाया है, इससे यह अव्यवहार्य भले ही प्रतीत हो, किन्तु जब मानवता की विशेष उन्नति होगी तथा वह उच्च स्तर पर पहुँचेगी, तब अहिसा व्रत सबको पालना होगा एव सभी इसका पालन करेगे।"[13] "चीन एव भारत मे शुद्ध अहिसा की भूमिका पर अवस्थित व्यापक सयुक्त सस्कृति का निर्माण करने के उपरान्त हमे यह उचित होगा, कि हम उसी अहिसा के आधार पर व्यापक विश्व सस्कृति का निर्माण करे।"[14] अत हमारा आद्य कर्त्तव्य परिशुद्ध अहिसा के स्वरूप को हृदयगम करना है। खेद है कि राजनैतिक चीन ने हिसा और अन्याय का पथ पकडकर भारत के प्रति शत्रुभाव को अपनाया है।

अहिसा का यथार्थ स्वरूप राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, भीरुता, शोक, घृणा आदि विकृत भावो का त्याग करना है। प्राणियो के प्राणो के वियोग करने मात्र को हिसा समझना अयुक्त है। तात्त्विक बात तो यह है कि यदि राग, द्वेष, मोह, भीति आदि दुर्भाव विद्यमान है, तो अन्य प्राणी का घात न होते हुए भी हिसा निश्चित है। यदि रागादि का अभाव है तो प्राणिघात होते हुए भी अहिसा है। **अमृतचन्द्र स्वामी** लिखते है:—

"अप्रादुर्भावः खलु रागादीना भवत्यहिसेति।
तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य सक्षेप.॥"

—पुरुषार्थसिद्धयुपाय, श्लो० 44।

रागादिक का अप्रादुर्भाव अहिसा है, रागादिको की उत्पत्ति हिसा है। यह जिनागम का सार है।

तत्त्वार्थसूत्रकार आचार्य **उमास्वामी** लिखते है–

"प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपण हिसा"

इस परिभाषा मे 'प्रमत्तयोग' शब्द अधिक महत्त्वपूर्ण है। यदि राग-द्वेष आदि है तो भले ही किसी जीवधारी के प्राणो का नाश न हो, किन्तु कषायवान व्यक्ति अपनी निर्मल मनोवृत्ति का घात करता है। इसलिए स्व-प्राणघातरूप प्राणव्यपरोपण भी पाया जाता है। भारतीय दण्ड विधान (Indian Penal Code) मे किसी व्यक्ति को प्राणघात का अपराधी स्वीकार करते समय उसमे घातक मनोवृत्ति (Mentality) का सद्भाव प्रधानतया देखा जाता है। इसी कारण आत्मरक्षा के भाव से शस्त्रादि द्वारा अन्य का प्राणघात करने पर भी व्यक्ति दण्डित नही होता। धार्मिक दृष्टि से अहिसा के विषय मे भी जैनाचार्यो ने यही दृष्टि दी है। महर्षि **कुन्दकुन्द** ने प्रवचनसार मे लिखा है–

"मरदु व जियदु व जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिसा।
पयदस्स णत्थि बधो हिसामेत्तेण समिदस्स॥"

–अ० 3, गा० 17।

जीव का घात हो अथवा न हो, असावधानीपूर्वक प्रवृत्ति करने वाले के हिसा निश्चित है, किन्तु सावधानीपूर्वक प्रवृत्ति करने वाले साधु के कदाचित् प्राण-घात होते हुए भी हिसानिमित्तक बन्ध नही होता।

प० **आशाधर जी** तर्क द्वारा समझाते है–"यदि भाव के अधीन बन्ध मोक्ष की व्यवस्था न मानी जाए, तो ससार का वह कौन-सा भाग होगा, जहा पहुँच मुमुक्षु पूर्ण अहिसक बनने की साधना को पूर्ण करते हुए निर्वाण लाभ करेगा?"[15]

अहिसा पर अधिकारपूर्ण विवेचन करने वाले **अमृतचन्द्र सूरि** पुरुषार्थसिद्ध्युपाय मे लिखते है–

"सूक्ष्मापि न खलु हिसा परवस्तुनिबन्धना भवति पुंसः।
हिसायतननिवृत्तिः परिणामविशुद्धये तदपि कार्या"॥ 49॥

परपदार्थ के निमित्त से मनुष्य को हिसा का रञ्च मात्र भी दोष नही लगता; फिर भी हिसा के आयतनो-स्थानो (साधनो) की निवृत्ति परिणामो की निर्मलता के लिए करनी चाहिए।

इससे यह स्पष्ट होता है कि हिसा का अन्वय-व्यतिरेक अशुद्ध तथा शुद्ध परिणामो के साथ है। क्रोध परित्याग को अहिसा और उसके सद्भाव को हिसा साधारणतया लोग जानते है। जैन ऋषि मान-माया-लोभ, शोक, भय, घृणा आदि को हिसा के पर्यायवाची मानते है क्योंकि उनके द्वारा चैतन्य की निर्मलवृत्ति विकृत तथा मलीन होती है-

"अभिमान-भय-जुगुप्सा-हास्यारति-शोक-काम-कोपाद्याः।
हिसाया· पर्याया· सर्वेऽपि च सरकसन्निहिताः॥"

-पु॰ सिद्धयुपाय 64

अहिसा-हिसा का मूलाधार मनोवृत्ति है। जैन पुराणो मे वराह और व्याघ्र का एक उपयोगी व्याख्यान है। किसी वन की गुफा मे एक दिगम्बर जैन मुनिराज ध्यान कर रहे थे। वहा एक व्याघ्र और वराह सहसा आ गए। पूर्व जन्म के सस्कारवश व्याघ्र के भाव मुनिराज के भक्षण को हुए और वनशूकर के परिणाम उनकी रक्षा के हुए। क्रूर व्याघ्र आक्रमण करने को उद्यत हो रहा था, कि शूकर ने व्याघ्र पर भीषण प्रहार किया। दोनो की भीषण लडाई हुई और क्षत-विक्षत होकर दोनो का मरण हो गया। स्थूल दृष्टि से देखने पर दोनो का कार्य समान था। लडे दोनो, मरे भी दोनो ही, किन्तु उनके मनोभाव पृथक् पृथक् थे। इससे साधुरक्षण के परिणाम वाले वराह ने देव का पद पाया और पापी व्याघ्र ने नरक के अपार दु.ख भोगे। अत· अहिसा-हिसा की कसौटी जीवघात ही नही है। मलिन मनोवृत्ति वाला जीवघात न करते हुए भी हिसक है। उज्ज्वल भाव वाले के द्वारा पूर्ण सावधानी रखने पर परिस्थिति विशेष मे प्राणघात होते हुए भी हिसा का दोष नही माना गया है।

कभी-कभी अहिसा-सिद्धान्त के विरुद्ध 'जीवो जीवस्य जीवनम्' जीव ही जीव का भोजन है, यह कथन उपस्थित किया जाता है।

यथार्थ मे देखा जाए, तो यह नियम पशु जगत मे पाया जाता है, विवेक प्रधान मानव इस प्रक्रिया मे समुचित परिवर्तन करके हिसा के स्थान मे अहिसा को प्रतिष्ठित कर सकता है। जैन आगम कहता है वास्तविक अहिसा की आराधना के लिए अन्त करण की पवित्रता आवश्यक है। एक धीवर प्रभात मे जागकर जीवघात विचारो मे निमग्न रहता है वह एक भी जीव का घात नही करता हुआ महा पापी माना गया है। इस प्रकार की क्रूर मनोवृत्ति न रहने से किसान खेत मे हल चलाते हुए तथा अनेक जन्तुओ के प्राणो का विनाश करते हुए धीवर सदृश पापी नही माना गया है। सोमदेव आचार्य ने कहा है:-

अघ्नन्नपि भवेत्पापी निघ्नन्नपि न पापभाक्।
अभिध्यान-विशेषेण यथा धीवर-कर्षकौ॥

(यशस्तिलक पूर्वार्ध पृ० 551)

राजा श्रेणिक-सम्राट् बिम्बसार पहले बौद्धधर्मी थे। उनका हृदय जैनधर्म के प्रति विद्वेष के विष से आपूर्ण था। उन्होने उच्च अहिसामयी साधना मे तत्पर यशोधर नाम के दिगम्बर मुनिराज के गले मे मृत सर्प डाला था। इससे श्रेणिक ने सातवे नरक की आयु का बध किया था। राजा वसु का उदाहरण भी प्रकृत प्रसग मे उपयोगी है। शास्त्र मे कहा है कि-

एक बार पर्वत और नारद मे "अजैर्यष्टव्य" उस वेदवाक्य् के अर्थ पर विवाद उत्पन्न हुआ। नारद ने कहा-जिसमे अकुरादि रूप पर्याय प्रगट न हो सके, ऐसे तीन वर्ष के पुराने धान्य से यज्ञ करना चाहिए। 'न जायन्ते इति अजा·' इस व्युत्पत्ति से अज का तीन वर्ष का पुराना धान्य अर्थ होता है। इसके विपरीत पक्ष ग्रहण करने वाले पर्वत ने कहा-'अज' बकरे का बोधक है अत: याज्ञिक को मन्त्र द्वारा बकरे का होम करना चाहिए। इस हिसात्मक पक्ष का निराकरण करते हुए नारद जी ने कहा था कि पशु का वध महापाप है। वह कुगति मे पतन का हेतु

है। पशु-बध के समर्थन मे जो यह कहा जाता है–'मन्त्रतोमृत्युर्नदु खम्' मन्त्र द्वारा होने वाली मृत्यु से दु ख नही होता, यह सर्वथा असत्य है। यदि पैर बाधे बिना और नाक मूदे बिना पशु मर जावे तब तो मन्त्र से मरना सत्य कहा जाए, परन्तु यह असम्भव बात है। मन्त्र के प्रभाव से मरने वाले पशु को सुख की प्राप्ति होती है, यह असत्य है। क्योंकि जो पशु मारा जाता है, वह दुष्टग्रह से पीडित की भाति जोर-जोर से चिल्लाता है, इसलिए उसका दु·ख स्पष्ट दिखाई देता है। इस विवाद के बढ जाने पर दोनो सहाध्यायी मित्रो ने सहपाठी राजा वसु को इस बात का निर्णायक स्वीकार किया कि सत्य पक्ष और असत्य पक्ष को वह अपने गुरु क्षीरकदम्ब उपाध्याय से प्राप्त उपदेश के प्रकाश मे स्पष्ट करे। राजा वसु ने पर्वत की माता, तथा अपनी उपाध्यायी के दबाव मे पडकर सत्य पक्ष का परित्याग करते हुए यह कहा–'पर्वतेन यदत्रोक्त तदुपाध्याय भाषितम्' - पर्वत ने जो बकरे के बलिदान का अर्थ किया है, वह सत्य है।

वाङ्मात्रेण ततो भूमौ निमग्न. स्फटिकासन·।
वसु· पपात पाताले पातकात् पतन ध्रुवम्॥17-151॥ हरि॰ पु॰॥

इतना कहते ही राजा वसु का स्फटिकमय आसन पृथ्वी मे धँस गया और वह पाताल मे समा गया। ठीक ही है, पातक से पतन होता ही है। वह रौद्रध्यान के कारण सातवे नरक पहुचा।

दशलक्षण पूजा मे "बच झूठ सेती नरक प्रहुचा" यह पाठ पढा जाता है। वास्तव मे, देखा जाए तो राजा वसु ने किसी भी जीव का घात नही किया था किन्तु पशु-बलिदान को प्रेरणा प्रदाता होने से उस पापी का भयकर रूप से अधपात हुआ। इससे स्पष्ट होता है कि हिसा और अहिसा के रहस्य को समझने के लिए भावो पर विशेष दृष्टि देना आवश्यक है। बाह्य सामग्री भावो को प्रभावित करती है, इससे भावो की निर्मलता के लिए योग्य साधक सामग्री की ओर भी ध्यान दिया जाता है। जीवघात के परिणामो को भाव हिसा तथा जीव के प्राणो का घात करना द्रव्य हिसा कहा गया है। महाभारत मे प्राण घात रूप द्रव्य हिसा को ही मुख्य हिसा मानकर एक धर्म नाम का मास विक्रेता हिसा को

विश्वव्यापिनी बताता हुआ अहिसात्मक जीवन को असम्भव कहता है तथा अपने को स्वधर्म मे रत मानकर सतोष वृत्ति का अनुभव करता है।[17] वह 'जीवो जीवस्य जीवनम्'– को सिद्धान्त मानकर अपना पक्ष पुष्ट करता है। आज विश्व के विद्वान् जैनधर्म के कथन को अहिसा के बारे मे विशेष महत्त्व प्रदान करते है। उस जैन धर्म मे मास विक्रेता का व्यवसाय अत्यत निदनीय कहा गया है। मास विक्रय की कृषि से तुलना करना अयोग्य है। मास का व्यवसाय सकल्पी हिसा परिपूर्ण महापाप है, किन्तु कृषि कर्म आरम्भी हिसा रूप होने से अल्प पाप पूर्ण है। कसाई और किसान की मनोवृत्ति पर ध्यान देने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनमे महान अन्तर है। पुरुषार्थसिद्ध्युपाय मे लिखा है –

हरित-तृणाकुरचारिणि मन्दा मृगशावके भवति मूर्च्छा।
उन्दर-निकरोन्माथिनि मार्जारे सैव जायते तीव्रा ॥121॥

कोमल तृणाकर भक्षण करने वाले मृग के शिशु के भावो मे अल्प मात्रा मे मूर्छा होती है। चूहो के समुदाय को भक्षण करने वाली बिल्ली के भावो मे तीव्र मूर्छा होती है। (मूर्छा मानसिक मलिनता तथा आसक्ति को कहते है।)

हरिण शिशु की मानसिक मलिनता तथा आसक्ति अत्यन्त मन्द होती है। इस प्रकार भिन्न-भिन्न जीवो की मनोवृत्ति के अनुसार हिसा मे भी भेद होता है। धान्य मे रहने वाले जीव के प्राण हरण करने वाले की कसाई से तुलना करना अत्यन्त अनुचित है। वनस्पति मे केवल एकेन्द्रिय जीव है। गाय, बकरा आदि मे पचेन्द्रिय जीव है। एकेन्द्रिय के वध से अधिक दोष दो इद्रिय के घात मे होता है, उससे अधिक तीन इन्द्रिय जीव के घात मे, उससे अधिक चौइन्द्रिय के घात मे तथा उससे भी अधिक पचेन्द्रिय के घात मे दोष होता है। हिसा के आधार रूप जीव के अनुसार भावो मे अन्तर पडता है। मक्खी का घात करने वाला और हाथी का प्राणहरण करने वाला भावो की अपेक्षा समान नही है। एक बात और ध्यान देने की है कि जैनशास्त्र इरादापूर्वक (Intentionally) किसी भी जीव के घात को महान अधम कार्य मानता है। यह बात ध्यान देने की है, कि जैन क्षत्रिय शासन न्याय तथा धर्म के परित्राण हेतु महान

युद्ध मे प्रवृत्त होता है, जिसमे अगणित मनुष्यो का सहार होता है। उस शासक का यह कार्य उस के पद की दृष्टि से अपरिहार्य है; किन्तु यदि वही शासक एक बकरे को किसी देवी को सतुष्ट करने के लिए मारता है, तो वह महान दोषी माना जाएगा, क्योंकि वह सकल्पी हिसा करने का अपराधी है। सर्वप्रथम साधक का कर्त्तव्य है, कि वह 'Sanctity of life' जीवन की पवित्रता को अपने हृदय मे स्थान दे, और आत्मौपम्य की न्यायपूर्ण दृष्टि को सजग रखे। 'आत्मवत् सर्वभूतेषु'–का सिद्धान्त आदरणीय तथा आचरणीय है। अहिसा का यथार्थ रहस्य समझने के लिए स्याद्वाद् दृष्टि का अवलम्बन लेना परमावश्यक है।

राजा शिबि ने अपने शरीर का मास दान दिया था, इसकी वैदिक साहित्यो मे प्रशसा पाई जाती है, किन्तु जैन दृष्टि मासादि का दान निषिद्ध मानती है। अमृतचद्रसूरि चेतावनी देते है –

दृष्ट्वा पर पुरस्तादशनाय क्षामकुक्षि मायान्तम्।
निजमासदान-रभसादालभनीयो न चात्मापि॥88॥

किसी अत्यन्त भूखे व्यक्ति को अपने समीप आया हुआ देखकर उसके भक्षण के लिए अपने शरीर के मास का दान करने की शीघ्रता वश स्वय का बलिदान नही करना चाहिए।

सद्भावना पूर्वक यदि आत्मकल्याण का प्रेमी सत्पुरुष जैन ग्रथो का गहरा अभ्यास तथा मनन करेगा तो उसे पता चलेगा, कि अहिसा का पूर्ण रहस्य क्या है। आज की दुनिया के समृद्ध और समुन्नत माने जाने वाले देशो मे अनेक लोग यह भी निश्चय नही कर पाए है कि किसे मास माना जाए। गाधी जी ने मास त्याग की प्रतिज्ञा ली थी। अपनी माता के समक्ष ली गई प्रतिज्ञा को स्मरण कर उन्होने अण्डे को छोड दिया था, क्योंकि अण्डे के भक्षण मे मास सेवन का दोष आता है। गाधी जी ने लिखा है, "विलायत मे मैने मास के विषय मे तीन प्रकार के वर्णन पढे है। पहले वर्णन के अनुसार मास का मतलब पशु, पक्षियो का ही मास है। शाकाहारी लोगो मे जो लोग इस व्याख्यान के अनुसार चलते है, वे तो मास नही खाते थे, पर मछली खाते थे। अडे का तो कहना ही क्या है? दूसरी व्याख्या के अनुसार साधारणत· लोग जिसे जीव कहते है, उन सब जीवो के मास को मास माना गया है। तीसरी व्याख्या के

अनुसार प्राणिमात्र या जीवमात्र के मास और उन जीवो के द्वारा उत्पन्न होने वाले अन्य पदार्थों की भी गिनती मास मे की गई है। इस व्याख्या के अनुसार निरामिष भोजन को अडे और दूध से भी वर्जित समझना चाहिए" (*आत्मकथा*, 1-84)। इस प्रसग मे यह बात ध्यान देने योग्य है, कि जैनधर्म मे दूध की मास मे गणना नही की गई है। दूध को गौरस कहते है। वह रुधिर पर्याय प्राप्त होने के पूर्व की अवस्था है। खाया भोजन खल भाग रूप परिणत होता है, पश्चात् वह रस रूप होता है, उसके बाद वह भोज्य वस्तु रुधिर रूपता को प्राप्त होती है। इसके अनतर मास पर्याय पैदा होती है। दूध सेवन की मास भक्षण मे परिगणना करने पर सभी जीव मास भक्षी कहे जाएगे, क्योंकि शिशु अवस्था का जीवन दुग्ध पान पर ही आश्रित रहता है। ऐसी स्थिति मे-Harbivorous and Carnivorous शाकाहारी प्राणी तथा मासाहारी प्राणी यह विभाजन विलुप्त हो जाएगा। दुग्धपान करने से सात्त्विक भाव पैदा होता है, मास भक्षण तामसी भावो का कारण है। वस्तु के विशेष स्वभाव को ध्यान मे रखने पर ज्ञात होता है कि सर्प के कण्ठ मे उत्पन्न विष प्राणघातक होता है तथा उसके मस्तक से उत्पन्न मणि विषनाशक होती है। इसी प्रकार शरीर से प्रसूत दूध और मास मे भिन्नता मानी गई है। अण्डे को भी जैनधर्म मे त्याज्य माना है। अण्डे के भीतर जो द्रव पदार्थ रहता है, वह अनत जीवो का पिण्ड है। उसका धवल रूप बहिर्भाग अस्थि रूप है। दूसरे लोग पानी के जीवो को नही जानते थे। जैनधर्म ही जलगत जीवो का कथन करता था; पश्चात् यांत्रिक विज्ञान के द्वारा उन जीवो का प्रत्यक्ष दर्शन हो गया और जैन धर्म का कथन महत्त्वपूर्ण माना गया। इस प्रकार जैन दृष्टि अण्डे को मास भक्षण सदृश मानती हुई दूध को उससे भिन्न मानती है। दूध यदि सदोष होता तो दया के देवता जिनेन्द्र भगवान की पूजा-अभिषेक मे उसका प्रयोग न किया जाता। जिस प्रकार मधु आदि को त्याज्य कहा गया है, उसी प्रकार दूध को भी त्याज्य नही कहा गया है। भगवान ऋषभदेव को छोडकर शेष 23 तीर्थकरो का प्रथम आहार क्षीरान्न का हुआ था। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सभी प्रकार का मास तथा अण्डा त्याज्य है। दूध की स्थिति दूसरी है। पवित्र दूध को अपवित्र मास की श्रेणी मे रखना हस की बक वर्ग मे परिगणना से भी

अधिक अविवेकपूर्ण बात होगी। आत्महित के प्रेमी को जैन शास्त्रो के प्रकाश मे अहिसा का रहस्य अवगत कर तदनुसार जीवन निर्माणार्थ पुरुषार्थ करना चाहिए। जैन धर्म मे सभी वनस्पति को सेवन के योग्य नही माना है। कन्दमूल भक्षण करने मे अनतकाय जीवो का नाश होता है। पीपल, बड, ऊमर, पाकर, कठ उमर सदृश फलो मे जीव राशि की विशेषता होने से उन्हे त्याज्य कहा है। अन्य धर्मो के शास्त्रो का परिशीलन करने वाला सहृदय सत्य शोधक जैन शास्त्रो का मनन करके अपूर्व तथा अज्ञातपूर्व सामग्री अवगत कर स्वहित सम्पादन कर सकता है। इस सबध मे हमारी भलाई इसमे नही है कि जो मेरा है, वही सत्य है; किन्तु जो सत्य है, वह मरा है, ऐसा पवित्र बुद्धि वाला जैन शास्त्रो को रत्नाकर के रूप मे पाएगा। ऐसी ही दृष्टि गाधी जी की थी; इसी से जैन ग्रन्थो का अत्यन्त विनय, प्रेम तथा आदरपूर्वक अभ्यास किया करते थे। यह अहिसा विद्या अमृतत्व की जननी है। *पातजल योग दर्शन* मे लिखा है, 'अहिसा प्रतिष्ठापा तत्सन्निधौ वैरत्याग·' (2-35)–अहिसा की दृढ स्थिति होने पर उस योगी के निकट सब प्राणी बैर भाव का त्याग कर देत है। अहिसा रूपी हिमालय के शिखर पर किस प्रकार चढा जाए और किस प्रकार उसकी श्रेष्ठ साधना की जाए, इसके लिए जैन धर्म के आचार ग्रथो का गहरा अभ्यास तथा अनुचितन आवश्यक होगा। गृहस्थ अवस्था मे ग्यारह प्रतिमा पालन श्रेणिया कही गई है, जिन पर चढने वाला व्यक्ति दिगम्बर श्रमण राज की श्रेष्ठ अवस्था को प्राप्त करने की पात्रता प्राप्त करता है। गीता के ब्राह्मी स्थिति को प्राप्त स्थित प्रज्ञ योगी का जीवित दर्शन सच्चे दिगम्बर जैन मुनि मे होता है। अनगारधर्मामृत का यह कथन महत्त्वपूर्ण है .–

यस्य जीवदया नास्ति तस्य सच्चरित कुत·।
न हि भूतद्रुहा कापि क्रिया श्रेयस्करी भवेत्॥4-6॥

जिसके हृदय मे जीवो के प्रति दया भाव नही है, उसका सच्चा चरित्र किस प्रकार रह सकता है। जो व्यक्ति जीवो के प्रति द्रोहभाव रखता है उनको शत्रु तुल्य समझकर उस प्रकार आचरण करता है, उसकी कोई भी क्रिया कल्याणकारी नही हो सकती।

आहारपान आदि की शुद्धि अहिसक के लिए आवश्यक है। क्योंकि, अशुद्ध आहार अपवित्र विचारो को उत्पन्न करता है और अपवित्र विचारो से कर्मो का बन्ध होता है। साधक की शक्ति के अनुसार अहिसा का न्यूनाधिक उपदेश दिया गया है। अत. यह पूर्णतया व्यवहार्य है। एक खदिरसार नामक भील था। उसने केवल काक-मासभक्षण न करने का नियम ले उसका सफलता के साथ पालन किया था और उच्च पद प्राप्त किया था। यहा इतना जानना चाहिए कि जितने अश मे भील ने हिसा का त्याग किया है उतने अश मे वह अहिसक था, सर्वाश मे नही। परिस्थिति, वातावरण और शक्ति को ध्यान मे रखते हुए महर्षियो ने अहिसात्मक साधना के लिए अनुज्ञा दी है। कहा भी है–

"ज सक्कइ त कीरइ ज य ण सक्कइ तहेव सद्दहण।
सद्दहमाणो जीवो पावइ अजरामर ठाण॥"

जितनी शक्ति हो उतना आचरण करो, जहा, शक्ति न चले, श्रद्धा को जागृत करो। कारण श्रद्धावान् प्राणी भी अजर-अमर पद को प्राप्त करता है।

अहिसा का अर्थ कर्त्तव्यपरायणता है। गृहस्थ से मुनितुल्य श्रेष्ठ अहिसा की आशा करने पर भयकर अव्यवस्था उत्पन्न किए हुए बिना न रहेगी। इस युग की सबसे पूज्य विभूति सम्राट् भरत के पिता आदि अवतार ऋषभदेव तीर्थकर ने जब महामुनि का पद स्वीकार नही किया था और गृहस्थशिरोमणि थे–प्रजा के स्वामी थे तब प्रजापालक नरेश के नाते अपना कर्त्तव्य पालन करने मे उन्होने तनिक भी प्रमाद नही दिखाया। स्वामी **समन्तभद्र** के शब्दो मे उन्होने अपनी प्यारी प्रजा को कृषि आदि द्वारा जीविका के उपाय की शिक्षा दी। पश्चात् तत्त्व का बोध होने पर अद्भुत उदययुक्त उन ज्ञानवान् प्रभु ने ममता का परित्याग कर विरक्ति धारण की। जब वे मुमुक्षु हुए तब तपस्वी बन गए।[18] इससे इस बात पर प्रकाश पडता है कि ऋषभदेव भगवान् ने प्रजापति की हैसियत से दीन-दुखी प्रजा को हिसाबहुल खेती आदि का उपदेश दिया–कर्त्तव्य पालन मे वे पीछे नही हटे। मुक्ति की प्रबल पिपासा जाग्रत होने पर

सम्पूर्ण वैभव का परित्याग कर उन्होने मुनि-पद अगीकार किया तथा कर्मो को नष्ट कर डाला।

भगवज्जिनसेन ने लिखा है कि-प्रजा के जीवन निमित्त भगवान् आदिनाथ प्रभु ने गृहस्थो को शस्त्रविद्या, लेखन-कला, कृषि, वाणिज्य, सगीत और शिल्प-कला की शिक्षा दी थी-

"असिर्मषि कृषिर्विद्या वाणिज्य शिल्पमेव च।
कर्माणीमानि षोढा स्यु. प्रजाजीवनहेतव.॥"

-आदिपुराण पर्व 16-179

यहा यह बात ध्यान देने योग्य है कि भगवान् ने शस्त्र धारण करने को प्रथम स्थान दिया है। जैन धर्म क्षात्र धर्म है, यह आज के लोग भूल गए है।

अहिसक गृहस्थ बिना प्रयोजन इरादापूर्वक तुच्छ-से-तुच्छ प्राणी को कष्ट नही पहुचाएगा, किन्तु कर्त्तव्य-पालन, धर्म तथा न्याय के परित्राण निमित्त वह यथावश्यक अस्त्र-शस्त्रादि का प्रयोग करने से भी मुख न मोडेगा। आचार्य **सोमदेव** ने शस्त्रोपजीवी क्षत्रियो को अहिसा का व्रती इस तर्क द्वारा सिद्ध किया है-

"निरर्थकवधत्यागेन क्षत्रिया व्रतिनो मता ।"

शस्त्रादिग्रहण के विषय मे जैन नरेन्द्र की दृष्टि को **सोमदेव** यशस्तिलक मे इन शब्दो मे प्रकट करते है-

"य शस्त्रवृत्ति समरे रिपु. स्याद् य कण्टको वा निजमण्डलस्य।
अस्त्राणि तत्रैव नृपा· क्षिपन्ति न दीन-कानीन-शुभाशयेषु॥"

जैन[19] नरेश उन पर ही शस्त्र-प्रहार करते है जो शस्त्र लेकर युद्ध मे मुकाबला करता है अथवा जो अपने मण्डल का कण्टक होता है। वह दीन, दुर्बल अथवा सद्भावना वाले व्यक्तियो पर शस्त्र-प्रहार नही करते।

गृहस्थ स्थूल-हिसा का त्याग करता है। स्थूल शब्द का भाव यह है कि निरपराध व्यक्तियो का सकल्पपूर्वक हिसक कार्य न किया जाए। पुराणो मे यह बात अनेक बार सुनने मे आती है कि अपराधियो को

यथायोग्य दण्ड देने वाले चक्रवर्ती आदि अणुव्रती थे इसमे कोई विरोध नही आता।[20]

जो यह समझते है कि जैनधर्म की अहिसा मे दैन्य और दुर्बलता का ही तत्त्व छिपा हुआ है उनकी धारणा उतनी ही भ्रान्त है जितनी उस व्यक्ति की जो सूर्य को अधकार का पिण्ड समझता है। जैन दृष्टि मे न्याय को धर्म समान महत्त्वपूर्ण कहा है। **अमृतचन्द्र स्वामी** ने पुरुषार्थसिद्धयुपाय मे स्थितिकरण अग का वर्णन करते हुए यह बताया है–"न्याय मार्ग से विचलित होने मे उद्यत व्यक्ति का स्थितिकरण करना चाहिए।" अन्यान्य ग्रन्थकारो ने जहा 'धर्म' शब्द का प्रयोग किया है वहा **अमृतचन्द्र स्वामी** ने 'न्याय' शब्द को ग्रहण कर न्याय के विशिष्ट अर्थ पर प्रकाश डाला है।[21]

भगवज्जिनसेन ने शासक का कर्त्तव्य दुष्ट का निग्रह और शिष्ट का परिपालन कहा है। इस वृत्ति का समजस गुण कहा गया है। महापुराण म लिखा है –

राजा चित्त समाधाय यत्कुर्याद दुष्टनिग्रहम्।
शिष्टानुपालन चैव तत्सामजस्यमुच्यते।।42-122।।

दुष्ट और शिष्ट का स्पष्टीकरण इस प्रकार किया गया है –

दुष्टा हिसादिदोषेषु निरता पापकारिण।
शिष्टास्तु शान्ति-शौचादि गुणैर्धर्मपरा नरा·।।203।।

जा हिसा, झूठ, चोरी, कुशील अति लोभादि मे निरत है तथा पाप कर्मो को किया करते है, वे दुष्ट है तथा जो क्षमा, शौच, सत्य, सयमादि गुणा के द्वारा अर्थपालन मे तत्पर रहते है, वे शिष्ट है।

चक्रवर्ती भरतेश्वर ने राजाओ को यह शिक्षा दी थी –

द्विषन्तमथवा पुत्र निगृणहन्निग्रहोचितम्।
अपक्षपतितो दुष्टम् इष्ट चेच्छन्ननागसम्।।200।।–पर्व 42
मध्यस्थवृत्तिरेव य. समदर्शी समजस।
समजसत्व तद्भाव. प्रजास्वविषमेक्षिता।।201।।

जो राजा निग्रह करने योग्य शत्रु अथवा पुत्र का निग्रह करता है, जो किसी का पक्ष नही करता है तथा जो दुष्ट तथा इष्ट व्यक्ति को समान रूप से निरपराध बनाने की इच्छा करता है तथा इस प्रकार मध्यस्थ रहकर जो सब पर समान दृष्टि रखता है, वह समजस कहलाता है। प्रजाओ को विषम दृष्टि से नही देखना राजा का समजसत्व गुण है। इस सबध मे यह बात ध्यान देने योग्य है कि जिस प्रकार रोगी के शरीर मे फोडा होने पर सखावनाशील चिकित्सक शस्त्र प्रयोग कर उसे निरोग बनाने का प्रयत्न करता है, इसी प्रकार दुर्गुण रूप रोग जिस शासित व्यक्ति या समुदाय मे प्रवेश पा गए है, उसके रोग दूर करने के लिए शासक चिकित्सक का कार्य करता हुआ दुष्ट को दंडित करता है। जिस प्रकार चिकित्सक सद्भावना वश हिसक नही, किन्तु हितकारी माना जाता है; इसी प्रकार समजसत्व गुण का पालने वाला शासक भी हिसक नही कितु महोपकारी है, क्योंकि वह अपने अनुशासन तथा न्यायपूर्ण शासन द्वारा व्यक्ति तथा समाज का कल्याण सम्पादन करता है।[22]

एक समय जब महाराज अकम्पन की पुत्री सुलोचना का स्वयवर हो रहा था, तब चक्रवर्ती भरतेश्वर के पुत्र अर्ककीर्ति ने उस कन्या-रत्न का लाभ न होने के कारण निराश हो काफी गडबडी की। दोनो ओर से रणभेरी बजी। युद्ध मे सुलोचना के पति, भरतेश्वर के सेनापति, जयकुमार की विजय हुई उस समय शान्ति स्थापित होने पर महाराज अकम्पन ने सम्राट भरत के पास अत्यन्त आदरपूर्वक निवेदन प्रेषित करते हुए अपनी परिस्थिति और अर्ककीर्ति की ज्यादती का वर्णन किया। साथ मे यह भी लिखा कि मै अपनी दूसरी कन्या अर्ककीर्ति को देने को तैयार हूँ। इस चर्चा को ज्ञात कर भरतेश्वर को अकम्पन महाराज पर तनिक भी रोष नही आया प्रत्युत अर्ककीर्ति के चरित्र पर उन्हे घृणा हुई।[23] उन्होने कहा—अकम्पन महाराज तो हमारे पूज्य पिता भगवान् ऋषभदेव के समान पूज्य और आदरणीय है। अर्ककीर्ति वास्तव मे मेरा पुत्र नही, न्याय मेरा पुत्र है। न्याय का रक्षण कर महाराज अकम्पन ने उचित किया। उन्हे बिना सकोच के अर्ककीर्ति को दण्डित करना था। इस कथानक से यह स्पष्ट हो जाता है कि जैन क्षत्रिय-नरेश न्याय देवता का परित्राण और कर्त्तव्य-पालन मे कितने अधिक तत्पर रहते थे।

वास्वत मे **"शमो हि भूषण यतीना न तु भूपतीनाम्"** यह अहिसको की दृष्टि रही है।

शरीर और आत्मा को भेद-ज्ञान-ज्योति के प्रकाश मे पृथक्-पृथक् अनुभव करने वाला अन्तरात्मा सम्यक्त्वी कर्त्तव्यानुरोध से मत्र-तत्र-यत्र आदि की सहायता ले—अपना सर्वस्व तक अर्पण कर वीतराग देव, निर्ग्रन्थ गुरु, धर्म के आयतन आदि की रक्षा करने मे उद्यत रहता है।

ऐसे कर्त्तव्य पालन के प्रसग आने पर विवेकी धर्मात्मा दैव का आश्रय न ले पौरुष मूर्ति बन कर सद्धर्म और सन्मार्ग का प्राणपण से सरक्षण करता है। वह उस पराक्रम के परीक्षाकाल मे यह नही सोचता कि "जो कुछ भगवान के ज्ञान मे झलका है, वही होगा। भवितव्यता अमिट है। मै तो ज्ञाता तथा दृष्टा हू, अत. मुझे क्या करना है? एक द्रव्य के परिणमन मे दूसरा द्रव्य कुछ नही करता है। निमित्तकारण तो अकिंचित्कर है, इससे मुझे चुपचाप रहना चाहिए।" इस वैराग्य भावना को उस समय वह विवेकी गृहस्थ अप्रासंगिक तथा अकल्याणकारी मानता हुआ सारी शक्ति लगाकर दुष्टो का दमन करता है। **गुणभद्र स्वामी** ने उत्तरपुराण मे कहा है –

धर्मध्वसे सता ध्वसस्तस्माद्धर्मद्रहोधमान्।
निवारयति ये सतो रक्षित तै सता जगत्॥76-418॥

धर्म का विनाश होने पर सज्जनो का ध्वस होता है, अत सत्पुरुष पापी धर्म के द्रोहियो का निवारण करते ही है। ऐसे ही सत्पुरुषो के द्वारा सज्जनो के जगत, सत्पुरुषो के समुदाय का रक्षण होता है।

प्रमादी, विषयलोलुपी तथा कुगतिगामी जीव धर्म पर आगत सकट के समय अकर्मण्य बनकर निर्लज्जता को अपनाता है, किन्तु अहिसा धर्म के प्रति श्रद्धाशील श्रावक उस समय कर्त्तव्यपालन मे अपना सर्वस्व तक स्वाहा करने को तत्पर हो जाता है। **गुणभद्राचार्य** की यह वाणी चिरस्मरणीय है·—

धर्मनिर्मूल-विध्वस सहन्ते न प्रभावुकाः।
नास्ति सावद्यलेशेन बिना धर्मप्रभावना॥416॥

प्रभावशाली पुरुष धर्म का निर्मूल ध्वस कभी भी नही सहन करते है। वे धर्म की प्रभावना करने को तत्पर रहते है, इस कार्य मे सावद्य कर्मसदोष प्रवृत्ति को कभी-कभी अपनाना पडता है, क्योंकि थोडा सावद्य कर्म किए बिना धर्म की प्रभावना नही होती है।

प्रमादी, पापी तथा भीरु प्रकृति के व्यक्ति पौरुष और पराक्रम के प्रयोग की बेला मे अकर्मण्य बन अविवेकी वर्ग के समक्ष अपने को अहिसक तथा अध्यात्मवादी कहते है। वास्तव मे वे कर्त्तव्यच्युत प्रमादी महान पापी है।

पचाध्यायी मे लिखा है :-

"वात्सल्य नाम दासत्व सिद्धार्हद्बिम्बवेश्मसु।
सघे चतुर्विधे शास्त्रे स्वामिकार्ये सुभृत्यवत्॥
अर्थादन्यतमस्योच्चैरुद्दिष्टेषु सुदृष्टिमान्।
सत्सु घोरोपसर्गेषु तत्परः स्यात्तदत्यये॥
यद्वा न ह्यात्मसामर्थ्यं यावन्मन्त्रासिकोशकम्।
तावद् द्रष्टु च श्रोतु च तद्बाधा सहते न सः॥

– *पचाध्यायी (808-10)*

सिद्ध, अरिहन्त भगवान् की प्रतिमा, जिनमन्दिर, मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका रूप चतुर्विध सघ तथा शास्त्र की रक्षा, स्वामी के कार्य मे तत्पर सुयोग्य सेवक के समान, करना वात्सल्य कहलाता है। इनमे से किसी पर घोर उपसर्ग होने पर सम्यग्दृष्टि को उसे दूर करने के लिए तत्पर रहना चाहिए। अथवा जब तक अपनी सामर्थ्य है तथा मत्र, शस्त्र, द्रव्य का बल है, तब तक वह तत्त्व-ज्ञानी उन पर आई हुई बाधा को न देख सकता है और न सुन सकता है।

सोलहवे तीर्थंकर भगवान् शान्तिनाथ ने अपने गृहस्थ जीवन मे चक्रवर्ती के रूप मे दिग्विजय की थी। **स्वामी समन्तभद्र** ने बृहत्स्वयम्भू स्तोत्र मे क्या ही मार्मिक वर्णन किया है–

"चक्रेण य शत्रुभयङ्करेण जित्वा नृप. सर्वनरेन्द्रचक्रम्।
समाधिचक्रेण पुनर्जिगाय महोदयो दुर्जयमोहचक्रम्॥2॥"

अर्थात् जिन शान्तिनाथ भगवान् ने सम्राट् के रूप मे शत्रुओ के लिए भीषण चक्र अस्त्र द्वारा सम्पूर्ण राजसमूह को जीता था; उस महान् उदयशाली ने समाधि-ध्यानरूपी चक्र के द्वारा बडी कठिनता से जीतने योग्य मोहबल को पराजित किया।

गृहस्थ जीवन की असुविधाओ को ध्यान मे रखते हुए प्राथमिक साधक की अपेक्षा उस हिसा के सकल्पी, विरोधी, आरम्भी और उद्यमी चार भेद किए गए है। सकल्प निश्चय या इरादा (Intention) को कहते है। प्राणघात के उद्देश्य से की गई हिसा सकल्पी हिसा कहलाती है। शिकार खेलना, मास भक्षण करना सदृश कार्यो मे सकल्पी हिसा का दोष लगता है। इस हिसा मे कृत, कारित अथवा अनुमोदना द्वारा पाप का सचय होता है। साधक को इस हिसा का त्याग करना आवश्यक है। विरोधी हिसा तब होती है, जब अपने ऊपर आक्रमण करने वाले पर आत्मरक्षार्थ शस्त्रादि का प्रयोग करना आवश्यक होता है। जैसे अन्याय वृत्ति से परराष्ट्र वाला अपने देश पर आक्रमण करे उस समय अपने आश्रितो की रक्षा के लिए सग्राम मे प्रवृत्ति करना। उसमे होने वाली हिसा विरोधी हिसा है। प्राथमिक साधक इस प्रकार की हिसा से बच नही सकता। यदि वह आत्मरक्षा और अपने आश्रितो के सरक्षण मे चुप होकर बैठ जाए तो न्यायोचित अधिकारो की दुर्दशा होगी। जान-माल, मातृ जाति का सन्मान आदि सभी सकटपूर्ण हो जाएँगे। इस प्रकार अन्त मे महान् धर्म का ध्वस होगा। इसलिए साधन सम्पन्न समर्थ शासक अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित रहता है, अन्याय के प्रतीकारार्थ शान्ति और प्रेमपूर्ण व्यवहार के उपाय समाप्त होने पर वह भीषण दण्ड प्रहार करने से विमुख नही होता।

इस प्रसग मे अमेरिका के भाग्य-विधाता **अब्राहम लिकन** के ये शब्द विशेष उद्बोधक है, "मुझे युद्ध से घृणा है और मै उससे बचना चाहता हूँ। मेरी घृणा अनुचित महत्त्वकाक्षा के लिए होने वाले युद्ध तक ही सीमित है। न्याय रक्षार्थ युद्ध का आह्वान वीरता का परिचायक है।

अमेरिका की अखण्डता के रक्षार्थ लडा जाने वाला युद्ध न्याय पर अधिष्ठित है, अतः मुझे उससे दु ख नही है।"[24]

यह सोचना कि बिना सेना अस्त्र-शस्त्रादि के अहिसात्मक पद्धति से राष्ट्रो का सरक्षण और दुष्टो का उन्मूलन हो जाएगा, असम्यक् है। भावना के आवेश मे ऐसे स्वप्न-साम्राज्य तुल्य देश की मधुर कल्पना की जा सकती है, जिसमे फौज-पुलिस आदि दण्ड के अग-प्रत्यगो का तनिक भी सद्भाव नही हो। अहिसा विद्या के पारदर्शी जैन-तीर्थंकरो और अन्य सत्पुरुषो ने मानव प्रकृति की दुर्बलताओ को लक्ष्य मे रखते हुए दण्ड नीति को भी आवश्यक बताया है। सागारधर्मामृत मे दिया गया यह पद्य जैन दृष्टि को स्पष्ट शब्दो मे प्रकट करता है–

"दण्डो हि केवलो लोकमिम चामु च रक्षति।
राज्ञा शत्रौ च पुत्रे च यथा दोष समधृत·"॥ 4, 5॥

राजा के द्वारा शत्रु एव पुत्र मे दोषानुसार पक्षपात के बिना-समान रूप से दिया गया दण्ड इस लोक तथा परलोक की रक्षा करता है।

इसमे सन्देह नही है कि कर्मभूमि के अवतरण के पूर्व लोग मन्द-कषायी एव पवित्र मनोवृत्ति वाले थे इसलिए शिष्टसरक्षण तथा दुष्ट-दमन निमित्त दण्ड प्रयोग नही होता था, किन्तु उस सुवर्ण युग के अवसान के अनन्तर दूषित अन्त·करण वाले व्यत्तियो की वृद्धि होने लगी, अत सार्वजनिक कल्याणार्थ दण्ड-प्रहार आवश्यक अग बन गया, कारण दण्ड-प्राप्ति के भय से लोग कुमार्ग मे स्वय नही जाते। इसी कल्याण भाव को दृष्टि मे रख भगवान् वृषभनाथ तीर्थकर सदृश अहिसक सस्कृति के भाग्य-विधाता महापुरुष ने दण्ड धारण करने वाले नरेशो की सराहना की, कारण इसके अधीन जगत् के योग और क्षेम की व्यवस्था बनती है। महापुराणकार आचार्य **जिनसेन** ने कहा है .–

"दुष्टाना निग्रहः शिष्ट-प्रतिपालनमित्ययम्।
न पुरासीत्क्रमो यस्मात्प्रज्ञा· सर्वा निरागस·"॥ 251॥
"दण्डभीत्या हि लोकोयमपथ नानुधावति।
युक्तदण्डकर. तस्मात् पार्थिवः पृथ्वीं जयेत्"॥ 253॥

"ततो दण्डधरानेतामननुमेने नृपान् प्रभुः।
तदायत्त हि लोकस्य योगक्षेमानुचिन्तनम्''॥ 255॥ पर्व 16।

जैन कथानको से इस दृष्टि के रक्षण की पुष्टि होती है। एक राजा ने घोषणा कर दी थी कि आष्टाह्निक नामक जैनपर्व मे आठ दिन तक किसी भी जीवधारी की हिसा करने वाला व्यक्ति प्राणदण्ड पाएगा। राजा के पुत्र ने एक मेढक को मार कर समाप्त कर दिया। राजा को पुत्र की हिसकवृत्ति का पता लगा तब अपने पुत्र का मोह त्यागकर जैन नरेश ने पुत्र के लिए फासी की घोषणा की।

प्राणदण्ड के अनौचित्य को हृदयगम करने वाले इस उदाहरण मे अतिरेक मानेगे। किन्तु वीतराग भाव से जब देश मे चन्द्रगुप्तादि नरेशो के समय मे ऐसी कठोर दण्ड व्यवस्था थी, तब पाप से बचकर लोग अधिक सन्मार्गोन्मुख होते थे। एक जैन अग्रेज बन्धु ने इग्लैड से पत्र भेजकर अपनी जिज्ञासा व्यक्त की थी कि–जैन होने के नाते दूसरे महायुद्ध मे वह किस रूप मे प्रवृत्ति करे।

यह एक कठिन प्रश्न है। यदि स्वार्थ, अन्याय, प्रपच, स्वेच्छाचारिता के पोषणार्थ आततायी के रूप मे युद्ध छेडा जाता है तो उसमे स्वेच्छापूर्वक सहयोग देने वाला अनीतिपूर्ण वृत्ति का प्रवर्धक होने के कारण निर्दोष नही कहा जा सकेगा। इतना अवश्य है कि समष्टि के प्रवाह के विरुद्ध एक व्यक्ति की आवाज 'नक्कारखाने मे तूती की आवाज' के समान ही अरण्यरोदन से किसी प्रकार कम न होगी। इस विकट परिस्थिति मे उसे समुदाय के साथ कदम उठाना पडेगा, अन्यथा शायद प्राणो से भी हाथ धोना पडे। यदि उसमे अन्याय के प्रतिकार योग्य दृढ आत्मबल की कमी हो तो उसे आसक्ति छोड युद्ध मे सम्मिलित होना होगा। इसके सिवा कोई चारा ही नही है। अनासक्तिपूर्वक कार्य करने मे और आसक्तिपूर्वक कार्य करने मे बन्ध की दृष्टि से बडा अन्तर है। देशकाल, परिस्थिति, व्यक्तिगत सयमशील जीवन की अवस्था आदि अनेक बातो को लक्ष्य मे रखकर ही ऐसे प्रश्न का समाधान खोजा जा सकेगा।

कोई-कोई लोग युद्ध को आवश्यक और शौर्यवर्धक मान सदा उसके लिए सामग्री का सचय करते रहते है और युद्ध छेडने का निमित्त

मिले या न मिले किसी भी वस्तु को बहाना बना अपनी अत्याचारी मनोवृत्ति की तृप्ति के लिए सग्राम छेड देते है। उन लोगो की यह विचित्र समझ रहती है कि बिना रक्तपात तथा युद्ध हुए जाति का पतन होता है और उसमे पुरुषत्व नही रहता–There are panegyrısts of war who say that wıthout a perıodıcal bleedıng a race decays and loses ıts manhood [25]

जर्मनी को युद्धस्थल मे पहुँचने की प्रेरणा करने वाला जर्मन विद्वान् **नीट्शे** युद्ध को मानो धर्म का अग मानता हुआ जोरदार शब्दो मे युद्ध की प्रेरणा करता हुआ कहता है–"सकटमय जीवन व्यतीत करो। अपने नगरो को विसूवियस ज्वालामुखी पर्वत की बगल मे बनाओ। युद्ध की तैयारी करो। मै चाहता हूँ कि तुम लोग उनके समान बनो, जो अपने शत्रुओ की खोज मे रहते है। मै तुम्हे युद्ध की मन्त्रणा देता हूँ, मेरी मन्त्रणा शान्ति की नही, विजय लाभ की है। तुम्हारा काम युद्ध करना हो, तुम्हारी शान्ति विजय हो। अच्छा युद्ध प्रत्येक उद्देश्य को उचित बना देता है। युद्ध की वीरता ने दया की अपेक्षा बडे परिणाम पैदा किए है। तुम्हारी दया ने नहीं, वीरता ने अब तक अभागे लोगो की रक्षा की है। तुम पूछते हो नेकी क्या है? वीर होना नेकी है। सुन्दर और चित्ताकर्षक होने का नाम नेकी नही है। यह बात कुमारियो को कहने दो। आज्ञा पालन और युद्ध का जीवन व्यतीत करो। खाली लम्बी जिन्दगी से क्या फायदा?[26]

वह यह भी कहता है "जो देश दुर्बल और घृणास्पद बन गए है, वे यदि जीवित रहना चाहते है तो उन्हे युद्ध औषध ग्रहण करनी चाहिये। मनुष्य को युद्ध के लिए शिक्षा दी जानी चाहिए और स्त्रियो को योद्धाओ के मनोरजन करने मे विज्ञ बनाना चाहिए। इसके सिवाय अन्य बाते बेसमझी की है। क्या आप यह कहते है कि पवित्र उद्देश्य के कारण युद्ध भी पवित्र हो जाता है? मेरा तो आपसे यह कहना है कि अच्छा युद्ध प्रत्येक उद्देश्य को स्वय पवित्रता प्रदान करता है।"[27]

इस प्रकार की युद्धनीति की दुर्बलता वर्तमान युद्ध के परिणाम ने ही प्रकट कर दी। हार्वर्ड यूनिवर्सिटी के तत्त्वज्ञान के **प्रो० डा० जार्ज सान्तायन** ने युद्ध पर गम्भीर विचार कर जो बात युद्ध के पूर्व लिखी थी वह यूरोप की रक्त-रंजित भूमि मे आज दृष्टिगोचर हो रही है। **डा०**

जार्ज ने लिखा था–"युद्ध राष्ट्र की सम्पत्ति का नाश करता है, उद्योगो को बन्द करता है, राष्ट्र के तरुणो को स्वाहा कर देता है, सहानुभूति को सकीर्ण बनाता है और साहसी-सैनिक वृत्तिवालो द्वारा शासित होने के दुर्भाग्य को प्राप्त कराता है। वह भावी पीढी की उत्पत्ति का भार दुर्बल, बदसूरत, पौरुषहीन व्यक्तियो पर सौपता है। युद्ध को साहस और सद्‌गुण की भूमि स्वीकार करना, ऐसा ही है जैसे व्यभिचार को प्रेम की भूमि कहना।"[28]

टालस्टाय[29] का कथन बडा महत्त्वपूर्ण है, "युद्ध का ध्येय प्राणघात है, उसके अस्त्र है जासूसी, छल, छल की प्रेरणा, अधिवासियो का विनाश, उनकी सम्पत्ति का अपहरण करना अथवा सेना की रसद की चोरी करना, दगा और झूठ, जिन्हे सैनिक उस्तादी कहते है। सैनिक व्यवसाय की आदतो मे स्वतन्त्रता का अभाव रहता है। उनको अनुशासन, आलस्य, अज्ञानता, क्रूरता, व्यभिचार तथा शराबखोरी कहते है।"

साधारणतया लोग युद्ध की भीषणता को भूलकर उसके औचित्य का समर्थन कर बैठते है। ऐसो को **ड्यूक आफ वेलिगटन** के ये शब्द शान्त भाव से हृदयगम करना चाहिए जिनमे कहा है "मेरी बात मानिये, अगर तुम युद्ध को एक दिन देख लो, तो तुम सर्वशक्तिशाली परमात्मा से प्रार्थना करोगे कि भविष्य मे मुझे एक घण्टे के लिए भी युद्ध न देखना पडे।"[30]

वर्तमान युद्धो की प्रणाली और गति-विधि को देखते हुए यह कहना होगा कि उनका बाह्य रूप अच्छा बताया जाता है और उनके अन्तरग मे दुष्टता, अत्याचार, दीनोत्पीडन आदि की कुत्सित भावनाएँ विद्यमान है।[31] इस स्वार्थपूर्ण युद्ध से न्याय का सरक्षक, पौरुष का प्रवर्धक, गुणीजनो का उद्‌बोधक, दीनो का उद्धारक धर्म-युद्ध बिल्कुल भिन्न है। वर्तमान युद्ध तो इस बात को प्रमाणित करते है कि जडता के अखण्ड उपासक पश्चिम के वैज्ञानिक जगत् ने ही यह स्व-परध्वसी अविद्या सिखाई। स्वर्गीय **एण्ड्रयूज** महाशय ने लिखा था-"एक्र युद्ध के अनन्तर दूसरा छिड गया और उससे छुटकारा नही दिखता। वास्तविक बात तो यह है कि पश्चिमी सभ्यता मे कुछ खराबी

अवश्य है जो स्व-विनाशिनी प्रवृत्तियो की ओर प्रतिरोध के उपाय के बिना प्रेरित करती है।"[32]

प्राथमिक साधक को अपने उत्तरदायित्व का ख्याल रखते हुए राष्ट्र आदि के सरक्षण निमित्त मजबूर हो विरोधी हिसा के क्षेत्र मे अवतीर्ण होना पडता है। समाज के कल्याणार्थ राष्ट्र के मार्ग मे दुर्जनरूपी काटो को दूर किये बिना राष्ट्र का उत्थान और विकास नही हो सकता। लेकिन इसका अर्थ यह नही है कि कण्टक के नाम पर रास्ते के मूलरूप बुनियादी पत्थरो को उखाड कर फेका जाए। ऐसी अवस्था मे यदि हम कण्टको से बचे, तो गहरे गड्ढे अपनी गोद मे गिरा हमे सदा के लिए बिना सुलाए न रहेगे। एकान्तरूप से युद्ध मे गुण को ही देखने वाला सारे ससार को भयकर विसूवियस ज्वालामुखी नही, पौराणिक जगत् मे वर्णित प्रलय की प्रचण्ड ज्वालापुञ्जरूप मे परिणत कर देगा। उस सर्वसहारिणी अवस्था मे क्या आनन्द और क्या विकास होगा? **नीट्शे** की दृष्टि मे मनुष्य भूखे व्याघ्र के समान है। उसके अनुसार पशु-जगत् का मात्स्य-न्याय उचित कहा जा सकेगा। लेकिन, विवेकी और प्रबुद्ध मानवो का कल्याण पशुता की ओर झुकने मे नही है। इस विश्व मे महामानव बन हमे एक ऐसे कुटुम्ब का निर्माण करना है, जिसमे रहने वाला देश, जाति आदि की सकीर्ण परिधियो से पूर्णतया उन्मुक्त हो और यथार्थ मे जिसकी आत्मा मे **'वसुधैव कुटुम्बकम्'** का अमूल्य सिद्धान्त विद्यमान हो। विख्यात लेखक **लुई फिशर** का कथन कितना वास्तविक है; हमने पिछले महायुद्ध मे कैसर को पराजित किया था, तो पश्चात् हमे हिटलर की प्राप्ति हुई। हिटलर के पराजय के उपरान्त यह सम्भव है कि हमे और भी क्षतिकारी हिटलर मिले। यह तब तक होगा, जब तक हम उस भूमि और बीज को ही नही समाप्त कर देते, जिससे हिटलर, मुसोलिनी तथा अन्य लडाकू लोग पैदा होते है।[33]

इस प्रसग मे जर्मन-विद्वान् की अपेक्षा प्रख्यात विद्वान् **बैरि० सावरकर** की हिसा-अहिसा सम्बन्धी चिन्तना भी विचारणीय है। वे लिखते है-"हिसा और अहिसा के कारण दुनिया चलती है। अपनी-अपनी सीमा के अन्दर दोनो आवश्यक है। इनके बिना ससार नही चल सकता।

माता अपने वक्षस्थल से बच्चे को दूध पिलाती है, उसके इस त्याग मे अहिसा जरूर है परन्तु जिस समय उस पर कोई दूसरा आक्रमण करने के लिए आता है तो वह मुकाबले पर हिसा के लिए तैयार हो जाती है। इस प्रकार हिसा-अहिसा दोनो एक स्थान पर विद्यमान है। समस्त सृष्टि हिसा-अहिसा पर खडी है, इससे तो यह प्रतीत होता है कि माता जो आक्रमणकारी की हिसा के लिए उतरती है, वह उचित है।" इस प्रसग मे जैन गृहस्थ की दृष्टि से यदि हम विचार करे तो आक्रमणकारी के मुकाबले के लिए माता का पराक्रम प्रशसनीय गिना जाएगा, उसे विरोधी हिसा की मर्यादा के भीतर कसना होगा जिसका गृहस्थ परिहार नही कर सकता। आगे चलकर **श्रीसावरकर** सकल्पी हिसा को भी उचित बताते है। उसका समर्थन नही किया जा सकता।

वे कहते है-"यदि मै चित्रकार होता, तो ऐसी शेरनी का चित्र बनाता, जिसके मुँह से रक्त की बिन्दु टपकती होती। इसके अतिरिक्त उसके सामने एक हिरन पडा होता, जिसे मारने के कारण उसके मुँह मे रक्त लगा होता। साथ ही वह अपने स्तनो से बच्चे को दूध पिला रही हो। ऐसा चित्र देखकर आदमी झट समझ सकता है कि दुनिया को चलाने के लिए किस प्रकार हिसा-अहिसा की आवश्यकता है। हिसा-अहिसा एक दूसरे पर निर्भर है।"[34]

यह चित्र पराक्रमी अहिसक की वृत्ति का अवास्तविक चित्रण करता है। सच्चा अहिसक अपने पराक्रम के द्वारा दीन-दुर्बल का उद्धार करता है, उस पर आई हुई विपत्ति को दूर करता है। दीन पर अपना शौर्य प्रदर्शन करने मे अत्याचारी की आभा दिखाई देती है। बेचारा मृग असमर्थ है, कमजोर है, किन्तु है पूर्णतया निर्दोष। उसके रक्त से रञ्जित शेरनी का मुख शौर्य का प्रतीक नही कहा जा सकता। वह क्रूरता और अत्याचार का चित्र आखो के आगे खडा कर देता है। शेरनी के समान महान् शक्ति का सञ्चय प्रशसनीय है, अभिवन्दनीय है, किन्तु अत्याचारी के स्थान पर दीनो का उसका शिकार बनाया जाना **"शक्ति· परेषा परिपीडनाय"** की सूक्ति को स्मरण करता है। वास्तविक अहिसक गृहस्थ मजबूरी की अवस्था मे विरोधी हिसा करता है। ठीक शब्दो मे तो यो कहना चाहिए कि उसे हिसा करनी पडती है। प्राणघात करने मे उसे

प्रसन्नता नहीं है, किन्तु वह क्या करे? उसके पास ऐसा कोई उपाय नहीं है जिससे वह कण्टक का उन्मूलन कर न्याय की प्रतिष्ठा स्थापित कर सके। व्याघ्री सदृश पशुओ की हिसक-वृत्ति मानव का पथ-प्रदर्शन नहीं कर सकती; कारण उसमे पशुता की ओर आमत्रण है। उसमे पशुबल के सद्भाव के साथ-साथ पशु वृत्ति का भी प्रदर्शन है। अत: शौर्य के नाम पर अत्याचारी के चित्र को आदर्श अहिसाधारी की तस्वीर नही कहा जा सकता। वह चित्र अत्याचारी और स्वार्थी (Tyrant and Selfish) प्राणी का वर्णन करता है। आदर्श अहिसक मानव का नही।

स्व॰ रा॰ ब॰ जस्टिस **जे॰ एल॰ जैनी** ने जैन-अहिसा के विषय मे जो महत्त्वपूर्ण उद्‌गार प्रकट किए थे उनका अवतरण इतिहासज्ञ **स्मिथ**[35] महाशय अपने भारतीय इतिहास मे इस प्रकार देते है-"जैन आचार शास्त्र सब अवस्था वाले व्यक्तियो के लिए उपयोगी है। वे चाहे नरेश, योद्धा, व्यापारी, शिल्पकार अथवा कृषक हो, वह स्त्री-पुरुष की प्रत्येक अवस्था के लिए उपयोगी है। जितनी अधिक दयालुता से बन सके अपना कर्त्तव्य पालन करो। सूत्र रूप मे यह जैनधर्म का मुख्य सिद्धान्त है।"

शत्रु पर विजय पाने के लिए युद्ध के सिवाय अन्य भी उचित उपायो का कुशल नीतिज्ञ परिस्थिति के अनुसार आश्रय लेता है। शान्तिपूर्ण पद्धति को अपनाने पर युद्ध से अधिक स्थायी हृदय-परिवर्तन पूर्वक विपक्षी पर विजय प्राप्त की जाती है। कवि कहता है-

मृदुना दारुण हन्ति मृदुना हन्त्यदारुणम्।
नासाध्य मृदुना किचित् तस्मात् तीक्ष्णतर हि मृदु:॥

शान्तिमय उपाय से बलशाली पर विजय प्राप्त की जाती है। उसके द्वारा अक्रूर व्यक्ति भी वश मे किया जाता है। शान्तिमय उपाय द्वारा कोई भी कार्य असाध्य नही है; इसलिए कठोर पद्धति की अपेक्षा मृदु व्यवहार को विशेष शक्तिशाली नाम से माना गया है।

विलियम शेक्सपियर भी अपने पात्र हेनरी नरेश के द्वारा शान्ति के पथ को अपनाया जाना अधिक लाभकारी तथा शीघ्र सफलता को प्रदान करने वाला मानता है।[36]

वास्तव मे कुशल शासक चतुर चिकित्सक की पद्धति को अपनाता है। चिकित्सक शल्यक्रिया (Operation) उसी समय करता है जबकि ऐसा किए बिना अन्य मार्ग नही है। इसी प्रकार शासक भी अन्य उपायो के असम्भव होने पर अन्त मे युद्ध का आश्रय लेता है।[37] इस युद्ध का मुख्य लक्ष्य न्याय तथा धर्म का सरक्षण रहता है। लोभ, अहकार तथा क्रूरता से प्रेरित युद्ध निदनीय है, क्योंकि उसका उद्देश्य धर्म का रक्षण के स्थान मे धर्म का भक्षण हो गया है।

हिसा का तृतीय भेद आरम्भी हिसा कहा जाता है। जीवन-यात्रा के हेतु शरीररूपी गाडी चलाने के लिए उचित रीति से उसका भरण-पोषण करने के लिए आहार-पान आदि के निमित्त होने वाली हिसा आरम्भी हिसा है। शुद्ध भोजन-पान का आत्म-भावो के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है, यह बात पहले स्पष्ट की जा चुकी है। **हितोपदेश** मे हरिण पात्र के द्वारा शुद्ध आहार के सम्बन्ध मे एक महत्त्वपूर्ण पद्य आया है–

"स्वच्छन्दवनजातेन शाकेनापि प्रपूर्यते।
अस्य दग्धोदरस्यार्थे क कुर्यात् पातक महत्॥"

जब स्वच्छन्द रूप से वन मे उत्पन्न वनस्पति के द्वारा उदर-पोषण हो सकता है तब इस दग्ध-उदर के लिए कौन बडा पाप करे?

जिनके प्राण रसना इन्द्रिय मे बसते है, वे तो इन्द्रिय के दास बन बिना विवेक के राक्षस सदृश सर्वभक्षी बनने से नही चूकते। मद्य, मासादि द्वारा शरीर का पोषण उनका ध्येय रहता है। अनेक प्रकार के व्यजनादि से जिह्वा को लाचसी देकर अधिक-से-अधिक परिमाण मे भोज्य सामग्री उदरस्थ की जाती है। पशु जगत् के आहारपान मे भी कुछ मर्यादा रहती है, किन्तु भोगी मानव ऐसे पदार्थो तक को स्वाहा करने से नही चूकता, जिनका वर्णन सुन सात्त्विक प्रवृत्ति वालो को वेदना होती है। सत्पुरुष दूसरो को पीडा न देने का ध्यान रखते है। कबीर कहता है–

"कबिरा सोई पीर है जो जाने पर पीर।
जो पर पीर न जानई सो काफिर बे पीर॥

सम्राट् **अकबर** का जीवन जब जैन सत **हरिविजय सूरि** आदि के सत्सग से अहिसा भाव से प्रभावित हुआ तब **अबुलफज़ल** के शब्दो मे सम्राट् की श्रद्धा इस प्रकार हो गई–"It is not right that a man should make his stomach the grave of animals"(यह उचित बात नही है कि इन्सान अपने पेट को जानवरो की कब्र बनाये) (*Ain-i-Akabari*, Vol 3, BK VP 380)। मुगल सम्राट् अकबर ने अपने जीवन पर प्रकाश डालते हुए यह भी कहा है–"मास-भक्षण प्रारम्भ से ही मुझे अच्छा नही लगता था, इससे मैने उसे प्राणिरक्षा का सकेत समझा और मैने मासाहार छोड दिया।"[38]

बौद्ध वाङ्मय मे, बुद्ध-देव के 'सूकर-मद्दव' भक्षण का उल्लेख पा 'शूकर का मास बुद्ध ने खाया' यह अर्थ, मालूम होता है चीन और जापान ने हृदयगम किया है। यदि ऐसा न होता तो आज मास-भक्षण मे वे देश अन्य मास-भक्षी देशो से आगे न बढते। एक बार समाचार पत्रो मे बौद्ध जगत् के लोगो के आहार-पान पर प्रकाश डालने वाला लेख प्रकट हुआ था। उससे विदित होता था कि वे लोग आहार के नाम पर किसी जीव को नही छोडते। वे सर्वभक्षी है, सर्पभक्षी भी है। कृत्रिम उपयोग से मलिन वस्तुओ मे कीटादि उत्पन्न कर वे अपनी इच्छा को तृप्त करते है। प्रतीत होता है अपने धर्म मे आनन्द का अतिरेक अनुभव करने वाले धर्मानन्द जी कोसम्बी ने यह सोचने का कष्ट नही किया कि धर्म के प्रधान स्तम्भ मे जीवन के शैथिल्य से गतानुगतिक वृत्ति वाली जनता का क्या हाल होता है। बुद्ध जगत की अमर्यादित मास-गृद्धता यह निर्णय निकालने के लिए प्रेरित करती है, कि शाक्य मुनि के जीवन के साथ शूकर-मद्दव-शूकर मास का दुर्भाग्य से सम्बन्ध रहा होगा। उसे देख चेलो ने अपनी अपनी प्रवृत्ति द्वारा गुरु को भी पीछे कर दिया। कोसम्बीजी को इसी प्रकाश मे जैनो का आहार-पान और महावीर की जीवन-चर्या का अध्ययन करना चाहिए था। कदाचित् 'कुक्कुडमस, बहु-अट्ठिय' का सम्बन्ध प्रक्षिप्त न होकर यदि वास्तव मे महावीर के साथ होता तथा उसका मास-परक अर्थ रहता, तो बौद्ध जगत् के समान जैन जगत् भी आमिष आहार द्वारा अहिसा तत्त्वज्ञान की सुन्दर समाधि

बनाए बिना न रहता। बाह्य जाली प्रमाणो की निस्सारता का पता अन्तरग साक्षियो के द्वारा न्यायविद्या के पण्डित आज की चुस्त, चालाक अदालतो मे लगाया करते है। उसी अन्तरग साक्षी के प्रकाश मे यह ज्ञात होता है कि बौद्धजगत् के समान हिसक-प्रवृत्ति के पोषणनिमित्त परम कारुणिक महावीर के पुण्य जीवन मे बुद्ध-जीवन की तरह आमिष आहार की कल्पना की गई। किन्तु, जैन आचार शास्त्र, जैन श्रमणो की ही नही, गृहस्थो की चर्या का मास के सिवा अन्य भी असात्त्विक शाकाहार तक से असम्बन्ध रूप अन्तरग साक्षिया महावीर की अहिसा को सूर्य के प्रकाश के समान जगत् के समक्ष प्रकट करती है और मुमुक्षु के सम्यक् मार्ग सुझाती है कि विश्व का हित पवित्र जीवन मे है।

श्रीयुत् **गगाधर रामचन्द्र साने** बी॰ ए॰ ने 'भारतवर्षाचा मार्मिक इतिहास' लिखने मे निष्पक्ष दृष्टि को भुला धर्म का विकृत चित्रण कर अपनी साम्प्रदायिक दृष्टि को परितृप्त करने का प्रयत्न किया है। पानी छानकर पीने से क्या लाभ है, आज यन्त्रविद्या के विकास होने के कारण प्रत्येक विचारक के ध्यान मे आ जाते है। पानी छानकर पीने से अनेक जलस्थ जन्तु पेट मे पहुचने से बच जाते है। जन्तुओ के रक्षण के साथ पीने वाले का भी रक्षण होता है। क्योंकि कई विचित्र रोग जैसे नहरुआ आदि अनछने पानी के ही दुष्परिणाम है। अत्यन्त सूक्ष्म जीवो का छन्ने के द्वारा भी रक्षण सम्भव नही है, फिर भी माइक्रोस्कोप-अणुवीक्षण यन्त्र द्वारा इस बात का पता चलता है कि कितने जीवो का एक साधारण सी प्रक्रिया से रक्षण हो जाता है। **मनुस्मृति** सदृश हिसात्मक बलि के समर्थक शास्त्र मे भी निम्नलिखित श्लोक से छनाजल ग्रहण करने का समर्थन पाया जाता है :—

"दृष्टिपूत न्यसेत्पाद वस्त्रपूत जल पिबेत्।
सत्यपूता वदेद् वाच, मनःपूत समाचरेत्''॥ 6।46।

भागवत् मे वानप्रस्थ तथा सन्यासी को छने पानी पीने का कथन है।

"वस्त्रपूत पिबेत् जलम्" (अ॰ 18, 16, एकादश स्कन्ध)

इससे जैनियो के दया-धर्म रक्षक तत्त्व का पोषक छना पानी पीने का उपहास करने मे साने जी का सयानापन सत्य के प्रकाश मे नही

दिखता। जैनधर्म मे अहिसा का सम्बन्ध उस प्रवृत्ति से है जो मानसिक निर्मलता एव आत्मीय स्वास्थ्य का सरक्षण करे। साधना के पथ मे मनुष्य का जैसे-जैसे विकास होता जाता है, वैसे-वैसे वह अपनी चर्या प्रवृति को सात्त्विक, प्रबोधक और सवर्धक बनाता है। जिन पदार्थों से इन्द्रियो की लोलुपता बढती है, उच्च साधना के पथ मे उनका परिहार बताया गया है। भोजन की पवित्रता जिस प्रकार उच्च साधक के लिए आवश्यक है, उसी प्रकार जल विषयक विशुद्धता भी लाभप्रद है। जैसे रोगी व्यक्ति को वैद्य उष्ण किए हुए जल देने की सलाह देता है क्योंकि वह पिपासा का वर्धक नही होता, दोषो को शमन करता है, अग्नि को प्रदीप्त करता है और क्या-क्या लाभ देता है, यह छोटे-बड़े सभी वैद्य बतावेगे। आत्मा को स्वस्थ बनाने के लिए वह सावधान रहता है कि–'शरीर व्याधिमन्दिर' न बने और स्वास्थ्य सदन रहे, तो तपः साधना, लोकहित, ब्रह्मचिन्तन आदि के कार्यो मे बाधा नही आएगी। अन्यथा रोगाक्रान्त होने पर–

"कफ-वात-पित्तै· कण्ठावरोधनविधौ स्मरण कुतस्ते।"

वाली समस्या आए बिना न रहेगी।

आत्म निर्मलता के लिए शरीर को निरोग रखना साधक के लिए इष्ट है और शरीर की स्वस्थता के लिए शुद्ध आहार-पान वाछनीय है। इसलिए स्वास्थ्यवर्धक आहारपान पर दृष्टि रखना आत्मीक निर्मलता की दृष्टि से आवश्यक है। उष्ण जल तैयार करने मे स्थूल दृष्टि से जलस्थ जीवो का तो ध्वस होता ही है; साथ ही अग्नि आदि के निमित्त से और भी जीवो का घात होता है। किन्तु, इस द्रव्य हिसा के होते हुए भी मानसिक निर्मलता, निरोगता आदि की दृष्टि से उच्च साधक को गरम किया हुआ जल लेना आवश्यक बताया है। यदि बाह्य हिसा के सिवाय मन:स्थिति पर दृष्टि न डाली जाए तो ससार मे बडी विकट व्यवस्था हो जाएगी और तत्त्वज्ञान की बडी उपहासास्पद स्थिति होगी। **अमृतचन्द्र आचार्य** ने लिखा है, कि अहिसा का तत्त्वज्ञान अतीव गहन है और इसके रहस्य को न समझने वाले अज्ञो के लिए सद्‌गुरु ही शरण है जिनको अनेकान्त विद्या के द्वारा प्रबोध प्राप्त होता है।

प्राणघात को ही हिसा की कसौटी समझने वाला खेत मे कृषि कर्म करते हुए अपने हल द्वारा अगणित जीवो को मृत्यु के मुख मे पहुचाने वाले किसान को बहुत बडा हिसक समझेगा और प्रभात मे जगा हुआ मछली मारने की योजना मे तल्लीन, किन्तु कारण विशेष से मछली मारने को न जा सकने वाले मनस्ताप सयुक्त धीवर को शायद अहिसक मानेगा। अहिसक विद्या के प्रकाश मे किसान उतना अधिक दोषी नही है, जितना वह धीवर है।[39] किसान की दृष्टि जीव वध की नही है, भले ही उसके कार्य मे जीवो की हिसा होती है। इसके ठीक विपरीत धीवर की स्थिति है। उसकी आत्मा आकण्ठ हिसा मे निमग्न है, यद्यपि वह एक भी मछली को सन्ताप नही दे रहा है। अतएव यह स्वीकार करना होगा कि यथार्थ अहिसा का उदय, अवस्थिति और विकास अन्त करण वृत्ति पर निर्भर है। जिस बाह्य प्रवृत्ति से उस निर्मल वृत्ति का पोषण होता है, उसे अहिसा का अग माना जाता है। जिससे निर्मलता का शोषण होता है, उस बाह्य वृत्ति को (भले ही वह अहिसात्मक दिखे) निर्मलता का घातक होने के कारण हिसा का अग माना है।

देखो, रोगी के हित की दृष्टिवाला डॉक्टर आपरेशन मे असफलता वश यदि किसी का प्राणहरण कर देता है, तो उसे हिसक नही माना जाता। हिसा के परिणाम के बिना हिसा का दोष नही लगता। कोई व्यक्ति अपने विरोधी के प्राणहरण करने की दृष्टि से उस पर बन्दूक छोडता है और दैववश निशाना चूकता है। ऐसी स्थिति मे भी व्यक्ति हिसा का दोषी माना जाता है, क्योंकि उसके हिसा के परिणाम थे। इसलिए वह आज के न्यायालय मे भयकर दण्ड को प्राप्त करता है। इस प्रकाश मे भारतवर्ष के धार्मिक इतिहास के लेखक का जैन-अहिसा पर आक्षेप निर्मूल प्रमाणित होता है।[40] यह अहिसा तत्त्वज्ञान सभी धर्मो के द्वारा अभिवदित है।

उद्योगी हिसा वह है जो खेती, व्यापार आदि जीविका के उचित उपायो के करने मे हो जाती है। प्राथमिक साधक बुद्धिपूर्वक किसी भी प्राणी का घात नही करता, किन्तु कार्य करने मे हिसा हो जाया करती है। इस हिसा-अहिसा की मीमासा मे 'हिसा करना' और 'हिसा हो जाना' मे अतर है। हिसा करने मे बुद्धि और मनोवृत्ति प्राणघात की ओर

स्वेच्छापूर्वक जाती है, हिसा हो जाने मे मनोवृत्ति प्राणघात की नहीं है, किन्तु साधन तथा परिस्थिति विशेषवश प्राणघात हो जाता है। मुमुक्षु ऐसे व्यवसाय, वाणिज्य मे प्रवृत्ति करता है, जिनसे आत्मा मलिन नही होती, अत: क्रूर अथवा निन्दनीय व्यवसाय मे नही लगता। न्याय तथा अहिसा का रक्षणपूर्वक अल्पलाभ मे भी वह सन्तुष्ट रहता है। वह जानता है कि शुद्ध तथा उचित उपायो से आवश्यकता पूरक सम्पत्ति मिलेगी, अधिक नही। वह सम्पत्ति के स्थान मे पुण्याचरण को बडी और सच्ची सम्पत्ति मानता है। **आत्मानुशासन** मे लिखा है .–

"शुद्धैर्धनैर्विवर्धन्ते सतामपि न सम्पदः।
न हि स्वच्छाम्बुभि· पूर्णाः कदाचिदपि सिन्धव "॥ 45॥

सत्पुरुषो तक की सम्पत्ति शुद्ध धन से नही बढती है। स्वच्छ जल से कभी भी समुद्र नही भरा जा सकता।

एक कोट्यधीश प्रख्यात जैन व्यवसायी बन्धु ने हमसे पूछा–"हमने दुग्धादि के प्रचार तथा पशु पालन निमित्त बहुत से पशुओ का पालन किया है। जब पशु वृद्ध होने पर दूध देना बिल्कुल बन्द कर देते है, तब अन्य लोग तो उन निरुपयोगी पशुओ को कसाइयो को बेच खर्चे से मुक्त हो द्रव्यलाभ उठाते है किन्तु जैन होने के कारण हम उनको न बेचकर उनका भरण-पोषण करते है, इससे प्रतिस्पर्धा के बाजार मे हम विशेष आर्थिक लाभ से वचित रहते है। बताइये आपकी उद्योगी हिसा की परिधि के भीतर क्या हम उन असमर्थ पशुओ को बेच सकते है?" मैने कहा–कभी नही। उन्हे बेचना क्रूरता, कृतघ्नता तथा स्वार्थपरता होगी।[41] जैसे अपने कुटुम्ब के माता, पिता आदि वृद्धजनो के अर्थशास्त्र की भाषा मे निरुपयोगी होने पर भी नीतिशास्त्र तथा सौजन्य विद्या के उज्ज्वल प्रकाश मे दीन से दीन भी मनुष्य उनकी सेवा करते हुए उनकी विपत्ति की अवस्था मे आराम पहुँचाता है, ऐसा ही व्यवहार उदार तथा विशाल दृष्टि रख पशु जगत के उपकारी प्राणियो का रक्षण करना कर्त्तव्य है। बडे बडे व्यवसायी अन्य मार्गों से धनसचय करके यदि अपनी उदारता द्वारा पशुपालन मे प्रवृत्ति करे, तो अहिसा धर्म की रक्षा के साथ ही साथ राष्ट्र के स्वास्थ्य तथा शक्तिसवर्धन मे भी विशेष सहायता प्राप्त हो।

यह अद्भुत बात है कि मनुष्य अपने को सभ्य तथा सुसस्कृत मानता हुआ उपकारी पशुओ के उपकारो को भूलकर उनके प्राणघात के कुत्सित एव क्रूरकर्म मे प्रवृत्त होता है और बेचारे पूर्व पापोदयवश हीन पर्याय मे पडे हुए पशु अपने उपकारी के प्रति कृतज्ञता का भाव धारण करते है; ऐसी स्थिति मे मनुष्य की महानता का अहकार टिक नही पाता। अग्रेजी साहित्य मे **एन्ड्रोकिल्स** और सिह की कथा प्रसिद्ध है। **एन्ड्रोकिल्स** ने करुणाभाव से एक सिह के पैर का काटा निकाला था। एक बार वह सिह उसी मनुष्य को खाने को छोडा गया। भूखा सिह किस पर दया करता है? वह एन्ड्रोकिल्स को देखकर सोचने लगा, "यह तो मेरा परम उपकारी है। इसे खाना ठीक नही है," अत: उस सिह ने उसको छोड दिया। क्या इस कृतज्ञ सिह के जीवन से स्वार्थी तथा धन लोलुपी व्यक्ति कुछ शिक्षा ग्रहण नही करेगा? मनुष्य को धन का लोलुपी राक्षस न बनकर इसानियत अर्थात् मनुष्यता के अनुरूप कार्य करना चाहिए। करुणाशील व्यक्ति का सुख और समृद्धि दोनो अनुगम करती है। इस प्रसग मे स्व० चारित्र चक्रवर्ती आचार्य शांतिसागर महाराज के जीवन का अनुभव महत्त्वपूर्ण है। उस समय वे साधु नही बने थे। वे भोग ग्राम के अधिपति-पाटील थे। उनकी खेती से लगी हुई एक ब्राह्मण की खेती थी। वे अपने खेतो का निरीक्षण करने जाते थे। उस समय पडोसी ब्राह्मण का नौकर अपने खेत की चिडियो को अपने खेत से भगाता था, जो समीपवर्ती खेत मे पहुचा करती थी। वहा उनको कोई नही भगाता था। खेत रक्षक किन्तु दया-द्रवित पाटील पीठ करके बैठ जाते थे, जिससे पक्षियो मे भय न पैदा हो उन पक्षियो को प्यास की पीडा न हो, इससे वे पानी की मोट अपने हाथो से खेचकर वहा पानी भर दिया करते थे। पक्षीगण कलरव करते हुए अनाज खाते थे और पानी पीकर हर्षित होते थे।

इस बात को सुनकर शुष्क तर्कशास्त्री यह कहेगा कि इस पद्धति से तो खेती उजडे बिना न रहेगी; किन्तु जब हमने भोज ग्राम (जिला बेलगाव) पहुचकर पाटील (महाराजजी)के पडोसी ब्राह्मण के नौकर से उक्त चर्चा पूछी तो उस वृद्ध ने बताया कि पक्षियो के खाने पर भी पाटील के खेत मे विपुल फसल आती थी। यही बात आ शान्तिसागर

जी महाराज के मुख से हमने सुनी थी। वे कहते थे, "जीवो पर दया करने से धान्य की कमी नही पडती। इसका हमे स्वय अनुभव है।" एक भद्र स्वभाव वाले मुस्लिम जागीरदार बन्धु ने सुनाया था कि पहले उनके खेतो मे हरिणों के झुण्ड के झुण्ड झूमते-झूमते, ज्वार आदि को खा जाते थे, किन्तु उन खेतो मे बडे-बडे भुट्टे लगा करते थे। पर तृष्णावश उन हरिणो को मार डाला गया इससे उपज एकदम कम हो गई। ईश्वर को कर्त्ता मानने वाला क्या यह नही सोचता कि उस धान्य मे उन बेचारे पशुओ का भी भाग लगा हुआ है। प्रत्येक स्थान पर शुष्क तर्क की पद्धति काम नही करती। करुणा तथा प्रेमपूर्ण आचार तथा व्यवहार के प्रभाव से अनेक प्रकार की उन्नति, समृद्धि तथा सुख प्राप्त होते हैं; इसलिए मनुष्य को तीव्र लोभी बन धन-सचय के लिए क्रूरता का पथ नही पकडना चहिए।

जैन ग्रथो मे वर्णन आता है कि जब दया के सिन्धु तीर्थंकर महावीर आदि महान् आत्माओ ने कैवल्य प्राप्त किया था, तब सौ योजन प्रमाण क्षेत्र अर्थात्, चार सौ मील के क्षेत्र मे दुर्भिक्ष दूर होकर सुभिक्षता का सद्भाव हो जाता था। "योजन शत इक मे सुभिख"। यह पवित्र आत्मा का बहिर्जगत पर पुण्य प्रभाव दृष्टिगोचर होता था, अत: करुणा का आश्रय लेने पर सुभिक्षता की वृद्धि होना अवश्यभावी है। आचार्य शांतिसागर महाराज ने कहा था, "यदि भारत का शासन जीव हिसा का पथ न पकडे, मास का व्यापार न करे, तो देश की धान्यादि की न्यूनता शीघ्र दूर हो जाएगी।" आज जो देश मे धान्यादि का अभाव होने से जनता कष्ट पा रही है उसका कारण यह है कि जनता की सरकार ने मास, मछली आदि का व्यापार शुरू कर दिया है। 1953 मे मध्य प्रदेश की सरकार ने एक आदेश छपाया था 'बदर मारो, इनाम लो' राज्य सरकार ने आदेश दिए है कि बन्दर मारने वाले व्यक्तियो को प्रत्येक पाच बन्दर मारने पर प्रति बन्दर एक रुपया की दर से पुरस्कार दिया जाएगा।" उक्त आदेश मे यह भी कहा गया था, कि "जो व्यक्ति पाच से कम बन्दर मारेगा, उसे कोई पुरस्कार नही दिया जाएगा।" (*नवभारत*, नागपुर 2 अक्टूबर 1953)

इस सम्बन्ध मे हमने तत्कालीन राष्ट्रपति डा॰ राजेन्द्र प्रसाद जी को लिखा था, कि शाकाहारी, निरपराधी, डराने से भाग जाने वाले तथा हिन्दू समाज के द्वारा राम के सहायक रूप मे पूजे जाने वाले बन्दरो के सहारार्थ ब्राह्मण कुलोत्पन्न मुख्यमत्री श्री रविशकर शुक्ल की सरकार का कृष्ण कृत्य बन्द करवाइये, कारण मध्य प्रदेश मे प्रकृति की दया से अन्न सकट भी नही है।" राष्ट्रपति जी ने हमारे पत्र को मध्य प्रदेश के मुख्यमत्री के पास भिजवाकर हमे उसकी सूचना दी। कुछ समय पश्चात् पत्रो मे यह शुभ समाचार छपा कि मध्य प्रदेश शासन ने बन्दर मारने का आदेश वापस ले लिया है। केन्द्रीय शासन अभी अपनी प्रवृत्तियो मे हिसा की ओर अधिक प्रवृत्त होता जा रहा है। मुसलमान तथा अग्रेज शासको के काल मे भी न होने वाली हिसा का मार्ग आज की अहिसाभ्रष्ट प्रजा की सरकार अपना रही है, जिसकी बागडोर मुख्यत हिन्दू भाइयो के अधीन है। इग्लैण्ड के दयाप्रेमी लोग भारत सरकार की हिसामय प्रवृत्ति को देखकर घबडा उठे है। रायटर की सवाद समिति ने लन्दन से ता॰ 6 फरवरी 1955 को यह सवाद प्रसारित किया कि ब्रिटिश जीवरक्षक समितियो ने भारत सरकार से अनुरोध किया है कि भारत से बदरो को बाहर भेजा जाना बन्द किया जाए, कारण गत दो वर्षो मे 9 लाख बन्दर लन्दन के बदरगाह से होते हुए अमेरिका भेजे गए। उनमे से 75% तो वैज्ञानिक प्रयोगशालाओ मे मारे गए और शेष रॉकेट के शोध के काम मे लाए गए। इस सबध मे लन्दन स्थित भारत के हाई कमिश्नर से मजदूर दल के सदस्य पीटर फ्रीमेर महाशय के नेतृत्व मे एक शिष्टमण्डल मिला। (अग्रेजी दैनिक *'हितवाद'*)

आज का सुशिक्षित माना जाने वाला व्यक्ति स्वार्थ मूर्ति बनकर अपनी अभिलाषाओ की पूर्ति निमित्त क्रूर से क्रूर कर्म करता हुआ मानवाकृति युक्त राक्षस सदृश लगता है। वह ईश्वर का बडा भक्त बनता है और उसके नाम प्रशस्ति पाठ करते हुए कहता है, "ईश्वर ने सर्व प्राणियो मे श्रेष्ठ मनुष्य बनाया है तथा उसके भोजनार्थ ही पशुओ को पैदा किया है। पशुओ मे तो आत्मा ही नही है। ऐसे निकृष्ट स्वार्थी नर राक्षस की शैली का आश्रय ले यह भी कह बैठेगे, कि हमारे इष्ट व्यक्तियो के सिवाय अन्य मनुष्यो मे भी आत्मा नही है। ऐसे ही विचारो

से प्रेरित हो फ्रास का दार्शनिक माना जाने वाला मॉटिसम हब्शियो के विषय मे कहता है, "आदमी इस बात पर तनिक भी ध्यान नही देता है कि बुद्धिमान परमेश्वर आत्मा को-अविनाशी आत्मा को पूर्णतया काले रग के शरीर मे स्थान देगा। यह सोचना पूर्णतया असम्भव है कि ये हब्शी मानव प्राणी है।" ऐसी दृष्टि यदि समस्त विश्व मे स्थान बना ले, तो यह जगत् रौरव नरक का स्वरूप ले लेगा। इस प्रकार के भ्रान्त व्यक्तियो को यूनान का विद्वान् पायथोगोरस इस प्रकार समझाता है, "ऐ नश्वर मनुष्यो। अपने शरीर को घृणित आहार से अपवित्र करना बन्द करो। जगत् मे तुम्हारे लिए रस भरी फल राशि है जिसके बोझ से शाखाए झुक गई है; सुमधुर द्राक्षाओ से लदी हुई लताए है; रसीली वनस्पतिया है, अनेक प्रकार के अन्न है, जिन्हे आग के द्वारा मृदु एव सुपाच्य बनाया जा सकता है। पोषक दूध है। उदार पृथ्वी माता विविध भाति के विपुल खाद्य-सामग्री देती है तथा रक्तपात के बिना मधुर एव शक्तिप्रद भोजन देती है। नीची श्रेणी के प्राणी अपनी क्रूर भूख को मास द्वारा शान्त करते है, परतु सभी ऐसे नही है। घोडा, गाय, बकरी, भेड, बेल, घास पर ही जीवित रहते है। अरे मरणशील मानवो। तुम मास को छोड दो। मासाहार के दोषो पर ध्यान दो। मारे गए बैल के लोथडे जब तेरे सामने आवे, तब यह समझ और अनुभव कर कि तू अन्न, फल पैदा करने वालो को खाने जा रहा है। (*हिसा-विरोध*, 1955 जनवरी)।

ईश्वर भक्त श्री टी॰ एल॰ वस्वानी कहते है, "पशु या पक्षी को प्रेम न करना मेरे लिए प्रभु को प्रेम न करना है, क्योकि पशु-पक्षी भी उसके इसी तरह बच्चे है, जैसे मानव प्राणी"।

कबीरदास की यह स्पष्टोक्ति मासभक्षी वर्ग को ध्यान से पढनी चाहिए .–

बकरी पाती खात है, ताकी खीची खाल।
जे बकरी को खात है, ताके कौन हवाल॥

आज के विज्ञान के प्रकाश के होते हुए भी क्रूरता एव अध-विश्वास का अधकार दूर नही हो पाया है। उसे दूर करने के क्षेत्र मे जन कल्याण का जय-घोष करने वाले हमारे नेतागण तनिक भी प्रयास नही

करते है। सन् 1962 का रोमाचकारी समाचार छपा है, "पिता द्वारा पुत्री का सिर देवी को भेट"–आगरा की स्थानीय गुडमडी मे तीस वर्षीय एक युवक ने देवी मा को प्रसन्न करने के लिए अपनी सात वर्षीय अबोध पुत्री का सिर तेज छुरे से काट डाला। वह व्यक्ति जिसकी जाति काछी तथा नाम जवाहर है, अपनी पुत्री के सिर को एक थाल मे रख गुलाब के पुष्पो से ढककर देवी मा के मंदिर मे पहुंचा बताते है। मुहल्ले के लोगो ने लडकी के निर्जीव धड को खून से लथपथ घर मे पडे देखकर पुलिस को सूचना दी। पुलिस ने कातिल का पता लगाने की तुरन्त कोशिश की। दोपहर को कातिल पिता को पुत्री के सिर के साथ गिरफ्तार कर लिया।" (*अहिसा,* जयपुर 21 मार्च 1962)

ऐसे अधम कृत्यो से जनता को विमुख करने के लिए आज के प्रचार के साधनो का शासन तथा लोक कल्याणकारी वर्ग उपयोग करे, तो महत्त्वपूर्ण कार्य हो सकता है। श्री विनोबा का सर्वोदय समाज इस विषय मे सम्यक् प्रचार पद्धति को अपनावे, तो अतीव सुन्दर हो। विनोबाजी ने कलकत्ते मे पशु बलि के विषय मे मार्मिक शब्द कहे थे, "भगवान का मानव को सबसे बडा उपहार दया का है। इसी दया के कारण वह पशुओ तक का मित्र बन जाता है। मुझे ऐसी माँ से डर लगता है, जो अपने ही बच्चो को खा जाए" (*नवभारत टाइम्स,* 21 जून 1963)

आज के यांत्रिक विकास और विलासिता के युग मे अपनी झूठी शान बढाने के लिए जो मोहक सामग्री बाजार मे बिकने आती है, उसमे अगणित जीवो का घात हुआ करता है। बडे-बडे दया प्रेमी परिवारो मे जन्म धारण करने वाले भी अपनी शान को बढाने वाली वस्तुओ को खरीदकर उस हिसा के पातक मे हाथ बटाते है। अ० भा० गोहत्या विरोध समिति के मत्री ने लिखा था, "देश मे बडे-बडे चमडे के कारखाने बढिया जूते तथा अन्य सामान बनाने के लिए अनुमानत: 30 लाख कत्ल किए हुए गौ-वश की खाले उपयोग मे लाते हैं। इस हिसाब से आज भारत मे 1 करोड दस लाख गौ-वश का सहार प्रतिवर्ष होता है। अग्रेजी राज्य मे, जब भारत अखण्ड था, वार्षिक 9 करोड़ गौ हत्या का अनुमान

था। अनुमान से एक-तिहाई गौ-वश पाकिस्तान मे रहने के कारण यदि अग्रेजी राज्य मे जितना भी गौ-वध हो, तो 67 लाख होना चाहिए। पर होता है 90 लाख या अग्रेजी राज्य के दोगुणा के करीब।"

अपने प्रमाद तथा विषय लोलुपता के कारण रोगी बनने वाले लोगो को हृष्ट-पुष्ट तथा बलिष्ठ बनाने के लिए आज अगणित जीवो का वध करके उनका खून-मासादि दिया जाता है। सच्ची निरोगता हेतु मनुष्य को प्राकृतिक नियमो का पालन करते हुए जीव सतापकारी कार्यों से विरत होना चाहिए। मूलाराधना टीका मे लिखा है कि, "अन्य प्राणियो को सताप प्रदान करने के कार्य मे निरन्तर उपयोग करने से तथा असातावेदनीय कर्म के उदय से जीव बहुधा रोगी हुआ करते है।"[42] इस नियम के अनुसार सब जीवो को सुख पहुचाने से स्वस्थता की उपलब्धि होना स्वाभाविक है।

वर्तमान युग मे हिसा की वृद्धि होते हुए भी कोई सत्पुरुष अहिसा के प्रदीप को विशेष दैदीप्यमान बनाते रहते है। भारत देश मे तो हिसा की बीमारी वर्तमान शासन की छत्रछाया मे बढ रही है, किन्तु भारत के बाहर रहने वाले अनेक सत्पुरुष अहिसा तत्त्वज्ञान के सौन्दर्य तथा सौरभ से प्रभावित हो, उसका यथाशक्ति परिपालन एव प्रचार करने मे तत्पर हो रहे हैं। जिसके अन्त करण मे सच्ची अहिसात्मक दृष्टि का जागरण हो जाता है, वह प्राणी मात्र के प्रति मैत्री की भावना रखता है। **रस्किन** का यह कथन महत्त्वपूर्ण है, "Unless you are deliberately kind to every creature, you will often be cruel to many" जब तक तुम स्वेच्छा से प्रत्येक जीव के प्रति करुणा भाव नही रखोगे, तब तक तुम प्राय: अनेक जीवो के प्रति क्रूर बनोगे।

मनुष्य जीवन श्रेष्ठ और उज्ज्वल कार्यों के लिए है। जो दिग्भ्रान्त प्राणी उसे अर्थ अर्जन करने की मशीन सोच येन केन प्रकारेण सम्पत्ति सचय का साधन मानते है, वे अपने यथार्थ कल्याण से वञ्चित रहते है। विवेकी मानव अपने आदर्श रक्षण के लिए आपत्ति की परवाह नही करता। वह तो, विपत्तियो को आमत्रण देता है और अपने आत्मबल की परीक्षा लेता है। ऐसा अहिसक शराब, हड्डी, चमडा, मछली के तेल

सदृश हिसा से साक्षात् सम्बन्धित वस्तुओ के व्यवसाय द्वारा बडा धनी बन राज प्रसाद खडे करने के स्थान पर ईमानदारी और करुणापूर्वक कमाई गई सूखी रोटी के टुकडो को अपनी झोपडी मे बैठकर खाना पसद करेगा। वह जानता है कि हिसादि पापो मे लगने वाला व्यक्ति नरक तथा तिर्यञ्च पर्याय मे वचनातीत विपत्तियो को भोगा करता है। अहिसात्मक जीवन से जो आनन्दनिर्झर आत्मा मे बहता है उसका स्वप्न मे भी दर्शन हिसकवृत्ति वालो के पास नही होता। बाह्य पदार्थो के अभाव मे तनिक भी कष्ट नही है, यदि आत्मा को पास सद्विचार, लोकोपकार और पवित्रता की अमूल्य सम्पत्ति है।[43] मेवाड की स्वतन्त्रता के लिए अपने राजसी ठाठ को छोड वनचरो के समान घास की रोटी तक खा जीवन व्यतीत करने वाले वर्णनातीत आपत्तियो से घिरे हुए भी क्षत्रिय-कुल-अवतस न्यायमार्गी महाराणा प्रताप की आत्मा मे जो शान्ति और शक्ति थी, क्या उसका शताश भी अकबर के अधीन बन माल उडाते हुए मातृभूमि को पराधीन करने मे उद्यत मानसिह को प्राप्त था? इसी दृष्टि से अहिसा की साधना मे कुछ ऊपरी अडचने आवे भी तो कुतर्क की ओट से हिसा की ओर झुकना लाभप्रद न होगा। जिस कार्य मे आत्मा की निर्मल वृत्ति का घात हो उससे सावधानीपूर्वक साधक को बचना चाहिए।

इस अहिसात्मक जीवन के विषय मे लोगो ने अनेक भ्रान्त धारणाएँ बाध रखी है। कोई यह सुझाते है कि यदि आनन्द की व्यवस्था मे किसी को मार डाला जाए, तो शान्तभाव से मरण करने वाले की सद्गति होगी। वे लोग नही सोचते कि मरते समय क्षण-मात्र मे परिणामो की क्या से क्या गति नही हो जाती। प्राण परित्याग करते समय होने वाली वेदना को बेचारा प्राण लेने वाला क्या समझे।

“जाके पाव न फटी बिवाई, सो क्या जाने पीर पराई।”

कोई सोचते है कि दु.खी प्राणी के प्राणो का अन्त कर देने से उसका दुःख दूर हो जाता है। ऐसी ही प्रेरणा से अहिसा के विशेष आराधक गाधी जी ने अपने साबरमती आश्रम मे एक रुग्ण गौ-वत्स को इन्जेक्शन द्वारा यम-मन्दिर पहुचाया था। अहिसा के अधिकारी ज्ञाता

आचार्य **अमृतचन्द्र** स्वामी इस कृति मे पूर्णतया हिसा का सद्भाव बतलाते है। जीवन-लीला समाप्त करने वाला भ्रम वश अपने को अहिसक मानता है। वह नही सोचता कि जिस पूर्वसंचित पापकर्म के उदय से प्राणी कष्ट का अनुभव कर रहा है, प्राण लेने से उसकी वेदना कम नही होगी। उसके प्रकट होने के साधनो का अभाव हो जाने से हमे उसकी यथार्थ अवस्था का परिचय नही हो पाता। हा, प्राणघात करने के समान यदि उस जीव के असाता देने वाले कर्म का भी नाश हो जाता, तो उस कार्य मे अहिसा का सद्भाव स्वीकार किया जाता। पशु के साथ मनमाना व्यवहार इसलिए कर लिया जाता है कि उसके पास अपने कष्टो को व्यक्त करने का समुचित साधन नही है। बछडे के समान मनुष्याकृतिधारी किसी व्यक्ति के प्रति पूर्वोक्त करुणा का प्रदर्शन होता तो आधुनिक न्यायालय उसका उचित इलाज किए बिना न रहता।

यह भी कहा जाता है कि आख बद कर उन पशुओ आदि के प्राण लो, जो दूसरो के प्राण लिया करते है। इस भ्रान्त दृष्टि के दोष को बताते हुए पडितवर **आशाधर** जी समझाते है कि इस प्रक्रिया से ससार मे चारो ओर हिसा का दौर-दौरा हो जाएगा तथा अतिप्रसग नाम का दोष आएगा। बडे हिसको का मारने वाला उनसे भी बडा हिसक माना जाएगा और इस प्रकार यह भी हनन किया जाने का पात्र समझा जाएगा। हिसक शरीर धारण करने मात्र से ही हिसात्मक प्रवृत्ति का प्रदर्शन किए बिना उन्हे मार डालना विवेकशील मानव के लिए उचित नही कहा जा सकता। पशु जगत् मे भी कभी-कभी कोई विशिष्ट हिसक प्राणी की आत्मा मे अहिसा की एक झलक आ जाती है। जैसा पहले बता दिया गया है कि भगवान् महावीर बनने वाले सिह की पर्याय मे उस जीव ने अहिसा की चमत्कारिणी साधना आरम्भ कर दी थी। क्या बिना सोचे समझे उसके सिह शरीर को देख उसे मृगारि मान लेना और उसके प्राणघात के लिए प्रवृत्ति करना उचित होगा? आचार्य **गुणभद्र** ने उस सिह के विषय मे लिखा है–**"स्वार्थं मृगारिशब्दोऽसौ जहे तस्मिन् दयावति"**–उस दयावान् सिह के विषय मे मृगारि-मृगो का शत्रु इस शब्द ने अपने यथार्थ अर्थ का परित्याग कर दिया था–वह शब्द रुढ़िवश प्रचार मे आता था।

यह भी बात साधक सोचता है कि इस अनन्त ससार मे भ्रमण करता हुआ यह जीव आज सिह, सर्पादि पर्याय मे है और अपनी पर्यायदोष के कारण अहिसात्मक वृत्ति को धारण नही कर सकता है, तो उसके जीवन की समाप्ति कर देना कहा तक उचित है? क्योंकि हिसा करना उन आत्म-विकासहीन पशुओ के समान मेरा धर्म नही है। जिस पशु को मै मारने की सोचता हूँ सम्भव है मेरे अत्यन्त स्नेही हितैषी जीव का ही उस पर्याय मे जन्म हुआ हो और दुर्भाग्यवश उस हतभाग्य को मनुष्यो के द्वारा क्रूर मानी जाने वाली पर्याय मे जन्म मिला हो। ऐसे प्राणी के हनन करने के विचार से आत्मा मे क्रूरता का शैतान अड्डा जमा लेता है। फिर उसमे से अहिसात्मक वृत्ति दूर हो जाती है। अतएव दयालु व्यक्ति को अधिक से अधिक प्रयत्न प्राणरक्षा का करना चाहिए। कभी-कभी जन्मान्तर मे हिंसित जीव अच्छा बदला भी लेता है, यह नही भूलना चाहिए।

अहिसा के नाम पर एक बडी विचित्र धारणा सर्वभक्षी चीन, जापान आदि देशो मे पाई जाती है। अहिसा का विनोदमय प्रदर्शन देख **डा० रघुवीर**, एम० ए०, पी० एच डी० ने "जापान मे बुद्ध-अहिसा-सिद्धान्त का परिपालन" शीर्षक लेख मे बताया था कि जापानी लोग चेरी नामक वृक्ष की लकडियो को खुदाई के काम मे लाते है इसलिए टोकियो मे उनकी आत्मा की शान्ति के लिए प्रार्थना की जाती है। टूटी हुई पुतलियो तथा सुइयो मे आत्मा का सद्भाव स्वीकार करके उनकी शान्ति निमित्त बुद्धदेव से अभ्यर्थना की जाती है। जिन-जिन जानवरो को जापानी लोग खा जाते है उनकी शान्तिनिमित्त वे प्रार्थना करते है।[44] इस पद्धति से वे अपने को पवित्र और शुद्ध समझने लगते है। यह परिताप वाणी के स्थान मे यदि सत्य से समन्वित होकर हृदय से उदित होता तो जीवन मे 'अहिसा परमो धर्मः' का जागरण हुए बिना न रहता।

आज जो विश्व मे विपत्ति और सकट का नग्न नर्तन दिखाई पड़ रहा है, उसका यथार्थ कारण यही है कि लोगो मे 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की भावना प्रसुप्त हो गयी है, और उसके स्थान पर स्वार्थ साधन की जघन्य एव सकीर्ण दृष्टि जाग्रत हो उठी है।

इस सबध मे देशरत्न **डॉ॰ राजेन्द्र प्रसाद जी** के प्रयाग विश्वविद्यालय के उपाधि वितरणोत्सव के अवसर पर व्यक्त किए गए अन्तःकरण के उद्‌गार विशेष महत्त्वपूर्ण है–"मेरे विचार से यह विषम अवस्था इसलिए पैदा हुई है, कि मानव ने प्रकृति-विजय की धुन मे अपनी आत्मा को भुला दिया और उसने दौलत इकट्‌ठी करने मे धर्म को तिलाजलि दे दी है और शक्ति सचित करने मे स्नेह का परित्याग कर दिया है।" इसलिए विनाश से बचने के विषय मे उसका कथन है, "वह पथ है आत्म-विजय का पथ। वह पथ है त्याग और सेवा का पथ। वह पथ है भारत की प्राचीनतम सस्कृति का पथ" (ता॰ 12-12-1947)। यह आत्म विस्मृति का ही दुष्परिणाम है, जो लोग निरकुश हो पशुवध मे प्रवृत्त हो, स्वार्थ साधना निमित्त मनुष्य के जीवन का भी मूल्य नही आकते, और नरसहारकारी कार्यो मे भी निरन्तर लगे रहते है। मासभक्षी लोग तो कहते है–गाय मे आत्मा नही है (A cow has no soul), किन्तु स्वार्थी विपक्षी वर्ग मे भी आत्मा नही मानता हुआ प्रतीत होता है। आज जिस उन्नति का उच्च नाद सर्वत्र सुन पडता है, वह आत्म-जागरण अथवा सच्ची जीव-रक्षा की उन्नति नही है, किन्तु प्राणघात के कुशल उपायो की वृद्धि है।

डॉ॰ इकबाल की उक्ति कितनी यथार्थ है :-

"जान ही लेने की हिकमत मे तरक्की देखी।
मौत का रोकने वाला कोई पैदा न हुआ?"

मौत के मुँह से बचा, अमर जीवन और आनन्दपूर्ण ज्योति को प्रदान करने की श्रेष्ठ सामर्थ्य और उच्च कला अहिसा मे विद्यमान है।

इस अहिसा की साधना के लिए इस प्राणी को अपनी अधोमुखी वृत्तियो को ऊर्ध्वगामिनी बनाने का उद्योग करना पडता है। साधारणतया जल नीचे की ओर जाता है। उसे ऊँची जगह भेजने को विशेष उद्योग आवश्यक होता है, उसी प्रकार जीव की प्रवृत्ति को समुन्नत बनाना श्रम और साधना के द्वारा ही साध्य होगा, सुमधुर भाषणो, मोहक प्रस्तावो या बाह्य विशिष्ट वस्त्रादि धारण से यह काम नही होगा। श्री **कालेलकर** महाशय का कथन विशेष आकर्षक है :–"बिना परिश्रम किए हम

अहिसक नही बन सकेगे। अहिसा की साधना बडी कठिन है। एक ओर पौद्गलिक भाव खीच-तान करता है, तो दूसरी ओर आत्मा सचेत बनता है। शरीर प्रथम विचार करता है, आत्मा उत्कर्ष का चिन्तन करता है। दूसरो का हित हृदय मे रहने से आत्मा धार्मिक श्रद्धावान बनता है। आज देखते है, तो पता चलता है कि सब राष्ट्र युद्ध से पृथक रहना चाहते है, पर साथ ही साथ युद्ध की सामग्री भी पूरे जोर से जुटाते फिरते है।" ऐसी विकट स्थिति मे परित्राण का क्या उपाय होगा, इस सम्बन्ध मे वे कहते है, "आज की मानवता को युद्ध के दावानल से मुक्त करने का एकमात्र उपाय भगवान् महावीर की अहिसा ही है।"[45] **शुभचन्द्राचार्य** कहते है –

"यत्किञ्चित्ससारे शरीरिणा दु.खशोकभयबीजम्।
दौर्भाग्यादि समस्त तद्धिसासम्भव ज्ञेयम्॥"

"ज्ञानार्णव अहिसा महाव्रत श्लो॰ 58

इस ससार मे जीवो के दु ख, शोक, भय के बीजस्वरूप दुर्भाग्य आदि का दर्शन होता है, वह सब हिसा से उत्पन्न समझना चाहिए। एक कवि ने कितना सुन्दर कहा है–

"Whoever places ın man's path a snare, Hımself wıll ın the sequel stumble there Joy's fruıt upon the branch of kındness grows Who sows the bramble, wıll not pluck the rose "

जो दूसरो के मार्ग मे जाल बिछाता है, वह स्वय उसमे गिरेगा। करुणा की शाखा मे आनन्द के फल लगते है। जो काटा बोता है वह गुलाब को नही पावेगा।

महावीर भगवान की चेतावनी चिरस्मरणीय है–

"हिसा-प्रसूतानि सर्व दुःखानि।"

अहिसा की मधुरिमा इस पद्य मे अंकित है:–

अहिसैवजगन्माता, अहिसैवानदपद्धति.।
अहिसैव जाति साध्वी श्री रहिसैव शाश्वती॥

*****

सदर्भ सूची

1 *Mahatma Gandhi* by Roman Rolland, p 48

2 "The noble principle of Ahinsa has influenced the Hindu Vedic rites As a result of Jain preachings animal sacrifices were completely stopped by the Brahmans and images of beasts made of flour were substituted for the real and veriable ones required in conducting yagas" (Prof M S Ramaswami Ayangar, M A)

3 "I prescribe, O Bhikkus, that fish to you in three cases —if you do not see, if you have not heard, if you do not suspect (that it has been caught specially to be given to you)" - *The Vinaya Text,* XVII, p 117

4 "Newly converted minister invited Buddha with 1250 Bhikkus and gave meat too Samgha with Buddha ate it " - *Mahavagga,* VI-25 2

5 ''पावा मे चेदी लुहार ने बुद्ध को मीठा चावल मीठी रोटिया तथा कुछ सूखा सुअर का मास खिलाया, बुद्ध ने भोजन को खा लिया, तभी से उसे अतीसार हो गया था।'' - *बुद्ध और बौद्धधर्म, पृ० 22*

6 "He (Jesus) said unto them (people) Give ye them to eat And they said 'We have no more but five loaves and two fishes, except we should go and buy meat for all these people, for they were about five thousand men, And he said to his disciples, make them sit down by fifties in a company And they did so and made them all sit down Then he took the five loaves and the two fishes and looking up to heaven, he blessed them and broke and gave to the disciples to eat before the multitude And they did eat and were all filled and there was taken up a fragment that remained to them twelve baskets "
- St Luke's Gospel, Chapter 9 XX, 13-18

7 "In the third or fourth century B C there were also hospitals for animals This was probably due to the influence of Jainism and Buddhism with their emphasis on non-violence " - *Discovery of India* p 129

8 "M K Gandhi's mother was under Jain influence Although his mother was a Vaishnava Hindu she came much under the influence of a Jain monk after her husband's death "— George Catlion, *In the Path of Mahatma Gandhi,* p 202

9 "Nowhere in India there was stronger feeling against meat-eating or more Jain influence than in Gujarat " *Ibid* , p 163

10 "Again it was reflection, his experience of life and in some degree the influence of Tolstoy that brought him to his fundamental doctrine

of Ahınsa He then went to the Hındu scrıptures and to the folk poetry of Gujarat and redıscovered ıt there If I may gıve my vıew brıefly and bluntly on thıs much dısputed questıon I thınk Gandhı put hıs claım much too hıgh Certaınly Buddhısts and Jaıns preached and practısed Ahınsa and the Jaıns' ınfluence ıs stıll a vıtal force ın hıs natıve Gujarat The first five of Gandhıs' vows were the code of Jaın monks durıng two thousand years "

—*Mahatma Gandhı* by H S L Polak, p 112

11 "Before leavıng Indıa hıs mother made hım take the three vows of Jaıns, whıch prescrıbe abstentıon from wıne, meat and sexual ıntercourse "—*Mahatma Gandhı* by Roman Rollard, p 11

12. "Ahınsa ıs the chıef characterıstıc of common Indıan and Chınese culture Chınese prefer to use the posıtıve form rather than the negatıve, whıle Indıans prefer to use the negatıve one Gandhıjee saıd "All lıfe ın flesh exısts by some vıolence, hence the hıghest relıgıon has been defıned by a negatıve word "Ahınsa" The gospel of Ahınsa was fırst deeply and systematıcally empounded and properly and specıally preached by the Jaın Tırthanakaras, more promınently by the 24th Tırthankara, the last one Mahavıra Vardhamana Then agaın by Lord Buddha "

13 "Humanıty has not yet progressed enough When humanıty has suffıcıently developed and reached ın certaın hıgher stage, thıs law of Ahınsa should be and would be followed by all "

14 "We Chınese and Indıans, the two greatest people of the world, should culturally joın together and mıngle together to create, to establısh, to promote a common culture called Sıno-Indıan Culture entırely based on Ahınsa We shall further create, establısh and promote a common world culture on the same basıs "—Vıde *Amrıt Bazar Patrıka*, pp 7-8, 31-10-49

15 "विष्वग्जीवचिते लोके क्व चरन् कोऽप्यमोक्ष्यत।
भावैकसाधनौ बन्धमोक्षौ चेन्नाभविष्यताम्।। *–सागार० 4, 23*

16 घ्नताऽपि कर्षकादुच्चै पापोऽघ्नन्नपि धीवर ।। 2-82।। *- सागारधर्मामृत*

17 महाभारत के आदिपर्व (अध्याय 11 पृष्ठ 73) मे लिखा है "अहिसा परमोधर्म " इस सिद्धान्त को सदोष बताता हुआ मास विक्रेता व्याध कहता है "बहुसंचित्य इति वै नास्ति कश्चिदहिसक " 23–इस प्रकार बहुत सोचने पर कोई भी अहिसक न मिलेगा। इस कारण वह व्याध कहता है मैं अपने मास विक्रय के कर्म मे लगा हू। "स्वकर्मविरतो यो हि स पश प्राप्नुयान्महत्"। 29–जो व्यक्ति अपने कुलोचित कर्म मे लगा हुआ है, वह महान यश को प्राप्त करता है। इस प्रकार कुलोचित कर्म के नाम पर भगवती अहिसा की स्पष्टतया हिसा की गई है। उसी

महाभारत मे 181 अध्याय मे यह कहा है कि अहिसात्मक जीवन से स्वर्ग मिलता है और हिसा से पशु-पक्षी आदि निद्य योनि मे जन्म होता है। इस प्रकार व्याध के सिद्धान्त का प्रतिवाद उसी महाभारत के शब्दों से हो जाता है। हिसा प्रेमी व्याध की बात को याद रखता है, किन्तु उसे ये श्लोक ध्यान से पढना चाहिए .

तत्र वे मानुवा खोकाद् दानादिभिरतंद्रित·।
अहिसार्थसमामुक्तै· कारणै स्वर्गमश्नुते।।181-10।।
कामक्रोध-समायुक्तो हिसा-लोभसमन्वित ।
मनुष्यत्वात् परिभृष्ट स्तिर्यग्योनौ प्रसूयते।।181-12।। - महाभारत

अत हिसा का पथ पकडना विनाश की ओर जाना है।

18 "प्रजापतिर्य प्रथम जिजीविषु शशास कृष्यादिषु कर्मसु प्रजा.।।"
"मुमुक्षुरिक्ष्वाकुकुलादिरात्मवान् प्रभु प्रवव्राज सहिष्णुरच्युत.।।"

–बृ० स्वयम्भूस्तोत्र 2-3

19 "दुष्टनिग्रह शिष्टप्रतिपालन हि राज्ञो धर्म न तु मुण्डन जटाधारण च।"

–सम्यक्त्वकौमुदी पृ० 15

"राज्ञो हि दुष्टनिग्रह शिष्टपरिपालन च धर्म ।।2।।
न पुन शिरोमुण्डन जटाधारणादिकम्।।3।।"

–नीतिवाक्यामृत पृ० 42

20 "स्थूलग्रहणमुपलक्षण तेन निरपराधसकल्पपूर्वकहिसादीनामपि ग्रहणम्। इतिवचनादपराधकारिषु यथाविधिदण्डप्रणेतृणामपि चक्रवर्त्यादीना अणुव्रतादिधारण पुराणादिषु बहुश श्रूयमाण न विरुध्यते।" *–सागारधर्म०* 4, 5

21 पुरुषार्थसिद्धयुपाय 28। *रत्नकरण्डश्रा०* 16।

22 शैक्सपियर के नाटक किग हेनरी फिफ्थ मे एक विशिष्ट पात्र सेना नायक फ्लुलेन के वक्तव्य द्वारा न्याय भाव के प्रति समादर व्यक्त किया गया है।

Fluellen ıf "he were my brother, I would desıre the duke to use hıs good pleasure and put hım to executıon, for dıscıplıne ought to be used" Kıng Henry V, Act III, SC VI

23 महाराज अकम्पन के दूत सुमुख से चक्रवर्ती भरतेश्वर ने अकम्पन की पूज्यता को इन शब्दो द्वारा प्रकाशित किया–

"गुरुभ्यो निर्विशेषास्ते सर्वज्येष्ठाश्च सप्रति।।51।।
गृहाश्रमे त एवार्च्यास्तैरेवाह च बन्धुमान्।
निषेद्धार प्रवृत्तस्य ममाप्यन्यायवर्त्मनि।।52।।
पुरवो मोक्षमार्गस्य गुरवो दानसतते ।
श्रेयाश्च चक्रिणा वृत्तेर्यथेहास्म्यहमग्रणी.।।53।।
तथा स्वयवरस्येमे नाभूवन् यद्यकम्पना ।
क· प्रवर्तयितान्योऽस्य मार्गस्यैष सनातन·।।54।।"

"अर्ककीर्तिरकीर्ति मे कीर्तनीयामकीर्तिषु।।59।।"
"उपेक्षित सदोषोऽपि स्वपुत्रश्चक्रवर्तिना।
इतीदमयश स्थायि व्यधायि तदकम्पनै ।।66।।
इति सतोष्य विश्वेश सौमुख्य सुमुख नयन्।
हित्वा ज्येष्ठ तुज तोकमकरोन्न्यायमौरसम्।।67।।"

–महापुराण पर्व 45

24 *'युगधारा'* मासिक, मार्च 48 पृ॰ 526।

25 Article on 'War' by Dr George Santayana, Prof of Harvard University

26 *"विशालभारत"* सन् 1941 से।

27 "For nations that are growing weak and contemptible war may be prescribed as a remedy, if indeed they want to go on living Men shall be trained for war and women for the recreation of the warrior, all else is folly Do ye say that a good cause halloweth even war? I say to you a good war halloweth any cause "

Quoted in *Religion and Society,* P 199

28 "It is war that wastes nation's wealth, chokes its industries, its flower, narrows its sympathies, condemns it to be governed by adventurers and leaves the puny, deformed and unmanly to breed the next generation To call war the soil of courage and virtue is like calling debauchery the soil of love "
Book of Eng Prose ed Prof P Sheshadri M A , Article on War by Dr G Santayana, p 56

29 "The purpose of war is murder, its tools are spying, treason and the encouragement of treason, the ruin of the inhabitants, robbing them or stealing from them the supply of the army, deceit and lies called military ruses, the habits of the military profession are the absence of freedom, i e discipline, idleness, ignorance, cruelty, debauchery, drunkenness "

—*War and Peace* by C Tolstoi

30 "Take my word for it, if you had seen one day of war, you would pray to Almighty God that you might never again see an hour of war "

31 युद्ध की अग्नि प्रज्वलित करने के पूर्व अन्य उचित उपायो का आश्रय लेने मे पूर्णतया प्रयत्न आवश्यक है। युद्ध की विभीषिका का चित्रण इन शब्दो द्वारा किया गया है–
"महायुद्ध मे मारे गए-दो करोड से अधिक नौजवान अर्थात् बम्बई, मध्य प्रदेश तथा बिहार राज्यो का सारा युवक समुदाय। हवाई हमलो मे मारे गए डेढ करोड स्त्रियाँ वाहक तथा वृद्ध अर्थात् उडीसा राज्य की सारी जनसख्या। घायल लूले

लगडे और असमर्थ–तीन करोड व्यक्ति अर्थात् पश्चिम बगाल की पूरी जनसख्या। गृहविहीन या निर्वासित या बन्दी–पाच करोड अर्थात् पाकिस्तान के सारे घर। निराश्रित होकर दुर्भिक्ष और बीमारी के शिकार-पन्द्रह करोड अर्थात् 1934 के बगाल के अकाल के निराश्रितो की जनसख्या का चालीस गुना। युद्ध पर खर्च किया गया पैसा यदि लोगो मे बाट दिया जाता तो दुनिया की 230 करोड की जनसख्या मे प्रत्येक स्त्री–पुरुष को तीस हजार रुपये मिलते।" (साप्ताहिक *हिन्दी धर्मयुग*)।

32 "One war follows another and there seems to be no escape Surely there must be something wrong in Western civilisation itself, which causes self-destructive tendencies to recur, without any apparent means of prevention "

C F Andrews article in *Modern Review*, Jan 40 p 32

33 "We defeated the Kaiser and got a Hitler Following the defeat of Hitler, we may get a worse Hitler, unless we destroy the soil and seed out of which Hitlers, Mussolinees and militarists grow "

—Vide *"Empire"* by Louis Fischer, p 11

34 *"विशालभारत"* सन् 41

35 "A Jain will do nothing to hurt the feelings of another person, man, woman, or child, nor will he violate the principles of Jainism Jain ethics are meant for men of all positions — for kings, warriors, traders, artisans, agriculturists, and indeed for men and women in every walk of life Do your duty and do it as humanely as you can—this, in brief, is the primary principle of Jainsim "

—V Smith's *History of India*, p 53

36 "In our marches through the country, there be nothing compelled from the villages, nothing taken but paid for, none of the French upbraided or abused in disdainful language, for when lenity and cruelty play for a kingdom, the gentle gamester is the soonest winner "

—*King Henry* V, Act III, scene VI

37 War is like an operation of the diseased organ It is permitted when it is unavoidable but it is condemned when it is unnecessary The good statesman like a noble surgeon understands his duty and responsibility very well and acts accordingly

38 "From my earliest years whenever I ordered animal food to be cooked for me, I found it rather tasteless and cared little for it I took this feeling to indicate a necessity for protecting animals and I refrained from animal food "— *(Ain-i-Akabari)*

Quoted in English Jain Gazette, p 32 Vol XVII

39 घ्नतोऽपि कर्षकादुच्चै पापोऽघ्नन्नपि धीवर । - सागारधर्मामृत

"अघ्नन्नपि भवेत्पापी निघ्नन्नपि न पापभाक्।

अभिध्यानविशेषण यथा धीवर कर्षकौ।।" -यशस्तिलक पूर्वार्ध, पृष्ठ ५५१

30 अध्याय 7।

41 "वृद्धबालव्याधितक्षीणान् पशून् बान्धवानिव पोषयेत्।" - नीतिवाक्यामृत,पृ 95

42. परजीव सतापन-सततोत्साह वदसद्वेद्योदयाद्धि जीवो बहुशने रोगी भवति। पर-सताप त्याग गुणवद्, वैयावृत्य च कदाचिदेव करोत्यरागतापि कादाचित्की"-*मूलाराधना* टीका, पृ 1674।

43 महाराणा प्रताप ने बीकानेर नरेश महाराज पृथ्वीराज को भेजे गए पत्र मे अपनी कठिन स्थिति का उल्लेख करते हुए लिखा था-

पडा था छाया मे, गहन वन मे, मै तरु तले।
विचारो के सोते उस विजनता मे बह चले।।
उदासी छायी थी, वह समय भी था विकट ही।
क्षुधा-क्षीण बेटी रुदन करती थी निकट ही।।
कहा क्या था? रानी विवश मन मे धैर्य धर के।
बनाती थी रोटी विरस तृण का चूर्ण करके।।

उस समय एक बडी दु खद परिस्थति उत्पन्न हो गई। राष्ट्र कवि मैथिलीशरण जी गुप्त अपने चित्रण मे कहते है-

विचारो मे था यो जिस समय मै व्याकुल बडा,
कि भारी चीत्कार श्रवणकर चौका जग पडा।
वनी थी जो रोटी विरस तृण का चूर्ण करके
बचाती बेटी को उस समय जो पेट भर के।
उसे देखा मैने अपहृत बिडाली कृत वहा।
न देखा बेटी को अहह। फिर था साहस कहा (*पत्रावलि*, पृष्ठ 11 12)

44 "In the earlier and middle years of Japan the monks, nuns and a few pious men and women practised vegetarianism, but it is so superficial that at the mere thought of the West, it disappeared rapidly Formerly a nation of fish-eaters, it is now equally proud of being beef and pork eaters Even the pious, whether among the clergy or the laity, relish without any compunction forbidden meat But it should not be understood that the idea has altogether become extinct In recent years it has taken a new form, that of memorial services Wood print engravers guild holds memorial services in honour of the spirit of the countless cherry trees mass for silkworms spirits of fish service for the broken dolls and broken needles, the needles being regarded as living being "

—Prof Raghuvira, M A , Ph D , D Lit 's article "The Practice of the Buddhist tenets of Ahinsa in Japan' in *Modern Review*, Feb 1938 p 165

45 'जैन' भावनगर सन् 1949।

*****

समन्वय का मार्ग—स्याद्वाद

साधना के लिए जिस प्रकार पुण्य-जीवन और पवित्र प्रवृत्तियो की आवश्यकता है, उसी प्रकार हृदय से सत्य का भी निकटतम परिचय होना आवश्यक है। मनुष्य की मर्यादित शक्तिया है। पदार्थों के परिज्ञान के साधन भी सदा सर्वथा सर्वत्र सबको एक ही रूप मे पदार्थो का परिचय नही कराते। एक वृक्ष समीपवर्ती व्यक्ति को पुष्प-पत्रादि-प्रपूरित प्रतीत होता है, तो दूरवर्ती को उसका एक विलक्षण आकार दिखता है। पर्वत के समीप आने पर वह हमे दुर्गम और भीषण मालूम पडता है, किन्तु दूरस्थ व्यक्ति को वह रम्य प्रतीत होता है—"दूरस्था भूधरा रम्या·"। इसी प्रकार विश्व के पदार्थो के विषय मे हम लोग अपने-अपने अनुभव और अध्ययन का विश्लेषण करे तो एक ही वस्तु के भिन्न-भिन्न प्रकार के अनुभव मिलेगे, जिनको अकाट्य होने के कारण सदोष या भ्रम-पूर्ण नही कहा जा सकता। एक 'संखिया' नामक पदार्थ के विषय मे विचार कीजिए। साधारण जनता उसे विष रूप से जानती है, किन्तु वैद्य उसका भयकर रोग निवारण मे सदा प्रयोग करते है। इसलिए जनता की दृष्टि से उसे मारक कहा जाता है और वैद्यो की दृष्टि से लाभप्रद होने के कारण उसका सावधानीपूर्वक प्रयोग किया जाता है।

इसी प्रकार वस्तुओ के विषय मे भिन्न-भिन्न प्रकार की दृष्टिया सुनी जाती है और अनुभव मे भी आती है। इन दृष्टियो पर गम्भीर विचार न कर कूप-मण्डूकवत् सकीर्ण भाव से अपने को ही यथार्थ समझ विरोधी दृष्टि को एकान्त असत्य मान बैठते है। दूसरा भी इनका अनुकरण करता है। ऐसे सकीर्ण विचार वालो के सयोग से जो सघर्ष होता है उसे देख साधारण तो क्या बडे-बडे साधुचेतस्क व्यक्ति भी सत्य-समीक्षण से दूर हो परोपकारी जीवन मे प्रवृत्ति करने की प्रेरणा कर चुप हो जाते है और, यह कहने लगते हैं—सत्य उलझन की वस्तु है। उसे अनन्त काल तक सुलझाते जाओगे तो भी उलझन जैसी की तैसी

गोरख-धन्धे के रूप मे बनी रहेगी। इसलिए थोडे से अमूल्य मानव-जीवन को प्रेम के साथ व्यतीत करना चाहिए। इस दृष्टिवाले बुद्धि के धनी होते है, तो यह शिक्षा देते है–

"कोई कहै कछु है नहीं, कोई कहै कछु है।
है औ नही के बीच मे, जो कुछ है सो है॥"

साधारण जनता की इस विषय मे उपेक्षा दृष्टि को व्यक्त करते हुए कवि **अकबर** ने कहा है–

"मजहबी बहस मैने की ही नहीं
फालतू अक्ल मुझमे थी ही नहीं।"

ऐसी धारणावाले जिस मार्ग मे लगे हुए चले जा रहे हैं, उसमे तनिक भी परिवर्तन को वह तैयार नही होते। कारण, अपने पक्ष को एकान्त सत्य समझते रहने से सत्य-सिन्धु के सर्वागीण परिचय के सौभाग्य से वे वचित रहते है। एक बार एक विश्वधर्म सम्मेलन मे मुझे सम्मिलित होने का सुयोग मिला। बौद्धधर्म का प्रतिनिधित्व करने वाले दर्शन-शास्त्र के आचार्य एक डॉक्टर महानुभाव ने कहा था कि–बुद्ध-देव ने प्रपञ्च के विषय मे सत्य समीक्षण की दृष्टि मे अपने भक्तो का काल-क्षेप करना उचित नही समझकर लोक-सेवा, प्रेम, धर्म-प्रचार आदि को जीवनोपयोगी कहा। इसलिए डाक्टर महाशय की दृष्टि मे दार्शनिकता का मार्ग कण्टक-मय और मृग-मरीचिका का रास्ता था। उस समय जैन-धर्म की समन्वयकारी दृष्टि पर प्रकाश डालने की चिन्ता मे मै निमग्न था। जैनधर्म के अपने भाषण के प्रारम्भ मे मैने बौद्ध प्रतिनिधि के प्रभाव को ध्यान मे रखते हुए कहा कि–चार्वाक ने पूर्वोक्त दृष्टि से भी आगे बढ लोकोपयोगी आकर्षक युक्ति द्वारा विश्व की समीक्षा को **'बालू पेलि निकालै तेल'** जैसी सारहीन समस्या समझाया। देखिए वह क्या कहता है–तर्क के सहारे सत्य को देखना चाहो तो वह हमारा ठीक मार्ग-दर्शन नही करता। जिस प्रकार तर्क एक पक्ष के औचित्य को बताने वाली सामग्री उपस्थित करता है उसी प्रकार अन्य पक्ष को उचित बताने वाली सामग्री की भी कमी नही है। शास्त्रो के प्रमाण भी परस्पर

विचित्रताओ से परिपूर्ण है। एक ज्ञानी पुरुष की लिखी बात प्रमाणित माने और दूसरे की नही, यह सलाह ठीक नही जँचती। धर्म का स्वरूप मनुष्य की बुद्धि के परे है। वह है अथवा नही, नही कह सकते। गडरिये के नेतृत्व मे जिस प्रकार भेडो का झुण्ड रहा करता है उसी प्रकार प्रभावशाली पुरुष अपने-अपने पन्थ का नेता बन लोगो को अपनी ओर खीच लेता है। इस दृष्टि से तो मानव-जीवन की जो विशेष-शक्ति तर्कणा है, वह बिल्कुल अकार्यकारी हो जाती है।

समस्त विश्व ज्ञान के महात्म्य को स्वीकार कर ज्ञान का गुणगान करता है, किन्तु मक्खाली गोशाल ने अज्ञान को गौरवपूर्ण बताते हुए ज्ञान की हीनता को इस प्रकार सिद्ध किया है · "कोई मनुष्य जानते हुए अपने पैर से किसी के सिर का स्पर्श करता है। यह उसका बडा अपराध माना जाता है। यदि कोई बिना जाने दूसरे के सिर का पैर से स्पर्श कर लेता है, तो उसको कोई अपराधी नही कहता है, इस प्रकार अज्ञान प्रधान पद को प्राप्त होता है, ज्ञान का कोई महत्त्व नही है।"[1] निर्दोष, दीन तथा वाणी विहीन पशुओ की स्वोदर पूर्ति निमित्त हत्या करते हुए लोक कुतर्क का आश्रय ले उसे धर्म सिद्ध करते है। वेद समर्थित पशु बलिदान को धर्म बताने वालो की मीमासा दर्शन वाला कहा जाता है। वे परम आस्तिक माने जाते है। तर्क की ऐसी अखुत स्थिति देखकर चार्वाक कहता है 'अरे, यह शरीर पुजरूप है। जो काल गया, वह नही लौटता है। अत भय छोडकर यथेष्ट आहार पान करने से नही चूकना चाहिये।' –

पिब, खाद च साधु शोभनेयदतीत वरगात्रि तन्न ते।
न हि भीरु निवर्तते समुदयमात्र मिद कलेवरम्॥

चार्वाक तो आत्मा का पुनर्जन्म मान ऐहिक सुखोपभोग के लिए प्रेरणा देता है कितु अध्यात्म का एकान्तवादी स्वय को पूर्णतया शुद्ध मानता हुआ पूर्णतया स्वच्छन्दता का पथ पकडता है। इस तरह एकान्त वाद के द्वारा जीव का दिग्भ्रम होता है। ऐसी निबिड-निराशा की अवस्था मे भी जैनधर्म का अनेकान्तवाद अथवा स्याद्वाद नाम का वैज्ञानिक उपाय पर्याप्त प्रकाश तथा स्फूर्ति प्रदान करता है।

सत्य का स्वरूप समझने मे डर की कोई बात नही है। भ्रम, असामर्थ्य अथवा मानसिक दुर्बलता के कारण कोई बडा सन्त बन और कोई दार्शनिक के रूप मे आ हमे रस्सी को साप बता डराता है। स्याद्वाद विद्या के प्रकाश मे साधक तत्काल जान लेता है कि यह सर्प नही रस्सी है—इससे डरने का कोई कारण नही है।

पुरातनकाल मे जब साम्प्रदायिकता का नशा गहरा था, तब इस स्याद्वाद सिद्धान्त की विकृत रूप-रेखा प्रदर्शित कर किन्ही-किन्ही नामाकित धर्माचार्यो ने इसके विरुद्ध अपना रोष प्रकट किया और उस सामग्री के प्रति 'बाबावाक्य प्रमाणम्' की आस्था रखने वाला आज भी सत्य के प्रकाश से अपने को वंचित करता है। आनन्द की बात है कि इस युग मे साम्प्रदायिकता का भूत वैज्ञानिक दृष्टि के प्रकाश मे उतरा, इसलिए स्याद्वाद की गुण-गाथा बडे-बडे विशेषज्ञ गाने लगे। जर्मन विद्वान् **प्रो॰ हर्मन जेकोबी** ने लिखा है—"जैन धर्म के सिद्धान्त प्राचीन भारतीय तत्त्वज्ञान और धार्मिक पद्धतियो के अभ्यासियो के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है। इस स्याद्वाद से सर्व सत्य विचारो का द्वार खुल जाता है।" इण्डिया ऑफिस लन्दन के प्रधान पुस्तकालयाध्यक्ष **डा॰ थामस** के उद्‌गार बडे महत्त्वपूर्ण है—"न्यायशास्त्र मे जैन न्याय का स्थान बहुत ऊँचा है। स्याद्वाद का स्थान बडा गम्भीर है। वह वस्तुओ की भिन्न-भिन्न परिस्थितियो पर अच्छा प्रकाश डालता है।" भारतीय विद्वानो मे निष्पक्ष आलोचक **स्व॰ पण्डित महावीर प्रसाद द्विवेदी** की आलोचना अधिक उद्‌बोधक है—"प्राचीन ढर्रे के हिन्दू-धर्मावलम्बी बडे-बडे शास्त्री तक अब भी नही जानते कि जैनियो का 'स्याद्वाद' किस चिडिया का नाम है। धन्यवाद है जर्मनी, फ्रान्स और इग्लैण्ड के कुछ विद्यानुरागी विशेषज्ञो को जिनकी कृपा से इस धर्म के अनुयायियो के कीर्ति-कलाप की खोज की ओर भारतवर्ष के इतरजनो का ध्यान आकृष्ट हुआ। यदि ये विदेशी विद्वान् जैनो के धर्मग्रन्थो की आलोचना न करते, उनके प्राचीन लेखको की महत्ता प्रकट न करते तो हम लोग शायद आज भी पूर्ववत् अज्ञान के अन्धकार मे डूबते रहते।"

गाधी जी ने लिखा है "जिस प्रकार स्याद्वाद को मै जानता हूँ, उसी प्रकार मै उसे मानता हूँ। मुझे यह अनेकान्तवाद बडा प्रिय है।" उन्होने

मुझ से कहा था, "मेरे दार्शनिक विचार स्याद्वाद दृष्टि से अंकित रहा करते है।"

श्रीयुत **महामहोपाध्याय सत्यसम्प्रदायाचार्य प० स्वामी राममिश्र जी शास्त्री** ने लिखा है कि–"स्याद्वाद जैन धर्म का एक अभेद्य किला है, जिसके अन्दर प्रतिवादियो के मायामय गोले प्रवेश नही कर सकते।"

अब हमे देखना है कि यह स्याद्वाद क्या है जो शान्त गम्भीर और असाम्प्रदायिको की आत्मा के लिए पर्याप्त भोजन प्रदान करता है। 'स्यात्' शब्द कथञ्चित्–किसी दृष्टि से (from some point of view) अर्थ का बोधक है। 'वाद' शब्द कथन को बताता है। इसका भाव यह है कि वस्तु किसी दृष्टि से इस प्रकार है, किसी दृष्टि से दूसरी प्रकार है। इस तरह वस्तु के शेष अनेक धर्मो-गुणो को गौण बनाते हुए गुण-विशेष को प्रमुख बनाकर प्रतिपादन करना स्याद्वाद है। न्याय दीपिका मे अनेकात शब्द का वाच्य पदार्थ कहा है। जिसमे सामान्य-विशेष, गुण-पर्याय रूप अनेक धर्म अर्थात् अन्त पाए जाते है, वह वस्तु अनेकात है। उसका कथन अनेकातवाद है–

"अनेके अता धर्मा: सामान्य विशेष-पर्यायगुणा यस्यति सिद्धोऽनेकात."
(अ० 3, पृ० 116-117)

लघीयस्त्रय मे **अकलकदेव** लिखते है–**"अनेकान्तात्मकार्थकथन स्याद्वाद."**[2]–"अनेकान्तात्मक-अनेक धर्म-विशिष्ट वस्तु का कथन करना स्याद्वाद है।" कथन के साथ स्यात् शब्द का प्रयोग करने से सर्वथा एकान्त दृष्टि का परिहार हो जाता है। धनजय कृत अनेकार्थ नाममाला मे स्यात् का अर्थ अनेकात किया गया है तथा इसे निपात शब्द कहा है **"अनेकान्ते च विद्यादौ स्यान्निपातः शुभे क्वचित"**॥44॥ वरागचरित्र मे लिखा है, **"तस्यानेकान्तवादस्य लिग स्याच्छब्द उच्यते"**–(26,83) स्यात् शब्द अनेकान्तवाद का सूचक है। विद्यानंदिस्वामी ने अष्टसहस्त्री मे लिखा है, **"स्यादिति शब्दोऽनेकान्त द्योती प्रतिपत्तव्यो"** (पृ 286)–यह स्यात् शब्द अनेकान्त का द्योतक कहा गया है। अष्टशती टीका मे लिखा है –**"सदसन्नित्यादिसार्वथैकान्त-प्रतिक्षेय**

लक्षणोऽनेकान्तः" (पृ 286)– सत्, असत् इत्यादि सर्वथा एकान्त पक्षो का निराकरण करने स्वरूप अनेकान्त है। **समन्तभद्र स्वामी** ने लिखा है .–

स्याद्वाद सर्वथैकान्तत्यागात् किवृत्तचिद्विधि·।
सप्तभगनयाक्षेपो हेयादेय विशेषक॥

– *आप्त मीमासा 104*

स्याद्वाद सर्वथा एकान्तपक्ष का परित्याग कर कथचित्वाद का आश्रय ले वस्तुस्वरूप का निरुपण करता है और वही सप्तभगनय की अपेक्षा से हेय तथा उपादेय रूप वस्तु की व्यवस्था करता है।

यह स्यात् शब्द 'अस्' धातु का रूप नही है। यह अव्यय है तथा इसका जैन न्याय ग्रन्थ मे 'कथञ्चित' अथवा 'किसी दृष्टि से' अर्थ होता है। स्याद्वाद वस्तु के निश्चित तथा यथार्थ स्वरूप का प्रतिपादन करता है। अत आप्टे सस्कृत कोश मे 'स्याद्वाद' का अर्थ an assertion of probability, a form of scepticism –सभावना का प्रतिपादन, एक प्रकार का अनिश्चयवाद अथवा सशयवाद किया गया है। वास्तव मे स्याद्वाद के द्वारा सशय, विपर्यय आदि मिथ्या, अज्ञान आदि को दूर कर सम्य व ज्ञान का प्रकाश प्राप्त होता है।

वस्तु के वास्तविक स्वरूप को समझने के लिए स्याद्वाद अथवा अनेकान्त विचार पद्धति का आश्रय न लेने वाली मकडी की तरह एकान्तवाद के जाल मे उलझकर सत्यस्वरूप से बहुत दूर हो जाता है। आचार्य पूज्यपाद ने जैनेन्द्र व्याकरण मे 'सिद्धिरनेकान्तात्' सूत्र लिखा है। अर्थात् वस्तु-तत्त्व की सिद्धि अनेकान्त दृष्टि के द्वारा ही हो सकती है। शब्दार्थावचन्द्रिका मे उक्त सूत्र पर सोमदेव सूरि ने इस प्रकार वृत्ति लिखी है–**"सिद्धि· शब्दाना निष्पत्तिर्ज्ञप्तिर्वा भवत्यनेकान्तात्"** शब्दो की निष्पत्ति अथवा ज्ञान अनेकान्त के द्वारा होता है। **डॉ॰ जैकोबी** ने अनेकान्तवाद का अनुवाद "The theory of the 'Indefiniteness of Being" किया है। (*Studies in Jainism*, Part I, p 16)। इससे यह बात ध्वनित होती है कि स्याद्वाद के द्वारा वस्तु का निश्चित स्वरूप अवगत नही हो

पाता। इसका अनुवाद 'The doctrine of non-absolutism' अर्थात् 'एकान्तवाद से रहित सिद्धान्त' सम्यक् होगा। 'स्याद्वाद मञ्जरी' के अनुवादक डॉ॰ एफ॰ डब्लू॰ थॉमस की बर्लिन से प्रकाशित पुस्तक मे इसे Quodammodo Doctrine कहा गया है। डॉ॰ थॉमस ने लिखा है–

The Quodammodo doctrine, Syad-vada, affirms the Un-one-sidedness, anekanta it implies not doubt, but discrimination of "aspects" (p 1) यह स्याद्वाद एक धर्मरूपता का अभाव अर्थात् अनेकान्तपने का प्रतिपादन करता है। इसका भाव सशय नही है, किन्तु वस्तु के अनेक पहलुओ मे से इष्ट धर्म अथवा दृष्टि को प्रधानता प्रदान करता है। इस विषय का स्पष्टीकरण इस निबन्ध मे किए गए आगामी विवेचन द्वारा स्वयमेव हो जाएगा।

स्याद्वाद मे वस्तु के अनेक धर्मो का कथन होने के कारण उसे अनेक धर्मवाद अथवा अनेकान्तवाद कहते है। जब अनन्त धर्मो पर दृष्टि रहती है तब उसे सकलादेश-परिपूर्ण दृष्टि कहते है। जब एक धर्म को प्रधान बना शेष धर्मो को गौण बना दिया जाता है तब उसे विकलादेश-अपूर्ण दृष्टि कहते है। विकलादेश को नय-दृष्टि और सकलादेश को प्रमाण-दृष्टि कहते है। दोनो दृष्टिया श्रुतज्ञान के भेदरूप है। जीव मे ज्ञान-दर्शन, सुख, शक्ति आदि अनन्त गुण विद्यमान है। जब प्रतिपादक की विवक्षा-दृष्टि अनन्त गुणो पर केन्द्रित रहती है तब स्यात् शब्द के साथ 'जीव' पद का प्रयोग उसके अनन्त धर्मो को सूचित करता है। इसलिए **अकलक** स्वामी ने लिखा है–'स्यात् जीव एव' ऐसा कथन होने पर 'स्यात्' शब्द अनेकान्त–अनेक धर्मपुञ्ज को विषय करता है। "स्यात् अस्त्येवजीव " इस वाक्य मे 'स्यात्' शब्द जीव के अस्तित्व गुण को प्रधानता से बताता है। इस प्रकार स्यात् शब्द द्वारा अनेकान्त और सम्यक् एकान्त का बोध होता है।[3]

वस्तु के अनन्त धर्मो का जिन एकान्तियो को पता नही है, वे स्याद्वाद विद्या का प्रतिपादन करने मे समर्थ न हो सके। भगवान् ऋषभदेव से लेकर महावीर पर्यन्त् चौबीस तीर्थकरो ने श्रेष्ठ साधना के फलस्वरूप सर्वज्ञता के सूर्य को प्राप्त किया और उसके प्रकाश मे

स्याद्वाद विद्या का परिचय पाया। इसलिए **अकलंकदेव** ने लघीयस्त्रय ग्रन्थ के प्रमाण प्रवेश प्रकरण के प्रारम्भ मे तीर्थंकरो को पुनः-पुनः स्वात्मोपलब्धि के लिए प्रणाम करते समय 'स्याद्वादी' शब्द से समलङ्कृत किया है। कितना भावपूर्ण मगल श्लोक है–

"धर्मतीर्थकरेभ्योऽस्तु स्याद्वादिभ्यो नमो नम.।
ऋषभादिमहावीरान्तेभ्य. स्वात्मोपलब्धये॥"

इस स्याद्वाद-वाणी के आधार पर महापुराणकार **भगवज्जिनसेन** जिनेन्द्र भगवान् मे सर्वज्ञता का सद्भाव सूचित करते है। जिनेन्द्र वृषभनाथ का स्तवन करते हुए कहते है,[4]–"हे ईश, आपकी सार्वत्रि की वाणी की पवित्रता आपके सर्वज्ञपने को बताती है। इस जगत् मे इस प्रकार का महान् वचन-वैभव अल्पज्ञो मे नही दिखाई पडता है।"

"प्रभो, वक्ता की प्रामाणिकता से वचन की प्रामाणिकता मानी जाती है। अपवित्र वक्ता के द्वारा उज्ज्वल वाणी नही उत्पन्न होती है।"

"आपकी विश्व विषयिणी सप्तभग रूप भारती आप मे विशुद्ध आप्त-प्रतीति को उत्पन्न करने मे समर्थ है।"

कवि **धनजय** कहते है[5]–"जिस प्रकार ज्वर-मुक्त व्यक्ति का बोध उसके स्वर विशेष के द्वारा होता है। उसी प्रकार स्याद्वाद वाणी के द्वारा जिनेन्द्र भगवान् की निर्दोषता का ज्ञान होता है।"

आत्मा की सर्वज्ञता पर तार्किक दृष्टि से पहले प्रकाश डाला जा चुका है। यहा हम बौद्धो के अत्यन्त मान्य ग्रन्थ **मज्झिमनिकाय** (भाग 1, पृ॰ 92-93) का निम्नलिखित प्रमाण उपस्थित करते है, जिससे जैन धर्म के प्रबल प्रतिद्वद्वी बौद्ध साहित्य द्वारा भगवान् महावीर की सर्वज्ञता की मान्यता पर प्रकाश पडता है। पुरातन बौद्ध पाली वाड्मय मे भगवान् महावीर और जैन सस्कृति के विरुद्ध काफी असयत तथा रोषपूर्ण उद्गार अनेक स्थलो पर व्यक्त किए गए है। भगवान् महावीर के समकालीन साहित्य मे निर्ग्रन्थ नाथ-पुत्र महावीर को सर्वज्ञ और सर्वदर्शी तथा परिपूर्ण ज्ञान, दर्शन के ज्ञातापने की मान्यता का उल्लेख अत्यधिक प्रभावपूर्ण साक्षी माना जाना चाहिए। पाली के शब्द ये है–

निगण्ठो आवुसो, नाथपुत्तो सव्वञ्ञु, सव्वदरसावी अपरिसेस आणदस्सन परिजानास्ति –म० नि०, भाग 1, पृ० 91–93: PTS[6]

वाणी के द्वारा एक साथ परिपूर्ण सत्य का प्रतिपादन करना सम्भव नही है, इसलिए जिस धर्म या जिन धर्मों का वर्णन किया जाए वे प्रधान हो जाते है और अन्य गौण बन जाते है। एकान्त दृष्टि मे अन्य गौण धर्मों को वस्तु से पृथक् कर उन्हे अस्तित्वहीन बना दिया जाता है इसलिए मिथ्या एकान्त दृष्टि के द्वारा सत्य का सौदर्य समाप्त हो जाता है। अनेकान्त विद्या के प्रकाण्ड आचार्य अमृतचन्द्र कहते है[7]–जिस प्रकार दधि मन्थन कर मक्खन निकालने वाली ग्वालिन अपने एक हाथ से रस्सी के एक छोर को सामने खीचती है, तो उसी समय वह दूसरे हाथ के छोर को शिथिल कर पीछे पहुँचा देती है, पर छोडती नही है, पश्चात् पीछे गए हुए छोर को मुख्य बना रस्सी के दूसरे भाग को पीछे ले जाती है। इस प्रकार आकर्षण और शिथिलीकरण क्रियाओ द्वारा दधि मे से सारभूत तत्त्व को प्राप्त करती है।" अनेकान्त विद्या एक दृष्टि को मुख्य बनाती है और अन्य को गौण करती है। इस प्रक्रिया के द्वारा वह तत्त्वज्ञान रूप अमृत को प्राप्त कराती है।

पहले सखिया को जन साधारण की भाषा मे प्राण–घातक बताया था, वैद्यराज की दृष्टि मे उसे उसके विपरीत प्राण–रक्षक कहा था। इन परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाले वक्तव्यो मे विरोध इस प्रकार दूर किया जा सकता है कि यदि मनमानी मात्रा मे बिना योग्य अनुपान के वह खाया जाए तो प्राण–रक्षक नही होगा किन्तु चतुर चिकित्सक के तत्त्वाधान मे यथाविधि सेवन करने पर वही रोग–निवारक होगा। इसलिए उसे एक दृष्टि से प्राण–रक्षक कहना ठीक है। दूसरी दृष्टि से प्राणघातक कहना भी सत्य की मर्यादा के भीतर है।

एक तीन इञ्च लम्बी रेखा खिची है। उसे हम न तो छोटी कह सकते है और न बडी। उसका छोटापन अथवा लम्बापन सापेक्ष (Relative) है। पाच इञ्च वाली रेखा ऊपर खीचने पर वह लघु कही जाती है और दो इञ्च मान वाली दूसरी रेखा की अपेक्षा वह बड़ी कही जाती है।[8] इसी प्रकार वस्तु के स्वरूप के विषय मे साधक को पता

लगेगा कि समन्वयकारी परस्पर मे मैत्री रखने वाली दृष्टियो से वस्तु का स्वरूप ठीक रीति से हृदय-ग्राही हो जाता है। यह स्याद्वाद हमारे नित्य व्यवहार की वस्तु है। इसकी उपादेयता स्वीकार किए बिना हमारा लोक-व्यवहार एक क्षण भी नही बन सकता।

आचार्य हेमचन्द्र ने बताया है, कि स्याद्वाद का सिक्का सम्पूर्ण विश्व मे चलता है। इसकी मर्यादा के बाहर कोई भी वस्तु नही रह सकती। छोटे से दीपक से लेकर विशाल आकाश पर्यन्त सभी वस्तुएँ किसी दृष्टि से नित्य और किसी दृष्टि से अनित्य रूप अनेकान्त मुद्रा से अकित है–

"आदीपमाव्योम समस्वभाव स्याद्वादमुद्रानतिभेवि वस्तु।
तन्नित्यमेवैकमनित्यमन्यदिति त्वदाज्ञाद्विषता प्रलापा.॥"[9]

– *अन्ययोगव्य*

लोक-व्यवहार मे हम देखते है कि एक व्यक्ति अपने पिता की दृष्टि से पुत्र कहलाता है, वही व्यक्ति, जो पुत्र कहलाता है भानजे की अपेक्षा मामा, पुत्र की दृष्टि से पिता भी कहलाता है, इस प्रकार देखने से प्रतीत होता है कि पुत्रपना, पितापना, मामापना आदि विशेषताएँ परस्पर जुदी-जुदी है किन्तु उनका एक व्यक्ति मे परस्पर भिन्न दृष्टियो की अपेक्षा बिना विरोध के सुन्दर समन्वय पाया जाता है।

विविध देश, काल आदि की अपेक्षा वस्तु का विविध रूप मे ज्ञान हुआ करता है। यह बात अनुभव सिद्ध है। इसे काल्पनिक मानना सत्य का तिरस्कार है। इसी से स्याद्वादी वस्तु के एकान्त रूप का समर्थन नही करता है। उदाहरणार्थ सूर्य के विषय मे इस भूतलवासियो का एक ही मत है कि वह धवलवर्ण तथा तेज का अखुत पुज है, किन्तु अतरिक्ष यात्री यूरी गैगरिन ने यह बताया है कि अतरिक्ष की यात्रा के समय वह सूर्य नीला सा दिखता था। एक ही सूर्य दो स्थानो से देखे जाने पर दो रूप मे दिखाई पडता है। रुसी कोसमोनाट (Cosmonaut) के शब्द इस प्रकार है–"It ıs ımpossıble to forget the source of lıfe on our planet the unbelıevable generous bluısh whıte sun entırely dıfferent from

what it looks from the Earth" (*Stairs Leading to the Universe* –Hitrada, 26th August 1962)। इस प्रकार का अनुभव स्याद्वाद दृष्टि को समझने मे सहायक होता है तथा उससे एकान्तवाद की भ्रान्ति स्पष्ट होती है।

कहते है एक बार दो मूर्ख बकरे लड कर मर गए। इस सबध मे उनके मुखिया ने जाच की। तब ज्ञात हुआ कि उनके झगडे का कारण उन दोनो के परस्पर विरोधी कथन थे। बडे बकरे ने कहा था कि मै जिस पर्वत पर जाता हूँ वहा बिल्कुल घास नही है। दूसरे बकरे ने इस कथन को झूठा कहते हुए कहा था कि उस पर्वत पर विपुल मात्रा मे हरी हरी घास है। दोनो एक–दूसरे को झूठा तथा स्वय को अपने अनुभव के आधार पर सच्चा मान रहे थे। उनके सघर्ष का फल यह हुआ कि दोनो मर गए। विचारवान् मुखिया ने पहाडी पर जाकर देखा तो उसे ज्ञात हुआ कि दोनो का कथन यथार्थ था। पहाडी के जिस भाग पर बडा बकरा जाता था वहा घास नही थी किन्तु जिस ओर दूसरा बकरा जाता था, वह हरा भरा था। उस समय यह स्पष्ट हुआ कि दोनो का कथन वास्तविक होते हुए इतने अश मे सदोष था कि दोनो अपने को ही सच्चा मान कर दूसरे को झूठा कह रहे थे। यह स्थिति एकान्तवादी दार्शनिको की है। वे जो वस्तु का स्वरूप कहते है वह किसी अपेक्षा सत्य होते हुए भी इसलिए असत्य हो जाता है कि उसमे अन्य पक्ष को सत्य मानने की क्षमता, विशाल दृष्टि अथवा विवेक का अभाव है। अपने पक्ष का ममत्व होना स्वाभाविक है किन्तु दूसरी दृष्टि के प्रति भयकर विद्रोह हो जाता है। यह स्याद्वाद शासन की विशेषता है कि वह परस्पर विरुद्ध दिखने वाली दृष्टियो के मध्य श्रेष्ठ सखाभाव को उत्पन्न करता है। इस समन्वयशील दृष्टि के द्वारा परिपूर्ण सत्य से साधक का सम्पर्क स्थापित हो जाता है। यह दृष्टि धर्मो के बीच निरपेक्ष भाव के स्थान मे सापेक्षता को उत्पन्न करती है। एकान्तवादी अपनी ही ढपली बजाकर अपना बेसुरा राग अलापने मे आनन्द का अनुभव करता है जबकि अनेकान्तवादी सहृदयतापूर्ण सौजन्य भाव समलकृत होने से सबकी सुन कर समन्वय का सुमधुर सगीत सुनता है तथा सुनाता है। वैज्ञानिक **आइन्सटाइन** ने अपने सापेक्षतावाद सिद्धान्त (theory of relativity) द्वारा स्याद्वाद दृष्टि का ही समर्थन किया है।

वस्तु के अस्तित्व गुण को प्रधान मानने पर सद्भाव सूचकदृष्टि, समक्ष आती है और जब प्रतिषेध्य-निषेध किए जाने वाले धर्म मुख्य होते है, तब नास्ति नामक द्वितीय दृष्टि उदित होती है। वस्तु अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की दृष्टि से सत्स्वरूप है, वही वस्तु अन्य पदार्थो की अपेक्षा नास्ति रूप होती है। हाथी अपने स्वरूप की अपेक्षा सद्भाव रूप है लेकिन हाथी से भिन्न ऊँट, घोडा आदि गज से भिन्न वस्तुओ की अपेक्षा हाथी असद्भावात्मक होता है। यदि स्वरूप की अपेक्षा हाथी के सद्भाव के समान पररूप की भी अपेक्षा हाथी का सद्भाव हो तो हाथी, ऊँट, घोडे आदि मे कोई अन्तर न होगा। इसी प्रकार यदि ऊँट आदि हाथी से भिन्न पदार्थो की अपेक्षा जैसे गज को असद्भाव-नास्ति रूप कहते है उसी प्रकार स्वरूप की अपेक्षा भी यदि गज नास्ति रूप हो जाए तो हाथी का सद्भाव नही रहेगा।

जर्मन दार्शनिक हेगल (Hegel) भी अपने चिन्तन द्वारा अनेकान्त दृष्टि का समर्थन करता है। वह कहता है कि वस्तु मे सम्पूर्ण अवस्थाओ का अस्तित्व होने से उसमे सत् के समान असत् भी होना चाहिए। प्रत्येक पदार्थ मे उसके निज स्वरूप के सिवाय उसका विपक्षी भाव भी पाया जाता है। किसी वस्तु की कल्पना करते समय उसके विपक्ष की कल्पना न करना असम्भव है। वह कहता है अनन्तकाल की अथवा अनन्तता की सोचे बिना तुम सान्तपने (Finiteness) का विचार नही कर सकते। गाय वास्तव मे गाय होते हुए भी बिल्ली नही है अर्थात् उसमे गायपने का सद्भाव है तो मार्जारपने का अभाव भी है। एक वस्तु सत् रूप है क्योंकि वह उसी समय अन्य दृष्टि से असत् रूप भी है। हेगल के शब्द इस प्रकार है :—"Since reality is all-inclusive, it comprises within it the state of being as well as not being Everything contains within itself its own opposite It is impossible to conceive of anything without conceiving at the same time of its opposite " He furthur explains his point thus, " You cannot think of finiteness without thinking of infinity or of time without thinking of timelessness A cow is a cow and is at the same time it is not a cat A thing is itself only because at the same time it is not something else "

[10]तत्त्वार्थराजवार्तिक मे आचार्य **अकलकदेव** ने बताया है कि—वस्तु का वस्तुत्व इसी मे है कि वह अपने स्वरूप को ग्रहण करे और पर की

अपेक्षा अभाव रूप हो। इन विधि और निषेधरूप दृष्टियो को अस्ति और नास्ति नामक दो भिन्न धर्मों द्वारा बताया है।

इस विषय को समझाने के लिए न्याय-शास्त्र मे एक उदाहरण दिया जाता है कि दधि स्वरूप की अपेक्षा दधि है, यदि वह दधि से भिन्न ऊँट की अपेक्षा भी दधि हो तो जिस तरह 'दधि खाओ' कहने पर व्यक्ति दही की ओर दौड जाता है उसी प्रकार उपर्युक्त वाक्य सुनकर उसे ऊँट की ओर दौडना था। किन्तु इस प्रकार का क्रम नही देखा जाता। इससे यह निष्कर्ष न्यायोपात्त है कि वस्तु स्वरूप की अपेक्षा अस्तिरूप है और पररूप की अपेक्षा नास्तिरूप। इस रहस्य को तिरस्कार की दृष्टि से देखने वाले बौद्ध-आचार्य धर्म कीर्ति की कटु आलोचना का उपहासपूर्ण भाषा द्वारा निराकरण करते हुए **अकलकदेव** कहते है–बुद्धदेव अपने पूर्वभव मे एकबार मृग रह चुके है। वास्तव मे अनेकान्त विद्या के प्रकाश मे जीव की मृग पर्याय और सुगत पर्याय पृथक् है। मृगपर्याय मे सुगत पर्याय का अभाव है और सुगत पर्याय मे मृग पर्याय का अभाव है। यदि उनका परस्पर मे अभाव न माना जाए तो निम्न प्रकार उपहासपूर्ण अवस्था प्राप्त होगी:–

"सुगतोऽपि मृगो जातो मृगोऽपि सुगत. स्मृत·।
तथापि सुगतो वन्द्यो मृग. खाद्यो यथेष्यते॥ 373॥
तथा वस्तुबलादेव भेदाभेदव्यवस्थितेः।
चोदितो दधि खादेति किमुष्ट्रमभिधावति?"॥ 374॥

–न्यायविनिश्चय

सुगत भी मृग हुए थे और मृग भी सुगत हुआ (इनमे यदि परस्पर भिन्नता न हो तो मृग के समान सुगत को भक्ष्य मानना होगा अथवा सुगत के समान मृग को भी वन्दनीय कहना होगा) फिर भी सुगत को जिस प्रकार तुम वन्द्य और मृग को खाद्य मानते हो, उसी प्रकार वस्तुस्वभाव के बल से भेद-अभेद की व्यवस्था होती है। इसलिए 'दही खाओ' कहने पर ऊँट की ओर क्यो दौडा जाए?

इस कथन का सार यह है कि, यदि दधि मे ऊँट का सद्भाव होता अर्थात् दधि अपने स्वरूप मे अस्तिरूप रहते हुए भी ऊँट आदि की

अपेक्षा से भी अस्तिरूप होता, तो दही के समान ऊँट को खाने की ओर प्रवृत्ति होती, किन्तु ऐसा नही है। इसी दृष्टि को सुगत के उदाहरण द्वारा परिहासपूर्ण शैली से धर्म कीर्ति को सतुष्ट किया है। आज के युग मे यह पद्धति प्रिय न लगेगी। किन्तु धर्म कीर्ति और उनकी सदृश शैली वाले बौद्ध विद्वानो ने जिस ढग से अनेकान्त तत्त्वज्ञान पर क्रूर प्रहार किया है उसे दृष्टिपथ मे रखते हुए तार्किक **अकलक** का परिहास अकलक ज्ञात होता है। क्या अकलक की आलोचना के प्रकाश मे एकातवादी यह बात देखने का प्रयत्न करेगे कि दिग्नाग आदि कुछ प्रतिभाशाली बौद्धाचार्यो के द्वारा सभी विषय चर्चित होने के कारण उच्छिष्ट नही है। समन्तभद्र, अकलक, प्रभाचन्द्र प्रभृति प्रभावक जैन तार्किको ने समीक्षको को विपुल मौलिक मधुर जीवनदात्री भोज्य सामग्री प्रस्तुत की है।[11]

जिस प्रकार स्वरूप-चतुष्टय (स्व-द्रव्य, स्व-क्षेत्र, स्व-काल और स्व-भाव) की अपेक्षा वस्तु अस्तिरूप है और परचतुष्टय की अपेक्षा नास्तिरूप है उसी प्रकार वस्तु उपर्युक्त अस्ति-नास्ति धर्मो को एक साथ कथन करने की वाणी की असमर्थतावश (bankruptcy of vocabulary) अवक्तव्य-अनिर्वचनीयरूप भी कही गई है। इस विषय मे एकान्तवादी वस्तु को सर्वथा अनिर्वचनीय शब्द के द्वारा अनिर्वचनीय कहते हुए परिहासपूर्ण अवस्था को उत्पन्न करते है। इसी कारण **स्वामी समन्तभद्र** ने आप्तमीमासा मे लिखा है–

"अवाच्यतैकान्तेऽप्युक्तिर्नावाच्यमिति पुज्यते।" –*श्लोक 13*

अवाच्यता रूप एकान्त मानने पर वस्तु अवाच्य है–अनिर्वचनीय है, यह कथन सगत नही है। तार्किक के ध्यान मे यह बात तनिक मे आ जाएगी, कि जब अनिर्वचनीय शब्द के द्वारा वस्तु का प्रतिपादन किया जाता है तब उसे सर्वथा अनिर्वचनीय कैसे कह सकते है। ऐसा कथन 'अह मौनी' सदृश स्व-वचन बधित है। यदि मौनव्रत है तो वचनालाप क्यो करते हो।

तत्त्व को एकान्तत· अनिर्वचनीय माना जाए, तो किस प्रकार दूसरे को उसका बोध कराया जाएगा। क्या मात्र अपने ज्ञान से वाणी की सहायता पाए बिना अन्य को ज्ञान कराया जा सकेगा? इसलिए उसे

कथञ्चित् अनिर्वचनीय कहना होगा। पदार्थ की स्थूल पर्याये शब्दो के द्वारा कहने सुनने मे आती ही है। सत्त्व और असत्त्व, भाव और अभाव, अवधि और प्रतिषेध तथा एक और अनेक रूप तत्त्व का एक समय मे प्रतिपादन शब्दो की शक्ति के परे होने से कथञ्चित् अनिर्वचनीय धर्म का सद्भाव स्वीकार करना पडता है। इन तीन अर्थात् स्यात् अस्ति, स्यात् नास्ति, स्यात् अवक्तव्य के सयोग से चार और दृष्टियो-भगो का उदय होता है–(1) अस्ति-नास्ति (2) अस्ति अवक्तव्य (3) नास्ति अवक्तव्य (4) अस्ति-नास्ति अवक्तव्य। इन चार भगो का स्पष्टीकरण इस भाति जानना चहिए। अस्तित्व और नास्तित्व को क्रमपूर्वक ग्रहण करने से 'अस्ति-नास्ति' अस्तित्व के साथ ही उभय धर्मो को ग्रहण करने वाली दृष्टि समक्ष रखने से 'अस्ति-अवक्तव्य', नास्तित्व के साथ अवक्तव्य की योजना से 'नास्ति-अवक्तव्य' तथा अस्ति नास्ति के साथ अवक्तव्य की योजना द्वारा ''अस्तिनास्ति अवक्तव्य' भग बनता है। इन सात भगो को सप्तभगी-न्याय (Theory of sevenfold predication) के नाम से कहते है।

गणित-शास्त्र के 'Law of permutation and combination' नियमानुसार अस्ति-नास्ति और अवक्तव्य इन तीन भगो से चार सयुक्त-भग बनकर सप्तभग दृष्टि का उदय होता है। नमक, मिर्च, खटाई इन तीन स्वादो के सयोग से चार और स्वाद उत्पन्न होगे। नमक-मिर्च-खटाई, नमक-मिर्च, नमक-खटाई, मिर्च-खटाई, नमक, मिर्च और खटाई इस प्रकार सात स्वाद होगे। इस सप्तभगी न्याय की परिभाषा करते हुए जैनाचार्य लिखते है–**"प्रश्नवशात् एकत्र वस्तुनि अविरोधेन विधिप्रतिषेधकल्पना सप्तभगी।"** (राजवा॰ 1/6)–प्रश्नवश से एक वस्तु मे अविरोध रूप से विधि-निषेध अर्थात् अस्ति नास्ति की कल्पना सप्तभगी कहलाती है।

आचार्य **विद्यानन्दि** अपनी अष्टसहस्त्री टीका मे बताते है कि सप्त प्रकार की जिज्ञासा उत्पन्न होती है; क्योकि सप्त प्रकार का सशय उत्पन्न होता है। इसका भी कारण यह है कि उसका विषयरूप वस्तु धर्म सप्त प्रकार है। सप्तविध जिज्ञासा के कारण सप्त प्रकार के प्रश्न होते है। अनन्त धर्मो के सद्भाव होते हुए भी प्रत्येक धर्म मे विधि-निषेध की अपेक्षा अनन्त सप्तभगिया अनन्त धर्मो की अपेक्षा माननी होगी।

स्वेच्छानुसार जैसी लहर आई उसके अनुसार अस्ति-नास्ति आदि भग नही होते अन्यथा स्याद्वाद अव्यवस्थावाद की प्रतिकृति बन जाएगा। इसीलिए सप्तभगी की व्याख्या मे 'अविरोधेन' शब्द ग्रहण किया गया है।

'स्यात्' शब्द का अर्थ कोई-कोई 'शायद' (perhaps) करके स्याद्वाद को सन्देहवाद समझते है। वास्तव मे स्यात् के साथ 'एव' शब्द इस बात को द्योतित करता है कि उस विशेष दृष्टि बिदु से पदार्थ का वही रूप है और वह निश्चित है, उस दृष्टि से वह अन्यथा कभी नही हो सकता। वस्तु स्वरूप की अपेक्षा अस्तिरूप ही है, कभी भी स्वरूप की अपेक्षा वह नास्ति रूप नही कही जा सकती। जैसे जीव स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल तथा स्वभाव की अपेक्षा अस्ति रूप है। पर द्रव्यादि मनुष्य की अपेक्षा जीव नास्ति रूप ही है। यहा स्वमनुष्य की अपेक्षा वस्तु को 'अस्ति' रूप ही कहा गया है। यहा 'ही' शब्द की ओर दृष्टि देने से यह स्पष्ट हो जाएगा, कि जिस अपेक्षा से पदार्थ का जो स्वरूप कहा गया है, वह स्वरूप निश्चित है। 'स्यात् अस्ति एव जीव:'–भी कहा जाता है, किन्तु उसमे एव शब्द का सद्भाव मानना चाहिए। 'एव' शब्द का प्रयोग इस बात को सूचित करता है, कि वस्तु को एकान्त रूप नही मानना चाहिए क्योंकि अनेक धर्मो के सद्भाव का द्योतक 'स्यात्' शब्द भी प्रयुक्त है; किन्तु जिस दृष्टि से वस्तु का जो स्वरूप कहा जाता है, उस अपेक्षा से वह वैसा ही है, ऐसा मानने या कथन करने मे तनिक सदेह या सशय का स्थान नही है। यह 'एव' शब्द उस कथन को निश्चित (definite) कहता है। लोग 'एव' शब्द पर दृष्टि नही देते, इससे उन्हे स्याद्वाद मे अनिश्चितपने की गध आती है। वास्तव मे यह सिद्धान्त निश्चितपने के सौरभ और सौन्दर्य सम्पन्न है। उदाहरणार्थ पदार्थ की पर्याये क्षण-क्षण मे बदलती है अत. पर्याय की दृष्टि से वस्तु को विनाशशील ही माना जाएगा। पर्याय की अपेक्षा वस्तु शायद (perhaps) परिवर्तनशील है, यह कथन जैन शास्त्र सम्मत नही है। इस कथन से अनिश्चयपने की ध्वनि निकलती है। पर्याय की अपेक्षा वस्तु क्षणिक ही है और द्रव्य की अपेक्षा वस्तु नित्य ही है, यह कथन स्याद्वाद दृष्टि का द्योतक है। पदार्थ जब अनेक अन्त अर्थात् धर्मयुक्त होने से अनेकान्त है, तब उसका प्रतिपादक शब्द अनेकान्तवाद यथार्थ मे (Realistic) वास्तविकता वादी है। काशी के प्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान् स्याद्वाद मे वेदान्तियो के

अनिर्वचनीयतावाद की झलक पाते है। उनके शब्द हैं–"जो हो, जैन मत का "स्याद्वाद" वही वेदान्त मत का अनिर्वचनीयता वाद। शब्दो का भेद है, अर्थ का नही।"[12]

अनिर्वचनीयतावाद सप्तभग न्याय-प्रणाली का ही एक विकल्प है। वस्तु के अस्ति और नास्ति रूप धर्मो को एक साथ कहने की असमर्थता कें कारण उसे कथञ्चित् अनिर्वचनीय कहा है। वेदान्त दृष्टि एकान्तरूप है, वह सत्त्व, असत्त्व आदि धर्मो के अस्तित्व को स्वीकार करती है। स्याद्वाद से सम्बद्ध अनिर्वचनीयतावाद मे अस्तित्व-नास्तित्व आदि धर्मों की अवस्थिति पाई जाती है। आचार्य **विद्यानन्दि** कहते है,–"सत्त्व अर्थात् अस्तित्व पदार्थ का धर्म है, उसे अस्वीकार करने पर वस्तु का वस्तुत्व नही रहेगा। वह गधे के सीग के समान अभावरूप हो जाएगा। वस्तु कथञ्चित् असत् रूप है, स्वरूप आदि के समान पर-रूप से भी वस्तु का असत्त्व यदि आपत्तिपूर्ण हो तो प्रतिनियत-प्रत्येक पदार्थ का पृथक् पृथक् स्वरूप नही रहेगा और तब वस्तुओ के प्रतिनियम का विरोध होगा। इसी प्रकार अन्य धर्मो का अस्तित्व एकान्त अनिर्वचनीयवाद सिद्धान्त की अपरमार्थता को प्रमाणित करता है।[13]

वेदातवादियो को स्याद्वाद यदि अभीष्ट होता तो **वेदान्तसूत्र** मे 'नैकस्मिन्नसम्भवात्' सूत्र और उसके शाकरभाष्य मे उस पर आक्षेप न किया जाता। **शकराचार्य** ने अपने शाकरभाष्य (अध्याय 2, सूत्र 33) मे जो स्याद्वाद के विरुद्ध लिखा है उसकी आलोचना करने के पूर्व यह लिख देना उपयुक्त प्रतीत होता है कि वर्तमान युग के प्रकाण्ड दार्शनिक किन्ही किन्ही जैनेतर विद्वानो ने शकराचार्य की आलोचना को सदोष लिखा है। सस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित डा० **महामहोपाध्याय गगानाथ झा** वाइस चासलर, प्रयाग विश्वविद्यालय ने लिखा था–"जब से मैने शकराचार्य द्वारा जैनसिद्धान्त का खण्डन पढा है, तब से मुझे विश्वास हुआ कि इस सिद्धान्त मे बहुत कुछ है, जिसे वेदान्त के आचार्यों ने नही समझा और जो कुछ मै अब तक जैनधर्म को जान सका हूँ उससे मेरा यह दृढ विश्वास हुआ है कि यदि वे (शकराचार्य) जैनधर्म को उसके असली ग्रन्थो से देखने का कष्ट उठाते तो उन्हे जैनधर्म के विरोध करने की कोई बात नहीं मिलती।"

समस्त भारत मे विख्यात, न्यायशास्त्र के अप्रतिम ब्राह्मण विद्वान् पडित पचानन विद्यावारिधि प० अम्बादास जी शास्त्री, प्रिसिपल, सस्कृत विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय ने जैन न्यायशास्त्र का गभीर चितन के उपरान्त सन् 1915 मे सागर मे स्याद्वाद सिद्धान्त के महत्त्व पर अपूर्व भाषण देते हुए कहा था, "स्याद्वाद ही एक समस्त वस्तु का साधने वाला निर्बाध अर्हन्त् भगवान का शासन है और वह समस्त पदार्थो को अनेकातात्मक अनुशासन करता है क्योकि सकल पदार्थ अनेक धर्म स्वरूप है। इस अनेकान्त के द्वारा जो पदार्थ अनेक धर्मरूप कहे जाते है, वह असत्य कल्पना नही है। वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है।"

अनेकान्त का ऐसा स्वरूप है कि जो वस्तु 'तत्स्वरूप' है, वही वस्तु 'अतत् स्वरूप' भी है। जो वस्तु एक है, वही अनेक भी है, जो पदार्थ सत्स्वरूप है, वही पदार्थ असत् स्वरूप भी है तथा जो पदार्थ नित्य है, वही अनित्य भी है। इसी प्रकार एक ही वस्तु मे वस्तुत्व को प्रतिपादन करने वाला एव परस्पर विरुद्ध शक्तिद्वय को प्रकाशित करने वाला अनेकान्त है। समन्तभद्र स्वामी ने कहा है –

सदेव सर्व को नेच्छेत्स्वरूपादि-चतुष्टयात्।
असदेव विपर्यासान्न चेन्न व्यवतिष्ठते॥

स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा सम्पूर्ण विश्व सत् ही है और पर द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा असत् ही है। इसे कौन नही स्वीकार करेगा? क्योकि ऐसा माने बिना पदार्थ की व्यवस्था नही हो सकती। वेदान्त सूत्र मे व्यासजी ने एक स्थान पर लिखा है, "नैकास्मिन सभवात्"–अर्थात् एक पदार्थ मे परस्पर विरुद्ध नित्यानित्यत्वादि नही रह सकते। परतु जैनाचार्यो ने स्याद्वाद सिद्धान्त से इन परस्पर विरोधी धर्मो का एक स्थान मे भी रहना सिद्ध किया है और वह युक्तियुक्त भी है, क्योकि वह विरोधी धर्म विभिन्न अपेक्षाओ से एक वस्तु मे रहते है न कि एक ही अपेक्षा से। देवदत्त पिता है और पुत्र भी है परन्तु एक की ही अपेक्षा उक्त दोनो रूप देवदत्त सिद्ध नही हो सकते। वह अपने पुत्र की अपेक्षा पिता है और अपने पिता की अपेक्षा पुत्र भी है। इसी प्रकार सामान्य की अपेक्षा पदार्थ नित्य है–उत्पाद और विनाश से रहित है तथा

विशेष की अपेक्षा अनित्य है। उत्पाद और विनाश से युक्त है। सामान्य की अपेक्षा पदार्थ एक है परन्तु अपने पर्यायो की अपेक्षा वही पदार्थ अनेक हो जाता है। जैसे सामान्य जलत्व की अपेक्षा से जल एक है परन्तु तत्त्वपर्यायो की अपेक्षा वही जल तरग, बबूला, हिम आदि अनेक रूप होता देखा जाता है। जैनाचार्यो ने स्याद्वाद सिद्धान्त से उक्त धर्मो का अच्छा समन्वय किया है।

पदार्थ नित्यानित्यात्मक है अन्यथा ससार और मोक्ष की व्यवस्था नही बन सकती क्योकि सर्वथा नित्य मानने मे परिणाम (परिवर्तन) नही बनेगा। यदि परिणाम मानोगे तो नित्य मानने मे विरोध आएगा। यदि पदार्थ नित्य है तो किस अवस्था मे है? या तो वह शुद्ध स्वरूप होगा या अशुद्ध स्वरूप होगा। यदि शुद्ध है तो सर्वदा शुद्ध ही रहेगा क्योकि सर्वथा नित्य माना है और इस दशा मे ससार प्रक्रिया न बनेगी। यदि अशुद्ध है तो सर्वदा अशुद्ध ही रहेगा और ऐसा मानने से ससार एव मोक्ष की जो प्रक्रिया मानी है, उसका लोप हो जावेगा। अत सर्वथा नित्य मानना अनुभव के प्रतिकूल है।

यदि सर्वथा अनित्य है तो जो प्रथम समय मे है, वह दूसरे मे न रहेगा तब पुण्य-पाप तथा उसके फल का सर्वथा लोप हो जावेगा। कल्पना कीजिए किसी आत्मा ने किसी के मारने का अभिप्राय किया। वह क्षणिक होने से नष्ट हो गया। अन्य ने हिसा की। क्षणिक होने के कारण हिसा करने वाला भी नष्ट हो गया। बन्ध अन्य को होगा। क्षणिक होने से बध करने वाला आत्मा नष्ट हो गया। फल का भोक्ता अन्य ही हुआ। इस प्रकार क्षणिकत्व की कल्पना श्रेष्ठ नही। प्रत्यक्ष विरोध आता है। अत केवल अनित्य की कल्पना सत्य नही।

तत्त्व की बात तो यह है कि न तो किसी पदार्थ का नाश होता है और न किसी पदार्थ की उत्पत्ति होती है। केवल पर्यायो की उत्पत्ति होती है और उन्ही का विनाश होता है। सामान्य रूप से द्रव्य का न उत्पाद है, न विनाश है परन्तु विशेष रूप से उत्पाद भी है और विनाश भी है। ससार मे ऐसी कोई भी वस्तु नही है जो नित्यानित्यात्मक न हो–

न सामान्यात्मनोदेति न व्येति व्यक्तमन्वयात्।
व्येत्युदेति विशेषात्ते सहैकत्रोदयादि सत्॥

जैसे पदार्थ नित्यानित्यात्मक है, वैसी ही तत्-असत्, सत्-असत् और एक-अनेक रूप भी है। अपने भाषण मे उक्त शास्त्री जी ने कहा था–'स्याद्वादो हि सकल वस्तुतत्व साधकमेवमेकमस्खलित साधन अर्हद्देवस्य। सतु सर्वं अनेकात अनुशासित।' (अमृतचन्द्र)। "स्याद्वाद सकल वस्तु तत्त्व को सिद्ध करने मे एक अद्वितीय निर्दोष साधन है। इसका निरूपण अर्हंत देव ने किया। यह सिद्धान्त समस्त विश्व को अनेकान्त रूप सिद्ध करता है।" [*मेरी जीवनगाथा,* ले० न्यायाचार्य प० गणेशप्रसाद जी वर्णी, पृ० 325-335]

काशी हिन्दू-विश्वविद्यालय के दर्शनशास्त्र के अध्यक्ष **प्रो० फणिभूषण अधिकारी** स्याद्वाद पर शकराचार्य के आक्षेप के विषय मे कितने मार्मिक उद्‌गार व्यक्त करते है। वे लिखते है[14]–"विद्वान् शकराचार्य ने इस सिद्धान्त के प्रति अन्याय किया है। यह बात अल्प योग्यतावाले पुरुषो मे क्षम्य हो सकती थी; किन्तु यदि मुझे कहने का अधिकार है तो मै भारत के इस महान् विद्वान् मे सर्वथा अक्षम्य ही कहूँगा, यद्यपि मै इस महर्षि को अतीव आदर की दृष्टि से देखता हूँ। ऐसा जान पडता है कि उन्होने इस धर्म के '(जिसके लिए अनादर से विवसन-समय अर्थात् नग्न लोगो का सिद्धान्त ऐसा नाम वे रखते है) दर्शन शास्त्र के मूलग्रथो के अध्ययन की परवाह न की।" अस्तु।

शकराचार्य एक पदार्थ मे सप्तधर्मो के सद्‌भाव को असम्भव मानते हुए लिखते है–"एक धर्मी मे युगपत् सत्त्व-असत्त्व आदि विरुद्ध धर्मो का समावेश शीत और उष्णपने के समान सम्भव नही है। जो सप्त पदार्थ निर्धारित किए गए है वे इसी रूप मे है, वे इसी रूप मे रहेगे अथवा इस रूप नही रहेगे अन्यथा इस रूप भी होगे, अन्य रूप भी होगे इस प्रकार अनिश्चित स्वरूपज्ञान सशयज्ञान के समान अप्रमाण होगा।"[15] अपनी अनोखी दृष्टि से इस प्रकार वे सशय और विरोध नाम के दोषो का उल्लेख करते है। इसी प्रकार अन्य प्रतिवादी वैयधिकरण्य दोष को बताते है, कारण भेद का आधार दूसरा है और अभेद का दूसरा। अनवस्था दोष इसलिए मानते है कि जिस स्वरूप की अपेक्षा भेद होता है और जिसकी अपेक्षा अभेद है वे भिन्न है या अभिन्न? और उनमे

भी इसी प्रकार भिन्न-अभिन्न की कल्पना उत्पन्न होगी। जिस रूप से भेद है उसी रूप से भेद भी हैं और अभेद भी है इस प्रकार सकरदोष बताया जाता है। जिस अपेक्षा से भेद है उसी अपेक्षा से अभेद और जिस अपेक्षा से अभेद है उसी अपेक्षा से भेद है इस प्रकार व्यतिकर दोष होता है। वस्तु में भेद और अभेद का वर्णन करने से यह निश्चय नही होता कि यथार्थ मे उसका क्या रूप है इसलिए 'सशय' दोष दिखता है। सशय होने पर सम्यक् परिज्ञान नही होगा, अतः उसक अभाव होगा। इस प्रकार अभाव दोष भी होता है। इस प्रकार प्रतिवादियो ने अनेकान्त सिद्धान्त पर उपर्युक्त दोषो को अपनी दृष्टि से लादने का प्रयास किया है।

उनका निराकरण करते हुए प्रतिभाशाली जैन तार्किक सत्य-धर्म की प्रतिष्ठा इस प्रकार स्थापित करते है कि–वस्तु मे भेद और अभेदरूप धर्मो की प्रत्यक्ष मे उपलब्धि होती है, तब इसमे दोष की क्या बात है? जब एक ही दृष्टि से सत्त्व-असत्त्व, भेद-अभेद कहा जाए, तब विरोध की आपत्ति उचित कही जा सकती है। भिन्न-भिन्न दृष्टियो से एक ही वस्तु को हम ठडा और गरम भी कह सकते है। एक आदमी अपने एक हाथ को बहुत गर्म पानी मे डाले और दूसरे को हिमसदृश शीतल जल मे रखे, पश्चात् अपने दोनो हाथो को कुन-कुने पानी मे डाले, तो शीतल जलवाला हाथ उस जल को अधिक उष्ण बताएगा और अधिक उष्णजलवाला हाथ उस जल को शीतल सूचित करेगा। इस प्रकार भिन्न-भिन्न हाथो की दृष्टि से जल एक ही समय शीत और उष्ण रूप से अनुभव गोचर होता है। यह बात जब प्रत्यक्ष अनुभव मे आती है, तब विरोध और असम्भव दोष नही रहते। सत् और असत् धर्म एक ही पदार्थ मे पाए जाते है इसलिए वैयधिकरण्य दोष नही रहता। स्वरूप की अपेक्षा वस्तु को सत् और पररूप की अपेक्षा असत् स्वीकार किया है। इसमे भी सहकारियो के भेद से शक्ति के अनन्त भेद हो जाते है। अनन्त धर्मात्मक वस्तु होने से वह यथार्थ है, अतः अनवस्था दूषण धराशायी हो जाता है। सत्त्व और असत्त्व अथवा भेद-अभेद की दृष्टियो को भिन्न-भिन्न अपेक्षाओ से कहते है। पिता की अपेक्षा पुत्र है, भाई आदि की अपेक्षा पुत्र नही है। इस प्रकार एक व्यक्ति मे अपने पुत्रपने का सद्भाव और असद्भाव दोनो पाए जाते हैं। इस प्रत्यक्ष अनुभव के

प्रकाश मे सकर और व्यतिकर दोष भी नही रहते। वस्तु का स्वरूप स्वरूप-चतुष्टय की अपेक्षा अस्तिरूप ही है और अन्य चतुष्टय की अपेक्षा नास्तिरूप ही है और अन्य चतुष्टय की अपेक्षा असत् रूप ही है, ऐसी निश्चित ज्ञान की अवस्था मे सशयदोष भी नही रहता। अनेक धर्ममय वस्तु-स्वरूप की उपलब्धि होने से अभावदोष का अभाव हो जाता है। यथार्थ मे शकराचार्य ने सुदृढ तर्क पर अवस्थित स्याद्वाद के प्रासाद पर आक्रमण न कर अपनी मनोनीत कल्पना-मय कुटीर को स्याद्वाद का नाम दे तर्कास्त्रो से ध्वस्त करने का प्रयत्न किया है। इसलिए स्याद्वाद विद्वेषियो की भ्रान्त बुद्धि का परिचय कराते हुए स्याद्वाद का मनोज्ञ सुदृढ प्रासाद अनेकान्त पताका को फहराता हुआ सत्यान्वेषियो को अपनी ओर आकर्षित करता है।

शकर के दुर्बल युक्तिवाद को अकाट्य समझ अध्यापक **श्री बलदेवजी उपाध्याय** ने अपने 'भारतीय-दर्शन' मे स्याद्वाद को 'आपातत उपादेय और मनोरञ्जक' कहते हुए लिखा है कि-"वह व्यवहार और परमार्थ के बीचो-बीच तत्त्वविचार का कतिपय क्षण के लिए विश्रम्भ तथा विराम देने वाले विश्रामगृह से बढकर अधिक महत्त्व का नही है।" हमारे साहित्याचार्य जी ने दार्शनिक शकर के सहारे पूर्वोक्त बाते कही किन्तु, जब तर्क और अनुभव ने शकर की युक्तियो को प्राण-हीन प्रमाणित किया और स्वय अधिकार-पूर्ण समर्थ वैदिक विद्वानो ने इसे स्वीकार किया, तब बलदेव जी के प्रतिवाद की आवश्यकता नही रहती। ऐसी मूल तत्त्व का स्पर्श न करने वाली आलोचना सत्य दृष्टिवालो के समक्ष अन्धेन नीयमान अन्ध की तरह मालूम होती है।

अनेकान्त के उज्ज्वल प्रकाश से जिन की आखे बद हो गई, उनको **यशोविजय उपाध्याय** करुणा के पात्र बताते हुए कहते है -

"दूषयेत् अज्ञ एवोच्चै. स्याद्वाद न तु पण्डित।
अज्ञप्रलापे सुज्ञाना न द्वेष. करुणैव तु"॥ 64॥-न्यायखडखाद्य

अज्ञ जन ही स्याद्वाद पर महान् दोषारोपण करते है, विज्ञ लोग नही, अज्ञानियो के प्रलाप पर सुधी पुरुष रोष न कर करुणा करते है।

स्याद्वाद सिद्धान्त सूर्य के समान सत्य तत्त्व को[16] प्रकाशित करता है, उससे जिन व्यक्तियो मे ज्योति का जागरण नही हुआ है, यथार्थ मे वे बेचारे करुणा के पात्र है।

[17]शकराचार्य द्वारा स्याद्वाद की चिन्तना पर विशेषज्ञो की कडी आलोचना देख **डा॰ एस॰के॰ वेलवलकर** एक मनोहर कल्पना द्वारा शकर का समर्थन और ममत्त्व प्रकट करने का विचित्र प्रयास करते है। डॉक्टर महाशय की दलील है कि "शकराचार्य ने अपनी व्याख्या मे पुरातन जैन दृष्टि का प्रतिपादन किया है इसलिए उनका प्रतिपादन जान-बूझ कर मिथ्या प्ररूपण नही कहा जा सकता। जैनधर्म का जैनेतर साहित्य मे सबसे प्राचीन उल्लेख बादरायण के वेदान्त सूत्र मे मिलता है, जिस पर शकराचार्य की टीका है। हमे इस बात को स्वीकार करने मे कोई कारण नजर नही आता कि जैनधर्म की पुरातन बात को यह द्योतित करता है। यह बात जैनधर्म की सबसे दुर्बल और सदोष रही है। हा, आगामी काल मे स्याद्वाद का दूसरा रूप हो गया, जो हमारे आलोचको के समक्ष है और अब उस पर विशेष विचार करने की किसी को आवश्यकता प्रतीत नही होती।"

स्याद्वाद की डॉ॰ वेलवलकर की दृष्टि से शकराचार्य के समय तक की प्रतिपादना और आधुनिक रूपरेखा मे अन्तर प्रतीत होता है। अच्छा होता कि पूना के डाक्टर महाशय किसी जैन शास्त्र के आधार पर अपनी कल्पना को सजीव प्रमाणित करते। जैनधर्म के प्राचीन से प्राचीन शास्त्र मे स्याद्वाद के सप्तभगो का उल्लेख आया है, अत डाक्टर साहब अपनी तर्कणा के द्वारा शकर और उनके समान आक्षेपकर्त्ताओ को विचारको के समक्ष निर्दोष प्रमाणित नही कर सकते। यह देखकर आश्चर्य होता है कि कभी कभी विख्यात विद्वान् भी व्यक्ति-मोह को प्राधान्य दे सुदृढ सत्य को भी फूँक से उडाने का विनोदपूर्ण प्रयत्न करते है। जब तक जैन परम्परा मे स्याद्वाद की भिन्न-भिन्न प्रतिपादना वेलवलकर महाशय सप्रमाण नही बता सकते और जब है ही नही तब बता भी कैसे सकेगे—तब तक उनका उद्गार साम्प्रदायिक सकीर्णता के समर्थन का सुन्दर सस्करण सुज्ञो द्वारा समझा जाएगा।

स्याद्वाद जैसे सरल और सुस्पष्ट हृदयग्राही तत्त्व-ज्ञान पर सम्प्रदाय मोहवश भ्रम उत्पन्न करने मे किन्ही-किन्ही लेखको ने जैनशास्त्रो का स्पर्श किये बिना ही केवल विरोध करने की दृष्टि से ही यथेष्ट लिखने का प्रयास किया है। उन्होने तनिक भी न सोचा कि सत्य-सूर्य की किरणो के समक्ष भ्रमान्धकार कब तक टिकेगा। ऐसे भ्रम-जनक दो-एक लेखको की बातो पर हम प्रकाश डालेगे। अन्यथा स्याद्वाद-शासन पर ही समग्र ग्रथ पूर्ण हो जाएगा। **श्री बलदेव जी उपाध्याय** 'स्याद्वाद' शब्द के मूलरूप 'स्यात्' शब्द के विषय मे लिखते है–'स्यात्-(शायद, सम्भव) शब्द 'अस्' धातु के विधिलिङ् के रूप का तिङन्त प्रतिरूपक अव्यय माना जाता है।" परन्तु स्यात् के शब्द के विषय मे **स्वामी समन्तभद्र** का निम्नलिखित कथन ध्यान देने योग्य है–

"वाक्येष्वनेकान्तद्योती गम्यम्प्रति विशेषक ।
स्यान्निपातोऽर्थयोगित्वात्तव केवलिनामपि॥"

–आप्तमीमासा, 103

यहा स्यात् शब्द को अनेकान्त को द्योतित करने वाला बताया है, वह निपातरूप (indeclinable) शब्द है।

पचास्तिकाय की टीका मे **अमृतचन्द्र सूरि** कहते है–

"सर्वथात्व-निषेधकोऽनेकान्त-द्योतक. कथञ्चिदर्थे स्याच्छब्दो निपात·॥ गा॰14॥"

स्यात् शब्द निपात है, वह सर्वथापने का निषेधक, अनेकान्तपने का द्योतक, कथञ्चित अर्थवाला होता है।

एक शब्द के अनेक अर्थ होते है। सैधव का नमक रूप अर्थ के साथ घोडा भी अर्थ होता है। प्रकरण के अनुसार वक्ता की दृष्टि को ध्यान मे रख उचित अर्थ किया जाता है। इसी प्रकार स्यात् शब्द का प्रस्तुत प्रकरण मे अनेकान्त द्योतक रूप अर्थ मानना उचित है। **अष्टसाहस्त्री** की टिप्पणी (पृ॰ 286) की निम्न पंक्तिया भी इस विषय मे ध्यान देने योग्य है–

"विध्यादिष्वर्थेष्वपि लिङ्लकारस्य स्यादिति क्रियारूप पद सिद्ध्यति, परन्तु नाय न शब्दः, निपात इति विशेष्योक्तत्वात्।"

स्याद्वाद विद्या को महत्त्वपूर्ण मान आज का शोधक ससार जब उसे जैनधर्म की ससार को अपूर्व देन समझने लगा, तब स्याद्वाद सिद्धान्त पर एक नवीन प्रकार का मधुर आरोप प्रारम्भ हुआ है। अतः स्यात् शब्द का अर्थ शायद नही है किन्तु एक सुनिश्चित दृष्टिकोण है।

बौद्ध भिक्षु श्री राहुल जी ने अपने **दर्शन-दिग्दर्शन** मे अन्य कतिपय लेखको का अनुसरण करते हुआ **सामञ्जफलसुत्त** नामक अपने सम्प्रदाय के शास्त्राधार पर सजयवेलट्ठि पुत्त के मुख से जो कहलाया है कि–“**अत्थिति पि नो, नत्थिति पि नो, अत्थि च नत्थि च ति पि नो, नैवत्थि नो नत्थि ति पि नो।**”–मै उसे इस रूप मे नही मानता, मै उसे अन्य रूप भी नही कहता, मै इसे इस रूप तथा अन्य रूप मे भी नही कहता, मै यह भी नही कहता कि वह इस रूप और अन्य रूप नही है। इसमे स्याद्वाद के बीज उन्हे विदित होते है। **प्रो॰ ध्रुव** ने भी इस विषय मे सकेत किया है, किन्तु उनके लेख मे राहुल जी की भाषा का अनुकरण न कर सौजन्य और शालीनता का पूर्णतया निर्वाह किया गया है। उपर्युक्त अवतरण मे स्याद्वाद के बीज मानना काच की आख को वास्तविक आख मानने के समान होगा। स्याद्वाद की सुदृढ और सत्य की नीव पर प्रतिष्ठित तर्कसगत शैली और पूर्वोक्त अवतरण की शिथिल तर्कविरुद्ध विचारधाराओ मे सजीव और निर्जीव सदृश अन्तर है। सञ्जयवेलट्ठि पुत्त का वर्णन एकान्त अनिर्वचनीयवाद की ओर झुकता है, जो कि अनुभव और तर्क से बाधित है। आचार्य **विद्यानन्दि** इस प्रकार की दृष्टि पर प्रकाश डालते हुए लिखते है कि–वस्तु को सद्भावरूप तथा असद्भावरूप भी न कहने पर जगत् मे मूकत्व की परिस्थिति आ जाएगी।[18] स्याद्वाद ऐसे मूकत्व का निराकरण कर सयुक्तिक अविरोधी सम्भाषणशीलता का मार्ग खोलता है। एकान्त पक्ष अगीकार करने से लोक व्यवहार तथा यथार्थ दार्शनिक चिन्तना के लिए स्थान ही नही रहता।

सामञ्जफलसुत्त के वाक्य मूल मे 'श्रमणो और ब्राह्मणो के द्वारा', कहे गये है। इन शब्दो के आधार पर ध्रुव महाशय स्याद्वाद के विकृतरूप को जैनेतर स्रोत से सम्बन्धित कहते है। किन्तु **डा॰ ए॰एन॰ उपाध्ये**

अपनी प्रवचनसार की भूमिका मे यह तर्क करते है–"मूल मे आगत 'Recluses and Brahmins' मे श्रमण के द्योतक 'Recluses' को विशेष ध्यान मे लाना चाहिए। श्रमण शब्द मुख्यतया जैनियो को द्योतित करता है।[19]

[20]इसका विश्वमान्य प्रमाण महाश्रमण भगवान् गोमटेश्वर की भुवनमोहिनी अत्यन्त समुन्नत दिगम्बर जैन मूर्ति से अलकृत मैसूर राज्य का श्रमण वेलगोला स्थल है। अतएव श्रमण[21] शब्द का अन्य पर्यायवाची बताने का प्रयास सत्य और निष्पक्ष चिन्तना के प्रतिकूल है।

भगवान् महावीर के साक्षात् शिष्य गौतम गणधर ईसापूर्व छटी शताब्दी के विद्वान हुए है। उनके 'प्रतिक्रमण ग्रथत्रयी' मे जैन मुनि के लिए श्रमण शब्द का प्रयोग हुआ है। उन्होने 'दसण्ह समणधम्माण'–दश प्रकार के श्रमणो के धर्मो का उल्लेख किया है (पृष्ठ 9)। कुन्दकुन्द आचार्य ने प्रवचनसार के मगल पद्यो मे 'सव्वे समणे वदामि'–मे समस्त दिगम्बर श्रमणो अर्थात् मुनीश्वरो की वदना करता हू, यह उल्लेख किया है। जैन मुनि को श्रमण कहा गया है। जैन शास्त्रो मे दिगम्बर मुनियो को अनेक स्थान पर श्रमण कहा है।

सूक्ष्म दार्शनिक चिन्तना तो इस विचार को पुष्ट करती है कि जिसने सर्वागीण सत्य-तत्त्व का दर्शन किया है, वही स्याद्वाद विद्या का प्रवर्तक हो सकता है। एकान्त अपूर्ण दृष्टि सत्य को विकृत करने के सिवा क्या कर सकती है? अन्धमण्डल ने हाथी को स्तम्भ, सूप आदि के आकार का बता लडना प्रारम्भ किया था। परिपूर्ण हाथी का दर्शन करने वाले व्यक्ति ने ही अन्धमण्डली के विवाद और भ्रम का रहस्य समझ समाधान कारी मार्ग बताया था कि प्रत्येक का कथन पूर्ण सत्य नही है, उसमे सत्य का अश है और वह कथन सत्याशो के प्रति अन्याय प्रवृत्ति का त्याग करता है। इसी प्रकार सकलज्ञ, सर्वदर्शी तीर्थकरो के सिवाय समन्तभद्रस्याद्वाद तत्त्व-ज्ञान का निरुपण एकान्त दृष्टि वाले नही कर सकते। एकान्त सदोष दृष्टि मे स्याद्वाद के बीज मानना अज्ञता मे विज्ञता का बीज मानने सदृश होगा। वृक्ष को देखकर बीज का बोध होता है। सुस्वादु पवित्र आनन्द और शान्तिप्रद स्याद्वाद वृक्ष के बीज कटु, घृणित, एकान्तवाद मे कैसे हो सकते है?

अब हम सत्यानुरोध से कुछ एकान्त दार्शनिक मान्यताओ का वर्णन करना उचित समझते है जिन्हे स्याद्वादरूपी रसायन के सयोग बिना जीवन नही मिल सकता। इससे सत्य भक्त साधक को प्रकाश मिलेगा।

विविध धर्मो के ग्रथो मे भी समन्वय स्थापनार्थ इस स्याद्वाद की शरण ली गई है। हिन्दू पुराणो मे कही ब्रह्मा तो कही विष्णु को तथा कही महेश को श्रेष्ठ कहा है, तब फिर श्रेष्ठ किसे कहा जाए? इस सम्बन्ध मे कविकुल तिलक कालिदास समाधान करते हुए कहते है कि परमात्मा तो एक है। उसमे लघुपना या महत्ता का भी आख्यान अनुचित नही है। स्वय कालिदास ने शिव-पार्वती विवाह का वर्णन करते हुए ब्रह्मा और विष्णु के द्वारा शिव की स्तुति कराई है। कालिदास ईश्वर को एक मानते हुए भी उसे त्रिविधरूप स्वीकार कर उनमे उच्चता तथा लघुता का सामान्य रूप से सद्भाव स्वीकार करते है। कभी विष्णु हर की अपक्षा बडे है तो कभी हर विष्णु से बडे हो जाते है। और कभी ब्रह्मा इन दोनो से भी उच्च हो जाते है। कभी विष्णु और शिव ब्रह्मा से बडे हो जाते है। कुमारसभव का यह पद्य उक्त तत्त्व का प्रतिपादन करता है .–

एकैव मूर्तिर्विभिदे त्रिधा सा
सामान्यमेषा, प्रथमावरत्वम्।
विष्णोर्हरस्तय हरि कदाचित्
वेधास्तयोस्तावपि धातुराद्यौ।। 7-44।।

मनुष्य जीवन मे वायु का जो स्थान है, उससे भी अधिक महत्त्व दार्शनिक चिन्तन और लौकिक जीवन मे समन्वयात्मक स्याद्वाद दृष्टि का है। एक व्यक्ति ग्रीष्म ऋतु मे नदी के सूख जाने से बिना नौका आदि का आश्रय लिए इस पार से उस पार चला जाता है; किन्तु वर्षा मे विपुल जल से परिपूर्ण नदी के हो जाने पर उसे ग्रीष्मकालीन पथ का परित्याग कर नौका आदि का अवलम्बन लेना होगा। उसका यह कहना है कि पहले पैदल ही नदी के उस पार जा चुका हूँ, इस समय अर्थहीन है, इसलिए विविध-अवस्थाओ को ध्यान मे रख यथोचित मार्ग को अगीकार करने वाला सुखी होता है। बिना स्याद्वाद के समन्वय मैत्री

अथवा ऐक्य का कल्पद्रुम अवस्थित नही रह सकता। एक व्यक्ति ने ग्रीष्म मे नर्मदा को पार करते हुए अपनी डायरी मे प्रवास का वृत्तान्त लिखा कि मैने देखा कि नदी मे अत्यन्त अल्प मात्रा मे जल की धारा बह रही थी। दूसरे व्यक्ति ने जलप्लवित उग्ररूपधारिणी उस नर्मदा को देखकर अपनी डायरी मे उसे जल राशि से परिपूर्ण भयावह रूप-धारिणी लिखा। किसी तीसरे लेखक ने उस नदी पर लेख लिखते समय दोनो डायरियो का उपयोग करना चाहा। तब वह विस्मय मे पड गया क्योंकि दोनो कथन एक-दूसरे के विरोधी लगे। दोनो लेखको ने सत्य का निरुपण लिखा है फिर एक सत्य दूसरे से क्यो टकराता है। इस सघर्ष की बेला मे नर्मदा के ग्रीष्म और वर्षाकालीन रूप से परिचित चतुर व्यक्ति दोनो प्रतिपादनो मे मैत्री उत्पन्न करा देता है क्योंकि दोनो के अनुभव भिन्न-भिन्न कालो से सबध रखते है। इस उदाहरण के प्रकाश मे स्याद्वाद सिद्धान्त का सौन्दर्य तथा उसकी लोकोत्तरता एव उपयोगिता का उचित मूल्याकन हो सकता है। इसलिए सत्य से प्रेम करने वाले व्यक्ति के लिए स्याद्वाद सिद्धान्त का हृदय से स्वागत करना परमावश्यक है। स्याद्वाद का विरोध करने से विरोधक की अज्ञता ही प्रकाश मे आती है, उससे उस सिद्धान्त की समीचीनता को तनिक भी आच नही आती। सूर्य को श्यामवर्णीय कहते हुए कोई अपने दबाव या प्रभाववश ऐसा लोकमत भी बना ले जो उस प्रभा-पुज-प्रभाकर को कहे तो क्या इससे उस सूर्य की तेजस्विता पर कोई आच आ सकती है? किसी किसी लेखक ने लिखा है कि अमुक धर्म के आचार्य ने जैनधर्म का खण्डन करके जैनो पर विजय प्राप्त की थी। इस सबध मे विचारक व्यक्ति गभीरतापूर्वक यह सोचे कि जिस धर्म का भव्य-प्रासाद स्याद्वाद की सुदृढ शिला पर अवस्थित हो और जिस भवन मे परम धर्म रूप भगवती अहिसा का अधिष्ठान हो, उस अजेय तत्त्वज्ञान पर विजय प्राप्त करने की बात कितनी सत्य हो सकती है। इसे धर्मान्धता का चश्मा उतारकर देखना चाहिए। स्याद्वाद रूपी रामबाण जिसके हाथ मे हो, उसके समक्ष एकान्तवाद रूप सर्वसाधन समन्वित रावण कितनी देर तक टिक सकेगा। अतः श्रेय और प्रेय तत्त्व के प्रेमी को समन्वय मूर्ति स्याद्वाद की हृदय से अभिवन्दना करनी चाहिए।

बौद्ध-दर्शन जगत् के सम्पूर्ण पदार्थों को क्षण-क्षण मे विनाशी बता नित्यत्व को भ्रम मानता है। बौद्ध तार्किक कहा करते है–'सर्वं क्षणिक सत्तवात्'। बौद्धदृष्टि को हम जगत् मे चरितार्थ देखते है। ऐसा कौन सा पदार्थ है जो परिर्वतन के प्रहार से बचा हो। लेकिन, एकान्त रूप से क्षणिक तत्त्व माना जाए तो ससार मे बड़ी विचित्र स्थिति उत्पन्न होगी। व्यवस्था, नैतिक उत्तरदायित्व आदि का अभाव हो जाएगा। स्वामी **समन्तभद्र** कहते है–प्रत्येक क्षण मे यदि पदार्थ का निरन्वय नाश स्वीकार करोगे, तो हिसा का सकल्प करने वाला नष्ट हो जाएगा और एक ऐसा नवीन प्राणी हिसा करेगा जिसने हिसा का सकल्प नही किया। हिसा करने वाला भी नष्ट हो जाएगा इसलिए बन्धनबद्ध कोई अन्य होगा। दण्ड प्राप्त भी नष्ट हो जाएगा, इसलिए बन्धन-मुक्ति किसी अन्य की होगी। इस प्रकार की अव्यवस्था बौद्धो के एकान्त क्षणिक सिद्धान्त द्वारा होगी। **समन्तभद्र स्वामी** का महत्त्वपूर्ण पद्य यह है–

"न हिनस्त्यभिसन्धातृ हिनस्तयनभिसन्धिमत्।
बध्यते तद्द्वयापेत चित्त बद्ध न मुच्यते"॥ 51॥

वे यह भी लिखते है–

"क्षणिकैकान्तपक्षेऽपि प्रेत्यभावाद्यसम्भव.।
प्रत्यभिज्ञाद्यभावान्न कार्यारम्भः कुतः फलम्"॥ 41॥

–आप्तमीमासा

क्षणिक रूप एकान्त पक्ष मे प्रत्यभिज्ञान, स्मृति, इच्छा आदि का अभाव होगा? जिस प्रकार किसी दूसरे के अनुभव मे आई हुई वस्तु का हमे स्मरण नही होता, उसी प्रकार किसी भी व्यक्ति को स्मरण नही होगा, क्योंकि अनुभव करने वाला जीव नष्ट हो गया और स्मरण करने वाला एक नवीन उत्पन्न हुआ। प्रत्यभिज्ञान आदि का अभाव होने के कारण कार्य का आरम्भ नहीं होगा, इसलिए पाप-पुण्य लक्षण स्वरूप फल भी नहीं होगा। इसके अभाव मे न बन्ध होगा न मोक्ष।

क्षणिक पक्ष मे कारण से कार्य की उत्पत्ति के विषय मे भी अव्यवस्था होगी। बौद्धदर्शन की मान्यता के अनुसार कारण सर्वथा नष्ट

हो जाएगा और कार्य बिल्कुल नवीन होगा। इसलिए उपादान नियम की व्यवस्था नही होगी। सूत के बिना भी सूती वस्त्र की उत्पत्ति होगी। सूतरूपी उपादान कारण का कार्यरूप वस्त्र परिणमन बौद्ध स्वीकार नही करता। असत् कार्य-वाद स्वीकार करने पर आकाश-पुष्प ,की तरह पदार्थ की उत्पत्ति नही होगी। ऐसी स्थिति मे उपादान नियम के अभाव होने पर कार्य की उत्पत्ति मे कैसे सन्तोष होगा? असत् रूप कार्य की उत्पत्ति मानने पर तन्तुओ से वस्त्र उत्पन्न होता है और लकडी से नही होता, यह नियम नही पाया जाएगा।[23]

युक्त्यनुशासन मे **स्वामी समन्तभद्र** ने कहा है—एकान्त रूप से क्षणिक तत्त्व मानने पर पुत्र की उत्पत्ति क्षण मे माता का स्वय नाश हो जाएगा, दूसरे क्षण मे पुत्र का प्रलय होने से अपुत्र की उत्पत्ति होगी। लोक व्यवहार से दूर तर माता के विनाश के लिए प्रवृत्ति करने वाला मातृघाती नही कहलाएगा। कुलीन महिला को कोई पति नही कहलाएगा, कारण जिसके साथ विवाह सस्कार होगा उस पति का विनाश होने से नवीन की उत्पत्ति होगी। जिस स्त्री के साथ विवाह हुआ दूसरे क्षण उसका भी विनाश होने से अन्य की उत्पत्ति होगी। इस प्रकार परस्त्री-सेवन का उस व्यक्ति को प्रसग आएगा। इसी नियम के अनुसार स्व-स्त्री भी नही होगी। धनी पुरुष किसी व्यक्ति को ऋण मे धन देते हुए भी उस सम्पत्ति को बौद्धतत्त्वज्ञान के अनुसार नही पा सकेगा, क्योकि ऋण देने के दूसरे ही क्षण साहूकार का नाश हुआ, लिखित साक्षी आदि भी नही रही और न उधार लेने वाला बचा। शास्त्राभ्यास भी विफल हो जाएगा, कारण स्मृति का भेदभाव क्षणिक तत्त्वज्ञान मे नही रहेगा, आदि दोष क्षणिकैकान्त की स्थिति सकटपूर्ण बनाते है।[24]

वस्तु का क्षण-क्षण मे क्षय पक्ष स्वीकार करने पर लौकिक व्यवस्था तथा सदाचार की मर्यादा भी समाप्त हो जाएगी। उदाहरणार्थ जिनदत्त ने शास्त्र का अभ्यास किया, परीक्षा दी और उत्तीर्णता प्राप्त की। क्षणिक तत्त्व मानने पर यह कहना होगा कि जिस जिनदत्त ने उस शास्त्र का अभ्यास किया, वह सर्व क्षणिक के नियमानुसार नष्ट हो गया और परीक्षा देने का कार्य एक नवीन व्यक्ति द्वारा सम्पन्न हुआ। परीक्षा देने

वाला भी नष्ट हो गया और उसके स्थान मे जो नवीन व्यक्ति उत्पन्न हुआ, उसने उत्तीर्णता प्राप्त कर पुरस्कार पाया। इस कथन से यह स्पष्ट होता है, कि क्षणिक पक्ष के अनुसार जिसने अभ्यास नही किया, वह व्यक्ति परीक्षा मे बैठा और जिसने परीक्षा नही दी, ऐसे नवीन व्यक्ति को उत्तीर्णता प्राप्त हुई। स्याद्वाद शासन मे वस्तु को कथंचित् नित्य, कथंचित् अनित्य स्वीकार किया है, अत जिनदत्त का सर्वथा नाश नही होने से उसी व्यक्ति द्वारा अध्ययनादि कार्य किए गए, क्योंकि जिनदत्त परिवर्तनशील होते हुए भी कथचित् नित्य भी है।

एकान्त क्षणिक पक्ष मानने पर धर्म आदि का प्रतिपादन ही महत्त्व शून्य हो जाता है। महान् दार्शनिक प्रो० चक्रवर्ती अपने ग्रन्थ *Religion of Ahinsa* मे क्षणिकवाद की समीक्षा करते हुए लिखते है, "If human personality is reduced to a disconnected series of Skandas, there is no moral justification for preaching the Dharma and acting according to it The entity according to Dharma vanishes in a moment and the entity that enjoys the fruits of action is quite different from the actor" (p 225)–यदि मनुष्य का व्यक्तित्व परस्पर मे सबध रहित स्कन्धो की परम्परा या शृखला माना जाए तो धर्म की देशना और तदनुसार आचरण करने का कोई नैतिक औचित्य नही है। जो वस्तु धर्म का आचरण करती है वह क्षण भर मे विनष्ट हो जाती है और जो नवीन वस्तु उत्पन्न होती है, जो धर्माचरण करने वाली वस्तु से पूर्ण भिन्न है वह उस धर्म का फल भोगती है। इस प्रकार एकान्त क्षणिक पक्ष स्वीकार करने पर अनेक प्रकार के दोष उत्पन्न होते है।

एक आख्यायिका क्षणिकैकात पक्ष की अव्यवहारिकता को स्पष्ट करती है। एक ग्वाला क्षणिक तत्त्व के एकात भक्त पडित के पास गाय चराने का पैसा मागने प्रथम बार पहुँचा। अपने क्षणिक विज्ञान की धुन मे मग्न हो पंडित जी ने ग्वाले को यह कहकर वापिस लौटा दिया कि जिसकी गाय थी और जो ले गया था, वे दोनो अब नही है, बदल गये। इसलिए कौन और किसे पैसा दे। दुखी हो, ग्वाला किसी स्याद्वादी के पास पहुँचा और उसके सुझावानुसार जब दूसरे दिन पंडित जी के यहा गाय न पहुँची, तब वे ग्वाले के पास पहुँच गाय के विषय मे पूँछने लगे।

अनेकात विद्यावाले बधु ने उसे मार्ग बता ही दिया था, इसलिए उसने कहा–"महाराज गाय देने वाला, लेने वाला तथा गाय, सभी तो बदल गये, इसलिए आप मुझसे क्या मागते है?" पडित जी चक्कर मे पड गये। व्यवहारिक जीवन ने भ्रमाधकार दूर कर दिया, इसलिए उन्होने कहा–"गाय सर्वथा नही बदली है, परिवर्तन होते हुए भी उसमे अविनाशीपना है" इस तरह ग्वाले का वेतन देकर उनका विरोध दूर हो गया। इससे स्पष्ट होता है कि एकात पक्ष के आधार पर लौकिक जीवन यात्रा नही बन सकती।

कोई बौद्धदर्शन की मान्यता के विपरीत वस्तु को एकात रूप से नित्य मानते है। इस सबध मे **समन्तभद्राचार्य** 'युक्त्यनुशासन' मे लिखते हैं–

"भावेषु नित्येषु विकारहानेर्न कारकव्यापृतकार्ययुक्ति ।
न बन्धभोगौ न च तद्विमोक्ष समन्तदोष मतमन्यदीयम्''॥ 8॥

पदार्थो के नित्य मानने पर विक्रिया-परिवर्तन का अभाव होगा और परिवर्तन न होने पर कारणो का प्रयोग करना अप्रयोजनीय ठहरेगा। इसलिए कार्य भी नही होगा। बध, भोग तथा मोक्ष का भी अभाव होगा। इस प्रकार सर्वथा नित्यत्व मानने वालो का पक्ष समतदोष-दोषपूर्ण होता है। एकात नित्य सिद्धान्त मानने पर अर्थक्रिया नही पायी जाएगी। पुण्य-पापरूप क्रिया का अभाव होगा। आप्तमीमासा मे कहा है–

"पुण्यपापक्रिया न स्यात् प्रेत्यभाव फल कुत ।
बन्धमोक्षौ च तेषा न येषा त्व नासि नायक ''॥ 50॥

वस्तु स्वरूप की दृष्टि से विचार किया जाए, तो उसमे क्षणिकत्व के साथ नित्यत्व धर्म भी पाया जाता है। इस सबध मे दोनो दृष्टियो का समन्वय करते हुए **स्वामी समन्तभद्र** लिखते है–

"नित्य तत्प्रत्यभिज्ञानान्नाकस्मात्तदविच्छिदा।
क्षणिक कालभेदात्ते बुद्ध्यसचरदोषत·''॥ 56॥ –*आप्तमीमासा*

वस्तु नित्य है, कारण उसके विषय मे प्रत्यभिज्ञान का उदय होता है। दर्शन और स्मरण ज्ञान का सकलन रूप ज्ञान-विशेष प्रत्यभिज्ञान

कहलाता है; जैसे वृक्ष को देखकर कुछ समय के अनन्तर यह कथन करना कि यह वही वृक्ष है जिसे हमने पहले देखा था। यदि वस्तु नित्य न मानी जाए, तो वर्तमान मे वृक्ष को देखकर पहले देखे गये वृक्ष सबधी ज्ञान के साथ संमिश्रित ज्ञान नही पाया जाएगा।

यह प्रत्यभिज्ञान अकारण नही होता, उसका अविच्छेद पाया जाता है। दूसरी दृष्टि से (अवस्था की दृष्टि से) तत्त्व को क्षणिक मानना होगा, कारण वही प्रत्यभिज्ञान नामक ज्ञान का पाया जाना है। क्षणिक तत्त्व को माने बिना वह ज्ञान नही बन सकता। कारण इसमे काल का भेद पाया जाता है। पूर्व और उत्तर पर्याय मे प्रवृत्ति का कारण कालभेद अस्वीकार करने पर बुद्धि मे दर्शन और स्मरण की सकलनरूपता का अभाव होगा। प्रत्यभिज्ञान मे पूर्व और उत्तर पर्याय बुद्धि का सचरण कारण पडता है।

स्वयभूस्तोत्र मे यह महत्त्वपूर्ण पद्य भगवान् पुष्पदन्त के स्तवन मे आया है.–

नित्य तदेवेदमिति प्रतीतेर्ननित्यमन्यत्प्रतिपत्तिसिद्धे.।
न तद्विरूद्ध बहिरतरग-निमित्त-नैमित्तिक-योगतस्ते॥3॥

जीवादि पदार्थ यह वही है अर्थात् बाल्यावस्था के व्यतीत होने पर वृद्ध होने वाले जिनदत्त के विषय मे यह वही जिनदत्त है, इस प्रकार की उस आत्मा के विषय मे प्रतीति (experience) होने से नित्य माने गए हैं[25]। वे ही पदार्थ अनित्य भी कहे गए है क्योंकि बाल्यावस्था का अभाव होकर युवावस्था की उपलब्धि होती है और उसके भी क्षय होने पर जिनदत्त वृद्धपने को प्राप्त हुआ। इसलिए भिन्न-भिन्न प्रकार का अनुभव होने से वस्तु को अनित्य भी स्वीकार किया गया है। यथार्थ मे व्यक्ति तथा समष्टि के अनुभव के आधार पर वस्तु के स्वरूप का निश्चय किया जाता है। पदार्थ के स्वरूप का निश्चय करने मे अनुभव का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

वस्तु मे नित्यता के साथ अनित्यता का सद्भाव प्रतीतिगोचर होने के कारण विरुद्ध दोषयुक्त नही है। वस्तु मे बहिरग तथा अन्तरग रूप

कारण और कार्य के सबध से यह अनित्यपना पाया जाता है।[26] द्रव्यलक्षण अन्तरग निमित्त के योग से नित्यपना कहा गया है तथा क्षेत्र आदि के भेद की अपेक्षा बहिरग निमित्त के योग से और कार्य लक्षण नैमित्तिक के योग से एक ही पदार्थ मे अनित्यपना भी अगीकार करना वस्तु स्वरूप के विरुद्ध नही है।

सुवर्ण की दृष्टि से कुण्डल का ककण रूप मे परिवर्तन होते हुए भी कोई अन्तर नही है। इसलिए स्वर्ण की अपेक्षा उक्त परिवर्तन होते हुए भी उसे नित्य मानना होगा। पर्याय (modification) की दृष्टि से उसे अनित्य कहना होगा, क्योंकि कुडल पर्याय का क्षय होकर ककण अवस्था उत्पन्न हुई है। इसी तत्त्व को समझाते हुए 'आत्ममीमासा' मे स्वर्ण के घट नाश और मुकुटनिर्माणरूप पर्यायो की अपेक्षा अनित्य मानते हुए स्वर्ण की दृष्टि से उसी पदार्थ को नित्य भी सिद्ध किया है। **आप्तमीमासाकार समन्तभद्र स्वामी** के शब्द इस प्रकार है–

"घटमौलिसुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम्।
शोकप्रमोवमाध्यस्थ्य जनो याति सहेतुकम्"॥ 56॥

तीन व्यक्ति है, उनके मन मे एक ही काल मे क्रमश शोक, हर्ष तथा मध्यस्थ भाव उत्पन्न होते है। सुवर्ण का घट नष्ट हो गया यह देख घट प्रेमी के हृदय मे शोक पैदा हुआ किन्तु मुकुट के प्रेमी को इससे हर्ष हुआ। क्योकि उस स्वर्ण के द्वारा वह अपना प्रिय मुकुट प्राप्त कर सकेगा। दोनो अवस्थाओ मे सुवर्ण का सामान्यता सद्भाव रहने से सुवर्ण सामान्य के प्रेमी तृतीय व्यक्ति के मन मे न हर्ष हुआ और न शोक। उसके चित्त मे मध्यस्थ भाव उत्पन्न हुआ। तीन प्रकार के भाव एक काल मे उत्पन्न होने से कारण रूप होने से जैनागम मे तत्त्व सत् को उत्पाद व्यय और ध्रौव्य रूप स्वीकार किया है, "उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्त सत्।" उत्पाद व्यय के द्वारा 'सत्' अनित्य सिद्ध होता है तथा ध्रौव्य के द्वारा वह सत् नित्य माना जाता है।

आचार्य समन्तभद्र की तत्वदेशना से मीमासादर्शन के महान आचार्य तथा वैदिक विद्वान, कुमारिलभट्ट प्रभावित हो उनके कथनानुसार ही

तत्व को उत्पाद–व्यय युक्त रूप मानने के साथ ध्रौव्य रूप भी स्वीकार करते है। मीमासा श्लोक वार्तिक मे कुमारिल भट्ट ने लिखा है :-

वर्धमानकभगे च रूचकः क्रियते यदा।
तदा पूर्वार्थिनः शोकः प्रीतिश्चाप्युत्तरार्थिनः॥
हेमार्थिनस्तु माध्यस्थ्य तस्माद्वस्तु त्रयात्मकम्।
नोत्पादस्थितिभगानामभावे स्यामतित्रयम्॥
न नाशेन बिना शोको, तोत्पादेन बिना सुखम्।
स्थित्या बिना न माध्यस्थ्य तेन सामान्य नित्यता॥

पृ० 619 श्लोक न० 21, 22, 23

पतञ्जलि के महाभाष्य मे भी कुमारिल की तरह द्रव्य को नित्य मानते हुए उसके परिणमन को अनित्य स्वीकार किया है। सुवर्ण भिन्न–भिन्न आकार की अपेक्षा अनित्य है किन्तु पिण्ड की अपेक्षा वह अनित्य नही है। महाभाष्य मे लिखा है–

''द्रव्य नित्यमाकृतिरनित्या, सुवर्ण कयाचिदाकृत्या युक्त पिण्डो भवति, पिण्डाकृतिमुपमृद्यरुचका· क्रियन्ते रुचकाकृतिमुप-मृद्यकटका क्रियन्ते, कटकाकृतिमुपमृद्य स्वस्तिका. क्रियन्ते, पुनरावृत्त. स्वर्ण पिण्ड· पुनरपरयाऽऽकृत्या युक्तः खदिरागारसदृशे कुण्डले भवत. आकृतिरुयाचान्याच भवति द्रव्य पुनस्तदेव, आकृत्युपमेंदन द्रव्यमेवावशिष्यते।"

वैशेषिक दर्शन मे अन्योन्याभाव का प्रतिपादन करते हुए लिखा है कि "गाय की अपेक्षा अश्व का असद्भाव है और अश्व की अपेक्षा गाय का असद्भाव है। घट की अपेक्षा पट का असद्भाव है। पट अघटरूप है। अर्थात् वह घट रूप नही है । गाय अनश्व है अर्थात् अश्व रूप नही है। अश्व अगौ है अर्थात् वह गौ रूप नही है।" इस कथन से वस्तु का स्वरूप से अस्तित्व और पररूप की अपेक्षा नास्तित्व अर्थात् अभाव स्पष्ट होता है। कणाद रचित सच्चासत् सूत्र (अ० 9, आ० 1, सू० 4) की टीका मे इस विषय पर इस प्रकार प्रकाश डाला गया है–"भवति हि असत् अश्वो गवात्मनः, असत् गौरश्वात्मना, य असत्

पटो घटात्मना, अघटः पटः, अनश्वो गौ अगौरश्व इत्यादि प्रतीति·।" (पृ० 313)। आगामी सूत्र के भाष्य मे अन्य रूप की अपेक्षा वस्तु को सत् मानते हुए दूसरे रूप की अपेक्षा उसे असत् स्वीकार किया है। भाष्य के शब्द ध्यान देने योग्य है –

"तदेव रूपान्तरेण सदप्यन्येन रूपेणासभ्दवतीत्युक्तम्" (315)।

इस प्रकार एकान्तवादी साहित्य के मध्य मे भी अनेकान्तवाद का अनेक स्थानो मे समर्थन पाया जाता है। इसका कारण यह है जब वस्तु स्वय अनेकान्त रूप है, तब अपने पक्ष की ममता रहते हुए भी उसकी झलक किसी न किसी रूप मे हो जाती है। मेघो से सूर्य के आच्छादित दिखने पर भी उस सूर्य के सद्भाव का ज्ञायक प्रकाश का अश सबके अनुभवगोचर होता है। इसी प्रकार स्याद्वाद के सूर्य का प्रकाश भी भिन्न-भिन्न दर्शनो की मान्यताओ के मध्य मे अपना ज्योतिर्मय रूप बताता है।

वेदान्त सिद्धान्त 'एक ब्रह्म द्वितीय नास्ति, सत्य ब्रह्म जगन्मिथ्या' मानता है। उसकी दृष्टि मे ब्रह्म के सिवाय अन्य किसी पदार्थ की परमार्थिक सत्ता नही है। वह कहता है कि 'सर्व वे खल्विद ब्रह्म नेह नानास्ति कञ्चिन।' उपनिषद् तथा आरण्यको मे वह ब्रह्म एक अविनाशी और परिवर्तनरहित माना गया है। यह द्वैत तत्त्व का निषेध करता है। स्याद्वाद सिद्धान्त इस अद्वैतवाद को वस्तु स्वरूप के प्रतिकूल मानता है।

यदि सर्वत्र एक ब्रह्म ही का साम्राज्य हो, तब जब एक का जन्म हो, उसी समय अन्य का मरण नही होना चाहिए। एक के दु·खी होने पर उसी समय दूसरे का सुखी नही होना चाहिए, किन्तु ऐसा नही देखा जाता। जब किसी का जन्म है उसी समय अन्य का मरण आदि होता है। अत प्रत्येक शरीर मे भिन्न-भिन्न आत्मा का सद्भाव अनुभव तथा युक्ति द्वारा समर्थित होता है।

"यदैवेकोऽश्नुते जन्म जरा मृत्यु सुखादि वा।
तदैवान्योन्यदित्यग्या भिन्ना प्रत्यगमगिन ॥"

–अनगारधर्मामृत अ० 2, 23

किन्ही वेदान्तियो का कथन है जैसे एक बिजली का प्रवाह सर्वत्र विद्यमान रहता है, फिर भी जहा बटन दबाया जाता है, वहा प्रकाश हो जाता है, सर्वत्र नही। इसी कारण एक व्यापक ब्रह्म के होते हुए भी किसी का जन्म, किसी का बुढापा, किसी का मरण आदि होना न्यायाविरुद्ध है।

इस समाधान पर सूक्ष्म विचार किया जाए, तो इसकी सदोषता स्पष्ट हो जाती है। बिजली का अविच्छिन्न प्रवाह देखकर भ्रम से विद्युत् को सर्वत्र एक समझते है, यथार्थ मे विद्युत् एक नही है। जैसे पानी के नल मे प्रवाहित होने वाला जल बिन्दुपुज रूप है। एक-एक बिन्दु पृथक्-पृथक् है। समुदाय रूप पर्याय होने के कारण वह एक माना जाता है। यह न्याय बिजली के विषय मे जानना चाहिए। बिजली के जलते हुए और बुझे हुए बल्ब की विद्युत् मे प्रवाह की दृष्टि से एकत्व होते हुए भी सूक्ष्म दृष्टि से अन्तर है। भ्रमवश सदृश को एक माना जाता है। नाई के द्वारा पुन -पुन बनाये जाने वाले बालो मे पृथक्ता होते हुए भी एकत्व की भ्रान्ति होती है। इसी प्रकार ब्रह्माद्वैतवादी को एकत्व की भ्रान्ति होती है।

अद्वैततत्त्व के समर्थन मे कहा जाता है 'माया के कारण भेद प्रतीति अपरमार्थ रूप मे हुआ करती है।' यह ठीक नही है, कारण भेद को उत्पन्न करने वाली माया यदि वास्तविक है तो माया और ब्रह्म का द्वैत उत्पन्न होता है। यदि माया अवास्तविक है, तो खरविषाण के समान वह भेद-बुद्धि को कैसे उत्पन्न कर सकेगी?

अद्वैत के समर्थन मे यदि कोई युक्ति दी जाती है, तो हेतु तथा साध्य रूप द्वैत आ जाएगा। कदाचित् हेतु के बिना वचनमात्र से अद्वैत प्ररूपण ठीक माना जाय, तो उसी न्याय से द्वैत तत्त्व भी सिद्ध होगा। इसीलिए **स्वामी समन्तभद्र** ने लिखा है–

"हेतोरद्वैतसिद्धिश्चेत् द्वैत स्यात् हेतुसाध्ययो·।
हेतुना चेद्विना सिद्धिः, द्वैत वाड्मात्रतो न किम्"॥26॥

–आप्तमीमासा

अद्वैत शब्द जब द्वैत का निषेधपरक है तो वह स्वय द्वैत के सद्भाव को सूचित करता है। निषेध किये जाने वाले पदार्थ के अभाव मे निषेध नही किया जाता। अत. अद्वैत शब्द की दृष्टि से द्वैत तत्त्व का सद्भाव असिद्ध नही होता।[27]

"अद्वैत न विना द्वैतात्, अहेतुरिव हेतुना।
सज्ञिन. प्रतिषेधो न प्रतिषेध्यात् ऋते क्वचित्"॥27॥

–आप्तमीमासा

एक मार्मिक शकाकार कहता है 'यदि वास्तविक द्वैत को स्वीकार किये बिना अद्वैत शब्द नही बन सकता, तो वास्तविक एकात के अभाव मे उसका निषेधक अनेकात शब्द भी नही हो सकता?'

इसके समाधान मे **आचार्य विद्यानन्दि** कहते है कि हम सम्यक् एकात के सद्भाव को स्वीकार करते है, वह वस्तुगत अन्यधर्मो का लोप नही करता। मिथ्या एकात अन्य धर्मो का लोप करता है। अत सम्यक् एकातरूप तत्त्व इस चर्चा मे बाधक नही है।

एक दार्शनिक कहता है, 'अवस्तु का भी निषेध देखा जाता है, गधे के सीग का अभाव है, ऐसे कथन मे क्या बाधा है? इसी प्रकार अपरमार्थरूप द्वैत का भी अद्वैत शब्द द्वारा निषेध मानने मे क्या बाधा है?

द्वैत शब्द अखड (Simple) है और खरविषाण सयुक्त पद (Compound) है। अत यह द्वैत के समान नही है। खरविषाण नाम की कोई वस्तु नही है। खर और विषाण दो पृथक्-पृथक् अस्तित्व धारण करते है। उनका सयोग असिद्ध है। जैसा निषेधयुक्त अखडपद अद्वैत है, उस प्रकार की बात खरविषाण के निषेध मे नही है।

अद्वैततत्त्व मानने पर **स्वामी समन्तभद्र** कहते है–

"कर्मद्वैत फलद्वैत लोकद्वैत च नो भवेत्।
विद्याऽविद्याद्वय न स्यात् बन्धमोक्षद्वय तथा"॥25॥

–आप्तमीमासा

पुण्य–पापरूप कर्मद्वैत, शुभ–अशुभ फलद्वैत, इहलोक–परलोकरूप लोकद्वैत, विद्या–अविद्यारूप द्वैत तथा बधमोक्षरूप द्वैत का अभाव हो जाएगा। आत्मविकास और ब्रह्मत्व की उपलब्धि निमित्त योग, ध्यान, धारणा, समाधि आदि के जो महान् शास्त्र रचे गए है, उनके अनुसार आचरण आदि की व्यवस्था कूटस्थ नित्यत्व या एकान्त क्षणिकत्व प्रक्रिया मे नही बनती है। महापुराणकार **भगवत् जिनसेन** कहते है :–

शेषेष्वपि प्रवादेषु न ध्यान-ध्येय-निर्णय ।
एकान्तदोष-दुष्टत्वात् द्वैताद्वैतवादिनाम्॥ 253॥
नित्यानित्यात्मक जीवतत्त्वमभ्युपगच्छताम्।
ध्यान स्याद्वादिनामेव घटते नान्यवादिनाम्॥ 254॥

पर्व 21

स्याद्वाद शासन मे ही सब बातो की सम्यक् व्यवस्था बनती है।

समन्तभद्राचार्य इस द्वैत–अद्वैत एकान्त के विवाद का निराकरण करते हुए कहते है –

"सत्सामान्यात्तु सर्वैक्य पृथक् द्रव्यादिभेदत "॥ 34॥

सामान्य सत्त्व की अपेक्षा सब एक है, द्रव्य गुण पर्याय आदि की दृष्टि से उनमे पृथक्पना है।

इस दृष्टि से एकत्व का समर्थन होता है। साथ ही अनेकत्व भी पारमार्थिक प्रमाणित होता है।

कोई–कोई जिज्ञासु पूछते है–आपके यहा एकान्त दृष्टियो का समन्वय करने के सिवाय वस्तु का अन्य स्वरूप माना गया है या नही?

इसके समाधान मे यह लिखना उचित जचता है कि स्याद्वाद दृष्टि द्वारा वस्तु का यथार्थ स्वरूप प्रकाशित किया जाता है। अन्य स्वरूप बताना सत्य की नीव पर अवस्थित दृष्टि के लिए अनुचित है। स्याद्वाद दृष्टि मे मिथ्या एकान्तो का समूह होने पर भी सत्यता का पूर्णतया सरक्षण होता है, कारण यहा वे दृष्टिया 'भी'[28] के द्वारा सापेक्ष हो जाती है।

इस स्याद्वाद के प्रकाश मे अन्य एकान्त धारणाओ के मध्य मैत्री उत्पन्न की जा सकती है। **स्वामी समन्तभद्र** की आप्तमीमासा मे समन्वय का मार्ग विस्तृत रीति से स्पष्ट किया गया है। स्याद्वाद के वज्रमय प्रासाद पर जब एकान्तवादियो का शस्त्र-प्रहार अकार्यकारी हुआ, तब एक तार्किक जैनधर्म के करुणातत्त्व का आश्रय लेते हुए कहता है; दयाप्रधान तत्त्वज्ञान का आश्रय लेने वाला जैनशासन जब अन्य सम्प्रदायवादियो की आलोचना करता है, तब उनके अत करण मे असह्य व्यथा उत्पन्न होती है, अत आपको क्षणिकादि तत्त्वो की एकान्त समाराधना के दोषो का उद्भावन नही करना चाहिए।

यह विचारप्रणाली तत्त्वज्ञो के द्वारा कदापि अभिनदनीय नही हो सकती। सत्य की उपलब्धि निमित्त मिथ्या विचारशैली की सम्यक् आलोचना यदि न की जाए तो भ्रान्त व्यक्ति अपने असत्पथ का क्यो परित्याग कर अनेकान्त-ज्योति का आश्रय लेने का उद्योग करेगा? अनेकान्त विचार पद्धति की समीचीनता का प्रतिपादन होते हुए कोई मुमुक्षु इस भ्रम मे पड सकता है, कि सम्भवत उसका इष्ट एकान्त पक्ष भी परमार्थ रूप हो, अत वह तब तक सत्यपथ पा जाने की अन्त प्रेरणा नही प्राप्त करेगा, जब तक उसकी एकान्त पद्धति का त्रुटियो का उद्भावन नही किया जाएगा।[29] अहिसा की महत्ता को बताने के साथ हिसा से होने वाली क्षतियो का उल्लेख करने से अहिसा की ओर प्रबल आकर्षण होता है। अत. परमकारुणिक जैन महर्षियो ने अनेकान्त का स्वरूप समझाते हुए एकान्त के दोषो का प्रकाशन किया है। जीव का परमार्थ कल्याण लक्ष्यभूत रहने के कारण उनकी करुणा दृष्टि को कोई आच नही आती। तार्किक **अकलक** ने कहा है कि "नैराम्यभावना का आश्रय ले अपने पैरो पर कुठाराघात करने वाले प्राणियो पर करुणा दृष्टि वश मैने एकान्तवाद का निराकरण किया है, इसके मूल मे न अहकार है और न द्वेष है।"

अकलक देव तो यहा तक कहते है कि "यदि वस्तु स्वरूप स्वय अनेक धर्ममय न होता, और वह एकान्तवादियो की धारणा के अनुरूप होता तो हम भी उसी प्रकार वर्णन करते। जब अनेकान्त रूप को स्वय

पदार्थों ने धारण किया है, तब हम क्या करे?—**'यदीद स्वयमर्थेभ्यो रोचते तत्र के वयम्।'** पदार्थ का स्वरूप लोकमत या लोकधारणा के आधार पर नही बदलता। वह पदार्थ अपने सत्य सनातन स्वरूप का त्रिकाल मे भी परित्याग नही करता। अविनाशी सत्य स्वय अपने रूप मे रहता है।[30] हमारे अभिमत की अनुकूल प्रतिकूलता का उसके स्वरूप पर कोई प्रभाव नही पडता। सारा जगत् अपने विचित्र सगठित मतो के आधार पर भी पूर्वोदित सूर्य को पश्चिम मे उदय प्राप्त नही बना सकता।

इस स्याद्वाद दृष्टि के अभाव मे तत्त्वदर्शन का उद्योगी व्यक्ति कुतर्क के जाल मे उलझकर कष्ट पाता है। समयसार टीका मे जयसेनाचार्य ने आत्मा को साख्य की तरह एकान्तरूप से अकर्त्ता मानने के दोषो पर प्रकाश डालते हुए उपयोगी चर्चा की है। इस विषय को स्पष्ट करते हुए उन्होने लिखा है :—"कोई कहता है जीव से प्राण भिन्न है कि अभिन्न है? यदि अभिन्न है तो जीव का विनाश न होने पर अभिन्न प्राणो का भी विनाश नही होगा इसलिए जीववध करने पर किस प्रकार हिसा का दोष लगेगा। यदि दूसरा पक्ष माना जाए तो जीव और प्राण जुदे-जुदे है तो प्राणघात होने पर जीव का क्या बिगडेगा? ऐसी स्थिति मे भी हिसा नही होगी। इस प्रकार की मान्यता दोषपूर्ण है। अतएव शरीरादि के साथ जीव का न सर्वथा भेद और न सर्वथा अभेद मानकर कथञ्चित् भेद तथा कथञ्चित् अभेद माना गया है। जिस प्रकार लोहे का गरम गोला अग्नि से पृथक् नही है, उसी प्रकार शरीर भी जीव से पृथक् वर्तमान पर्याय मे नही है। अत व्यवहार नय से शरीर तथा आत्मा मे भेद नही है किन्तु मरण काल मे शरीर आदि प्राणो का जीव के साथ गमन नही होता है इसलिए निश्चय दृष्टि से जीव और शरीरादि मे पृथक्पना है। यदि एकान्तरूप से सर्वथा भिन्नता मानी जाए तो जिस प्रकार अपने से भिन्न दूसरे के शरीर के छिन्न-भिन्न किए जाने पर स्वय को दु.ख नही होता उसी प्रकार अपने शरीर के छेदे-भेदे जाने पर भी दु:ख नही होना चाहिए क्योकि शरीर सर्वथा भिन्न है, यह पक्ष स्वीकार किया गया है। यह बात प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधित है। उस पर शकाकार कहता है—ऐसी स्थिति मे व्यवहार नय की अपेक्षा हिसा हुई, यह माना जाएगा। निश्चय नय की अपेक्षा तो हिसा नही मानी जाएगी।

समाधान–आपका कहना यथार्थ है। यह पक्ष हमे स्वीकार है कि व्यवहार नय से हिसा है, पाप है तथा नरकादि के दु.ख भी है इसलिए यदि आपको नरक, पशु आदि पर्याय के दुःख अभीष्ट है तो हिसा करो। कदाचित् नरकादि के दु.खो से डरते हो, इनसे बचना चाहते हो तो जीवन हिसा को छोडो अत· यह बात सिद्ध हुई कि आत्मा साख्य मत के समान अकर्ता नही है। तब फिर क्या बात है? रागादि विकल्प रहित समाधि लक्षण भेद-ज्ञान के काल मे आत्मा कर्ता नही है। उस समाधि के सिवाय अन्य काल मे वह कर्मो का कर्ता है।

कश्चिदाह जीवात्प्राणा भिन्ना अभिन्ना वा यद्यभिन्नस्तदा यथा जीवस्य विनाशो नास्ति तथा प्राणानामपि विनाशो नास्ति कथ हिसा? अथ भिन्नास्तर्हि जीवस्य प्राणघातेऽपि किमायात? तत्रापि हिसा नास्तीति। तन्न कायादि परिणामे· सह कथचिभ्देवाभेद·। कथ? इतिचेत् तप्ताय· पिण्डवद्वर्तमानकाले पृथक्त्व कर्तुं नायाति तेन कारणेन व्यवहारेणाभेद । निश्चयेन पुरर्मरणकाले कायादिप्राणा जीवे न सहैव न गच्छन्ति तेन कारणेन भेदः। यद्येकान्तेन भेदो भवति तर्हि यथा परकीये काये छिद्यमाने भिछमानेऽपि दु ख न भवति। तथा स्वकीय कायेऽपि दु ख न प्राप्नोति न च तथा? प्रत्यक्षविरोधात्। ननु तथापि व्यवहारेण हिसा जाता न तु निश्चयेनेति? सत्यमुक्त भवता व्यवहारेण हिसा तथा पापमपि नारकादिदु:खमपि व्यवहारेणेत्यस्माक सम्मतमेव। तन्नारकादि दु:ख भवतामिष्ट चेत्तर्हि हिसा कुरुत्। भीतिरस्ति। इति चेत् तर्हि त्यज्यतामिति। तत· स्थितिमेतत् एकातेन साख्यमतवदकर्ता न भवति कि तर्हि रोगादिविकल्परहित समाधिलक्षण भेदज्ञानकाले कर्मण कर्ता न भवति शेषकाले कर्तेति।

व्यवहार नय को भुलाने वाला गृहस्थ लौकिक जीवन मे तिरस्कार का पात्र बनेगा। आत्मस्वरूप का विचार करते समय निश्चय दृष्टि का आश्रय ले आत्मा को एक और सबसे भिन्न सोचना परम आवश्यक तथा हितकारी है; किन्तु लौकिक जीवन मे व्यवहार दृष्टि को भी स्मरण

रखना उपयोगी है। यदि महापुरुष रामचन्द्र जी अध्यात्म के एकान्त वादी के समान सीता के अपहरण होने पर उसे अपने से सर्वथा भिन्न सोच भेद विज्ञानी का रूप बता चुपचाप बैठ जाते, तो क्या स्थिति होती? क्या राम 'मर्यादा-पुरुषोत्तम' कहे जाते? गृहस्थ का कर्त्तव्य है, कि वह धार्मिक दृष्टि को सजग रखते हुए लौकिक उत्तरदायित्व का पूर्णतया रक्षण करे। स्याद्वादी बने बिना सतुलित दृष्टि नही होती।

एकान्तवादी सिद्धान्तो मे जब समन्वय भाव का जागरण होता है, तब वे ही सम्यक्ज्ञान के अग बन जाते है। आचार्य सिद्धसेन दिवाकर सन्मति तर्क सूत्र मे जैनागम को एकान्तवादी सिद्धान्तो का समूह रूप मानते हुए कहते हैं –

भद्द मिच्छादसण-समूहमइयस्स अमयसारस्स।
जिणवयणस्स भगवओ सविग्ग-सुहाहिगम्मनस्स॥ 70॥

मिथ्या-दर्शनो के समूह रूप, अमृतसार तथा ससार के दु:खो से सवेगभाव को प्राप्त जीवो के लिए सरलतापूर्वक समझ मे आने योग्य भगवान जिनेन्द्र का वचन कल्याण रूप है।

मिथ्या धर्मो का समूह यदि परस्पर निरपेक्षभाव युक्त है तो वह मिथ्या है। परस्पर सापेक्ष भाव को धारण करने वाली दृष्टि मिथ्या नही रहती है। जैनागम का प्राण वह सापेक्ष भाव है। **समतभद्र स्वामी** ने आप्तमीमासा मे कहा है .–

मिथ्यासमूहो मिथ्या चेन्न मिथ्यैकान्त तास्ति न·।
निरपेक्षा नया मिथ्याः सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत्॥108॥

मिथ्या धर्मो का समूह यदि मिथ्या हो, तो मिथ्या-एकान्तपना हो जाएगा। यह मे इष्ट नही है। यदि वे नय निरपेक्ष है, तो वे मिथ्या है और यदि वे सापेक्ष है तो परमार्थ हो जाते है और वह जिनेन्द्र। आपके शासन मे अर्थ-क्रियाकारी हो जाते है।

जैसे कपिल दर्शन पुरुष (जीव) को सर्वदा शुद्ध कहता है। द्रव्यार्थिक नय की दृष्टि भी आत्मा को पूर्णतया शुद्ध मानती है। बुद्ध

दर्शन पदार्थ को क्षण स्थायी मानता है। परिशुद्ध पर्यायार्थिक नय भी पदार्थ को क्षणिक स्वीकार करता है। उन दृष्टियो मे सापेक्ष भाव का सखाव जैन दृष्टि मे माना गया है। सन्मतितर्क मे आचार्य सिद्धसेन ने कहा है :-

ज काविल दरिसण एय दव्वट्ठियस्स वत्तव्व।
सुद्धोअण-तणअस्स उ परिसुद्धो पज्जव-विअप्पो॥ 48॥

इस समन्वयात्मक विचार पद्धति से आध्यात्मिक शान्ति लाभ तो होता ही है, इससे राग-द्वेष रूप महान शत्रुओ को जीतने की क्षमता प्राप्त होती है।

इस स्याद्वाद शैली का लौकिक लाभ यह है कि जब हम अन्य व्यक्ति के दृष्टिबिन्दु को समझने का प्रयत्न करेगे तो परस्पर भ्रममूलक दृष्टिजनित विरोध विवाद का अभाव हो भिन्नता मे एकत्व (Unity in diversity) की सृष्टि होगी; आधुनिक युग मे यदि स्याद्वाद शैली के प्रकाश मे भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय वाले प्रगति करे, तो बहुत कुछ विरोध का परिहार हो सकता है।

आत्मविकास के क्षेत्र मे भी अनेकान्त विद्या द्वारा निर्मल ज्योति प्राप्त होती है। लौकिक दृष्टि से जैसे घृतसम्बद्ध मिट्टी के घडे को घी का घडा कहते है, उसी प्रकार शरीर से सम्बद्ध जीव को भिन्न-भिन्न नाम आदि उपाधियाँ सहित कहते है। परमार्थ दृष्टि से घी का घडा कथन सत्य नही है, क्योंकि घडा मिट्टी का है। मिट्टी घडे का उपादान कारण है, घृत उपादान कारण नही है। इस कारण मिट्टी का घडा कथन वास्तविक है। इसी प्रकार परमार्थिक निश्चय दृष्टि से आत्मा शरीर से जुदा है। ज्ञान आनद-शक्ति का अक्षय भडार है। व्यवहारिक-लौकिक दृष्टि से तत्त्व को जानकर परमार्थ दृष्टि द्वारा साधना के मार्ग पर चलकर निर्वाण को प्राप्त करना साधक का कर्तव्य है।

व्यवहार दृष्टि जहा ईश-चितन, भगवद्भक्ति आदि को कल्याण का मार्ग प्राथमिक साधक को बताती है, वहाँ निश्चय दृष्टि श्रेष्ठ पथ को प्रदर्शित करते हुए कहती है-

"य. परमात्मा स एवाह योऽह स· परमस्तत।
अहमेव मयोपास्य: नान्य: कश्चिदिति स्थिति:॥"

–समाधिशतक 31।

जो परमात्मा है, वह मै हूँ। जो मै हूँ, वह परमात्मा है। अत मुझे अपनी आत्मा की आराधना करनी चाहिए, अन्य की नही, यह वास्तविक बात है।

स्याद्वाद सिद्धान्त हमारी दृष्टि की सकीर्णता को दूर कर उसे व्यापक और सत्यानुगामिनी बनाता है। प० जवाहरलाल नेहरु ने कहा था, "We have to realise that truth is many-sided and it is not the monopoly of any group formation" (*Bhartiya Vidya Bhavan Journal*, Bombay, 1958 April) "हमे यह स्वीकार करना होगा कि सत्य विविधता युक्त है तथा वह किसी समुदाय या वर्ग विशेष के एकाधिपत्य का विषय नही है।"

भारत के राष्ट्रपति तथा महान दार्शनिक विद्वान् डा० राधाकृष्णन ने 5 अप्रैल सन् 1963 को महावीर जयती महोत्सव के अवसर पर दिल्ली के अभिभाषण मे स्याद्वाद सिद्धान्त की महत्ता का उल्लेख करते हुए ये मार्मिक शब्द कहे थे - "भारत सरकार जैनधर्म के सिद्धान्तो को मानकर ही चल रही है। हम धर्मनिरपेक्ष दृष्टिकोण (Secularism) को अपनाते है, जो अनेकान्त (स्याद्वाद) का अनुपम सिद्धान्त है। अहिसा प्रेम का सिद्धान्त है। विज्ञान और अध्यात्म के मेल से मानव जाति सुख की ओर अग्रसर हो सकती है।" (*वीर*)। अनेकता के बीच एकता की विचार प्रणाली को प्रतिष्ठित करने वाले इस सिद्धान्त की ओर विश्व का ध्यान जाना आवश्यक है। इससे जीवन सकीर्ण न हो विशाल और उदार बनता है। यह स्याद्वाद सिद्धान्त मैत्री का मार्ग है।

स्याद्वाद तत्त्वज्ञान के मार्मिक आचार्य अमृतचन्द्र अनेकान्त वाद के प्रति इन शब्दो मे प्रणामाजलि समर्पित करते है–

"परमागमस्य बीज निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम्।
सकलनय-विलसिताना विरोधमथन नमाम्यनेकान्तम्॥"

–पुरुषार्थसिद्ध्युपाय 2

शुभचन्द्राचार्य ने ज्ञानावर्ण मे कहा है :-

'स एवाह स एवाहमित्यभ्यस्यन्ननारतम्।
वासना दृढयन्नेव प्राप्नोत्यात्मन्यवस्थितिम्।। सर्ग 32-42।।'

स एव अह'-मै परमात्म रूप हूँ, मै परमात्म रूप हूँ, इस प्रकार निरतर 'सोह' का अभ्यास करने वाला वासना को बलवान बनाता हुआ अपनी आत्मा मे स्थिति को प्राप्त करता है। 'स एव अह', 'सोह', 'अह ब्रह्मारस्मि' की सतत् भावना हितकारी है। 'भावना भवनाशिनी'।

सदर्भ सूची

1 "योऽवगच्छन पादेन कस्याचित शिर स्पृशति तस्य महान न पराधो भवति यस्त्वनाभोगेन स्पृशति तस्मै न काश्चिदपर ध्यतीति। एव चाज्ञानमेव प्रधानभावमनुभवति न तु ज्ञानम "-*सूत्रकृताग की शीलाक कृत टीका।*

2 "उपयोगौ श्रुतस्य द्वौ स्याद्वादनयसंज्ञितौ।
स्याद्वाद सकलादेश नयो विकलसकथा।।62।।"

-लघीयस्त्रय।

3 "स्याज्जीव एव इत्युक्तेऽनेकान्तविषय स्याच्छब्द ।
'स्यादस्त्येव जीव ' इत्युक्ते एकान्तविषय स्याच्छब्द ।"-लघी॰ पृ॰ 21
सिद्धसेन गणि आदि ने सत्, असत् तथा अवक्तव्य रूप तीन भगो को सकलादेश तथा शेष चार भगो को अर्थात् सत् असत्, सत् अवक्तव्य असत् अवक्तव्य और सत् असत् अवक्तव्य को विकलादश माना है। सन्मतितर्क टीका मे कहा है "स्यादस्ति घट , स्यान्नास्तिघट स्यादवक्तव्यो घट इत्येतेत्रयो भगा सकलादेशा चत्वारो वक्ष्यमाण का विकलादेशा स्यादास्ति च नास्ति घट इति प्रथमो विकलादेश स्यादास्ति चावक्तवव्यश्च घट इति द्वितीय स्यान्नास्ति चावक्तवव्यश्च घट इति तृतीय , स्यादस्तिच नास्ति चावक्तवव्यश्च घट इति चतुर्थ " (पृ 446)

अकलक आदि आचार्यो के कथन मे उपरोक्त दृष्टि का समर्थन नही है। दिगम्बर आचार्यों ने सप्तभग न्याय के तीन भग प्रमाण के अग और शेष चार भगो को नय के अगरूप न ग्रहण कर नयसपृभगी तथा प्रमाण सपृभगी का प्रतिपादन कर दोनो सकलादेश तथा विकलादेश रूप दृष्टियो को सप्तभग युक्त माना है। नय और प्रमाण वाक्य मे सप्तभग माने गए है।

4 "सार्वज्ञ तव वक्तीश वच शुद्धिरशेषगा।
न हि वाग्विभवो मन्दधियामस्तीह पुष्कल ।।133।।
वक्तृप्रामाण्यतो देव वच प्रामाण्यमिष्यते।
न ह्यशुद्धतराद्वक्तु प्रभवन्त्युज्ज्वला गिर ।।134।।

स्प्तभग्यात्मिकेय ते भारती विश्वगोचरा।
आप्तप्रतीतिममला त्वय्युद्भावयितु क्षमा।।135।।"

–महापुराण, पर्व 33।

5 "नानार्थमेकार्थमदस्त्वदुक्त हित वचस्ते निशमय्य वक्तु ।
निर्दोषता के न विभावयन्ति ज्वरेण मुक्त सुगम. स्वरेण।।"

–विषापहार 29।

6 भगवान महावीर त्रिकालज्ञ और सर्वदर्शी थे। किन्तु बुद्ध का ज्ञान इस प्रकार नही था। उन्हे जिस विषय का ज्ञान करने की इच्छा होती थी उस ओर उन्हे अपनी चित्तवृत्ति को उपयुक्त करना आवश्यक था।
'मिलिन्द-प्रश्न' मे भिक्षु नागसेन ने बुद्ध के ज्ञान की चर्चा करते हुए कहा है– "बुद्ध सर्वज्ञ थे किन्तु इसका यह अर्थ नही है कि वे हर घडी हर तरह से ससार की सभी बातो की जानकारी बनाए रखते थे। उनकी सर्वज्ञता इसी मे थी कि ध्यान करके वे किसी भी बात को जान ले सकते थे।' (पृष्ठ 129)। इस प्रकार के ज्ञान को बौद्धदर्शन मे 'आवर्जन-प्रतिबद्ध' सर्वज्ञता कहा है। इस कथन से भगवान महावीर के विशिष्ट ज्ञान का सद्भाव स्पष्टतया अवगत होता है।

7 "एकेनाकर्षन्ती श्लथयन्ती वस्तुतत्त्वमितरेण।
अन्तेन जयति जैनी नीतिर्मन्थाननेत्रमिव गोपी।।"

–पुरुषार्थसिद्ध्युपाय 225

8 एक व्यक्ति के तीन पुत्र है। मझला पुत्र छोटे की अपेक्षा बडा माना जाता है और बडे की अपेक्षा उसे छोटा कहते है। वह छोटा भी है तथा बडा भी है। छोटा होना तथा बडा होना परस्पर विरुद्ध बाते है किन्तु भिन्न-2 अपेक्षाओ से उनका सद्भाव मानना अविरुद्ध है।
एक व्यक्ति की कैमरे से फोटो खीची गई। उसके पश्चात् एक्सरे से चित्र खीचा। दोनो तस्वीरे भिन्न-2 है। एक शरीर का बाहरी रूप है, दूसरे मे भीतर का अस्थि पजर मात्र है। दोनो चित्र सच्चे है यद्यपि भिन्न-2 दिखते है। इसी प्रकार पदार्थ का स्वरुप भी द्रव्य की अपेक्षा नित्य है तो पर्यायो की दृष्टि से वह अनित्य है। यही अनेकात दृष्टि है। यह मैत्री को जगाती है।

9 Entity which down to the lamp, up to ether, is of the same nature,
Without breaking away from the seal of the Syadvada
What they say is, in one case simply eternal, in another simply non-eternal Thus the chatterings of the foes of thy precepts

Vide—The Flower Spray of the Quadammado Doctrione p 23

10 "स्वपरात्मोपादानापोहनव्यवस्थापाद्य हि वस्तुनो वस्तुत्वम्।" पृ॰ 24

11 श्री राहुलकृत '*दर्शन-दिग्दर्शन*' पुस्तक मे धर्मकीर्ति परिचय मे किए गए जैनधर्म पर आक्षेप की समीक्षा।

12 भारत रत्न डॉ॰ भगवानदासजी, '*जैनदर्शन*' का स्याद्वादाक पृ॰ 180।

13 "तत्र सत्त्व वस्तुधर्म तदनुपगमे वस्तुनो वस्तुत्वायोगात् खरविषाणादिवत् तथा कथञ्चिदसत्त्व स्वरूपादिभिरिव पररूपादिभिरपि वस्तुनोऽसत्त्वानिष्टौ प्रतिनियतस्वरूपाभावाद्वस्तुप्रतिनियमविरोधात्।"

—*अष्टसहस्रीविवरण पृ० 183।*

14 *'जैनदर्शन'*, स्याद्वादाक, पृ० 182।

15 "न ह्येकस्मिन् धर्मिणि युगपत्सदसत्त्वादिविरुद्धधर्मसमावेश सम्भवति शीतोष्णवत्। य एते सप्तपदार्था निर्धारिता एतावन्त एवरूपाश्चेति ते तथैव वा स्युर्नैव वा तथा स्यु , इतरथा हि तथा वा स्युरितरथा वेत्यनिर्धारितरूपज्ञान सशयज्ञानवदप्रमाणमेव स्यात्।" —*वेदान्तसूत्र, शाकरभाष्य 2।2।33।*

16. "न ह्येकत्र नानाविरुद्ध धर्मप्रतिपादक स्याद्वाद , किन्त्वपेक्षाभेदेन तदविरोधद्योतक- स्यात्पदसमभिव्याहृतवाक्यविशेष स इति"

—*न्यायखडखाद्य 42।*

17 "Sankaracharya was a Bhasyakara and the account he has given of Jainism represents merely an expanded form of the view of Jainism, which is as old as Badarayana, the author of Vedanta Sutras The sutra "नैकस्मिन्नसम्भवात्" (2-2-33) has been interpreted by all the Bhasyakaras in the same manner and its very wording suggests that the view here taken of Jainism is an ancient view, which cannot entirely have been a deliberate misrepresentation In any case, that is the oldest account of Jainsim in non-Jain texts that is available to us and (the theory of a wilful and malicious misrepresentation apart) there is no reason why we should not regard it as not untruly representing a tendency in Jainism, which was its weakest and the most vulnerable spot In its later presentation, of course, Syadavda becomes all that my critics claim for it May be it becomes almost a platitude which nobody would care to seriously call in question '
Dr S K. Belvalker, M.A , Ph D , Article on the Undercurrent of Jainism in *Jain Sahitya Samshodhak*, 1920, vol 1, p 2-3

18 "तह्यस्तीति न भणामि नास्तीति च न भणामि यदपि च भणामि तदपि न भणामीति दर्शनमस्तु इति कश्चित् । मद्भावतराभ्यामनभिलापे वस्तुन. केवल मूकत्व जगत स्यात्, विधिप्रतिषेधव्यवहारायोगात्।"—अष्टसहस्री, पृ० 129।

19 "This deduction is based on the supposition that Syadvada had non-Jain beginnings as proposed by himself on account of its being attributed to 'Recluses and Brahmins ' The deduction is fallacious because as shown about the term 'recluse' a Sramana pre-eminently means a Jain "—Pravachanasara's Introduction, p LXXXVIII

20 अत्यन्त प्राचीन जैनग्रथ महाबन्ध मे मुनि के लिए 'समण' शब्द का प्रयोग आया है। पृ० 10 'णमो पव्ह समणाण', पृ० 36 सामाण समाधिसधारणदाए, सामाण वेज्जावच्चजोगजुत्तदाए, सामाण पासुगपरिच्चागदाए – *महाबधशास्त्र*

21 दतिया रियासत का सोनागिर जैन तीर्थ यथार्थ मे श्रमणगिरी ही तो है।

22 The Puranic trinity of Brahma, Visnu and Siva confronts a superficial reader with a great dilemma Somtimes Brahma is regarded as superior to Visnu and Mahesa, sometimes Visnu is regarded as superior to Brahma and Siva and sometimes Siva is regarded as superior to both Brahma and Visnu The great poet Kalidasa also realised this truth of the Puranas On the occasion of the marriage of God Siva with Parvati, both Brahma and Visnu came there to pay homage to Siva and eulogised him Kalidasa does not see any impropriety in this He remarks that there is only one God, who is differentiated in these three forms, and the superiority and inferiority is common to all of them Sometimes Visnu is superior to Hara, sometimes Hara is superior to Visnu, sometimes Brahma is superior to both of them and sometimes both Visnu and Siva are superior to Brahma

23 "यद्य सत्सर्वथा कार्य तन्मा जनि खपुष्पवत्।
मोपादाननियामो भून्माऽऽश्वास कार्यजन्मनि"।। 42।।

–*आप्तमीमासा*

24 "प्रतिक्षण भंगिषु तत्पृथक्त्वान्न मातृघाती स्वपति स्वजाया।
दत्तग्रहो नाधिगतस्मृतिर्न न क्त्वार्थसत्य न कुल न जाति "।। 16।।

–*युक्त्यनुशासन पृ० 42*

25 डाक्टर जानसन के इस वक्तव्य मे परिवर्तन होते हुए भी नित्यत्व की स्वीकृति स्पष्ट होती है Dead is my youth, so is my age, but I remain - the imperishable I "मेरा यौवन काल चला गया, इसी प्रकार बुढापा भी समाप्त हो रहा है किन्तु मै विद्यमान हू। अविनाशी मेरी आत्मा अभी भी मौजूद है।

26 द्रव्यलक्षणान्तरग-निमित्तयोगात् नित्यत्व। क्षेत्रभेदादिलक्षण - बहिरग निमित्त योगात् कार्यलक्षणनैमित्तिकयोगात् च अनित्यत्व एकस्यापि वस्तुनो न विरुद्धम। (*सस्कृत टीका*, पृ 111)

27 'अद्वैतशब्द स्वाभिधेयप्रत्यनीकपरमार्थापेक्षो नञ्पूर्वाखण्डपदत्वात् अहेत्वभिधानवत्।"–*अष्टसहस्री* पृ० 161–अद्वैत शब्द अपने वाच्य के विरोधी परमार्थरूप द्वैत की अपेक्षा करता है कारण अद्वैत यह अखण्ड तथा नञ्पूर्व अर्थात् निषेधपूर्व पद है। जैसे अहेतु शब्द है।

28 एकान्त दृष्टि, तत्त्व ऐसा ही है, कहती है। अनेकात दृष्टि कहती है–तत्त्व ऐसा भी है। 'भी' से सत्य का सरक्षण होता है, 'ही' से सत्य का सहार होता है।

29 भगवत् जिनसेन ने एकान्त मतो की आलोचनात्मक पद्धति को धर्मकथा रूप कहा है। वे कहते है–

"आक्षेपिणी कथा कुर्यात्प्राज्ञ स्वमत सग्रहे।
विक्षेपिणी कथा तज्ज्ञ कुर्याद्दुर्मतनिग्रहे।।"

–*महापुराण 135-1*

30 "We cannot make true thmgs false or false thmgs true by choosmg to thmk them so We cannot vote nght mto wrong or wrong mto nght The eternal truths and nghts of thmgs exıst fortunately mdependent of our thoughts or wıshes fixed as mathematıcs mherent ın the nature of man and the world "

—*Selected Essays of Froude'*- p 69

*****

कर्मसिद्धान्त

साधक के आत्मविकास मे जिस शक्ति के कारण बाधा उपस्थित होती है उसे जैन-शासन मे 'कर्म' कहते है। भारतीय दार्शनिको ने 'कर्म' शब्द का विभिन्न अर्थो मे प्रयोग किया है। वैयाकरण[1] जो कर्त्ता के लिए अत्यन्त इष्ट हो उसे कर्म मानते है। यज्ञ आदि क्रियाकाण्ड को मीमासाशास्त्री कर्म जानते है। वैशेषिकदर्शन मे कर्म की इस प्रकार परिभाषा की है[2]–'जो द्रव्य मे समवाय से रहता हो जिसमे कोई गुण न हो और जो सयोग तथा विभाग मे कारणान्तर की अपेक्षा न करे।' साख्य दर्शन मे 'सस्कार' अर्थ मे कर्म का प्रयोग हुआ है[3]। गीता मे[4] 'क्रिया-शीलता' को कर्म मान अकर्मण्यता को हीन बताया है। महाभारत मे[5] आत्मा को बाधने वाली शक्ति को कर्म मानते हुए शाति पर्व (240-7) मे लिखा है–'प्राणी कर्म से बँधता है और विद्या से मुक्त होता है।' बौद्ध साहित्य मे प्राणियो की विविधता का कारण कर्मो की विभिन्नता कहा है। अगुत्तर निकाय मे सम्राट् मिलिन्द के प्रश्न के उत्तर मे भिक्षु **नागसेन** कहते है[6]–'राजन् कर्मो के नानात्व के कारण सभी मनुष्य समान नही होते।' महाराज, भगवान् ने भी कहा है–'मानवो का सद्भाव कर्मो के अनुसार है। सभी प्राणी कर्मो के उत्तराधिकारी है। कर्म के अनुसार योनियो मे जाते है। अपना कर्म ही बन्धु है, आश्रय है और वह जीव का उच्च और नीच रूप मे विभाग करता है।' अशोक के शिलालेख की सूचना न॰ 8 द्वारा कर्म का प्रभाव व्यक्त करते हुए सम्राट् कहते है[7]–'इस प्रकार देवताओ का प्यारा अपने कर्मो से उत्पन्न हुए सुख को भोगता है।' पातञ्जल योग दर्शन[8] मे क्लेश का मूल कर्माशय वासना अर्थात् कर्म सस्कारो के समुदाय को बताया है। वह कर्माशय इस लोक और परलोक मे भोगा जाता है। हिन्दू जगत् के दृष्टिकोण को **तुलसीदास जी** इन शब्दो मे प्रकट करते है–

"कर्मप्रधान विश्व करि राखा।
जो जस करहि सो तस फल चाखा।।"

इस प्रकार भारतीय दार्शनिको के कर्म पर विशेष विचार व्यक्त हुए है। 'As you sow, so you reap' (जैसा बोओगे वैसा काटोगे), इस अग्रेजी की सूक्ति मे भी कर्म सिद्धान्त प्रतिष्ठित है। जैन सिद्धान्त मे इस कर्म-विज्ञान पर जो प्रकाश डाला गया है वह अन्य दर्शनो मे नही पाया जाता। यहा कर्म-विज्ञान (Philosophy) पर बहुत गम्भीर, विशद्, वैज्ञानिक चिन्तना की गई है। डॉ० जैकोबी ने जैन कर्म सिद्धान्त को अत्यत महास्पद कहा है। उनका कथन है, "The Theory of Karma is the key-stone of Jain System"–यह कर्म-सिद्धान्त जैन धर्म के बुनियादी पाषाण सदृश है। कर्म शब्द का उल्लेख अथवा नाममात्र का वर्णन किसी सम्प्रदाय की पुस्तको मे पढ कर कोई-कोई आधुनिक पण्डित कर्म-सिद्धान्त के बीज जैनेतर साहित्य मे सोचते है। किन्तु, जैन वाड्मय के कर्म-साहित्य नामक विभाग के अनुशीलन से यह स्पष्ट होता है कि जैन-आगम की यह मौलिक विद्या रही है। बिना कर्म सिद्धान्त के जैन शास्त्र का विवेचन पगु हो जाता है। ईश्वर को कर्त्ता मानने वाले सिद्धान्त भगवान् के हाथ मे अपने भाग्य की डोर सौप विश्व-वैचित्र्य आदि के लिए किसी अन्य शक्ति का वर्णन करना तर्क की दृष्टि से आवश्यक नही मानते और यथार्थ मे फिर उन्हे आवश्यकता रह भी क्यो जाए? जैन-सिद्धान्त प्रत्येक प्राणी को अपना भाग्य विधाता मानता है, तब फिर बिना ईश्वर की सहायता के विश्व की विविधता का व्यवस्थित समाधान करना जैन दार्शनिको के लिए अपरिहार्य है। इस कर्म-तत्त्वज्ञान द्वारा वे विश्व-वैचित्र्य का समाधान तर्कानुकूल पद्धति से करते है। कर्म की बन्धन नाम की एक अवस्था का वर्णन करने वाला तथा चालीस हजार श्लोक प्रमाण वाला "महाबन्ध" नाम का जैन ग्रन्थ प्राकृत भाषा मे अभी विद्यमान है।

इस प्रकार कर्म के विषय मे विशद् वैज्ञानिक जैन विवेचना के सार पूर्ण अश पर ही यहा हम विचार कर सकेगे। जैनाचार्य बताते है कि–आत्मा के प्रदेशो मे कम्पन होता है और उस कम्पन से पुद्गल (Matter) का परमाणु-पुञ्ज आकर्षित होकर आत्मा के साथ मिल जाता है, उसे कर्म कहते है। प्रवचनसार के टीकाकार **अमृतचन्द्र सूरि**? लिखते है–पुद्गल भी कर्म कहलाता है। जिन भावो के द्वारा पुद्गल आकर्षित हो जीव के साथ सम्बन्धित होता है उसे भावकर्म कहते है

और आत्मा मे विकृति उत्पन्न करने वाले पुद्गल पिड को द्रव्यकर्म कहते है।" [9]जैसे दीपक अग्नि स्वभाव से तेल स्वभाव को अभिभूत कर प्रकाश रूप कार्य करता है, उसी प्रकार ज्ञानावरणादि कर्म जीव के स्वभाव को तिरस्कृत करके मनुष्यादि पर्याय रूप नाना प्रकार के कार्य को करता है। मनुष्यादि पर्याये कर्म के कार्य है। कर्म के द्वारा जीव के स्वभाव का घात होने से जीव का मनुष्यादि पर्याय रूप परिणमन होता है।[10] **स्वामी अकलकदेव**[11] का कथन है-"जिस प्रकार पात्र विशेष मे रखे गये अनेक रसवाले बीज, पुष्प तथा फलो का मद्यरूप मे परिणमन होता है, उसी प्रकार आत्मा मे स्थित पुद्गलो का क्रोध, मान, माया, लोभ रूप कषायो तथा मन, वचन, काय के निमित्त से आत्मप्रदेशो के परिस्पन्दनरूप योग के कारण कर्मरूप परिणमन होता है।"

पचाध्यायी मे यह बताया है कि-"आत्मा मे एक वैभाविक शक्ति है जो पुद्गल-पुञ्ज के निमित्त को पा आत्मा मे विकृति उत्पन्न करती है।"

अस्ति शक्तिर्विभावाख्या मिथो बधाधिकारिणी॥ 2-42॥

"जीव के परिणामो का निमित्त पाकर पुद्गल स्वयमेव कर्मरूप परिणमन करते है।"[12] तात्त्विक भाषा मे आत्मा पुद्गल का सम्बन्ध होते हुए भी जड नही बनता और न पुद्गल इस सम्बन्ध के कारण सचेतन बनता है।

प्रवचनसार सस्कृत टीका मे तात्त्विक दृष्टि को लक्ष्य कर यह लिखा है। परमार्थ से आत्मा आत्म परिणाम स्वरूप भावकर्म का कर्त्ता है, वह पुद्गल स्वरूप द्रव्यकर्म का कर्त्ता नही है। "द्रव्यकर्म का कौन कर्त्ता है? स्वय पुद्गल का परिणमन-विशेष ही। इसलिए पुद्गल ही द्रव्यकर्मो का कर्त्ता है, आत्म परिणाम स्वरूप भावकर्मों का नही। अत: आत्मा अपने अपने स्वरूप से परिणमन करता है। पुद्गल स्वरूप से नही करता।"[13]

कर्मो का आत्मा के साथ सम्बन्ध होने से जो अवस्था उत्पन्न होती है उसे बन्ध कहते है। इस बन्ध पर्याय मे जीव और पुद्गल की एक

ऐसी नवीन अवस्था उत्पन्न हो जाती है जो न तो शुद्ध-जीव मे पाई जाती है और न शुद्ध-पुद्गल मे ही। जीव और पुद्गल अपने-अपने गुणो से च्युत होकर एक नवीन अवस्था का निर्माण करते है। राग, द्वेष युक्त आत्मा पुद्गल पुञ्ज को अपनी ओर आकर्षित करता है। जैसे, चुम्बक लोहा आदि पदार्थो को आकर्षित करता है। जैसे फोटोग्राफर चित्र खीचते समय अपने कैमरे को व्यवस्थित ढग से रखता है और उस समय उस कैमरे के समीप आने वाले पदार्थ की आकृति लेन्स के माध्यम से प्लेट पर अकित हो जाती है, उसी प्रकार राग, द्वेष रूपी काच के माध्यम से पुद्गल पुञ्ज आत्मा मे एक विशेष विकृति उत्पन्न कर देते है, जो पुन आगामी रागादि भावो को उत्पन्न करता है। **'स्वगुणच्युति. बन्ध '**–अपने गुणो मे परिवर्तन होने को बन्ध कहा है। हल्दी और चूने के सयोग से जो लालिमा उत्पन्न होती है वह पीत हल्दी और श्वेत चूने के सयोग का कार्य है, उनमे यह पृथक्-पृथक् बात नही है। किसी ने कहा है–

"हरदीने जरदी तजी, चूना तज्यो सफेद।
दोऊ मिल एकहि भये, रह्यो न काहू भेद॥"

पचाध्यायी मे लिखा है –

जीवस्याशुद्धरागादि-भावाना कर्म कारणम्।
कर्मणस्तस्य रागादिभावा प्रत्युपकारिवत्॥ 2-41॥

जीव के राग द्वेषादि अशुद्ध भावो का कारण कर्म है तथा उस कर्म का कारण रागादिभाव है। इस प्रकार भावकर्म तथा द्रव्यकर्म मे परस्पर प्रत्युपकारीपना है। वे परस्पर मे निमित्तकारण है। उनमे उपादान-उपादेय भाव नही है।

कुन्दकुन्द स्वामी ने पचास्तिकाय मे कहा है –

भावो कम्म-णिमित्तो कम्म पुण भावकारण हवदि॥ 66॥

कर्म के निमित्त स भाव (emotional states) होते है और भाव के निमित्त से कर्म होते है। प्रोफेसर चक्रवर्ती द्रव्य और भाव मे निमित्त कारणता को "Psycho-physical parallelism"(भाव और द्रव्य का

समानातरवाद) सोचते है। सचेतन (Thinking thing) और अचेतन कर्म (the unthinking thing) परस्पर मे उपादान, उपादेय नही हो सकते।

जब आत्मा कर्मो का बन्ध करता है, तब शब्द की दृष्टि से ऐसा विदित होता है कि आत्मा ने कर्मो को ही बाधा है, कर्मो ने आत्मा को नही। किन्तु, वास्तव मे ऐसी बात नही है। जिस प्रकार आत्मा कर्मो को बाधता है, उसी प्रकार कर्म भी जीव (आत्मा) को बाधते है। एक ने दूसरे को पराधीन किया है। बध की स्थिति मे आत्मा अस्वतत्र है यह स्पष्ट है, क्योकि जीव के गुणो का पूर्णतया शुद्ध विकास नही है। कर्म रूप परिणत पुद्गल पुज भी स्वतत्र नही है। दोनो परतत्र है।

पचाध्यायी मे कहा है–

"जीव कर्मनिबद्धो हि जीवबद्ध हि कर्म तत्।" (104)

इस कर्म बन्ध के अन्तस्तल पर **भगवज्जिनसेनाचार्य** बडे सुन्दर शब्दो मे प्रकाश डालते है–

"सकल्पवशगो मूढ वस्त्विष्टानिष्टता नयेत्।
रागद्वेषौ तत· ताभ्या बन्ध दुर्मोचमश्नुते॥"–महापुराण 24 । 21

"यह अज्ञानी जीव इष्ट-अनिष्ट सकल्प द्वारा वस्तु मे प्रिय-अप्रिय कल्पना करता है जिससे राग-द्वेष उत्पन्न होते है। इस राग-द्वेष से दृढ कर्म का आगमन (inflow) तथा बन्धन होता है।"

आत्मा के कर्म-जाल बुनने की प्रक्रिया पर प्रकाश डालते हुए **महर्षि कुन्दकुन्द** पचास्तिकाय मे कहते है–

"जो खलु ससारत्थो जीवो तत्तो दु होदि परिणामो।
परिणामादो कम्मा कम्मादो होदि गदिसुगदी॥
गदिमधिगदस्स देहो देहादो इदियाणि जायते।
तेहि दु विसयग्गहण तत्तो रागो व दोसो वा॥
जायदि जीवस्सेव भावो ससारचक्कवालम्मि।
इति जिणवरेहि भणिदो अणादिणिधणो सणिधणो वा॥"

–128–130

"जो ससारी जीव है वह राग, द्वेष आदि भावो को उत्पन्न करता है, जिनसे कर्म आते है और कर्मो से मनुष्य, पशु आदि गतियो की उत्पत्ति होती है। गतियो मे जाने पर शरीर की प्राप्ति होती है। शरीर से इन्द्रिया उत्पन्न होती है। इन्द्रियो द्वारा विषयो का ग्रहण होता है जिससे राग और द्वेष होते है। इस प्रकार भाव ससार चक्र मे भ्रमण करते हुए जीव के सन्तति की अपेक्षा अनादि-अनन्त और पर्याय की दृष्टि से सान्त भी होता है, ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है।"

इस विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि यह कर्म-चक्र राग-द्वेष के निमित्त से सतत् चलता रहता है और जब तक राग, द्वेष, मोह के वेग मे न्यूनता न होगी तब तक यह चक्र अबाधित गति से चलता रहेगा। राग-द्वेष के बिना जीव की क्रियाए बन्धन का कारण नही होती। इस विषय को **कुन्दकुन्द** स्वामी[14] समयप्राभृत मे समझाते हुए लिखते है कि-कोई व्यक्ति अपने शरीर को तेल से लिप्तकर धूलिपूर्ण स्थान मे जाकर शस्त्र-सचालन रूप व्यायाम करता है और ताड, केला बास आदि के वृक्षो का छेदन-भेदन भी करता है। उस समय धूलि उडकर उसके शरीर मे चिपट जाती है। यथार्थ मे देखा जाए तो उस व्यक्ति का शस्त्र सचालन शरीर मे धूलि चिपकने का कारण नही है। वास्तविक कारण तो तेल का लेप है, जिससे धूलि का सम्बन्ध होता है। यदि ऐसा न होता, तो वही व्यक्ति जब बिना तेल लगाए पूर्वोक्त शस्त्र सचालन कार्य करता है-तब उस समय वह धूलि शरीर मे क्यो नही लिप्त होती? इसी प्रकार राग-द्वैष रूपी तेल से लिप्त आत्मा मे कर्म-रज आकर चिपकती है और आत्मा को इतना मलीन बना पराधीन कर देती है कि अनन्त शक्तिसम्पन्न आत्मा क्रीतदास के समान कर्मो के इशारे पर नाचा करती है।

इस कर्म का और आत्मा का कब से सम्बन्ध है? यह प्रश्न उत्पन्न होता है। इसके उत्तर मे आचार्य कहते है कि-कर्मसन्तति-परम्परा की अपेक्षा यह सम्बन्ध अनादि से है। जिस प्रकार खानि से निकाला गया सुवर्ण किट्टकालिमादि विकृतिसम्पन्न पाया जाता है, पश्चात् अग्नि तथा रासायनिक द्रव्यो के निमित्त से विकृति दूर होकर शुद्ध सुवर्ण की उपलब्धि होती है, उसी प्रकार अनादि से यह आत्मा कर्मो की विकृति

से मलीन हो भिन्न-भिन्न योनियो मे पर्यटन करता फिरता है। तपश्चर्या, आत्म-श्रद्धा, आत्म-बोध के द्वारा मलिनता का नाश होने पर यही आत्मा परमात्मा बन जाता है। जो जीव आत्म-साधना के मार्ग मे नही चलता, वह प्रगति-हीन जीव सदा दु.खो का भार उठाया करता है। आचार्य **नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती** ने कितना सुन्दर उदाहरण देकर इस विषय को समझाया है-

"जह भारवहो पुरिसो वहइ भर गेहिऊण कावलिय।
एमेव वहइ जीवो कम्मभर कायकावडिय"॥202॥

-गोम्मटसार-जीवकाण्ड

"जिस प्रकार एक बोझा ढोने वाला व्यक्ति कावड को लेकर बोझा ढोता है, उसी प्रकार यह ससारी जीव शरीर रूपी कावड द्वारा कर्मभार को ढोता है।"

यह कर्मबन्धन पर्याय की दृष्टि से अनादि नही है। तत्त्वार्थसूत्रकार ने **"अनादि सम्बन्धे च"** (2/41) सूत्र द्वारा यह बता दिया है कि कर्म सन्तति की अपेक्षा अनादि सम्बन्ध होते हुए भी पर्याय की दृष्टि से वह सादि सम्बन्ध वाला है। बीज और वृक्ष के सम्बन्ध पर दृष्टि डाले तो परम्परा की दृष्टि से उनका कार्य-कारण भाव अनादि होगा। जैसे अपने सामने लगे हुए नीम के वृक्ष का कारण हम उस बीज को कहेगे। यदि हमारी दृष्टि अपने नीम के झाड तक ही सीमित है तो हम उसे बीज से उत्पन्न कह सादिसम्बन्ध सूचित करेगे। किन्तु इस वृक्ष के उत्पादक बीज के जनक अन्य वृक्ष और उसके कारण अन्य बीज आदि की परम्परा पर दृष्टि डाले तो इस अपेक्षा से भ्रम हो गया है कि जो अनादि है, उसे अनन्त होना ही चाहिए। वस्तुस्थिति ऐसी नही है अनादि वस्तु अनन्त हो, न भी हो, यदि विरोधी कारण आ जावे तो अनादिकालीन सम्बन्ध की भी जड उखाडी जा सकती है। **तत्त्वार्थसार** मे लिखा है-

"दग्धे बीजे यथात्यन्त प्रादुर्भवति नाकुर·।
कर्मबीजे तथा दग्धे न रोहति भवाकुर·॥"

-श्लोक 7, पृ० 58

"जैसे बीज के जल जाने पर पुन. नवीन वृक्ष मे निमित्त बनने वाला अकुर नही उत्पन्न होता, उसी प्रकार कर्मबीज के भस्म होने पर भवाकुर उत्पन्न नही होता।"

आत्मा और कर्म का अनादि सम्बन्ध मानना तर्कसिद्ध है। यदि सादिसम्बन्ध माने तो अनेक आपत्तिया उपस्थित होगी। इस विषय मे निम्न प्रकार का विचार करना उचित होता है- आत्मा कर्मो के अधीन है, इसीलिए कोई दरिद्र और कोई श्रीमान् पाया जाता है। **पचाध्यायी** मे कहा है–

"एका दरिद्र एको हि श्रीमानिति च कर्मण "

–उत्त॰ श्लो॰ 50

पुराण मे एक कथा आई है कि एक व्यक्ति कुरूप तथा विकृत अग वाला था। उसके विषय मे ज्योतिषियो ने यह बताया था कि वह ऐसे समय मे उत्पन्न हुआ था जब क्रूर ग्रहो का सगठन था। वैद्यो ने शारीरिक दोषवश विकृति की उत्पत्ति बतलाई। किन्तु कर्मोदय के रहस्य ज्ञाता मुनीश्वर ने अपने दिव्य ज्ञान द्वारा यह कहा था कि उस जीव ने पूर्वभव मे क्रूरतापूर्ण तथा विनिन्दित कार्यो के द्वारा जो अशुभ कार्यो का सञ्चय किया, उसके ही फलस्वरूप शरीर की यह स्थिति पैदा हुई है। वास्तव मे जीव की सुख तथा दु·ख की स्थिति मे कर्मोदय का बहुत बडा स्थान है। कवि ने कहा है –

वैद्यावदन्ति कफ-पित्त-मरुद्विकाशन्।
ज्योतिर्विदो ग्रहगति परिवर्तयन्ति।
भूताभिभूतमिति भूतविदो वदन्ति
प्राचीन कर्मबलवन् मुनयो वदन्ति॥

ससारी आत्मा कर्मो के अधीन है, यह प्रत्यक्ष अनुभव मे आता है। फिर भी तर्क प्रेमियो को **विद्यानन्दि स्वामी** आप्तपरीक्षा मे इस प्रकार युक्ति द्वारा समझाते है–"ससारी जीव बधा हुआ है क्योकि यह परतत्र है। जैसे आलान-स्तम्भ मे प्राप्त हाथी परतत्र होने के कारण बधा हुआ

है। यह जीव परतत्र है क्योंकि इसने हीन स्थान को ग्रहण किया है। जैसे काम के वेग से पराधीन कोई श्रोत्रिय ब्राह्मण वेश्या के घर को स्वीकार करता है। जिस हीन स्थान को इस जीव ने ग्रहण किया है, वह शरीर है। उसे ग्रहण करने वाला ससारी जीव प्रसिद्ध है। यह शरीर हीन स्थान कैसे कहा गया? शरीर हीन स्थान है, क्योंकि वह आत्मा के लिए दु:ख का कारण है। जैसे किसी व्यक्ति को जेल दु·ख का कारण होने से वह जेल को हीन स्थान समझता है।"[15] **विद्यानन्दि स्वामी** का भाव यह है कि इस पीडाप्रद 'मलबीज मलयोनिम्' शरीर को धारण करने वाला जीव कर्मों के अधीन नही तो क्या है? कौन समर्थ ज्ञानवान् व्यक्ति इस सप्त धातुमय निन्द्य शरीर मे बन्दी बनना पसद करता है। यह तो कर्मो का आतक है कि जीव की यह अवस्था हो गई है, जिसे **दौलतरामजी** अपने पद मे इस मधुरता के साथ गाते है–

> **"अपनी सुध भूल आप, आप दुख उपायौ।**
> **ज्यौ शुक नभ चाल बिसरि, नलिनी लटकायौ॥**
> **चेतन अविरुद्ध शुद्ध दरश बोध मय विसुद्ध।**
> **तज, जड़ रस फरस रूप पुद्गल अपनायौ॥**
> **चाह-दाह दाहै, त्यागै न ताहि चाहै।**
> **समता-सुधा न गाहै, जिन निकट जो बतायौ॥"**

इस जीव की जड कर्मो की अधीनता की चर्चा करते हुए डॉ० जैकोबी ने लिखा है–

> The natural qualities of soul are perfect knowledge (Jnana), intuition or faith (Darshana), highest bliss and all sorts of perfections, but these inborn qualities of the soul are weakened or obscured, in mundane souls, by the presence of karma [*Studies in Jainism*, pp 24-25]

आत्मा के स्वाभाविक गुण, पूर्ण ज्ञान, पूर्ण दर्शन, श्रेष्ठ आनन्द तथा सर्वप्रकार की परिपूर्णता है, किन्तु आत्मा के स्वाभाविक गुण ससारी जीवो मे कर्मो की उपस्थिति के विषय के कारण कमजोर पड जाते है अथवा उनकी सामर्थ्य मन्द हो जाती है।

जब यह जीव कर्मो के अधीन सिद्ध हो चुका तब उसकी पराधीनता या तो अनादि होगी जैसा कि ऊपर बताया गया है अथवा उसे सादि मानना होगा। अनादि पक्ष को न मानने वाले देखे कि सादि मानना कितनी विकट समस्या उपस्थित कर देता है। कर्म-बन्धन को सादि मानने का स्पष्ट भाव यह है कि पहिले आत्मा कर्मबन्धन से पूर्णतया शून्य था, उसमे अनन्त ज्ञान, अनन्त आनन्द, अनन्त शक्ति आदि गुण पूर्णतया विकसित थे। वह निजानन्द रस मे लीन था। ऐसी आत्मा किस प्रकार और क्यो कर्म-बन्धन को स्वीकार कर अपनी दुर्गति के लिये स्वय अपनी चिता रचने का प्रयत्न करेगी? आत्मा मोही, अज्ञानी, अविवेकी और असमर्थ होता तो बात दूसरी थी। यहा तो शुद्धात्मा को अशुद्ध बनाने के लिए कौन सी विकारी शक्ति प्रेरणा कर सकती है? शुद्ध सुवर्ण पुन किट्टकालिमा को जैसे अगीकार नही करता, अथवा जैसे छिलका निकाला गया चावल पुन: धान रूप अशुद्ध स्थिति को प्राप्त नही करता, उसी प्रकार परिशुद्ध-आत्मा अत्यन्त घृणित शरीर को धारण करने का कदापि विचार नही करेगी। इस प्रकार शुद्ध आत्मा को अशुद्ध बनना जब असम्भव है, तब गत्यन्तराभावात् अनादि से उसे कर्म-बन्धन युक्त स्वीकार करना होगा, यह बधन की अवस्था हमारे अनुभवगोचर है।

कर्मो के विचित्र विपाक से यह आत्मा विविध प्रकार के वेश धारण कर विश्व के रगमच पर आ हास्य, शोक, श्रृगार आदि रसमय खेल दिखाता फिरता है पर जब कभी भूले-भटके यह जिनेन्द्र-मुद्रा को धारण कर शान्त-रस का अभिनय करने आता है तो आत्मा की अनन्तनिधि अर्पण करते हुए कर्म इसके पास से बिदा हो जाते है।

जिस कर्म ने आत्मा को पराधीन किया है वह साख्य की प्रकृति के समान अमूर्तिक नही है। कर्म का फल मूर्तिमान पदार्थ के सम्बन्ध से अनुभव मे आता है, इसलिए वह मूर्तिक है। यह स्वीकार करना तर्क-सगत है। जैसे चूहे के काटने से शरीर मे उत्पन्न हुआ शोथ आदि विकार देख उस विष को मूर्तिमान स्वीकार करते है, उसी तरह पुष्प, मणि, स्त्री आदि के निमित्त से सुख का तथा सर्प, सिह, विष आदि के

निमित्त से दुख रूप कर्म फल का अनुभव करता है। इसलिए यह कर्म अनुमान द्वारा मूर्तिमान सिद्ध होता है।

जब कर्म-पुञ्ज (Karmic molecules) स्पर्श, रस, गन्ध, वर्णयुक्त होने के कारण पौद्गलिक है और आत्मा उपर्युक्त गुणो से शून्य चैतन्य ज्योतिर्मय है, तब अमूर्ति आत्मा का मूर्तिमान कर्मो से कैसे बन्ध होता है? मूर्तिक-मूर्तिक का बन्ध तो उचित है, अमूर्तिक का मूर्तिमान से बन्ध होना मानना आश्चर्य प्रद है?

इस शका का समाधान करते हुए आचार्य **अकलकदेव** तत्त्वार्थराज वार्तिक (पृ० 81 अ० 2 सूत्र 7) मे लिखते है–"अनादिकालीन कर्म की बन्ध परम्परा के कारण पराधीन आत्मा के अमूर्तिकत्व के सम्बन्ध मे एकान्त नही है। बन्ध के पर्याय के प्रति एकत्व होने से आत्मा कथञ्चित् मूर्तिक है और अपने ज्ञानादि लक्षण का परित्याग न करने के कारण कथञ्चित् अमूर्तिक भी है । मद, मोह, तथा भ्रम को उत्पन्न करने वाली मदिरा को पीकर मनुष्य काष्ठ की भाति निश्चल-स्मृति शून्य हो जाता है तथा कर्मेन्द्रियो की मदिरा के द्वारा अभिभूत होने से जीव के ज्ञानादि लक्षण का प्रकाश नही होता। इसलिये आत्मा को मूर्तिमान निश्चय करना पडता है।"[16]

यदि ऐसा है तो कर्मोदय-मद्य के आवेश से वशीकृत आत्मा का अस्तित्व कैसे ज्ञात होगा? यह कोई दोष नही है। कारण, कर्मोदयादि के आवेश होने पर भी आत्मा के निज लक्षण की उपलब्धि होती है।

आचार्य **नेमिचन्द्र सिद्धान्त-चक्रवर्ती** का कथन है–

"वण्ण-रस-पच गधा दो फासा अट्ठ णिच्चया जीवे।
णो सति अमुत्ति तदो ववहारा मुत्ति बधादो"।।7।।

–द्रव्यसग्रह

जीव मे वर्ण 5, रस 5, गन्ध 2 और स्पर्श 8–ये 20 गुण तात्त्विक दृष्टि से नही पाये जाते इसलिए उसे अमूर्तिक कहते है। व्यवहार नय से (From practical stand-point) बन्ध की अपेक्षा उसे मूर्तिक कहा है।

प्रवचनसार मे स्वामी **कुन्दकुन्द** ने इस विषय मे एक बडी मार्मिक बात लिखी है –

"रूवादिएहि रहिदो पेच्छदि जाणादि रूवमादीणि।
दव्वाणि गुणे य जधा तह बधो तेण जाणीहि॥" –2 । 82

जैसे रूपादिरहित आत्मा रूपी द्रव्यो और उनके गुणो को जानता है, देखता है अर्थात् रूपी तथा अरूपी का ज्ञाता-ज्ञेय सम्बन्ध होता है, उसी प्रकार रूपादिरहित जीव भी रूपी कर्म पुद्‌गलो स बाधा जाता है। यदि यह न माना जाए तो अमूर्त आत्मा द्वारा मूर्त पदार्थो का जानना, देखना भी नही बनेगा।

जब जीव और कर्म का सम्बन्ध प्रत्यक्ष अनुभवगोचर है और सादि सम्बन्ध आगम, तर्क तथा अनुभव से बाधित है, तब अनादि सम्बन्ध स्वीकार करना न्याय-सगत होगा। वस्तु का स्वभाव तर्क के परे रहता है। जैसे, अग्नि की उष्णता तर्क का विषय नही है। अग्नि क्यो उष्ण है, इस शका के उत्तर मे यही कहना होगा–**'स्वभावोऽतर्कगोचर.'** जो इसे न माने उन्हे पञ्चाध्यायीकार स्पर्शन इन्द्रिय द्वारा अनुभव करने की सलाह देते हुए सुझाते है–**'नो चेत् स्पर्शेन स्पृश्यताम्'**।

जीव और कर्म का सम्बन्ध अनादि है और यदि आत्मा ने कर्म का उच्छेद करने के लिये साधना-पथ मे प्रवृत्ति न की तो किन्ही-किन्ही का वह कर्म बन्धन सान्त न हो अनन्त रहेगा। अनन्त-अनादि के विषय मे जिन्हे एक झलक लेनी हो वे महाकवि **बनारसीदास जी** के निम्नलिखित चित्रण को ध्यान से देखे और उसके प्रकाश मे अनादि सम्बन्ध को भी कल्पना द्वारा जानने का प्रयत्न करे –

"अनतता कहा ताको विचार–

अनतता को स्वरूप दृष्टान्त करि दिखाइयतु है, जैसे–वट वृक्ष को बीज एक हाथ विषै लीजै, ताको विचार दीर्घ दृष्टि सौ कीजै तो वा वट के बीज विषै एक वट को वृक्ष है, सो वृक्ष जैसी कछु भाविकाल होनहार है तैसो विस्तार लिये

विद्यमान वामै वास्तव रूप छतो है, अनेक शाखा प्रशाखा पत्र पुष्प फल सयुक्त है, फल फल विषै अनेक बीज होहि। या भाति की अवस्था एक वट के बीज विषै बिचारिये। और भी सूक्ष्म दृष्टि दीजै तो जे जे वा वट वृक्ष विषै बीज है ते ते अन्तर्गर्भित वट वृक्ष सयुक्त होहि। याही भाति एक वट विषै अनेक अनेक बीज, एक एक बीज विषै एक एक वट, ताको विचार कीजै तौ भाविनय प्रधान करि न वटवृक्षानि की मर्यादा पाइए न बीजनि की मर्यादा पाइए। याही भाति अनन्तता को स्वरूप जाननौ। ता अनतता के स्वरूप को केवल ज्ञानी पुरुष ही देखै जाणै कहै—अनन्त का और अत है ही नाही जो ज्ञान विषै भासै। तातै अनन्तता अनत ही रूप प्रतिभासै या भाति आगम अध्यात्म की अनतता जाननी।"

—बनारसीविलास पृ० 219

स्वामी **समन्तभद्र** आप्तमीमासा (श्लो० 99) मे इस प्रकार कर्म के विषय मे प्रकाश डालते है—

"कामादिप्रभवश्चित्र कर्मबन्धानुरूपत ।
तच्च कर्म स्वहेतुभ्यो जीवास्ते शुद्ध्यशुद्धित "।।

"कामादि की उत्पत्ति रूप जो विविधतामय भाव ससार है, वह अपने अपने कर्मबन्धन के अनुसार होता है। वह कर्म रागादि कारणो से उत्पन्न होता है। वे जीव शुद्धता और अशुद्धता से समन्वित होते है।"

इस विषय मे टीकाकार आचार्य **विद्यानन्दि** अष्टसहस्त्री मे लिखते है कि—"अज्ञान, मोह, अहकार रूप जो भाव ससार है, वह एक स्वभाव वाले ईश्वर की कृति नही है; क्योकि उसके कार्य सुख-दु.खादि मे विचित्रता पाई जाती है। जिस वस्तु के कार्य मे विचित्रता पाई जाती है वह एक स्वभाव वाले कारण से उत्पन्न नही होती। जैसे धान्याकुरादि अनेक विचित्र कार्य अनेक शालिबीजादि से उत्पन्न होते है, उसी प्रकार सुख-दु·खादि विचित्र कार्यमय यह ससार है। वह एक स्वभाव वाले ईश्वर की कृति नही हो सकता। कारण के एक होने पर कार्य मे विविधता नही पाई जाती। एक धान्य बीज से एक ही प्रकार के धान्य

अकुर की उत्पत्ति होगी। जब इस प्रकार नियम है तब काल, क्षेत्र, स्वभाव, अवस्था की अपेक्षा भिन्न शरीर, इन्द्रिय आदि रूप जगत् का कर्त्ता एक स्वभाव वाले ईश्वर को मानना महान् आश्चर्यप्रद है।"[17]

यहा एक स्वभाव वाले ईश्वर की कृति, यह विविधतामय जगत्, नही बन सकता, इतनी बात तो स्पष्ट हो जाती है। किन्तु, यह कर्म विविधतामय आन्तरिक जगत् का किस प्रकार कार्य करता है, यह बात विचारणीय है। कारण, कोई व्यक्ति अन्धा है, कोई लँगडा; कोई मूर्ख है, कोई बुद्धिमान्; कोई भिखारी है, कोई धनवान्; कोई दातार है, कोई कजूस; कोई उन्मत्त है, कोई प्रबुद्ध; कोई दुर्बल है तो कोई शक्तिशाली। इन विभिन्न विविधताओ का समन्वय कर्म-सिद्धान्त के द्वारा किस प्रकार होता है?

कुन्दकुन्द स्वामी[18] इस विषय का समाधान करते हुए लिखते है कि– जिस प्रकार पुरुष के द्वारा खाया गया भोजन जठराग्नि के निमित्त से मास, चरबी, रुधिर आदि रूप परिणमन को प्राप्त होता है, उसी प्रकार यह जीव अपने भावो के (psychic state) द्वारा जिस कर्मपुञ्ज को–कार्माण वर्गणाओ को ग्रहण करता है उनका, इसके तीव्र, मन्द, मध्यम कषाय के अनुसार विविध रूप परिणमन होता है।

इस कर्मबध मे भावो का महत्त्वपूर्ण स्थान है। प्रोफेसर चक्रवर्ती ने कहा है–"It is this psychic state that is sine qua non of Karmic bondage" - ये भाव कर्मबध के लिए महत्त्वपूर्ण कारण है। **पूज्यपाद स्वामी** भी इस सम्बन्ध मे भोजन का उदाहरण देते हुए समझाते है कि जिस प्रकार [19]जठराग्नि के अनुरूप आहार का विविध रूप परिणमन होता है, उसी प्रकार तीव्र, मन्द, मध्यम कषाय के अनुसार कर्मो के रस तथा स्थिति मे (duration) विशेषता आती है। इस उदाहरण के द्वारा प्राकृत विषय का भली-भांति स्पष्टीकरण होता है कि निमित्त विशेष से पदार्थ कितना विचित्र और विविध परिणमन दिखाता है। हम भोजन मे अनेक प्रकार के पदार्थों को ग्रहण करते है। वह वस्तु श्लेष्माशय को प्राप्त करती है, ऐसा कहा गया है। पश्चात् द्रव्य रूप धारण करती है,

अनन्तर पित्ताशय मे पहुँचकर अम्लरूप होती है। बाद मे वाताशय को प्राप्त कर वायु के द्वारा विभक्त हो खल भाग तथा रस भाग रूप परिणति होती है। खल भाग मल-मूत्रादि रूप हो जाता है और रस भाग रक्त, मास, चरबी, मज्जा, वीर्य रूप परिणत होता है। यह परिणमन प्रत्येक जीव मे भिन्न-भिन्न रूप मे पाया जाता है। स्थूल रूप से तो रक्त, मास, मज्जा आदि मे भिन्नता मालूम नही होती किन्तु सूक्ष्मतया विचार करने पर विदित होगा कि प्रत्येक के रक्त आदि मे व्यक्ति की जठराग्नि के अनुसार भिन्नता पाई जाती है। भोज्य वस्तु के समान कार्माणवर्गणा इस जीव के भावो की तरतमता के अनुसार विचित्र रूप धारण करती है। इस कर्म का एक विभाग ज्ञानावरण कहलाता है, जिसके उदय होने पर आत्मा की ज्ञान ज्योति ढँक जाती है और कभी न्यून, कभी अधिक हुआ करती है। इस कर्म की तरतमता के अनुसार कोई जीव अत्यन्त मूर्ख होता है तो कोई चमत्कारपूर्ण विद्या का अधिपति बनता है। कम-से-कम ज्ञान-शक्ति दबकर एकेन्द्रिय जीवो मे अक्षर के अनन्तवे भागपने को प्राप्त होती है और इस ज्ञानावरण-ज्ञान को ढाकने वाले कर्म के दूर होने पर आत्मा सर्वज्ञता की ज्योति से अलकृत होता है। जगत् मे बौद्धिक विभिन्नता का कारण यह ज्ञानावरण कर्म है। आत्मा की दर्शन-शक्ति पर आवरण करने वाला दर्शनावरण कर्म है। इस जीव को स्वाभाविक निर्मल आत्मीय आनन्द से वंचित कर अनुकूल अथवा प्रतिकूल पदार्थों मे इन्द्रियो के द्वारा सुख-दुःख का अनुभव कराने वाला वेदनीय कर्म है। मदिरा को पीने वाला व्यक्ति ज्ञानवान् होते हुए भी उन्मत्त बन उत्पथगामी होता है, इसी प्रकार मोहनीय कर्मरूप मद्य के ग्रहण करने के कारण अपनी आत्मा को भूल पुद्गल तत्त्व मे अपनी आत्मा का दर्शन कर अपने को समझने का प्रयत्न नही करता।[20] यह मोहकर्म कर्मों का राजा कहा जाता है। दृष्टि मे मोह का असर होने पर यह जीव विपरीत दृष्टि वाला बन शरीर को आत्म रूप और आत्मा को शरीर रूप मानकर दुःखी होता है।

इस मोह के फन्दे मे फसा हुआ तथा ममता की जजीर मे जकडा हुआ यह अभागा जीव अपने भविष्य का कुछ भी ध्यान न रख इन्द्रियो के आदेशानुसार प्रवृत्ति करता है। कभी-कभी यह **दौलतराम जी** के

शब्दो मे 'सुरतरु जार कनक बोवत है' और **बनारसी दास जी** की उद्बोधक वाणी मे यह–

> **"काया सौ विचारै प्रीति माया ही सौ हारि जीति,**
> **लिये हठ रीति जैसे हारिलकी लकरी।**
> **चगुल के जोर जैसे गोह गहि रहै भूमि,**
> **त्यो ही पाय गाड़े पै न छाड़ै टेक पकरी॥**
> **मोह की मरोर सो भरम को न छोर पावे,**
> **धावै चहुँ वौर ज्यो बढ़ावै जाल मकरी।**
> **ऐसी दुरबुद्धि भूलि झूठ के झरोखे झूलि,**
> **फूली फिरै ममता जजीरन सो जकरी"॥38॥**

–नाटक समयसार, सर्व विशुद्धिद्वार

घडी मे मर्यादित काल के लिए चाभी भरी रहती है। मर्यादा पूर्ण होने पर घडी की गति बन्द हो जाती है। इसी भाति आयु नाम के कर्म द्वारा इस जीव की मनुष्य, पशु-पक्षी आदि योनियो मे नियत काल पर्यन्त अवस्थिति होती है।[21] काल-मर्यादापूर्ण होने पर जीव क्षण-भर भी उस शरीर मे नही रहता। इस आयु-कर्म के कारण ही यह जीव जन्म-मरण का खेल खेला करता है। इस रहस्य को न जानकर लोग जीवन को ईश्वर की दया और मृत्यु को परमात्मा की इच्छा कह दिया करते है। किन्तु परमात्मा के साथ जगत् भर के प्राणियो के जीवन तथा मरण का अकारण सम्बन्ध जोडना उस सच्चिदानन्द को सकटो के सिन्धु मे समा देने जैसी बात होगी। यथार्थ मे यह आयु कर्म है जिसके अनुसार जीवन की घडी जब तक चाभी भरी रहती है चलती है। विष, वेदना, भय, शस्त्र-प्रहार, सक्लेश आदि के कारण घडी पहले भी बिगड सकती है। इसी का परिणाम अकाल-मरण कहलाता है। इसका तात्पर्य यह है कि पूर्व मे पूर्ण निर्धारित आयु को भोगे बिना कारण-विशेष से अल्पकाल मे प्राणो का विसर्जन कर देना अकाल-मरण है। अकाल-मरण द्वारा आयु मे कमी तो हो जाती है पर प्रयत्न करने पर भी पूर्व निश्चित आयु मे वृद्धि नही होती। इसका कारण घडी की चाभी से ही स्पष्ट ज्ञात किया जा सकता है। इस आयु के क्षय को कोई भी नही बचा सकता।

आत्म-दर्शन, आत्म-बोध और आत्म-निमग्नता इस रत्नत्रय मार्ग से ही आत्मा मृत्यु के चक्र से बच सकता है। अन्यथा प्रत्येक को इसके आगे मस्तक झुकाना पडता है। जीव की मृत्यु का कारण कोई यमराज है। उसके रोष से मरण होता है। उसे god of death कहते है, यह मान्यता आयु कर्म प्रकाश मे अस्तगत हो जाती है। आयु कर्म के क्षय वश मरण होता है। उसी को आयु के अतक यम आदि कहते है। यथार्थ मे मरण का कारण रूप यम देवता नही है। विश्व की सारी शक्ति और सम्पूर्ण शक्तिशालियो का सहयोग भी क्षण-भर के लिए निश्चित जीवन मे वृद्धि नही कर सकता। प्रबुद्ध कवि कितनी मार्मिक बात कहते है–

"सुर असुर खगाधिप जेते। मृग ज्यो हरि काल दलेते।
मणि मन्त्र तन्त्र बहु होई। मरते न बचावै कोई॥"

–दौलतराम–छहढाला

जिस प्रकार चित्रकार अपनी तूलिका और विविध रगो के योग से सुन्दर अथवा भीषण आदि चित्रो को बनाया करता है, उसी प्रकार नाम कर्म-रूपी चितेरा इस जीव को भले-बुरे, दुबले-पतले, मोटे-ताजे, लूले-लँगडे, कुबडे, सुन्दर अथवा सडे-गले शरीर मे स्थान दिया करता है। इस जीव की अगणित आकृतियो और विविध प्रकार के शरीरो का निर्माण नाम कर्म की कृति है। विश्व की विचित्रता मे नाम-कर्मरूपी चितेरे की कला अभिव्यक्त होती है। शुभ नाम-कर्म के प्रभाव से मनोज्ञ और सातिशय अनुपम शरीर का लाभ होता है। अशुभ नाम-कर्म के कारण निन्दनीय असुहावनी शारीरिक सामग्री उपलब्ध होती है। जो लोग जगत् का निर्माता किसी विधाता या स्रष्टा को बताते है, यथार्थ मे वह इस नाम-कर्म के सिवाय और कोई दूसरी वस्तु नही है। आचार्य **भगवज्जिनसेन** ने 'इस नाम कर्म को ही वास्तविक ब्रह्मा, स्रष्टा अथवा विधाता कहा है।'[22] एकेन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय पर्यन्त चौरासी लाख योनियो मे जो जीवो की अनन्त आकृतिया है उसका निर्माता यह नाम-कर्म है। इस नाम-कर्म के द्वारा बनाए गए छोटे से छोटे और बडे से बडे शरीर मे यह जीव अपने प्रदेशो को सकुचित अथवा विस्तृत कर रह जाता है। शरीर के बाहर आत्मा नही रहता। और न शरीर के एक

अश मात्र मे ही जीव रहता। यह दार्शनिक मान्यता मात्र नही है। यह प्रत्येक व्यक्ति के अनुभव द्वारा प्रमाणित परम सत्य है कि आत्मा शरीर प्रमाण है। आचार्य **नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती** ने लिखा है–

"अणुगुरु-वेहपमाणो उवसहारप्पसप्पदो चेवा।
असमुहदो ववहारा णिच्चयणयदो असखवेसो वा"॥10॥

–द्रव्यसग्रह

"जीव व्यवहार से अपने प्रदेशो के सकोच अथवा विस्तार के कारण छोटे, बडे शरीर, समुद्घात अवस्था को छोडकर, होता है। निश्चय नय से यह जीव असख्यातप्रदेशी है।"

स्वामी शकराचार्य इस जैन दृष्टि के महत्त्व को हृदयगम न करते हुए कहते है कि–शरीर प्रमाण आत्मा को मानने पर शरीर के समान आत्मा अविनाशी नही होगी और उसे विनाशशील मानने पर परम-मुक्ति नही मिलेगी। शकराचार्य सदृश विचारको की धारणा है कि मध्यपरिमाण-वाली वस्तु अनित्य ही होती है। नित्य होने के लिए उसे या तो आकाश के समान व्यापक होना चाहिए अथवा अणु के समान एक प्रदेशी होना चाहिए। यह कथन कल्पनामात्र है। क्योंकि यह तर्क की कसौटी पर नही टिकता। अणु परिमाण और महत् परिमाण का नित्यता के साथ अविनाभाव सम्बन्ध नही है और न मध्यम परिमाण का अनित्यता के साथ कोई सबध है। इसके सिवाय एकान्त नित्य अथवा अनित्य वस्तु का सद्भाव भी नही पाया जाता। वस्तु द्रव्य दृष्टि से नित्य और पर्याय दृष्टि से अनित्य है। यह बात हम पिछले अभ्यास मे स्याद्वाद का विवेचन करते हुए स्पष्ट कर चुके है।

आचार्य **अनन्तवीर्य** ने प्रमेयरत्नमाला मे आत्मा को शरीर प्रमाण सिद्ध किया है। क्योंकि, आत्मा के ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य लक्षण गुणो की सर्वाग मे उपलब्धि होती है।[23]

सर राधाकृष्णन् ने शकराचार्य की पूर्वोक्त दृष्टि का उल्लेख करते हुए कहा है कि–"इन आक्षेपो को जैन लोग उदाहरण देकर समाधान करते है। जैसे–घडे के भीतर रखा गया दीपक घटाकाश को

प्रकाशित करता है और बड़े कमरे मे रखे जाने पर वही दीपक पूरे कमरे को भी प्रकाशित करता है। इसी भाँति, भिन्न-भिन्न शरीरो के विस्तार के अनुसार जीव सकोच और विस्तार किया करता है।"[24] यह विषय तत्त्वार्थसूत्र के निम्नलिखित सूत्र से सरलतापूर्वक स्पष्ट हो जाता है–**"प्रदेशसहार-विसर्पाभ्या प्रदीपवत्"** (5/16)

जिस प्रकार कुम्भकार मृत्तिका आदि को छोटे-बडे घट आदि के रूप मे परिणत कर दिया करता है उसी प्रकार छोटे-बडे भेदो से विमुक्त इस जीव को गोत्र-कर्म कभी तो उच्च कुल मे जन्म धारण कराता है, कभी हीन-सस्कार, दूषित आचार-विचार एव हीन परम्परा वाले कुलो मे उत्पन्न कराता है। सदाचार के आधार पर उच्चता और कुलीनता अथवा अकुलीनता और नीचता के व्यवहार का कारण उच्च-नीच गोत्र-कर्म का उदय है। आज वर्णव्यवस्था सम्बन्ध उच्चता-नीचता पौराणिको की मान्यता मानी जाती है, किन्तु जैन-शासन मे उसे गोत्र कर्म का कार्य बताया है। पवित्र कार्यो के करने से तथा निरभिमान वृत्ति के द्वारा यह जीव उच्च सस्कार सम्पन्न वश-परम्परा को प्राप्त करता है। शिक्षा, वस्त्र, वेश-भूषा आदि के आधार पर सस्कार तथा चरित्र-हीन नीच व्यक्ति शरीर परिवर्तन हुए बिना उच्च गोत्र वाले नही बन सकते, क्योंकि उच्च गोत्र के उदय के लिए उच्च सस्कार-परम्परा मे उत्पन्न शरीर को नोकर्म माना है।[25] गोत्र कर्म द्वारा वश सम्बन्धी अच्छे या बुरे प्रभाव को आधुनिक प्राणी शास्त्र भी स्वीकार करता है।[26]

जीव बहुत कुछ सोचता है। बडे-बडे कार्य करने के मनसूबे भी बाधता है। अनुकूल साधन भी है। फिर भी वह अपनी मनोभावना को पूर्ण नही कर पाता। क्योंकि अन्तराय नाम का कर्म दान, लाभ आदि मे विघ्न उपस्थित कर देता है। दातार ने किसी व्यक्ति की दीन अवस्था देख दया से द्रवित हो अपने भण्डारी को दान देने का आदेश दिया; फिर भी, भण्डारी कोई-न-कोई विघ्न उपस्थित कर देता है, जिससे दाता के दान मे और याचक के लाभ मे विघ्न आ जाता है इस अतराय कर्म का कार्य सदा बने-बनाये खेल को बिगाड, रग मे भग कर देने का रहा करता है।[27] हर एक प्रकार के वैभव और विभूति के मध्य मे रहते हुए

भी यदि भोगान्तराय, उपभोगान्तराय का उदय हो जाए तो 'पानी मे भी मीन पियासी'–जैसी विचित्र स्थिति शारीरिक अवस्था आदि के कारण उत्पन्न हो सकती है।

इन आठ कर्मो मे ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय तथा अन्तराय को घातिया कर्म कहते है, क्योंकि ये आत्मा के गुणो को घात कर जीव को पगु बनाया करते है। वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र को अघातिया कहते है क्योंकि ये आत्मा के गुणो को क्षति नही पहुँचाते। हाँ, अपने स्वामी मोहनीय के नेतृत्व मे ये जीव को परतन्त्र बना सच्चिदानन्द की प्राप्ति मे बाधक अवश्य बनते है।

इन कर्मो मे ज्ञान, दर्शन आदि आत्मगुणो के घात करने की प्रकृति स्वभाव (nature) प्राप्त होने को **प्रकृतिबन्ध** कहते है। कर्मो के फलदान की काल-मर्यादा (duration) को **स्थितिबन्ध** कहा है। कार्माण वर्गणाओ के पुज मे ज्ञानावरण आदि रूप विविध कर्म-शक्ति के परमाणुओ का पृथक्-पृथक् विभाजन (quantity of space points) **प्रदेशबन्ध** है और, गृहीत कर्म-पुञ्ज मे फल-दान शक्ति-विपाक प्राप्ति को (fruition) **अनुभाग-बन्ध** कहने है। इन कर्मो के अनन्त भेद है। स्थूल रूप से 148 भेदो को जिन्हे कर्म-प्रकृति कहते है, वर्णन किया जाता है। इस रचना मे स्थान न होने से इनके विशेष भेदो का वर्णन करने मे हम असमर्थ है। विशेष जिज्ञासुओ को गोम्मटसार कर्मकाण्ड शास्त्र का अभ्यास करने का अनुरोध है।[28] आचार्य **नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती** ने कर्मो की बन्ध , ,उत्कर्षण, अपकर्षण, सक्रमण, उदय, उदीरणा, उपशम, सत्त्व, निधत्ति और निकाचना रूप दस अवस्थाए बताई है। मन, वचन, काय की चचलता से कर्मो का आकर्षण होता है। पश्चात् वे आत्मा के साथ बध जाते है। इसके अनन्तर अपनी अनुकूल सामग्री के उपस्थित होने पर वे कर्म अपना फलदान-रूप कार्य करते है, इसे उदय कहते है। कर्मो के सद्भाव को सत्त्व कहा है। आत्मनिर्मलता के द्वारा कर्मो को उपशान्त करना उपशम है। भावो के द्वारा कर्मो की स्थिति, रसदान शक्ति मे वृद्धि करना उत्कर्षण और उसमे हीनता करना अपकर्षण है। तपश्चर्या अथवा अन्य साधनो से अपनी मर्यादा के पहले

ही कर्मो को उदयावली मे लाकर उनका क्षय करना उदीरणा है। कर्मो की प्रकृतियो का एक उपभेद से अन्य उपभेद रूप परिवर्तित करने को सक्रमण कहते है। उदीरणा और सक्रमण रहित अवस्था को निधत्ति कहते है। जिसमे उदीरणा, सक्रमण के सिवाय उत्कर्षण और अपकर्षण भी न हो, ऐसी अवस्था को निकाचना कहते है।[29]

इससे यह बात विदित होती है कि जीव के भावो मे निर्मलता अथवा मलिनता की तरतमता के अनुसार कर्मो के बन्ध आदि मे हीनाधिकता हो जाती है। विलम्ब से उदय मे अपने वाले और अधिक काल तक रस देने वाले कर्मो को असयम मे भी उदय मे लाया जा सकता है। कभी-कभी योगबल के जाग्रत होने पर, कर्मो की राशि, जो सागरो-अपरिमित काल पर्यन्त अपना फल चखाती, वह 48 मिनिट-2 घडी के भीतर ही नष्ट की जा सकती है। अन्य सम्प्रदायो की कर्म के विषय मे यह धारणा है- **'नाभुक्त क्षीयते कर्म'**(बिना फल भोगे कर्म का क्षय नही होता)' पर जैन शासन मे सर्वत्र इस बात का समर्थन नही किया जा सकता। निकाचना और निधत्ति अवस्था को प्राप्त कर कर्म अवश्य अपने समय पर फल देगे। किन्तु अन्य कर्म असमय मे अल्प फल देकर अथवा बिना फल दिये भी निकल जाते है। यदि ऐसी प्रक्रिया न होती, तो अनन्तकाल से आत्मा पर लदे हुए कर्मो के ऋण से जीव की मुक्ति कैसे हो सकती थी? जीव मे अवर्णनीय शक्ति है। यदि वह रत्नत्रय खडग को सम्हाल ले, तो कर्म-शत्रु को दूर होते देर न लगे। कर्म अपना फल देकर आत्मा से पृथक् हो जाते है। क्रम-क्रम से कर्मो का पृथक होना 'निर्जरा' कहलाता है। समस्त कर्मो के पृथक् होने को 'मोक्ष' कहते है। आस्रव आदि के विषय मे **डॉ. जैकोबी** का यह कथन अत्यन्त गम्भीर तथा महत्त्वपूर्ण है[30] .- "आस्रव, सवर, निर्जरा आदि पारिभाषिक शब्द तब ही ठीक रूप से समझ मे आते है जब यह बात स्वीकार की जाती है कि कर्म एक प्रकार का सूक्ष्म अवस्था युक्त जड तत्त्व (Subtle Matter) है जो आत्मा मे बह रहा है अथवा आत्मा मे भर रहा है "(यह आस्रव है), यह प्रवाह रोका जा सकता है अथवा उसके आगमन के द्वार बन्द किए जा सकते है (यह सवर है) और कर्म रूप

जड़ तत्त्व, जो आत्मा मे स्वीकार किए गए थे, वे उपभुक्त हो जाते है अथवा वे परिपाक को प्राप्त हो जाते है (यह निर्जरा है)। इन शब्दो को जैन लोग अन्वर्थ (Literal) रूप मे जानते है तथा उन्हे मोक्ष का मार्ग बताने मे उपयोग मे लाते है आस्रवो का सवर तथा निर्जरा द्वारा मोक्ष प्राप्त होता है। यह शब्द उतने ही प्राचीन है जितना प्राचीन जैन धर्म है। इसका कारण यह है, कि बौद्धो ने उन शब्दो मे से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण शब्द (most-significant term) शब्द लिया है (borrowed)। बौद्ध इस शब्द को ठीक जैनियो के द्वारा प्रयुक्त अर्थ मे ही उपयोग मे लाते हैं; किन्तु वे जैनो के समान अन्वर्थ रूप मे उसका प्रयोग नही करते। इसका कारण यह है कि बौद्ध कर्म को 'सूक्ष्म मैटर' (subtle matter) नही मानते है तथा वे आत्मा का अस्तित्व भी अस्वीकार करते है, जिसमे कर्म प्रविष्ट होते है। वे सवर के स्थान मे 'आसवक्खय' (आस्रवक्षय) अर्थात् आस्रव का क्षय कहते है। वे आस्रवक्षय को 'मग्ग' (मार्ग) रूप मे मानते है। यह स्पष्ट है कि उनके यहाँ आस्रव का शाब्दिक अर्थ छोड दिया गया है और इसलिए उन्होने यह शब्द उस सम्प्रदाय से स्वीकार किया है जहा उसका मौलिक रूप सुरक्षित पाया जाता है, ऐसा सम्प्रदाय ही जैन सम्प्रदाय कहलाता है। बौद्धो के यहा भी सवर शब्द का प्रयोग किया जाता है। उदाहरणार्थ-'शील सवर'–शील के कारण सवर अर्थात् सयमन किया जाना है। कृदत रूप प्राप्त शब्द सवृत है। इसका अर्थ नियत्रण करना है। ब्राह्मणधर्म के विद्वानो ने इस अर्थ मे उक्त शब्दो का प्रयोग नही किया है। इससे यह अधिक सम्भव है, इन शब्दो को जैनधर्म से लिया गया है, जहाँ उसका अन्वर्थरूप मे प्रयोग किया है। इन शब्दो का जो व्युत्पत्ति द्वारा अर्थ सिद्ध होता है वही अर्थ जैनो ने स्वीकार किया है। इसी युक्ति के आधार पर यह बात भी सिद्ध होती है कि जैनियो का कर्म सिद्धान्त मौलिक (Original) है और उनके सिद्धान्त का अविभाज्य अग है तथा इससे यह भी सिद्ध होता है कि जैनधर्म बौद्ध धर्म की उत्पत्ति से अधिक प्राचीन है।[31] आत्मा से कर्मों के सम्बन्धविच्छेद होने को ही कर्मो का नाश कहते है। यथार्थ मे पुद्गल का क्या, किसी भी द्रव्य का सर्वनाश नही होता। पुद्गल की कर्मत्व पर्याय के क्षय को कर्म-क्षय कहते है।

स्वामी **समन्तभद्र** ने लिखा है[31] कि असत् का जन्म और सत् का विनाश नही होता। दीपक के बुझने पर दीपक का नाश नही होता, जो पुद्गल का पर्याय प्रकाश रूप थी, वही अन्धकार रूप हो जाती है। इसी प्रकार पुद्गल मे कर्मत्व शक्ति का न रहना 'कर्म-क्षय' कहा जाता है। क्योंकि सत् का अत्यन्त विनाश असम्भव है।

प्रत्येक व्यक्ति अपने भावो के अनुसार कर्म का बन्ध करता है। कभी-कभी भावो को प्रेरणा अथवा उत्तेजना देने वाली परिस्थिति विशेष को प्राप्त कर बहुसख्यक समाज समान जातीय भावो की उखूति होने के कारण प्राय: एक प्रकार का बन्ध करते है और उस बधे हुए कर्म के उदय अथवा परिपाक काल मे सामन रूप से सुख-दु ख पाते है। इस सामुदायिक बन्ध पद्धति को ध्यान मे रखने पर इन प्रश्नो का समाधान प्राप्त होता है कि किस कारण एक जगह भूकम्प आदि आने से लाखो व्यक्ति विपत्ति के ग्रास बन बैठे अथवा सामूहिक रूप से सुख और आनन्द का अनुभव करने लगे। एक साथ समान परिणामो के द्वारा समान कर्म बन्ध होने से फलोपभोग मे समानता पाई जाती है। ऐसा नही है कि एक व्यक्ति के द्वारा बाधे हुए कर्मो का फल अन्य व्यक्ति अनुभव करते है। जो बीज खेत मे बोया जाता है, वह विकास काल मे वृक्ष रूपता को प्राप्त होता है। प्रत्येक वृक्ष का बीज जैसे भिन्न-भिन्न है, वैसे ही प्रत्येक की सुख तथा दु:ख रूप अवस्था का कारण उसके द्वारा पूर्व मे किए गए बीज रूप शुभ-अशुभ परिणाम है।

आचार्य **कुन्दकुन्द** ने प्रवचनसार मे लिखा है–

उवओगो जदि हि सुहो पुण्ण जीवस्स सचय जादि।
असुहो वा तध पाव तेसिमभावे ण चयमत्थि।। अ० 2, गाथा 64।।

यदि जीव के शुभ परिणाम है तो वह शुभ परिणाम अथवा शुभोपयोग के फलस्वरूप पुण्य का सञ्चय करता है। अशुभ परिणाम होने पर पाप कर्म का बध होता है। शुभ और अशुभ विकल्प से विमुक्त शब्द परिणाम के द्वारा कर्मो का सञ्चय नही करता। शुभ परिणाम अथवा शुभोपयोग के विषय मे इस प्रकार स्पष्टीकरण किया गया है :–

जो जाणादि जिणिंदे पेच्छदि सिद्धे तहेव अणगारे।
जीवेसु साणुकम्पो उवओगो सो सुहो तस्स॥2-65॥

जो जीव जिनेन्द्र भगवान् के स्वरूप को जानता है, कर्मोपाधि रहित सिद्धो को ज्ञान-दृष्टि से देखता है तथा उसी प्रकार आचार्य, उपाध्याय तथा साधुओ को भी जानता है, देखता है और समस्त प्राणियो पर करुणा-भाव धारण करता है, उस जीव के शुभ उपयोग जानने चाहिए। अशुभोपयोग का स्वरूप इस प्रकार का है–

विसयकसाओगाढो दुस्सुदिदुच्चित्तदुट्ठगोट्ठिजुदो।
उग्गो उम्मग्गपरो उवओगो जस्स सो असुहो॥ 2-66॥

जिस जीव का परिणाम इन्द्रिय विषय तथा क्रोधादि कषाय से अत्यन्त मलिन हो, कुशास्त्रो का श्रवण, दुष्ट मनोवृत्ति तथा दुष्ट पुरुषो की गोष्ठी आदि मे लगा हो, जो हिसादि उग्र कार्य करने मे उद्यमी हो तथा उन मार्ग मे प्रवृत्तिरूप हो, वह अशुभोपयोग कहा गया है।

आध्यात्मिक विकास की प्राथमिक अवस्था मे हिसा, असत्य आदि मलिन प्रवृत्तिया का परित्याग तथा करुणा-शील आदि सत्प्रवृत्तियो का परिपालन करना आवश्यक बताया है। परिपुष्ट आत्मा शुभ और अशुभ के द्वन्द्व से विमुक्त हो शुद्धोपयोग के माध्यम से मोक्ष को प्राप्त करती है।

योग-दर्शन मे भी त्रिविध कर्मो की चर्चा आई है। पाप कर्म को कृष्ण, पुण्य कर्म को शुक्ल तथा इन से अतीत को अशुक्ल-कृष्ण कहा है अर्थात् वे परिणाम शुक्ल तथा कृष्ण की परिधि के बाहर है। पातञ्जल योगदर्शन मे लिखा है–

कर्माशुक्लाकृष्ण योगिनस्त्रिविधमितरेषाम्॥ कैवल्यपाद 4, सू॰ 7॥

योगी के कर्म अशुक्ल और अकृष्ण होते है। दूसरो के (1) शुक्ल (शुभ)–(2) कृष्ण (अशुभ) तथा (3) शुक्ल-कृष्ण (पुण्य-पाप) रूप परिणाम होते है।

कर्मों के बन्ध के कारणो का उल्लेख करते हुए तत्त्वार्थसूत्रकार कहते है–

"मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः"। 8–1।

सत्य स्वरूप अनेकान्त दृष्टि का परित्याग कर एकान्त दृष्टि मे सलग्न होना मिथ्यादर्शन है। अध्यात्म-शास्त्र मे, शरीर आदि मे आत्मा की भ्रान्ति को मिथ्यादर्शन कहा है। मिथ्यादर्शन सहित आत्मा बहिरात्मा कहलाता है। **समाधिशतक** मे कितना सुन्दर लिखा है–

"बहिरात्मा शरीरादौ जातात्मभ्रान्तिरान्तर.।
चित्तदोषात्मविभ्रान्ति परमात्मातिनिर्मलः॥"

शरीरादिक मे आत्मा की भ्रान्ति धारण करने वाला बहिरात्मा है। मन, दोष और आत्मा के विषय मे भ्रान्तिरहित अन्तरात्मा है। कर्ममलरहित परमात्मा है।

आत्म-विकास के परिज्ञान निमित्त मापदण्ड के रूप मे तीर्थंकरो ने जीव की चौदह अवस्थाएँ, जिन्हे गुणस्थान कहते है, बतलाई है। बहिरात्मा विकासविहीन है, इसलिए उसकी प्रथम अवस्था मानकर उसे **मिथ्यात्वगुणस्थान** बताया है। तत्त्वज्ञान की जागृति होने पर जब वह अन्तरात्मा बनता है तब उसे चतुर्थ आत्मविकास की अवस्थावाला–अविरत सम्यग्दृष्टि कहते है। उस अवस्था मे वह आत्म-शक्ति के वैभव और कर्मजाल की हानिपूर्ण स्थिति को पूर्ण रीति से समझ तो जाता है, किन्तु उसमे इतना आत्मबल नही है कि वह अपने विश्वास के अनुसार साधना पथ मे प्रवृत्ति कर सके। वह इन्द्रिय और मन पर अकुश नही लगा पाता; इसलिए उसकी मनोवृत्ति असयत-अविरत होती है।

धीरे-धीरे बल-सम्पादन कर वह सकल्पी हिसा का परित्याग कर कम से कम हिसा करते हुए सयम का यथाशक्ति अभ्यास प्रारम्भ कर एकदेश-आंशिक सयमी तथा व्रती श्रावक नामक पचम गुणस्थानवर्ती बनता है और जब वह हिसादि पापो का पूर्ण परित्याग करता है तब उस महापुरुष को आत्म-विकास की छठवी कक्षा वाला दिगम्बर-मुनि का

पद प्राप्त होता है। वह साधक जब कषायो को मन्द कर अप्रमत्त होता है तब प्रमाद रहित होने के कारण अप्रमत्त नामक सातवी अवस्था प्राप्त होती है। इसी प्रकार क्रोधादि शत्रुओ का क्षय करते हुए वह आठवी, नवमी, दसवी, बारहवी अवस्था को (उपशम करने वाला ग्यारहवी श्रेणी को) प्राप्त करते हुए तेरहवे गुणस्थान मे पहुँच केवली, सर्वज्ञ, परमात्मा आदि शब्दो से सकीर्तित किया जाता है।

केवलज्ञान सम्पन्न भगवान जिनेन्द्र को अन्वर्थता की दृष्टि से ईश्वर, शिव, त्रिपुरान्तक, महादेव, परमेश्वर, त्रिलोचन, शकर, रूद्र, विष्णु, वासुदेव, अनन्त, पुरुषोत्तम, ब्रह्मा, पितामह, रत्नगर्भ, बुद्ध, बोधिसत्व, सुगत, वैश्वानर आदि नामो द्वारा सकीर्तित किया गया है। अनन्तसुख आदि ऐश्वर्य प्राप्त करने से जिनेन्द्र ईश्वर है। शिवरूप निर्वाण को प्राप्त होने से शिव है। जन्म, मृत्यु, जरारूप, पुरत्रय को ध्यानाग्नि द्वारा विनष्ट करने से त्रिपुरान्तक है। मोहादिक महान् दोषो का क्षय करने से महादेव है। महत्त्व तथा ऐश्वर्य-सम्पन्न होने से महेश्वर है। कर्म विमुक्त होने से परमेश्वर है। केवलज्ञान रूप नेत्र प्राप्त होने से वे त्रिलोचन कहे जाते है। प्राणियो को शम अर्थात् सुख देने वाले धर्म का उपदेश देने से शकर है। आप्तस्वरूपम् ग्रन्थ मे लिखा है-

रौद्राणि कर्मजालानि शुक्लध्याग्रवन्हिनः।
दग्धानि येन रूद्रेण त-तु रूद्र नमाम्यहम्।। 30।।

दु:खदायक रौद्र कर्म जाल का जिन रूद्र ने शुक्लध्यान रूपी उग्र अग्नि के द्वारा विनाश किया है, मै उन रूद्र को प्रणाम करता हूँ।

अपने ज्ञान के द्वारा वे त्रिलोक मे व्याप्त है, इसलिए उन्हे विष्णु कहते है .-

वासवाद्यै. सुरैः सर्वै·योर्चितेमेरूमस्तके।
प्राप्तवान् पञ्चकल्याण वासुदेवस्ततो हि सः।।32।।

इन्द्रादिक सुर समाज द्वारा जो मेरू के शिखर पर पूजे गए तथा जिन्होने पञ्चकल्याणक प्राप्त किया इसलिए वासववर्ग (सुरेन्द्र समाज)

के द्वारा पूज्य होने से वे वासुदेव हैं। अनन्त ज्ञानादि युक्त होने से उन्हे अनन्त कहते है। उन्होने उत्तम गुणो के द्वारा श्रेष्ठ पद को प्राप्त किया इसलिए वे पुरुषोत्तम हैं। प्राणियो को कल्याणकारी उपदेश देने के कारण वे काम विकार विजेता ब्रह्मा है। सम्पूर्ण जीवो को अभयदान दाता होने से पितामह है। उनके गर्भ तथा जन्म कल्याणक मे पन्द्रह माह पर्यन्त इन्द्र के द्वारा भक्तिवश रत्नो की वर्षा की गई थी, उससे वे रत्नगर्भ है। मोक्ष मार्ग को स्वय जानने के कारण बुद्ध हैं।

सर्वार्थभाषया सम्यक् सर्वक्लेश प्रघातिनाम्।
सत्वाना बोधको यस्तु बोधिसत्वस्ततो हि सः॥ 40॥

उन्होने अपनी सर्वार्थभाषारूप दिव्यध्वनि के द्वारा सम्यक् प्रकार से सम्पूर्ण क्लेशो का क्षय करने वाले भव्य जीवो को बोध प्रदान किया, इसलिए वे बोधिसत्व है।

परमनिर्वाण को प्राप्त करने के कारण वे सुगत है। उन प्रभु को अग्नि कहकर भी स्मरण करते है। जिस अग्नि से हमारा परिचय है, उस अग्नि मे देवपना कौन युक्तिवादी स्वीकार करेगा? आप्तस्वरूप मे लिखा है .—

जन्ममृत्युजरारोगाः प्रदग्धा ध्यानवन्हिना।
यस्यात्मज्योतिषा सोऽस्तु वैश्वानरः स्फुटम्॥ 43॥

जिन आत्मज्योति के पुञ्ज प्रभु के द्वारा ध्यानरूपी अग्नि से जन्म, मृत्यु, जरा तथा रोग भस्म किए गए वे वैश्वानर अर्थात् अग्नि कहे गए है। इस प्रकार अन्वर्थता की दृष्टि से तीर्थकर जिनेन्द्र के हजारो नाम स्वीकार किए गए है। जैन परम्परा मे उन्हे 'अरिहन्त' कहा जाता है क्योंकि उन्होने मोहनीय आदि महान शत्रुओ का नाश किया है।

आत्म-विकास की छठवी से बारहवी कक्षा तक के व्यक्ति को साधु कहते है। उनमे जो दिगम्बर साधु तत्त्व-ज्ञान की शिक्षा देते है, उन्हे **उपाध्याय** कहते है। जिनके समीप तपस्वी लोग आत्मसाधना के विषय मे शिक्षा-दीक्षा प्राप्त करते है, और जिनका अनुशासन प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार करते है, उन सत्पुरुष को **आचार्य** कहते है। आचार्य का पद

बडा उच्च और पवित्र है। अध्यात्म के विश्व-विद्यालय मे जितेन्द्रियता की प्रथम श्रेणी मे परीक्षा उत्तीर्ण कर स्वरूपोपलब्धि के प्रमाणपत्र को पाने वाले पुण्यशाली पुरुषोत्तम मुनिराज को आचार्य का पद मिलता है। ऐसे ही आचार्य धर्मतत्त्व का प्रतिपादन करने के लिए उपयुक्त माने गए हैं।

कैवल्य की उपलब्धि के अनन्तर आत्मा के प्रदेशो की स्पन्दन-रहित अवस्था को आत्म-विकास की चौदहवी अयोगकेवली नाम की प्रतिष्ठा प्राप्त होती है। वहा शेष कर्मो का क्षयकर आत्मा की परिशुद्ध अवस्था मिलती है। उन्हे सिद्ध परमात्मा कहते है। वे ससार-परिभ्रमण के प्रपच से सदा के लिए मुक्त हो जाते है।

वे सिद्ध परमात्मा **महाकवि बनारसीदासजी** के शब्दो मे इस प्रकार वर्णित किए गए है–

"अविनाशी अविकार परमरसधाम है।
समाधान सरवज्ञ सहज अभिराम है॥
शुद्ध बुद्ध अविरुद्ध अनादि अनन्त है।
जगत शिरोमनि सिद्ध सदा जयवत है॥"

–नाटक समयसार 4

\- - - - -

"ध्यान अगनि कर कर्म-कलक सबै दहे।
नित्य निरजन देव 'स्वरूपी' ह्वै रहे॥
ज्ञायक ज्ञेयाकार ममत्व निवारि के।
सो परमातम 'सिद्ध' नमूँ सिर नायके॥"

–सिद्ध पूजा से

अरिहन्त भगवान् विश्व-कल्याण निमित्त अपनी अनेकान्तमयी वाणी के द्वारा उपदेश देते हुए मनुष्य, पशु-पक्षी, देव आदि सभी प्राणियो को परितृप्त करते है। ससार-समुद्र मे डूबते हुए जीवो को सन्तरण का मार्ग बताने के कारण उन्हे तीर्थंकर कहा करते है। ऐसे ही महा महिमाशाली लोकोत्तर आत्मा को लोक-भाषा मे अवतार पुरुष कहते है। जैनधर्म मे भगवद्गीता के अवतारवाद का कोई सामञ्जस्य नही है।

गीताकार बताते है कि, जब-जब धर्म की हानि होती है और अधर्म की अभिवृद्धि होती है उस समय परमात्मा आकर उत्पन्न होते हैं। धर्म सस्थापन और पाप के विनाशार्थ कृष्ण कहते हैं कि—मै प्रत्येक युग मे पुनः-पुनः उत्पन्न होता हूँ।[32] जैनशासन परमात्मा के सासारिक जीवन धारण करने की बात को असम्भव जानता है। राग, द्वेष, मोह आदि विकारो से अतीत वह परमात्मा क्यो नीचे आकर नीची अवस्था मे पहुँच मोहजाल को रचता फिरेगा? आचार्य **रविषेण** ने लिखा है "जब जग मे अनर्थ और पाप का प्रवाह प्रचुर परिमाण मे बहने लगता है तब मानव समाज मे ही कोई विशिष्ट व्यक्ति अपनी आत्मा को विकसित कर तीर्थंकर परमात्मा बनता है और विश्वहितप्रद उपदेश दे प्राणियो का उद्धार करता है।"[33] अवतारवाद मे परमात्मा को साधारण मानव के धरातल पर उतारा जाता है, जब कि जैन दृष्टि मे साधारण मनुष्य को विकसित कर प्रबुद्ध महामानव (manhood to godhood) पद पर प्रतिष्ठित करा उस पुण्य-मूर्ति के द्वारा सार्वधर्म की देशना बताई गई है।

इस प्रसग मे यह भी बता देना उचित जचता है कि साधु, उपाध्याय, आचार्य, अरिहन्त और सिद्ध इन पच परमेष्ठी नाम से पूज्य माने जाने वाले आत्माओ मे रत्नत्रयधर्म के विकास की हीनाधिकता की अपेक्षा भिन्नता स्वीकार की जाती है। वीतरागता का विकास जिन-जिन आत्माओ मे जितना-जितना होता जाता है, उतनी-उतनी आत्मा मे पूज्यता की वृद्धि होती जाती है। परिग्रह का त्याग किये बिना पूज्यता का प्रादुर्भाव नही होता। इस वीतराग दृष्टि के कारण ही जिनेन्द्र भगवान् की शान्त ध्यानमग्न मूर्तियो मे अस्त्र-शस्त्र, आभूषण आदि का अभाव पाते हैं। इस सम्बन्ध मे कविवर **भूधरदासजी** कहते है—

"जो कुदेव छवि-हीन वसन भूषण अभिलाषै।
बैरी सो भयभीत होय सो आयुध राखै॥
तुम सुन्दर सर्वांग, शत्रु समरथ नहि कोई।
भूषण, वसन, गदादि-ग्रहण काहे को होई"॥19॥

—*एकीभावस्तोत्र*

इस प्रकार वस्त्राभूषण आदिरहित सर्वांग सुन्दर जिनेन्द्र मूर्तियो मे कोई अन्तर मालूम नही होता और, यथार्थ मे देखा जाए तो कर्मों का नाशकर, जो आत्मत्व का निर्माण होता है उसमे व्यक्तिगत नामधाम आदि उपाधिया दूर हो जाती है। उनकी आराधना मे केवल उनके असाधारण गुणो पर ही दृष्टि जाती है। देखिए, एक मगल पद्य मे जैनाचार्य क्या कहते है–

"मोक्षमार्गस्य नेतार भेत्तार कर्मभूभृताम्।
ज्ञातार विश्वतत्त्वाना वन्दे तद्गुणलब्धये॥"

यहा किसी व्यक्ति विशेष का नामोल्लेखकर प्रणामाञ्जलि अर्पित नही की गई है। किन्तु, यह स्पष्ट उल्लेख किया है कि जो भी आत्मा मुक्ति मार्ग का नेता है, कर्म-पर्वत का विनाश करने वाला है और सम्पूर्ण विश्व-तत्त्वो का ज्ञाता है, उसे मै प्रणाम करता हूँ। पूजन का यथार्थ ध्येय कोई लौकिक आकाक्षा की तृप्ति नही है। साधक परमात्मपद से कोई छोटी वस्तु को स्वीकार करने के लिये तैयार नही है; अतएव वह स्पष्ट भाषा मे–**'वन्दे तद्गुणलब्धये'**–उन गुणो की प्राप्ति के लिये मै प्रणाम करता हूँ–कहकर अपनी गुणोपासना की दृष्टि को प्रकट करता है।

अरिहन्त, सिद्ध आदि की वन्दना मे भी यह गुणोपासना का भाव विद्यमान है।

"णमो अरिहताण णमो सिद्धाण।"

आदि मत्र पढ़ते समय जैन दृष्टि स्पष्टतया प्रकट होती है। कारण इसमे किसी व्यक्ति का उल्लेख न कर वीतराग-विज्ञानता से अलकृत जो भी आत्मा हो, उन्हे प्रणाम किया है। अरहत भगवान ने चार घातिया कर्मों का नाश किया है और सिद्ध भगवान ने आठ कर्मों का क्षय किया है अतः सिद्ध पद उच्च होते हुए भी अरहत को प्रथम प्रणाम किया है क्योंकि उनके द्वारा दिए गए दिव्य उपदेश से जीवो का हित होता है, अतः कृतज्ञता के प्रकाशनार्थ पहले अरहत देव को नमस्कार किया गया है।

महाकवि **धनञ्जय** ने लिखा है–भगवन्, जो आपकी स्तुति करते हुए आप अमुक के पिता अथवा अमुक के पुत्र हो यह कहकर आपकी महत्ता को बताते है और आपके कुल को कीर्तिमान कहते है, वास्तव मे वे आपकी महत्ता को नही जानते। नाटक समयसार जीवद्वार मे कहा गया है–

"जिन पद नाहिं शरीर कौ, जिन पद चेतन माहि"॥27॥

कर्मबन्धन मे मुख्यता आत्मा की कषाय परिणति ही रहा करती है। मलिन परिणामो से जीव पाप-कर्म का सञ्चय अधिक करता है और विशुद्ध परिणामो से वह पुण्य कर्म का अर्जन करता है। किन्ही लोगो ने बन्ध का कारण अज्ञान बताया और मुक्ति का कारण ज्ञान को माना है किन्तु, यह कथन आपत्तिपूर्ण है। मोह-रहित अल्प ज्ञान भी कर्मबन्ध का छेदन करने मे समर्थ हो जाता है। परमात्मप्रकाश मे **योगीन्द्रदेव** लिखते है–

"वीरा वेरग्गपरा थोव पि हु सिक्खिऊण सिज्झति।
ण हि सिज्झति विरग्गेण विणा पढिदेसु वि सव्वसत्थेसु"॥

वैराग्य सम्पन्न वीर पुरुष अल्पज्ञान के द्वारा भी सिद्ध पद को प्राप्त करते है और सर्वशास्त्रो का ज्ञाता वैराग्य के बिना मुक्ति लाभ नही करता।

भावपाहुड मे **कुन्दकुन्द स्वामी** ने लिखा है कि शिवभूति नामक अल्पज्ञानी–जिस प्रकार दाल और छिलके जुदे-जुदे है, इसी प्रकार मेरा आत्मा भी कर्मो से भिन्न है इस प्रकार के विशुद्ध भाव से–महाप्रभावशाली हो केवली भगवान् हो गए। स्वामी कहते है–

"तुसमास घोसतो भावविसुद्धो महाणुभावो य।
णामेण य सिवभूई केवलणाणी फुडं जाओ"॥53॥

इस विषय को स्पष्ट करने वाली प्रबोधपूर्ण कथा षट्प्राभृत टीका मे **श्रुतसागर सूरि** ने इस भांति बताई है कि–एक शिवभूति नामक परम विरागी अल्पज्ञानी सत्पुरुष ने गुरुदेव के समीप महाव्रत की दीक्षा ली।

उन्हे शरीर और आत्मा मे भिन्नता का अनुभव तो होता था, किन्तु इस विषय को सुदृढ करने के लिए गुरु ने सिखाया–**"तुषात् माषो भिन्न इति यथा तथा शरीरात् आत्मा भिन्न इति।"** एक समय शिवभूति इन शब्दो को भूल गये। अर्थ जानते हुए भी शब्द नही जानते थे। एक समय उन्होने एक स्त्री को दाल बनाने के लिए पानी मे उडदो को डाल छिलको को पृथक् करते हुए देख पूछा–**'कि कुरुषे भवति इति?'** तुम यह क्या कर रही हो?, **सा प्राह–'तुषमाषान् भिन्नान् करोमि'**– मैं दाल और छिलको को पृथक् करती हू। इतना सुनते ही शिवभूति ने कहा–**'मया प्राप्तम्'** मुझे तो मिल गया। इसके अनन्तर एक चित्त हो निर्विकल्प समाधि रूप शुक्ल ध्यान मे मग्न हो गये और **'अन्तर्मुहूर्तेन केवलज्ञान प्राप्य मोक्ष गतः'** 'अन्तर्मुहूर्त मे केवलज्ञान प्राप्त कर मुक्त हो गए।'[34]

स्वामी **समन्तभद्र** समर्थ युक्ति के द्वारा इस विषय को स्पष्ट करते हुए लिखते है–"यदि अज्ञान से नियमत बन्ध माना जाए, तो ज्ञेय अनन्त होने से कोई भी केवली नही होगा। कदाचित् अल्प-ज्ञान से मोक्ष मान भी ले तो बहुत अज्ञान से बन्ध हुए बिना न रहेगा।"[35] ऐसी स्थिति मे समन्वयकारी मार्ग प्रदर्शित करते हुए आचार्य भी लिखते है–मोहयुक्त अज्ञान से बन्ध होता है, मोहरहित अज्ञान बन्ध का कारण नही है। मोहरहित अल्पज्ञान से मुक्ति प्राप्त होती है और मोहयुक्त ज्ञान से मुक्ति नही मिलती।[36]

इस विवेचन से कोई यह मिथ्या अर्थ न निकाले कि जैन-शासन मे उच्च-ज्ञान को अनावश्यक एव अग्राह्य बताया है। महान् शास्त्रो के परिशीलन से राग, द्वेष आदि विकार मन्द होते है, मनोवृत्ति स्फीत हो जीवन-ज्योति को विशेष निर्मल बनाती है। स्वामी समन्तभद्र ने उच्च ज्ञान सम्बन्धी एकान्त दृष्टि की दुर्बलता को स्पष्ट किया है, अन्यथा अभीक्ष्णज्ञानोपयोग नाम की भावना द्वारा तीर्थंकर प्रकृति के बन्ध का जिनागम मे वर्णन न किया जाता। बन्धतत्त्व के स्वरूप को हृदयगम करने के लिये यह जानना आवश्यक है कि मनोवृत्ति के अधीन बन्ध, अबन्ध की व्यवस्था है। ज्ञान और वैराग्यसम्पन्न व्यक्ति ससार के भोगो मे तन्मय

और आसक्त नही बनता है। राग, द्वेष, मोह आदि की भयकर लहरो से व्याप्त इस ससार-सिधु मे सुज्ञ साधक निमग्न न हो तीरस्थ बनकर विपत्तियो से बचता है। कारण–

"तीरस्थाः खलु जीवन्ति न तु रागाब्धिगाहिनः।"

बाह्य प्रवृत्ति मे कोई विशेष अन्तर न होते हुए भी वीतरागभाव विशिष्ट ज्ञानी और अज्ञानी मे मनोवृत्तिकृत महान् अन्तर है। इसलिये भोग, विषयादि के मध्य मे रहते भी निर्मोही ज्ञानी कवि के शब्दो मे 'करत बन्धकी छटाछटीसी।' उदाहरण के लिए बिल्ली को देखिए। अपने मुह मे वह चूहे को दबाती है, उस मनोवृत्ति मे और जब वह उसी मुह मे बच्चे को दबाती है, कितना अन्तर है? बच्चे को पकडने मे क्रूरता नही है, चूहे को पकडने मे महान् क्रूरता है। इसी प्रकार ज्ञानी और अज्ञानी की भिन्न-भिन्न मनोवृत्ति के अनुसार कर्मबन्धन मे अन्तर पडता है।

मनोभावो को समझाने के लिए जैन-सिद्धान्त मे एक सुन्दर रूपक बताया गया है। उसका वर्णन '*Statesman*' कलकत्ता मे श्रवणबेलगोला के जैनमठ का उल्लेख करते हुए छपा था। उस वर्णन मे जैनमठ की दीवार पर अंकित चित्र का इस प्रकार स्पष्टीकरण किया गया है–

"The most interesting of these depicts is six men standing by a mango tree They have hearts of various hues, corresponding to their respect for life The black-hearted man tries to fell the tree, the indigo, grey and red hearted are respectively content with big boughs, small branches and tiny springs, the pink-hearted man merely plucks a single mango, but the man with the white heart of perfection waits in patience for the fruit to drop "

"इन चित्रो मे सबसे अधिक मनोरञ्जक वह चित्र है जिसमे एक आम के वृक्ष के नीचे छह व्यक्ति खडे हुए अंकित हैं। उनके अन्तःकरण मे जीवन के प्रति जिस प्रकार का भाव है तदनुसार उनके अन्तःकरण के विविध वर्ण बताये गये है। कृष्ण अन्तःकरणवाला वृक्ष को जडमूल से उखाड़ने के प्रयत्न मे लगा है। नील, कापोत और पीत मनोवृत्ति वाले क्रमशः बडी डाल, छोटी

डाल और लघु उपशाखा से सन्तुष्ट है। पद्म मनोवृत्ति वाला केवल एक ही आम तोडकर तृप्त है। किन्तु, शुक्ल अन्तःकरण वाला पूर्णमानव शान्तिपूर्वक गिरने वाले फल की प्रतीक्षा करता है।"

जैन शास्त्रो मे उपर्युक्त व्यक्तियो के मनोभावो को 'लेश्या' नाम से वर्णित किया गया है। क्रोध, मान, माया, लोभ रूप कषायो से अनुरञ्जित मन, वचन, काय की प्रवृत्ति को **लेश्या** कहते है। इस लेश्या के विषय मे डॉ॰ जैकोबी ने लिखा है–

"The totality of karma amalgamated by a soul induces on it a transcendental colour, a kind of complexion, which cannot be perceived by our eyes, and this is called leshya The leshyas have also, and prominently, a moral bearing, for the leshya indicates the character of the individual who owns it The first three belong to bad characters The last three to good characters "

आत्मा के द्वारा बाधे गए कर्म-पुञ्ज के कारण उसमे एक प्रकार का दिव्य वर्ण पाया जाता है, जिसको नेत्र नही देख सकते, उसे लेश्या कहा है। इस लेश्या के द्वारा व्यक्ति के चरित्र का परिज्ञान होता है। कृष्ण, नील, कापोत, ये तीन लेश्याए बुरे व्यक्तियो से सबध रखती है। पीत, पद्म तथा शुक्ल लेश्याओ का सम्बन्ध सत्पुरुषो से है। (पृष्ठ 26)

नरक तथा पशु पर्याय मे जाने वाले जीव के भाव अत्यन्त मलिन होते है। जिसका हृदय काला है तथा जिसके विचार महामलिन है उसे कृष्ण लेश्या (Black thought paint) वाला कहते है। इन लेश्याओ का स्पष्टीकरण करते हुए गोम्मटसार जीवकाण्ड मे लिखा है .–

कृष्ण लेश्या वाला व्यक्ति तीव्रक्रोधी, वैरभाव का परित्याग न करने वाला, महान लडाकू, दयाभाव शून्य तथा किसी के अधीन न रहने वाला होता है। वह स्वच्छन्द बनकर प्रमादी होता है, विवेक शून्य, विचार रहित, विषयलोलुपी, अहकार मूर्ति, मायावी, सत्कार्य मे आलसी तथा भेद्य होता है। नील लेश्या वाला **"निद्राबहुलः, वचन-बहुलः धनधान्येषु तीव्रसज्ञश्च"**–अधिक निद्रावाला, ठगने मे कुशल तथा धनधान्यादि मे प्रचुर आसक्ति युक्त होता है। जो युद्ध प्रिय हो रण मे मरण की भावना

करता है; अपनी स्तुति करने वालो को बहुत धन देता है, तथा कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य के विवेक शून्य है, वह कपोत (grey) लेश्या वाला है।

पीत लेश्या वाला कार्य अकार्य तथा सेव्य-असेव्य को जानता है, सबके प्रति समान दृष्टि रखता है, दया तथा दान मे अनुरक्त रहता है, तथा मन, वचन, काय से मृदु स्वभाव धारण करता है। पद्म लेश्या (Pink) युक्त व्यक्ति त्यागशील, भद्र, सत्यशील, सत्कार्य करने वाला, कष्टादि को सहने की क्षमता सम्पन्न और साधु, गुरु की पूजा मे तत्पर रहता है। शुक्ल लेश्या वाला सत्पुरुष लोकोत्तर हृदय युक्त होता है। आचार्य कहते है :-

ण य कुणइ पक्खवाय, णवि य णिदाण समो य सव्वेसिं।
णत्थि य रायद् दोसा णेहोवि य सुक्कलेस्सस्स।। 517।।

शुक्ल लेश्यावाला न्यायशील होने से पक्षपात नही करता है, आगामी भोगाभिलाषा रूप निदान नही करता है, सर्वजीवों के प्रति समान भाव रखता है, राग-द्वेष नही करता है तथा पुत्र, मित्र, स्त्री आदि मे ममत्व नही रखता है। (509-517 गो॰ जीवकाण्ड)

जैनधर्म का कर्म सिद्धान्त यह बताता है, कि जो भी व्यक्ति मलिन भाव वाला होगा, उसका पतन अवश्यभावी है। कोई भी दिव्यशक्ति का आश्रय उसका रक्षण नही कर सकेगा। उज्ज्वल विचार और प्रवृत्ति युक्त व्यक्ति किसी भी धर्म, जाति तथा देश का होगा, उसका भविष्य महान् तथा उच्च होगा। कृष्णलेश्या वाला लोक दृष्टि से धार्मिको का शिरोमणि होते हुए तथा श्रेष्ठ भौतिक वैभव-विभूति सम्पन्न होते हुए भी निश्चय से पशु या नरक की योनि मे जाता है। कर्म के सर्वोच्च न्यायालय मे स्वधर्म, स्वजाति, स्ववश आदि का पक्षपात नही है। बडे पुरुष भी कर्म के उदय आने पर कष्ट भोगते है और तुच्छ व्यक्ति भी पुण्य का उदय होने पर अखुत वैभव तथा विभूति के स्वामी बनते है। इस आठ कर्मों के उखुत फल को ध्यान मे रखकर कवि कहता है :-

आठनि की करतूत विचाऐ कौन कौन ये करते हाल।
कबहु सिर पर छत्र फिरावै, कबहुक रूप करे बेहाल।।
देवलोक सुख कबहु भुगतै कबहुक रचनाज को काल।
ये करतूति करे करमादिक चेतन रूप तू आप सम्हाल।।

मर्यादा पुरुषोत्तम राम अयोध्याधिपति बनने की सुखदा कल्पना मे निमग्न थे, किन्तु क्षण मे उन्हे वन की ओर प्रस्थान करना पडा। कवि राम के मनोभावो को इस प्रकार चित्रित करता है :-

प्रातर्भवामि वसुधाधिप-चक्रवर्ती।
सोह व्रजामि विपिने जटिलस्तपस्वी॥148॥

यह जीव स्वय कर्म का बध करता है। बध करते समय यह नही सोचता है, कि मेरे इस कार्य का क्या फल होगा? बबूल का बीज बोकर आम का फल चाहने से क्या होता है? स्व० रावराजा श्रीमत धनकुबेर सेठ हुकमचद जी इदौर के अत्यत भव्य काच के जैन मदिर मे वह शिक्षाप्रद पद्य लिखा है :-

सुख की इच्छा बढ़ रही, कर्म नही अनुकूल।
अतराय मेटै बिना सुख रहे प्रतिकूल॥
सुख पावो सतोष से तृष्णा दु:ख का मूल।
आम मिले कैसे तुझे बोए पेड़ बबूल॥

वहा यह भी लिखा है -

द्रव्य रहे पृथ्वी विषै, पशू रहे चौपाल।
त्रिया द्वार तक ही रहे, सज्जन चले मसान॥
देह चिता तक रहत है धर्म साथ ले मान।
देख दसा ससार की कर आतम को ध्यान॥

जो व्यक्ति दु·खी है अथवा जो आज सुख के साधन सम्पन्न होते हुए भी आगामी सुख चाहते है, उन्हे यह सिद्धान्त हृदय मे अंकित करना चाहिए :-

आत्मैव चात्मनो बन्धुरात्मा चैवात्मनो रिपुः।
आत्मनोपार्जित कर्म चात्मनैवानुभुज्यते॥15-79॥

जैनधर्मानुसार पुरुषार्थी व्यक्ति अपने कर्मो का क्षय भी कर सकता है। कहा भी है :-

व्रतशील-तपो-दान-सयमोर्हत्प्रपूजनम्।
दु:ख विच्छित्तये सर्वं प्रोक्तमेतसशयम्॥15-110॥ वरागचरित्र

अहिसादिव्रत, शील, तप, पात्रदान, सयम, अर्हन्त भगवान की पूजा ये सर्व कार्य दु:ख क्षय के लिए साधन रूप कहे गए है।

सच्चे पुरुषार्थ के बल से उद्योगी व्यक्ति चिर संचित कर्मराशि को अल्पकाल मे नष्ट कर सकता है। प्रमादी अथवा अकर्मण्य व्यक्ति कभी ईश्वर का, कभी दैव का, कभी नियति का नाम लेकर पौरुषहीन होकर मुसीबतो को निमत्रण देता है। जैन प्रार्थना मे भगवान को 'कर्मभूभृता भेत्ता'–कर्मरूपी पहाड को विनाश करने वाला कहा है। आत्मविश्वास, आत्मज्ञान तथा आत्मस्वरूप मे निमग्नता रूप सम्मिलित शक्ति द्वारा कर्मों का अधिनायक मोहनीय कर्म शीघ्र ही विनष्ट हो जाता है। अत: यह आवश्यक है कि अशुभ परिणाम रूप अशुभ लेश्या से बचकर शुभ परिणाम स्वरूप शुभ लेश्या का आश्रय लिया जाए। सच्ची शान्ति का मार्ग विशुद्ध भाव है। सक्लेश रूप मलिन परिणामो से कभी भी शान्ति की उपलब्धि नही हो सकती। आचार्य कहते है :–

विशुद्धपरिणामेन शातिर्भवति सर्वत:।
सक्लिष्टेन तु चित्तेन नास्ति शातिर्भवेस्वपि॥

जैनागम का यह कथन ध्यान देने योग्य है, क्योंकि इस तत्त्व को ध्यान मे रखने वाला अपना भविष्य उज्ज्वल बनाने की ओर उत्साहित होगा :–

सक्लेशो न हि कर्त्तव्य: सक्लेशो बन्धकारणम्।
सक्लेशपरिणामेन जीवो दु:खस्य भाजनम्॥

सिवनी के विशाल जैन मन्दिर मे अंकित लेश्या के चरित्र को देख दो आगुन्तक हाईकोर्ट के जजो ने मनोभावो को व्यक्त करने की प्रवीणता की हृदय से सराहना की थी। मनोभावो को सूक्ष्मता से सफल सजीव चित्रण करने मे जैन-शास्त्रकार बहुत सफल हुए है और यह सफलता यांत्रिक आविष्कारो की अपेक्षा अधिक कठिन और महत्त्वपूर्ण है। अपने

राजयोग मे **श्री विवेकानन्द** लिखते है–"बहिर्जगत् की क्रियाओ का अध्ययन करना अधिक आसान है, क्योकि उसके लिए बहुत से यत्रो का आविष्कार हो चुका है, पर अन्त:प्रकृति के लिए हमे किन यन्त्रो से सहायता मिल सकती है?"

इस कर्म-जाल से छूटने के लिये आत्म-दर्शन के साथ विषयो के प्रति निस्पृहता पूर्वक सयत जीवन व्यतीत करना आवश्यक है।

आचार्य कहते है कर्म का कारण राग-द्वेष है; परिग्रह की आसक्ति से इनकी उत्पत्ति होती है।

परिग्रह-परिस्वगाताद्रागद्वेषश्च जायते।
रागद्वेषौ महाबध: कर्मणा भवकारणम्॥

परिग्रह की आसक्ति से राग तथा द्वेष उत्पन्न होते है। उन राग तथा द्वेष से ससार परिभ्रमण का कारण कर्मो का महान बध होता है।

ऐसी स्थिति मे क्या कर्त्तव्य है?

भय याहि भवाम्भोधीमात् प्रीति च जिनशासने।
शोक पूर्वकृतात्पापात्, यदीच्छेत् हितमात्मन ॥

"हे आत्मन:! यदि तू अपना कल्याण चाहता है तो भयकर ससार से डर और जिनेन्द्र के शासन मे प्रेम कर तथा पूर्व मे किए गए पाप के विषय मे शोक कर।"

इस कर्म-सिद्धान्त से यह बात स्पष्ट होती है कि वास्तव मे इस जीव का (शुभ-अशुभ कर्म के सिवाय) कोई अन्य न तो हित करता है और न अहित। मिथ्यात्व कर्म के अधीन होकर धर्म-मार्ग का त्याग करने वाला देवता भी मरकर एकेन्द्रिय वृक्ष होता है। धर्माचरणरहित चक्रवर्ती भी सम्पत्ति न पाकर नरक मे गिरता है। इसलिये अपने उत्तरदायित्व को सोचते हुए कि इस जीव का भाग्य स्व-उपार्जित कर्मो के अधीन है, धर्माचरण करना चाहिए। **स्वामी कार्तिकेय** मुनिराज ने उपर्युक्त सत्य को इस प्रकार प्रकाशित किया है–

"ण य को वि देदि लच्छी ण को वि जीवस्स कुणदि उवयार।
उवयार अवयार कम्म पि सुहासुह कुणदि॥ 319॥
देवो वि धम्मचत्तो मिच्छत्तवसेण तरुवरो होदि।
चक्की वि धम्मरहिओ णिवडइ णरए ण सदेहो ॥ 435॥

–स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा

*****

सदर्भ सूची

1 "कर्तुरीप्सिततम कर्म"–*पाणिनीय* सू॰ 1 । 4 । 7 9 ।

2. "एकद्रव्यमगुण सयोगविभागेष्वनपेक्षकारणमिति कर्मलक्षणम्।"

–वैशेषिकदर्शन सभाष्य 1-17 पृ॰ 35।

3 साख्यतत्त्वकौमुदी 67।

4 "योग कर्मसु कौशलम्"–*गीता*। "कर्मज्यायो ह्यकर्मण·।"–*गीता*

5 "कर्मणा बध्येत जन्तु विद्यया तु प्रमुच्यते।"

6. "महाराज कम्मान नानाकरणेन मनुस्सा न सव्वे समका । भासित ऐत महाराज भगवता कम्मस्स कमाणव सत्ता, कम्मदायादा कम्मयोनी कम्मबद्यु कम्मपटिसरणा कम्म सत्ते विभजति यदिद हीनप्पणीततायीति।"

—*Palı Reader*, p 39

7 "बुद्ध और बौद्धधर्म" पृ॰ 256।

8. "क्लेशमूल कर्माशय , दृष्टादृष्टजन्मवेदनीय ।" 2-12

9 "क्रिया खल्वात्मना प्राप्यत्वात्कर्म तन्निमित्तप्राप्तपरिणाम पुद्गलोऽपि कर्म"

–*प्रवचनसार टी॰* 2-25।

10 यथा खलु ज्योति स्वभावेन तैलस्वभावमार्ममूण क्रियमा पदीयो ज्योति· कार्य तथा कर्मस्वभविन जीवस्वभावभमिभूय क्रियमाण मनुनयादि। पर्याय कर्मकार्यम–अमृतचद्रसूरि टीका पृष्ठ 166, *प्रवचनसार* आ 26 अ 2) यथाग्नि, कर्ता तैलस्वभाव कर्मतापत्तमभिमूय तिरस्कृत्य वर्त्याधारेण दीपशिखारूपेण परिणमति तथा कर्माग्नि कर्ता तैलस्थानीय शुद्धात्म स्वभाव तिरस्कृत्य वर्तिस्थानीय शरीराधारेण दीपाशिखास्थानीय नरनारकादिपर्याय सूपेण परिणमयति। ततो ज्ञायते मनुष्यादि-पर्याया· निश्चयेन कर्मजातिता इति; *जयसेनाचार्य टीका*।

11 "यथा भाजनविशेष प्रक्षिप्ताना विविधरसबीजपुष्पफलाना मदिराभावेन परिणाम , तथा पुद्गलानामपि आत्मनि स्थिताना योगकषायवशात् कर्मभावेन परिणामो वेदितव्य.।"–*त॰ रा॰* पृ॰ 294।

12. "जीवकृत परिणाम निमित्तमात्र प्रपद्य पुनरन्ये।
स्वयमेव परिणमन्तेऽत्र पुद्गला· कर्मभावेन॥" –*पु॰ सिद्ध्युपाय 12।*

13 परमार्थादात्मा आत्मा परिणात्मकस्यभावकर्मण एव कर्तानतु पुद्‍गल परिणामात्मकस्य द्रव्य कर्मण। "अथ द्रव्यकर्मण क. कर्तेति चेत्? पुद्‍गलपरिणामो हि तावत् स्वय पुद्‍गल एव। ततस्तस्य परमार्थात् पुद्‍गलात्मा आत्मपरिणामात्मकस्य द्रव्यकर्मण एव कर्ता; न त्वात्मपरिणामात्मकस्य भावकर्मण.। तत आत्मा आत्मस्वरूपेण परिणमति, न पुद्‍गलस्वरूपेण परिणमति।" (पृ० 172)।

14 समयसार गा० 242-246।

15 आप्तपरीक्षा पृ० 1।

16 "अनादि कर्मबन्धस्तानपरतन्त्रस्यात्मन अमूर्ति प्रत्यनेकान्त। बन्धपर्याय प्रत्येकत्वात् स्यान्मूर्त तथापि ज्ञानादिस्वलक्षणापरित्यागात् स्यादमूर्ति। मदमोह-विभ्रमकरी सुरा पीत्वा नष्टस्मृतिर्जन काष्ठवदपरिस्पन्द उपलभ्यते तथा कर्मेन्द्रियाभिभवादात्मा नाविर्भूतस्वलक्षणो मूर्त इति निश्चीयते।"

17 देखो पृ० 268 से 273 पर्यन्त, *अष्टसहस्री*।

18 "जह पुरिसेणाहारो गहिओ परिणमइ सो अणेयविह।
मसवसारुहिरादिभावे उचरग्गिसजुत्तो।।"–*समयप्राभृत* 179।

19 "जठराग्न्यनुरूपाहाराग्रहणवत्तीव्रमन्दमध्यमकषायानुरूपस्थित्यनुभवविशेष प्रतिपत्त्यर्थम्।"–स० सि० 7/12

20 "Mohanıya, that which disturbs the right attitude of the soul with regard to faith, conduct, passions and other emotions and produces doubt, error, right or wrong conduct passions and various mental states " Dr Hermanna Jacobi

"मोहनीय कर्म आत्मा के श्रद्धा आचार, आकाक्षा तथा अन्य भावनाओ के विषय मे वास्तविक दृष्टि को बाधा प्रदान करता है। और सन्देह भूल तथा सम्यक् अथवा मिथ्या आचरण, आकाक्षा तथा विविध प्रकार की मानसिक स्थितियो को उत्पन्न करता है"

मोहनीय कर्म सम्यक् चारित्र को उत्पन्न करता है यह कथन जैनागम के प्रतिकूल है।

21 "The Ayush Karma which determines the age is responsible for the duration of the life of any particular living being"—(*The Religion of Ahinsa*, p 95)

22 "विधि स्रष्टा विधाता च दैव कर्म पुराकृतम्।
ईश्वरश्चेति पर्याया विज्ञेया· कर्मवेधस.।।"–*महापुराण* 37 । 4।

23 "तदसाधारणगुणा ज्ञानदर्शन सुखवीर्यलक्षणास्ते च सर्वांगीणस्तत्रैव चोपलभ्यन्ते।"–पृ० 182।

24 According to Sankara, the hypothesis of the soul having the same size as its body is untenable far from its being limited by the body It would follow that the soul like the body is also impermanent and if

impermanent it would have no final release

"The Jains answer these objections by citing analogies As a lamp whether placed in a small pot or a large room illumines the whole space, even so does the Jiva contract and expand according to the dimensions of the different bodies "

—*Indian Philosophy,* Sir Radhakrishnan., P 311

25 गो० क० गा० 84।

26 "The third Gotra karma evidently implies the theory of heredity After the discovery of Mendel, modern biologists accept the principle of heredity as a distinct operative factor in the life of animals and human beings The characteristics of the individual whether he is going to be a useful member of society, whether he is going to develop his intellectual and moral qualities being a valuable asset to the society or conversely whether the individual is going to be a misfit in society developing undesirable qualities in him which may drive him into a life of crime making him an undesirable burden on the resources of the society are all explained by the theory of heredity in the modern biology and sociology The same idea is implied by the Gotra karma which is supposed to determine the birth of the individual whether it is to be noble, healthy and desirable or it is to be ignoble, unhealthy and undesirable [*The Religion of Ahimsa* by Prof A Chakravarty, p 108]

27 "Antaraya obstructs the inborn energy of the soul and thereby prevents the doing of a good action when there is a desire to do it "

— *Studies in Jainism*, p 26

28. गोम्मटसार का अंग्रेजी अनुवाद जस्टिस जे एल जैनी कृत कर्म साहित्य के अभ्यार्थियो के लिए महत्वपूर्ण है।

29 *गोम्मटसार गाथा* पृ०, 436-440।

30 "The terms asrava, samvara, nirjara, etc , can be understood only on the supposition that karma is a kind of subtle matter flowing or pouring into the soul (asrava), that this influx can be stopped or its inlets covered (samvara), and that the karma-matter received into the soul is consumed or digested, as it were, by it (nirjara) The Jains understand these terms in their literal meaning, and use them in explaining the way of salvation (the samvara of the asravas and the nirjara leads to moksa) Now these terms are as old as Jainism For the Buddhists have borrowed from it the most significant term asrava, they use it in very much the same sense as the Jains, but not in its literal meaning, since they do not regard the karma as subtle matter and deny the existence of a soul into which the karma could have an

'influx' Instead of samvara they say asavakhaya (asravaksaya), 'destruction of the asravas', and identify it with magga (marga, 'path') It is obvious that with them asrava has lost its literal meaning, and that, therefore, they must have borrowed this term from a sect where it had retained its original significance, or, in other words, from the Jains The Buddhists also use the terms samvara, e g Silasamvar, 'restraint under the moral law', and the participle samvuta, 'controlled', words which are not used in this sense by Brahmanical writers, and therefore are most probably adopted from Jainism, where in their literal sense, they adequately express the idea that they denote Thus the same argument serves to prove at the same time that the karma-theory of the Jains is an original and integral part of their system and that Jainism is considerably older than the origin of Buddhism " [*Studies in Jainism by Hermann Jacobi*, pp 38-39]

31 "नैवासतो जन्म सतो न नाशो दीपस्तम पुद्गलभावतोऽस्ति।।"

—*बृ० स्वयम्भू०* 24

32. "यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मान सृजाम्यहम्।।6।।
परित्राणाय साधूना विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे।।7।।"—*गीता* अ० 4।

33 "आचाराणा विघातेन कुदृष्टीना च सम्पदा।
धर्मग्लानिपरिप्राप्तमुच्छ्रयन्ते जिनोत्तमा ।।"—*पद्मपुराण* 206, सग 5।

34 षट्प्राभृत टीका प० 201।

35 "अज्ञानाच्चेद् ध्रुवो बन्धो ज्ञेयानन्त्यान्न केवली।
ज्ञानस्तोकाद्विमोक्षश्चेदज्ञानाद् बहुतोऽन्यथा।।"—*आप्तमीमासा* 96।

36. "अज्ञानान्मोहिनो बन्धो न ज्ञानाद् वीतमोहत ।
ज्ञानस्तोकाच्च मोक्ष स्यादमोहान्मोहिनोऽन्यथा"।।98।।

*****

आत्मजागृति के साधन-तीर्थस्थल

सम्पूर्ण विश्व मे जो वातावरण है, वह प्रायः राग, द्वेष, मोहपूर्ण भावो को प्रेरणा दिया करता है। यद्यपि समर्थ साधक विरोधी वातावरण मे विशेष आत्म-बल के कारण, आत्मसाधना के क्षेत्र में अबाधित गति से बढता चला जाता है। किन्तु मध्यम वृत्ति वाला व्यक्ति योग्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूप अनुकूल वातावरण के बिना अपने चित्त की निर्मलता स्थिर रखने मे बडी कठिनता का अनुभव करता है। इसी दृष्टि से पंडित **आशाधर जी** ने धार्मिक गृहस्थ को अपनी साधना के अनुकूल गृह तथा जीवन-सहचरी का सम्बन्ध मिलाने का मार्ग सुझाया है। वातावरण का मनोवृत्ति पर कम असर नही पडता। स्थलविशेष स्मृतिपटल के समक्ष सदियो पहले की घटनाओ को उपस्थित कर देता है, जिससे जीवन मे कभी-कभी ऐसी प्रेरणा मिलती है, जो बडे-बडे ग्रन्थो, सन्तो, प्रवचनो से भी नही मिलती। यदि कोई सहृदय चित्तौडगढ़ पहुचे, तो राणा प्रताप का अप्रतिम स्वातन्त्र्य-प्रेम, उत्कृष्ट देश-भक्ति तथा त्याग का सजीव चित्र हृदय-पटल पर अंकित हुए बिना न रहेगा। जौहरव्रत के कारण पद्मिनी आदि हजारो वीरागनाओ ने अपने शील को अक्षुण्ण रखते हुए सती बनने का जो अभूतपूर्व त्याग किया है, वह कथा भी स्मरण-पथ मे आकर पुरातन भारत की पवित्र भावना को जगाये बिना न रहेगी। आज के राजनैतिक वातावरण से प्रभावित व्यक्ति कदाचित् जलियावाला बाग को देखने जाए, तो जनरल डायर के क्रूर-कृत्य और पराधीन भारतीयो की बेबसी की दर्दनाक स्मृति जागे बिना न रहेगी।

इसी प्रकार आध्यात्मिक जागरण के क्षेत्र मे साधक उन स्थलो का दर्शन करे और शान्त चित्त हो अपना कुछ समय बितावे, जहा तीर्थंकर आदि महापुरुषो ने विश्व के वैभव का परित्याग कर साम्यभाव की प्राप्ति निमित्त क्रोधादि रिपुओ का सहार किया, तो उसकी आत्मा मे विशेष बल उत्पन्न होगा और वह पवित्रता के पथ में प्रगति करने के लिए पर्याप्त प्रेरणा प्राप्त करेगा।

अपराजित सूरि ने लिखा है,

"बाह्य द्रव्यालम्बनो हि शुभोऽशुभो वा परिणामो जायते, यथात्मनि मनोज्ञामनोज्ञविषय सन्निधाद्रावाद्वेषौ स्वपुत्रसदृशदर्शन पुत्रस्मृतेरालबन। एवमर्हदादिगुणानुस्मरण-निबधन प्रतिबिब। तथानुस्मरण अभिनवाशुभप्रकृतेः सवरणे, प्रत्यग्र शुभकर्मादाने, गृहीत शुभ प्रकृत्य नुभवस्फारीकरणे पूर्वोपात्ता शुभ प्रकृति पटल-रसाय ह्रासे च क्षमामिति॥

— मूलाराधना टीका पृ॰ 160

बाह्य वस्तु के निमित्त को प्राप्तकर शुभ अथवा अशुभ भाव उत्पन्न होते है, जैसे प्रिय और अप्रिय पदार्थ के सम्पर्क से राग द्वेष के परिणाम आत्मा मे उत्पन्न होते है। अपने पुत्र के समान अन्य पुत्र का दर्शन अपने पुत्र की स्मृति का आलम्बन होता है। इसी प्रकार अर्हन्त आदि की प्रतिमा अर्हन्तादि के गुणो के पुन॰-पुन. स्मरण मे कारण बनती है। इस अनुस्मरण द्वारा नवीन बधत्वे वाले अशुभ कर्म का आगमन रुकता है तथा आगामी शुभ कर्म का आगमन होता है; पूर्व बद्ध शुभ प्रकृति के अनुभाग मे वृद्धि होती है तथा पूर्व बद्ध अशुभ कर्म पटल की अनुभाग शक्ति अर्थात् रस दान की सामर्थ्य मे न्यूनता होती है।"

सर्वार्थसिद्धि मे लिखा है कि जिन बिम्ब के दर्शन से पशु तथा मनुष्यो के सम्यक्त्व की उत्पत्ति होती है। 'जिन-महिमा-दर्शन' से देवो की सम्यक्त्व का लाभ होता है। (अ॰ 1-सूत्र 7) इससे भद्रभाव भूषित भव्यजीव तीर्थयात्रा करके स्वकल्याण सम्पादन करता है। हमारा मस्तिष्क विभिन्न सस्मरण रूपी रेलवे-लाइनो के जक्शन समान है। जिस ओर के रेल-पथ पर स्मृति के सहारे हमारे विचार-एञ्जिन ने अपनी गाडी खीचना आरम्भ किया, सस्मरण हमे उसी दिशा मे बढाते हुए ले जाते हैं। सिनेमा की राष्ट्र-भक्ति से परिपूर्ण फिल्म देख दर्शक का हृदय देश-भक्ति भावो से परिव्याप्त होता है और किसी धार्मिक खेल को देख उसकी आत्मा धार्मिकता के भाव से पूर्ण होगी।

हमे बिहार प्रान्त मे गया के पास नवादा स्टेशन के समीपवर्ती गुणावा नामक जैन-तीर्थ पर पहुचने का अवसर मिला। ट्रेन की

अनुकूलता न होने के कारण हमे अनिच्छापूर्वक भी कुछ समय वहा ठहरना पडा। पीछे यह भान हुआ कि वहा रुकना दुर्भाग्य नही, सौभाग्य की बात हुई। भगवान् महावीर के प्रमुख शिष्य तपस्वी-शिरोमणि इन्द्रभूति गौतम गणधर का यहा स्मारक है। उनके जीवन की दिव्य स्मृति से आत्मा को बहुत प्रकाश और प्रेरणा प्राप्त हुई। मन ही मन मे सोचने लगा, गौतम स्वामी का चरित्र बडा विचित्र है। जो व्यक्ति कुछ समय पूर्व अन्य दर्शनो का पारगामी पंडित हो महावीर-शासन का भयकर विरोधी बन स्वय भगवान् से शास्त्रार्थ मे दिग्विजय पाने की नियत से प्रभु के समवशरण के समीप पहुचा और भगवान् के योगबल से प्रभावित मनोज्ञ मानस्तम्भ की विभूति को देख मानरहित हुआ और प्रभु के समीप पहुचते-पहुचते उस एकान्ती की आत्मा मे अनेकान्त-सूर्य की सुनहरी किरणो ने प्रवेश कर हृदय मे छिपे हुए मोह-मिथ्यात्व के निविड अन्धकार को दूर कर दिया, जिससे वह गौतम प्रभु का भक्त बन गया। सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग कर दिगम्बर मुद्रा धारण की। अनेक ऋद्धिया उत्पन्न हो गई। मनःपर्यय नामक महान् ज्ञान का उदय हुआ और अल्पकाल मे ही उस आत्मा ने इतनी प्रगति की, कि वह आत्म साधको की श्रेणी मे प्रमुख बन श्रमणसघ का अधिपति-गणधर बना और भगवान् महावीर की वाणी को विश्व मे सुनाने का तथा अनेकान्त की पताका सर्वत्र फहराने का सौभाग्य प्राप्त कर सका। तथा, अन्त मे पूर्ण साधना होने पर विपुलाचल से मुक्तात्मा हो गया।[1] हमे प्रतीत हुआ, यदि व्यक्ति गौतम के समान हृदय से प्रयत्न करे तो आज भी आत्मविकास के लिये व्यापक क्षेत्र विद्यमान है। आचार्य कहते है—रत्नत्रय से शुद्ध हो यदि कोई जीव आत्मकल्याण करे तो आज भी वह व्यक्ति लौकान्तिक देव आदि के श्रेष्ठ पदो को प्राप्त करते हुए, फिर से श्रेष्ठ मानव के रूप मे जन्म धारण कर तप साधना के प्रभाव से निर्वाण को प्राप्त करेगा।[2]

जैन-आगम से ज्ञात होता है कि समर्थ-साधक मरणकर निर्वाण के योग्य विदेह सदृश भूमि मे जा जन्म लेकर 7 वर्ष 3 माह अन्तर्मुहूर्त मे केवलज्ञान के लोकातिशायी आत्मवैभव को प्राप्त कर सकता है। गुणावा क्षेत्र ने ऐसे बहुत से विचारो द्वारा हमारी आत्मा को प्रबुद्ध किया—शान्ति

प्रदान की। वे विचार अन्य स्थान पर नही मिले। वहा उन विचारो के पोषण योग्य सामग्री थी। वातावरण यह विचार उत्पन्न कराता था कि यह वही स्थान है, जहा योगियो के द्वारा भी वन्दनीय श्रमणोत्तम ब्रह्मज्ञानी गौतम ने अपनी साधना का सुमधुर फल निर्वाण प्राप्त किया था। इस प्रकार तीर्थंकरो के जीवन से सम्बन्धित पवित्र स्थानो की यात्रा पुण्य सवर्धन तथा आत्मशोधनार्थ निमित्त बना करती है। सागारधर्मामृत मे पंडित **आशाधरजी** गृहस्थ को तीर्थ वन्दना निमित्त प्रेरणा करते हुए लिखते है–

"स्थूललक्षः क्रियास्तीर्थयात्राद्या दृग्विशुद्धये।"–2/84।

गृहस्थ अपने तत्त्वज्ञान की विशुद्धि निमित्त तीर्थयात्रादि क्रियाओ को करे। यहा 'दृग्विशुद्धये' शब्द द्वारा यह स्पष्ट कर दिया है कि, तीर्थ वन्दना आत्म-निर्मलता के प्रधान अग सम्यग्दर्शन को परिपुष्ट करती है। मूलाराधना टीका मे **अपराजित सूरि** ने लिखा है, "जिनाना जन्मादि-स्थानदर्शनान्महती श्रद्धोत्पद्यते" (पृ० 326) जिनेन्द्र भगवान के जन्मादि स्थानो के दर्शन से महान् श्रद्धा उत्पन्न होती है। समाधि-मरण के लिये उद्यत साधक श्रावक अथवा साधु को ऐसे स्थान का आश्रय लेने को कहा है कि जो जिनेन्द्र भगवान् के गर्भ, जन्म, तप, कैवल्य तथा निर्वाण इन पाच कल्याणको से पवित्र हुए हो। यदि कदाचित् उसका लाभ न हो तो योग्य मन्दिर-मठ आदि का आश्रय ले। कदाचित् तीर्थयात्रा के लिये प्रस्थान करने पर मार्ग मे ही मृत्यु हो जाय तो भी उस आत्मा के महान् कल्याण मे बाधा नही आती। क्योंकि उसकी भावना तीर्थवन्दना द्वारा आत्मा को पवित्र करने की थी। देखिये, **प० आशाधरजी** क्या लिखते है–

"प्रायार्थी जिनजन्मादिस्थान परमपावनम्।
आश्रयेत्तदलाभे तु योग्यमर्हद्गृहादिकम्।।30।।
प्रस्थितो यदि तीर्थाय म्रियतेऽवान्तरे तदा।
अस्त्येवाराधको यस्माद् भावना भवनाशिनी।।31।।"

–सागारधर्मामृत अ० 8

इस प्रसग मे **भर्तृहरि** का यह कथन--**"शुचि मनो यद्यस्ति तीर्थेन किम्"** (2/55)--यदि मन पवित्र है तो तीर्थ की क्या आवश्यकता है? विरोधी नही है। तीर्थ मानसिक पवित्रता का साधन है। तीर्थ वन्दना स्वय साध्य नही। मानसिक निर्मलता का अग है। जिनके पास वह दुर्लभ पवित्रता नही है, उनके लिये वह विशेष अवलम्बन रूप है। तीर्थवन्दना यदि भावो की पवित्रता का रक्षण करते हुए न की गई तो उसे पर्यटन के सिवाय वास्तविक तीर्थवन्दना नही कह सकते। जनता के समक्ष तीर्थ नाम से ख्यात बहुत से स्थान है। उनमे सभी स्थल सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चरित्र समन्वित महान् योगीश्वरो की साधना द्वारा पवित्र नही है। जो रागी, द्वेषी, कुगुरुओ के जीवन से सम्बद्ध है, वे कुतीर्थ कहे जा सकते है। उनकी वन्दना मिथ्यात्व की अभिवृद्धि करेगी। इसलिये श्रेष्ठ अहिसको के पवित्र तीर्थो मे अपन जीवन को परिमार्जित बनाना विवेकी साधक का कर्त्तव्य है।

महान् देव भगवान् **ऋषभदेव** ने कैलाश पर्वत पर तपश्चर्या करके निर्वाण प्राप्त किया इसलिये सभी साधक उस कैलाशगिरि को प्रणाम करते है। उस अष्टापद भी कहते है। बिहार प्रान्त के भागलपुर नगर का पुरातन काल मे **चम्पापुर** नाम था। वहा से बारहवे तीर्थकर बाल ब्रह्मचारी भगवान् वासुपूज्य ने निर्वाण प्राप्त किया था। सौराष्ट्र-गुजरात की जूनागढ रियासत मे अवस्थित ऊर्जयन्त गिरि से भगवान् नेमिनाथ प्रभु ने मुक्ति प्राप्त की। इस गिरि को रैवतक पर्वत भी सस्कृत साहित्य मे कहा गया है। हिन्दी मे गिरनार पर्वत नाम प्रसिद्ध है। अतिशय उत्पन्न होने के कारण स्वामी **समन्तभद्र** ने इसे **'मेघपटलपरिवीततटः'** कहा है और उसके आकार-विशेष को लक्ष्य मे रखते हुए **'भुवः ककुदम्'**--पृथ्वीरूपी वृषभ का ककुद कहा है। धवला टीका (पृ० 67-1)। इस पर्वत के समीपवर्ती नगर को **'गिरिणयर पट्टण'** बताया है। पर्वत का नाम गिरिनगर से गिरनार रूप मे कालचक्र से परिवर्तित हुआ प्रतीत होता है। महाभारत के पुरुष श्रीकृष्ण के चचेरे भाई भगवान् नेमिनाथ बाईसवे तीर्थंकर की तपश्चर्या और मुक्ति से यह पर्वत पवित्र होने के कारण न केवल जैनो द्वारा ही वन्दनीय है, बल्कि अन्य सम्प्रदायो के द्वारा अपने ढग पर पूज्य बनाया जाकर तीर्थ माना जाने लगा है। प्रधानतया जैन सस्कृति से विशिष्ट सम्बन्ध होने के कारण यह

अतिशय पवित्र जैन तीर्थ माना जाता है। जिस नेमिनाथ भगवान् की आत्म-जागरण, गाथा से इस पर्वत का कण-कण पवित्र है, उस हरिवश शिरोमणि अरिष्टनेमि जिनेन्द्र का चरित्र, करुणा और विश्वमैत्री की दृष्टि से अपना लोकोत्तर स्थान रखता है। नेमिनाथ भगवान् के विवाह का मगल महोत्सव मनाने के लिए सौराष्ट्र देश समुद्यत हो रहा था कि इतने मे विवाह के जुलूस के समय वरराज नेमिनाथ भगवान् ने पशुओ का करुण क्रन्दन सुना और देखा की मृग आदि पशु करुण स्वर से दीन दृष्टि डालते हुए रुदन कर रहे है। उस समय **गुण भद्राचार्य** के शब्दो मे [3]नेमिनाथ ने पशु-रक्षको से पूछा-

"किमर्थमिदमेकत्र निरुद्ध तृणभुक्कुलम्?"

-उत्तरपुराण पर्व 71, श्लो० 162

किसलिए ये बेचारे तृण भक्षण करने वाले यहा अवरुद्ध किए गए है?" उत्तर मे यह बताया गया कि-

"दैवैतद्वासुदेवेन त्वद्विवाहमहोत्सवे।
व्ययीकुर्तमिहानीतमित्यभाषन्त तेऽपि तम्"॥163॥

"देव, आपके विवाह महोत्सव मे वासुदेव की आज्ञा से लोगो के सत्कार के निमित्त ये यहा रखे गये है।" इस प्रकृति की पुस्तक ने नेमिनाथ के अन्तःकरण मे करुणा के सूर्य को उदित कर दिया। वे सोचने लगे, ये बेचारे निर्दोष प्राणी घास चरते है और वन मे रहते है, इतने पर भी अपने भोगनिमित्त लोग इन्हे इस प्रकार कष्ट देते है। अहो! तीव्र मिथ्यात्व के वशीभूत हो मूर्ख जन निष्ठुर बन क्या नही करते।

हरिवशपुराण मे भगवान् नेमिनाथ के दया-परिपूर्ण हृदय मे उत्पन्न विचारो को इस प्रकार अंकित किया है। भगवान् ने सारथि के वचन सुनकर मृगो को देखा और उनके हृदय मे करुणा का सागर उद्वेलित हो उठा। उन्होने समीपस्थ राजकुमारो से कहा-

गृहमरण्यमरण्यतृणोदकान्यशनपानमतीव निरागसः।
मृगकुलस्य तथापि वधो नृभिर्जगति पश्यत निर्घृणता नृणाम्॥ 55-89॥

मनुष्यो की निर्दयता को देखो। निर्दोष मृगो का समुदाय जगल को अपना घर बनाए हुए है। वह जगल के ही तृण और जल को खाता पीता है; फिर भी मनुष्यो के द्वारा उनका वध किया जाता है।

चरणकण्टकवेधभयाद्भदा विद्धते परिधानमुपानहाम्।
मृदुमृगान् मृगयासु पुनः स्वय निशित शस्त्रशतै· प्रहरन्ति हि॥92॥

आश्चर्य है। शूरवीर पुरुष पैरो मे कण्टक चुभने के भय से जूता पहिनते है और शिकार करते समय स्वय तीक्ष्ण सैकडो प्रकार के शस्त्रो से मृदु मृगो के प्राणो का हरण करते है।[4] इसके साथ नेमिनाथ प्रभु ने इस प्रकरण मे कृष्ण की गुप्त वृत्ति भी जान ली। ससार उन्हे क्षण-भड्गुर और स्वार्थपूर्ण दीखने लगा। उन्होने सोचा, अब तो राजीमती राजकन्या के साथ विवाह न कर मुक्तिश्री का वरण करूँगा। शुष्क निर्दयता से अन्त करण मे करुणा की धारा प्रवाहित करने के लिए सब वैभव का परित्याग कर उन्होने ऊर्जयन्त गिरि पर दीक्षा ली और तपस्वियो के शिरोमणि बने। उधर राजपत्नी बनने वाली शीलवती देवी राजीमती ने भी जीवननाथ नेमिनाथ का पदानुसरण कर साध्वी की दीक्षा ली और साध्वी-जगत् मे श्रेष्ठ पद को प्राप्त किया। इन पुण्य विभूतियो ने गिरिनार पर्वत को अपने त्याग और तपश्चर्या द्वारा पवित्र स्थान बना दिया। इतिहास की भाषा मे गिरनार पर्वत जैन सस्कृति के समाराधको का महान् स्थल आज से लगभग दो हजार वर्ष पूर्व तक भी रहा आया है। क्योंकि गिरिनार पत्तन की चन्द्रगुफा मे विद्यमान आचार्य धरसेन ने प्रवचन वात्सल्य के कारण भूतबलि और पुष्पदन्त को कर्म-शास्त्र का अभ्यास कराया था, जिसे अवधारण कर उक्त मुनि-युगल ने अत्यन्त पूज्य षट्खण्डागम शास्त्र की रचना की।[5]

गिरिनार पर्वत के साथ नेमिनाथ भगवान् की परमकारुणिक वृत्ति और त्याग का सस्मरण आए बिना नही रहता। गौतमबुद्ध के हृदय मे करुणा का रस मूक पशुओ को देखकर नही उत्पन्न हुआ था कि जिसकी प्रेरणा से उन्होने बुद्धत्व के लिए प्रयत्न प्रारम्भ किया। दीन प्राणियो के व्यथित जीवन के प्रति सच्ची सहानुभूति दिखाने वाले राग के सु-मधुर चौराहे से मुख मोड विरागता के शैल शिखर पर चढने वाले

भगवान् नेमिनाथ और उनकी सह-धर्मिणी बनने वाली सती राजीमती-जैसा आदर्श ससार मे कहाँ मिलेगा? ऐसे आदर्शों का मौन भाषा मे मधुर स्मरण कराने वाला यह ऊर्जयन्त गिरि क्यो न वन्दनीय होगा? इस गिरिराज से पुनीत सौराष्ट्र देश भी भक्त **वृन्दावन** कवि के द्वारा इन शब्दो मे वदनीय कहा गया है–

"शोभत गढ़ गिरनार नेमिस्वामी निरवान थल।
दो हाथनि सिरधार, वन्दो सोरठ देस मै॥" *छन्दशतक, 68।*

भगवान् महावीर के जीवन का इतिहास और उनके त्याग की अमर कहानी बिहार प्रान्त के पावापुर ग्राम मे विद्यमान सरोवरस्थ धवल जिन-मन्दिर मे मिलती है। भगवान् महावीर ने ईसा से 599 वर्ष पूर्व कुण्डलपुर मे क्षत्रियशिरोमणि महाराज सिद्धार्थ के यहाँ माता त्रिशला के उदर से जन्म लिया था। वे नाथ वश के भूषण थे। ससार के भोगो मे उनका विवेकपूर्ण मन न लगा, अत बालब्रह्मचारी रहकर उन्होने 30 वर्ष की अवस्था मे निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुद्रा धारण कर 12 वर्ष तपश्चर्या कर 42 वर्ष की अवस्था मे कैवल्य प्राप्त किया और विश्व हितकर धर्म का उपदेश 30 वर्ष तक देकर 72 वर्ष की अवस्था मे परमनिर्वाण-मुक्ति प्राप्त की। प्रभु के चरित्र को विकृत करते हुए श्री श० रा० राजवाडे ने नादसीय सूक्त के भाष्य (पूर्वार्ध) मे (पृ० 186) भगवान् के नाथवश को 'नटवश' मान उन्हे नट पुत्र कहने की असत् चेष्टा की है और लिखा है, "गौतम व महावीर हे दोघे क्षत्रिय व्रात्य होते, कारण महावीरा 'नातपुत्त' म्हटला आहे व गौतमाचा जन्म लिच्छवी कुलात झाला आहे। नातपुत्त–नटपुत्र, नट व लिच्छवी ही दोन्ही कुले मनूने व्रात्य–क्षत्रिय म्हणून उल्लेखिली आहेत।" खेद है कि अपने सम्प्रदाय-मोहवश मनुष्य सत्य का अपलाप करते हुए लज्जित नही होता। हरिवशपुराण मे भगवान् के पिता महाराज सिद्धार्थ को प्रतापी भूप बताया है–

"सिद्धार्थोऽभवदर्काभो भूपः सिद्धार्थपौरुष·।"

सर्ग 2-13

इसी बात का समर्थन **अशग** कवि कृत **महावीर चरित्र** के इस पद्ययुगल से होता है–

"राजा तदात्ममतिविक्रमसाधितार्थः
सिद्धार्थ इत्यभिहितः पुरमध्युवास॥
यो ज्ञातिवशममलेन्दुकरावदातः
श्रीमान्सदा ध्वज इवायतिमानुदग्रः"॥17/20-21॥

महावीर भगवान् के विषय मे कन्नड भाषा का यह कथन विशेष परिचय देता है:-

"कुडपरी पट्टदल्लि सिद्धार्थमहाराजग प्रियकारिणी महादेविग स्वातिनक्षत्र दल्लुदयिसिद सुवर्णवर्णमन्नुल्ल सप्तहस्तोत्सेधमन्नुल्ल एप्पत्तेरडु॰ वरुष आयुष्मन्नुल्ल सिंहलाछनमन्नुल्ल मातग-सिद्धायिनी यक्षयक्षियरन्नुल्ल पावापुर सरोवरदल्लि कर्मक्षय माडिद श्री वर्धमानतीर्थेश्वरगे नमस्कारम माड़पे।"

''जिस स्थल को प्रभु ने अपने निर्वाण-कल्याण के द्वारा नरामर-वन्दनीय बना दिया, वह बिहारशरीफ नामक स्टेशन से 6-7 मील पर है। वहाँ से भगवान् ने कार्तिक कृष्णा अमावस्या के प्रभात मे कर्मो का नाश कर मोक्ष प्राप्त किया था। पावापुरी का वातावरण बहुत शान्त, पवित्र और उज्ज्वल विचारो का उद्बोधक है। यह स्मरण रखना चाहिए कि विचारशील व्यक्ति के लिए ही ये सब साधन कल्याणकारी होते है। किन्तु विवेकहीन व्यक्तियो की मोह-निद्रा प्रयत्न करने पर भी दूर नही होती।

प्राकृत निर्वाणकाण्ड मे पूर्वोक्त चार तीर्थकरो की आत्म स्वातत्र्य-उपलब्धि की भूमियो का इन सुन्दर शब्दो मे सस्मरण तथा वन्दन किया गया है-

"अट्ठावयम्मि उसहो चपाए वासुपुज्ज जिणणाहो।
उज्जते णेमिजिणो पावाए णिव्वुदो महावीरो"॥1॥

वृषभनाथ ने अष्टापद (कैलास) से, वासुपूज्य जिनेन्द्र ने चम्पापुरी से, नेमिनाथ ने ऊर्जयन्त गिरि से और महावीर भगवान् ने पावापुरी से निर्वाण प्राप्त किया।

भगवान् अजितनाथ, सम्भवनाथ, अभिनन्दननाथ, सुमतिनाथ, पद्मप्रभु, सुपार्श्वनाथ, चन्द्रप्रभु, पुष्पदन्त, शीतलनाथ, श्रेयासनाथ, विमलनाथ, अनन्तनाथ, धर्मनाथ, शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ, अरहनाथ, मल्लिनाथ, मुनिसुव्रतनाथ, नमिनाथ और पार्श्वनाथ ने बिहार प्रान्त मे विद्यमान सम्मेदशिखर से जिसे पारसनाथ-हिल कहते है–निर्वाण प्राप्त किया है। इसीलिए निर्वाण भक्ति मे आचार्य कहते है–

"बीस तु जिणवरिदा अमरासुरवदिदा धुदकिलेसा।
सम्मेदे गिरिसिहरे णिव्वाणगया णमो तेसि॥"

देव और मनुष्यादि के द्वारा वन्दनीय कर्मक्लेश रहित, बीस जिनेन्द्रो ने सम्मेद पर्वत के शिखर से निर्वाण प्राप्त किया, उन सबको नमस्कार हो।

यह पर्वत शिखरजी के नाम से जैन समाज मे प्रख्यात है। प्रीवी कौसिल की अपील न॰ 121, सन् 1933 पर दिए गए फैसले से पर्वत के विषय मे यह बात विदित होती है–"पार्श्वनाथ पर्वत पर जो जिन-मन्दिर है, वे निस्सदेह बहुत प्राचीन है। किन्तु उनके इतिहास का अथवा उस समय का, जब कि सम्पूर्ण पर्वत के विषय मे पवित्रता सम्बन्धी पवित्र विचार सर्व प्रथम माने गए, बहुत कम ज्ञान है। पर्वत स्वय 25 वर्ग-मील विस्तार मे है और उसकी सबसे ऊँची चोटी 45 सौ फुट पर है। लेफ्टिनेट बीडल, जो उस स्थान को सन् 1846 ई॰ मे गए थे, की रिपोर्ट के अनुसार "वह झाडो तथा घने जगल से ढँका हुआ था और जगली जानवरो से भरा हुआ था। उसमे मनुष्य नही रहते थे। हॉ, कुछ सन्थालो की–जगली लोगो–की झोपडिया थी, जो पर्वत के नीचे के भाग पर थी।" आगे चलकर बीडल साहब ने 1846 ई॰ मे यह भी लिखा है कि–"पर्वत पर प्रतिवर्ष जनवरी मास मे एक पक्ष पर्यन्त एक धार्मिक मेला भरा करता था। पूजको की आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए दुकानदार अनाज या दूसरी चीजे लेकर पर्वत पर चढते थे।"

महाकवि **बनारसीदास जी** के अर्धकथानक मे सवत् 1661 मे शिखरजी की यात्रा का वर्णन है, जिससे तत्कालीन सामाजिक व्यवहार का भी पर्याप्त बोध होता है–

"साहिब साह सलीम कौ, हीरानद मुकीम।
ओसवाल कुल जौहरी, बनिक वित्तकी सीम॥ 224॥
तिन प्रयागपुर नगर सौ, कीनौ उद्यम सार।
सघ चलायौ सिखरकौ, उतरयौ गगा पार॥ 225॥
ठौर-ठौर पत्री दई, भई खबर जित तित्त।
चीठी आई सेन कौ, आवहु जात-निमित्त॥ 226॥
खरगसेन तब उठि चले, है तुरग असवार।
जाइ नदजी कौ मिले, तजि कुटब घरबार"॥ 227॥

— — —

"सवत सोलह सै इकसठे। आए लोग सघ सौ नठे॥
केई उबरे केई मुए। केई महा जहमती हुए॥ 239॥
खरगसेन पटने मौ आइ। जहमति परे महा दुख पाइ॥
उपजी विथा उदर के रोग। फिरि उपसमी आउ बलजोग"॥ 240॥

— — —

"सघ फूटि चहुँदिसि गयौ, आप आपकौ होइ।
नदी नाव सजोग ज्यौ, बिछुरि मिलै नहि कोइ"॥ 243॥

इस यात्रा मे लगभग सात मास का समय व्यतीत हुआ था, ऐसा प्रतीत होता है। जब सघ ग्रीष्म मे रवाना हुआ था, तब शिखरजी से लौटते हुए बीमारी का खास कारण वर्षाजनित जल की खराबी ही रही होगी। इस यात्रा मे 7-8 माह का समय लगा ऐसी कल्पना हमने इसलिए की कि उस बीच **बनारसीदासजी** अपना हाल लिखते है, कि-

"खरगसेन जात्रा कौ गए। बानारसी निरकुश भए॥
करै कलह माता सौ नित्त। पार्श्वनाथ की जात निमित्त॥ 228॥
दही दूध घृत चावल चने। तेल तबोल पहुप अनगिने॥
इतनी वस्तु तजी ततकाल। खन लीनो कीनौ हठ-बाल॥ 229॥
चैत महीनै खन लियौ, बीते मास छ सात।
आई पून्यौ कातिकी, चले लोग सब जात"॥ 230॥

"श्री सम्मेदशिखरजी की यात्रा का समाचार" नामक हस्त लिखित 11 पृष्ठ वाली पुस्तिका से विदित होता है कि, "सवत् 1867 मे कार्तिक वदी 5 बुधवार को कोई साहु धनसिह जी के नेतृत्व मे मैनपुरी से 250 बैलगाडियाँ और करीब एक हजार यात्री शिखरजी की वन्दना को निकले थे। जिस दिन सघ निकला था उस दिन मैनपुरी मे रथयात्रा हुई थी। सघ मे धर्म-साधन निमित्त आदिनाथ भगवान् की मनोज्ञ प्रतिमा विराजमान की गई थी। रथयात्रा मे बल्लमधारी सिपाही आदि भी थे। बनारस मे भेलूपुरा के मन्दिर के निकट सघ ठहरा था। पावापुरी पहुँच कर सघ ने जल मन्दिर के समीप आश्रय लिया था। राजगृही, गुणावा आदि की वन्दना करते हुए वसत पचमी को सघ ने सम्मेदशिखर की वन्दना की और पर्वत से लौटकर मधुवन मे धर्मोत्सव मनाया, रथयात्रा निकाली जिसमे पालगञ्ज के राजा भी सम्मिलित हुए थे। माघ सुदी 15 को सघ ने मधुवन से प्रस्थान किया।"[7]

उपर्युक्त दोनो यात्रा-सघ विवरणो से उस भ्रम का निवारण हो जाता है जो प्रीवी कौन्सिल की अपील न० 121 मे लेफ्टिनेट बीडल साहब ने सन् 1846 (स० 1903) मे शिखरजी के पर्वत को जगली जानवरो, घनी झाडियो आदि से व्याप्त बताया था और लिखा था कि वहाँ मनुष्य नही रहते थे। बीडल महाशय का भाव यह रहा होगा कि पर्वत पर लोग नही रहा करते थे। तीर्थ यात्रियो का आवागमन उनके बहुत पहले से पूर्वोक्त विवरण से स्पष्ट हो जाता है।

सम्मेदशिखर पर्वत पर यात्री लोग मुक्त होने वाली आत्माओ के चरण चिह्न (Footprint) की पूजा करते रहे है। श्वेताम्बर जैनो की ओर से कुछ टोको के चरण चिह्न बदल दिए गए थे, जिससे प्रीवी कौसिल मे दिगम्बर जैनियो ने यह आपत्ति उपस्थित की थी कि चरणो की पूजा हमारे यहाँ वर्जित है क्योकि वे खंडित मूर्ति के अग सिद्ध होते है। प्रीवी कौंसिल के जजो का निम्न वर्णन पाठको को विशेष प्रकाश प्रदान करेगा–

"श्वेताम्बरी लोगो ने जो चरणो की स्वय पूजा करना पसन्द करते है–दूसरे तरह के चिह्न बना लिए है, जिसे नमूना अथवा फोटो नही होने

से, ठीक तौर पर बताना बहुत सरल नही है, जो अगूठे के नखो को बताते है और जिन्हे पैर के एक भाग का सूचक समझना चाहिए।दिगम्बरी लोग इसे पूजने से इकार करते है, क्योंकि यह मनुष्य के शरीर के पृथक् अग का सूचक है। दोनो मातहत अदालतो ने यह फैसला किया, कि श्वेताम्बरो का यह कार्य, जिसमे उन्होने तीन मन्दिरो मे उक्त प्रकार के चरण बनाए, एक ऐसी बात है कि जिसके बाबत शिकायत करने का दिगम्बरियो को हक है।"

—फैसले का हिन्दी अनुवाद, पृ० 17

यह पर्वत तीर्थकरो की निर्वाणभूमि होने से विशेष पूज्य माना जाता है। इसके सिवाय अगणित साधको ने वहाँ रह कर राग, द्वेष और मोह का नाश कर साम्यभाव की सहायता ले मुक्ति प्राप्त की, इस कारण जैन तीर्थो मे इस पर्वत का सबसे अधिक आदर किया जाता है। शिखरजी की तलहटी को मधुवन कहते है। वहाँ निर्मित भव्य जिन मन्दिरो तथा उनमे विराजमान अत्यन्त मनोज्ञ जिनबिम्बो के दर्शन से हृदय को अवर्णनीय शान्ति मिलती है। नदीश्वर मन्दिर के बावन जिनालय, पचमेरु की रचना, सहस्रकूट चैत्यालय, भगवान बाहुबलि की उन्नत प्रतिमा तथा नवनिर्मित चौबीस तीर्थंकरो की मूर्तियुक्त टोके आदि सामग्री आत्मशुद्धि के लिए विशेष प्रेरणा प्रदान करती है। शिखर जी की महिमा अपार है। सम्मेदशिखर पूजा-विधान मे लिखा है—

"सिद्धक्षेत्र तीरथ परम, है उत्कृष्ट सुथान।
शिखरसम्मेद सदा नमहु, होय पाप की हान॥
अगणित मुनि जहँ ते गए, लोक शिखर के तीर।
तिनके पद पकज नमो, नासै भव की पीर॥"

मैसूर राज्य के हासन जिला मे श्रवणवेलगोला, निर्वाणभूमि न होते हुए भी, भगवान् गोम्मटेश्वर-बाहुबली की 57 फीट ऊँची भव्य तथा विशाल मूर्ति के कारण अतिशय प्रभावक तथा आकर्षक तीर्थस्थल माना जाता है। वह स्थान हासन स्टेशन से 32 मील, मैसूर से 60 मील तथा बैगलोर से 90 मील की दूरी पर अवस्थित है। **सर मिर्जा इस्माइल** ने मैसूर के दीवान की हैसियत से दिए गए अपने एक भाषण मे कहा

था–'सम्पूर्ण मैसूर राज्य मे श्रवणबेलगोला सदृश अन्य स्थान नही है, जहाँ सुन्दरता तथा भव्यता का मनोज्ञ समन्वय पाया जाता हो।' वह जैन तीर्थ होने के साथ विश्व के कलाकारो तथा कलाप्रेमियो के लिए दर्शनीय तथा अभिवदनीय स्थल है। उस स्थान मे श्रमणशिरोमणि बाहुबली स्वामी की लोकोत्तर मूर्ति विद्यमान है तथा वहाँ का बेलगोल-सरोवर भी महत्त्वपूर्ण है। इस कारण श्रमण तथा बेलगोल समन्वित उस भूमि को श्रवणबेलगोला कहते है। जिस पर्वत पर मूर्ति विराजमान है वह भूतल से 470 फीट ऊँचाई पर है। समुद्रतल से 3347 फीट ऊँचा है। पर्वत का व्यास 2 फर्लांग के लगभग है। पहाड पर चढने के लिए लगभग 500 सीढियाँ पहाड मे ही उत्कीर्ण है। प्रवेशद्वार बडा आकर्षक है। अन्य पर्वतो के समान दूर से रमणीयता और समीप मे भीषणतारूप विषमता यहाँ नही है। वह चिकना, ढालसमन्वित बढिया पाषाणयुक्त है।

दर्शक जब भगवान् गोम्मटेश्वर की विशाल मनोज्ञ मूर्ति के समक्ष पहुँच दिगम्बर शात जिनमुद्रा का दर्शन करता है तब वह चकित हो सोचता है–'अहा। मै दु खदावानल से बचकर किस महान् शान्तिस्थल मे आ गया हूँ। वहाँ आत्मा प्रभु की मुद्रा के बिना वाणी का अवलम्बन ले मौनोपदेश ग्रहण करता है। हजारो वर्ष प्राचीन मूर्ति दर्शक को प्राय नवीन निर्मित मूर्ति-सी प्रतीत होती है। सभी ऋतुऐ आकर भगवान् का हृदय से स्वागत करती है। कारण मूर्ति के ऊपर किसी भी प्रकार की छाया नही है, जो सूर्य, चन्द्र और वर्षा आदि ऋतुओ को प्राकृतिक मुद्राधारी प्रभु के समादर अथवा दर्शन मे अतराय उपस्थित कर सके।

बारहवी सदी के **बोप्पण पण्डित** नामक कन्नड विद्वान् ने नक्षत्रमालिका नाम की पद्य रचना मे भगवान् का सुन्दर वर्णन करते हुए एक पद्य मे बडी मार्मिक बात कही है–'अत्यन्त उन्नत आकृतिवाली वस्तु मे सौन्दर्य का दर्शन नही होता, जो अतिशय सुन्दर वस्तु होती है वह अतीव उन्नत आकार वाली नही होती। किन्तु, गोम्मटेश्वर की मूर्ति मे यह लोकोत्तरता है कि वह अत्यन्त उन्नत होने पर भी अनुपम सौदर्य से विभूषित है।' मैसूर राज्य के पुरातत्त्व विभाग के डायरेक्टर **डा० कृष्णा** एम० ए०, पी०-एच० डी० लिखते है–"शिल्पी ने जैनधर्म के सम्पूर्ण त्याग की

भावना अपनी छैनी से इस मूर्ति के अग-अग मे पूर्णतया भर दी है। मूर्ति की नग्नता जैनधर्म के सर्वस्व त्याग की भावना का प्रतीक है। एकदम सीधे और उन्नत मस्तक युक्त प्रतिमा का अगविन्यास आत्मनिग्रह को सूचित करता है। होठो की दया-मयी मुद्रा से स्वानुभूत आनन्द और दुखी दुनिया के साथ सहानुभूति की भावना व्यक्त होती है।"

'Picturesque Mysore' [8]नामक पुस्तक मे मूर्ति के विषय मे लिखा है—एक विशाल पाषाण को काटकर मूर्ति बनाई गई है। अज्ञात शिल्पी के हाथ से उस पाषाण के रूक्षस्तर मे से शान्त औरँ दिव्य स्मित अंकित साधु की मनोज्ञ मूर्ति निर्मित हुई। इस महान् कार्य मे कितना श्रम लगा होगा, यह बात दर्शक को आश्चर्य मे डाल देगी और वह इस बात को जानने की उलझन मे फस जाएगा कि क्या यह मूर्ति इस पर्वत की रही है अथवा वह जहा अभी अवस्थित है, वहा बाहर से लाई गई है। नही कह सकते कि, चट्टान वहा उपलब्ध हुई अथवा लाई गई। **फरग्यूसन** नामक विख्यात शिल्प-शास्त्री का कथन है—"इजिप्त के बाहर कही भी इतनी विशाल और भव्य मूर्ति नही है। वहा भी ऐसी कोई मूर्ति ज्ञात नही है जो इस मूर्ति के द्वारा प्रदर्शित परिपूर्ण कला तथा ऊचाई मे आगे बढ सके।"

कहा जाता है कि गगनरेश के पराक्रमी मत्री गोम्मटराय-चामुण्ड राय के निमित्त से उनके ईश्वर-गोम्मटेश्वर की मूर्ति का निर्माण हुआ था। किन्तु जनश्रुति और परम्परागत कथानक से इस मूर्ति का निर्माण इतिहासातीत काल का बताया जाता है। जिन बाहुबली स्वामी की यह मूर्ति है, वे चक्रवर्ती सम्राट् भरत के अनुज और भगवान् ऋषभदेव के प्रतापी पुत्र थे। पोदनपुर का वे शासन करते थे। उन्होने चक्रवर्ती भरत को भी पराजित किया था। किन्तु भरत के जीवन मे राज्य के प्रति अधिक ममत्त्व देख और विषयभोगो की निस्सारता को सोच उन्होने दिगम्बरमुद्रा धारण की।

विजेता बाहुबलि अपने अन्त.करण मे क्या सोचते थे, इसका सुन्दर चित्र अंकित करते हुए **महाकवि जिनसेन** कहते है[9]—

हे आयुष्मन् भरत। यह लक्ष्मी मेरे योग्य नही है, कारण इसका तुमने अत्यन्त समादर किया, यह तो तुम्हारी प्रिय पत्नी के तुल्य है। बधन की सामग्री सत्पुरुषो को आनन्दप्रद नही होती।

यह तो मुझे विष कटक समूह समन्वित प्रतीत होती है, अत: यह पूर्णतया त्याज्य है। मै तो निष्कटक तप:श्री को अपने अधीन करने की आकाक्षा करता हू।"

उनकी मूर्ति मे भी उनका लोकोत्तर चरित्र और विश्वविजेतापन पूर्णतया अकित प्रतीत होता है। यही कारण है कि बडे-बडे राजा महाराजा तथा देश-विदेश के प्रमुख पुरुष प्रभु की प्रतिमा के पास आकर अपनी श्रद्धाञ्जलियाँ अर्पित करते है। मूर्ति मे बाहुबली की महान् तपश्चर्या अकित की गई है। वे एक वर्ष पर्यन्त खडगासन से तपश्चर्या करते रहे, इसलिए लता, सर्प आदि ने उनके प्रति स्नेह दिखाया। मूर्ति मे भी माधवी लता और सर्प का सद्भाव इस बात को ज्ञापित करते हुए प्रतीत होत है कि महामानव बाहुबली विश्व-बन्धु हो गए है। इसलिए हर एक प्राणी उनके प्रति आत्मीय भाव धारण कर अपना स्नेह व्यक्त करता है। मूर्ति के दर्शन से आत्मा मे यह बात अकित हुए बिना नही रहती कि अभय और अकल्याण का सच्चा और अद्वितीय मार्ग सम्पूर्ण परिग्रह का परित्याग कर बाहुबली स्वामी की मुद्रा को अपनाने मे है। विपत्ति का मार्ग भोग, परिग्रह, हिसा तथा विषयासक्ति मे है और कल्याण का प्रशस्त पथ अन्त.बाह्य-अपरिग्रह, अहिसा और आत्मनिमग्नता की ओर अपने जीवन को प्रेरित करने मे है। लेखनी की और वाणी की भी सामर्थ्य नही है कि मूर्ति के पूर्ण प्रभाव और सौदर्य का वर्णन कर सके। दर्शनजनित आनन्द वाणी के परे है। भारतरत्न बाबू राजेन्द्रप्रसादजी ने उस दिन गोम्मटेश्वर के दर्शन का उल्लेख करते हुए हम से मूर्ति के विषय मे यह सूत्र वाक्य कहा था कि–"मूर्ति अद्भुत है।"

दिवगत भारतरत्न राष्ट्रपति डॉ राजेन्द्र प्रसाद ने अपनी आत्मकथा मे इस सबध मे महत्त्वपूर्ण चित्रण किया है–"श्रवणवेलगोला के दृश्य अखुत है। वे ससार के उन चकित करने वाले स्थानो मे है, जिनको न देखना मानो मनुष्य की कृतियो के उत्तमोत्तम नमूनो को न देखना है।"

भगवान् बाहुबली की मूर्ति के विषय मे वे लिखते हैं–"बहुत विशाल मूर्ति एक पहाड़ की चोटी पर काटकर बनाई गई है। जो बहुत दूर से, प्रायः दस-पन्द्रह मील की दूरी से नजर आने लगती है। तारीफ यह है कि इतनी बडी मूर्ति कुछ अलग से तैयार करके वहा चोटी पर बैठाई नही गई है, बल्कि वह पहाड की ऊची चोटी काटकर बनाई गई है, और चारो ओर की पहाडी काटकर समतल कर दी गई है। मूर्ति ऐसी सुन्दर बनाई गई है कि चाहे आप मीलो दूर से देखिए, चाहे नजदीक आकर देखिए, उसके सभी अग ऐसे अनुपात से बनाए गए मालूम होगे कि कही कुछ भी त्रुटि नजर न आएगी। प्रत्येक अग पैर की अगुलियो से लेकर नाक, कान तक अपने अपने स्थान पर ठीक अनुपात मे बना दिख पडता है।" (आत्मकथा, पृ॰ 566)

भारत-गौरव प॰ जवाहरलाल जी नेहरु ने भी अपनी पुत्री श्रीमती इन्दिरा गाधी के साथ इस आश्चर्यजनक मूर्ति के दर्शन किए। मूर्ति से प्रभावित हो जैन मठ मे विद्यमान प्रेक्षक-पुस्तिका मे प॰ जी ने सूत्रात्मक शैली मे अपने मनोभावो को इस प्रकार निबद्ध किया–"मै आज यहा आया और इस आश्चर्यजनक मूर्ति को देखा और प्रसन्न हुआ।" श्री नेहरु ने मूर्ति के दर्शन होने पर कहा था "मै दुनिया भर घूमा, लेकिन शांति कही नही मिली। हमे यहा आकर शान्ति मिली। यह शान्ति का स्थान है।" इन्दिरा जी ने अपने पिता से कहा था, "क्या हम स्वर्ग मे तो नही है।" अ॰ भा॰ काग्रेस के तत्कालीन अध्यक्ष श्री पुरुषोत्तम दास टण्डन ने कहा था "हमने पुराणो मे पढा है कि स्वर्गलोक मे जाकर परमात्मा मिलता है। आज हम पैरो से चलकर साक्षात् स्वर्ग मे आये और हमको यहा परमात्मा मिला। हमारी आत्मा पवित्र हुई।"

निर्वाण भूमि होने के कारण पटना, सिद्धवरकूट (होल्कर स्टेट) गजपथा (नासिक), द्रोणगिरी, नयनगिरी (बुन्देलखड), सोनागिरि (दतिया जिला), बडवानी, कुथलगिरि (जिला उस्मानाबाद निजाम), मुक्तागिरि (अमरावती), पावागढ (बडौदा), गुणावा (गया) और मागीतुगी (मालेगाव, महाराष्ट्र प्रान्त) आदि प्रख्यात तथा पूज्य स्थल है; कारण यहा से बहुत

ही पवित्रात्माओ ने रत्नत्रय धर्म की आराधना कर निर्वाण प्राप्त किया है। मागीतुगी क्षेत्र से रामचद्रजी, हनुमान् जी आदि महापुरुषो ने मुक्ति प्राप्त की। इस क्षेत्र की पूजा मे लिखा है–

"गगाजल प्रासुक भर झारी, तुव चरनन ढिग धारो,
परिग्रह तिसना लगी आदि की, ताको है निरवारो।
राम हनू सुग्रीव आदि जे, तुगी गिरि थित थाई,
[10]कोडि निन्यानवे मुकत गए मुनि, पूजो मन वच काई॥"

–सिद्धक्षेत्र पूजा, सग्रह पृ० 76।

राम का चरित्र वर्णन करने वाले महाकाव्य **जैनपद्मपुराण** (पर्व 122 श्लोक 67) से विदित होता है, कि माघ सुदी 12 की रात्रि के अंतिम प्रहर मे राम ने कैवल्य प्राप्त किया–

"माघशुद्धस्य पक्षस्य द्वादश्या निशि पश्चिमे।
यामे केवलमुत्पन्न ज्ञान तस्य महात्मन.॥"

भगवान राम की जिस प्रकार हिन्दू धर्म मे प्रतिष्ठा है, उसी प्रकार जैन धर्म मे भी उनकी परमात्मा के रूप मे पूजा और भक्ति की जाती है। जैनधर्म मे रघुपति राम की सन्यासावस्था के प्रति भक्ति की जाती है, क्योकि जैन धर्म मे वैराग्य की पूजा की जाती है। वैदिक ग्रन्थो मे लिखा है कि विश्वपूज्य भगवान् ऋषभदेव ने ज्ञान वैराग्य और भक्तिस्वरूप निर्ग्रन्थ धर्म की देशना दी थी। तदनुसार जैनधर्म मे भगवान् राम की वैराग्यमयी सच्चिदानन्द पूर्ण अवस्था की अभिवदना की जाती है। उन्हे जैन ग्रन्थो मे पद्म नाम से भी जाना जाता है। जैन पद्म पुराण मे आचार्य रविषेण ने लिखा है कि बलदेव (राम) के दिव्य चरित्र का शुद्ध मन से स्मरण करने वाला सर्वप्रकार से सुखी और समृद्ध होता है। आचार्य लिखते है.–

बलदेवस्य सुचरित दिव्य यो भावितेन मनसा नित्यम्।
विस्मयहर्षाविष्टस्वान्त. प्रतिदिनमपेतशकितकरण:॥123-156॥
वाचयति श्रृणोति जनस्तस्यायुर्वृद्धिमीयते पुण्य च।
आकृष्टखड्गहस्तो रिपुरपि न करोति वैरमुपराममेति॥157॥

कि चान्यद्धर्मार्थी लभते धर्मं यशः पर यशसोऽर्थी।
राज्यभ्रष्ट राज्य प्राप्नोति न सशयोऽत्र कश्चित्कृत्यः॥158॥
इष्टसमायोगार्थी लभते त क्षिप्रतो धन धनार्थी।
जायार्थी वरपत्नीं पुत्रार्थी गोत्रनन्दन प्रवरपुत्रम्॥159॥
अक्लिष्टकर्म विधिना लाभार्थी लाभमुत्तम सुखजननम्।
कुशली विदेशगमने स्वेदशगमने तवापि सिद्धसमीहः॥160॥
व्याधिरुपैति प्रशम ग्रामनगर वासिन· सुरास्तुष्यन्ति।
नक्षत्रैः सह कुटिला अपि भावान्वाद्याग्रहाभवन्तिप्रीताः॥161॥
दुश्चिन्तितानी दुर्भावितानि वुष्कृतशतानि यान्ति प्रलयम्।
यत्किंचिदपरमशिव तत्सर्वं क्षयमुपैति पद्मकथाभिः॥162॥

आचार्य का यह कथन जैन दृष्टि का परिचायक है कि पद्म अर्थात् राम की कथा के द्वारा महान अनिष्ट का क्षय होता है **"पद्मकथाभि अशिव क्षयमुपति"**।

भगवान् मुनिसुव्रतनाथ, जो 20वे तीर्थकर हुए है, के समय मे रामचन्द्र जी हुए थे। रामचन्द्र जी के समान हनुमान् जी ने निर्वाण प्राप्त किया। हनुमान जी विद्या, बल सपन्न महापुरुष थे। उनकी ध्वजा मे कपि का चिह्न था, भ्रमवश चिह्न का प्रयोग चिह्नवान् के लिए प्रयुक्त होने लगा। वानर शाकाहार करने वाला शक्ति-स्फूर्ति-युक्त जीवधारी है। वह अहिसा, शक्ति और स्फूर्ति का प्रतीक है, इस कारण प्रतीत होता है कि हनुमान् जी ने कपि को अपनी ध्वजा का चिह्न बनाया। आचार्य **रविषेण** के शब्दो मे यह समझना असम्यक् है कि हनुमान जी बन्दर थे। वे सर्वगुण सम्पन्न महापुरुष थे। उनके पिता का नाम पवनजय था। वे भी महापुरुष थे। पवन-वायु से मानव की उत्पत्ति वैज्ञानिक दृष्टि विशिष्ट जैनधर्म मे स्वीकार नही की गई है। हनुमान जी ने भी कर्म शत्रुओ का क्षयकर सिद्धावस्था प्राप्त की है। उनकी सच्ची भक्ति करने से अनत सुख मिलता है।

भीम, अर्जुन, युधिष्ठिर इन तीन पाडवो ने पालीताणा के (गुजरात प्रात के) शत्रुञ्जय पर्वत पर तपश्चर्या की थी। दिगम्बर मुद्रा धारण कर

कर्म-शत्रुओ पर भी विजय प्राप्त की थी **प्राकृत निर्वाणकाण्ड** मे लिखा है—

"पडुसुआ तिण्णि जणा दविडणरिंदाण अट्ठकोडीओ।
सत्तुजयगिरिसिहरे णिव्वाणगया णमो तेसिं"॥6॥

भैया भगवती दास जी ने इसको इन शब्दो मे स्पष्ट समझाया है—

"पाडव तीन द्रविड़ राजान। आठ कोडि मुनि मुकति पयान।
श्रीशत्रुञ्जय गिरि के सीस। भाव सहित वदो निसदीस"॥7॥

हरिवशपुराण मे लिखा है कि दिगम्बर दीक्षा धारण कर भीमसेन मुनिनाथ ने घोर तपश्चर्या की थी। उन्होने एक बार इस प्रकार नियम किया था :—

कुन्ताग्रेणवितीर्ण भैक्ष्यनियम· क्षुत्क्षामगात्र क्षमः।
षण्मासैरथ भीमसेन मुनिपोनिष्ठाप्य स्वान्तक्लमम्॥
षष्ठाद्यैरूपवास-भेदविधिभिर्निष्ठाभि मुख्यै स्थित-
ज्यैष्ठाद्यैर्विजहार योगिभिरिला जैनागमाम्भोधिमि.॥ 64-146॥

भीमसेन मुनीश्वर ने भाले के अग्र भाग से दिए हुए आहार को ग्रहण करने का नियम लिया था। क्षुधा से उनका शरीर अत्यन्त दुर्बल हो गया था। छह मास इस वृत्तिपरिसख्यानरूप तप मे व्यतीत किए थे। पश्चात् आहार का योग मिला था, जिससे हृदय का श्रम दूर हुआ था। युधिष्ठिर, अर्जुन आदि मुनियो ने भी बडी श्रद्धा के साथ बेला-तेला आदि उपवास किए थे। इस प्रकार भीमसेन मुनिराज ने जैनागम के सिन्धु युधिष्ठिर आदि मुनियो के साथ इस पृथ्वी पर विहार किया था। पाचो पाडव मुनिराज ने भगवान् नेमिनाथ का निर्वाण ज्ञातकर शत्रुञ्जय पर्वत पर प्रतिमा योग धारण किया था। वहा दुर्योधन के वश का क्षुयवरोधन नाम का कोई पुरुष रहता था। उसने उन पाडवो पर भयकर उपसर्ग किए। कषाय भाव मनुष्य से कल्पनातीत क्रूर कर्म कराता है।

हरिवशपुराण मे लिखा है—

तप्तायोमयमूर्तिनि मुकुटानि ज्वलन्त्यलम्।
कटकैः कटिसूत्रादि तन्मूर्धादिष्वयोजयत्।। 65-20।।
रौद्र दाहोपसर्ग ते मेनिरे हिमशीतलम्।
वीराः कर्मविपाकज्ञाः कर्मक्षयकृतौ क्षमाः।। 21।।
शुक्लध्यानसमाविष्टा भीमार्जुनयुधिष्ठिरा.।
कृत्वाष्टविधकर्मान्त मोक्ष जग्मुस्त्रयोऽक्षयम्।।22।।

उसने तपाये हुए लोहे के मुकुट, कडे तथा कटिसूत्र आदि बनवाए और उन्हे अग्नि मे अत्यन्त प्रज्ज्वलित कर उनके मस्तक आदि स्थानो मे पहिनाए। पाण्डव मुनिराज धीर वीर थे, कर्म के उदय को जानने वाले थे एव कर्मो का क्षय करने मे समर्थ थे इसलिए उन्होने दाह के उस भयकर उपसर्ग को हिम के समान शीतल समझा था। भीम, अर्जुन और युधिष्ठिर ये तीन मुनिराज शुक्लध्यान से युक्त हो, आठो कर्मो का क्षय कर मोक्ष गए। नकुल और सहदेव निर्विकल्प समाधि मे निमग्नता प्राप्त करने मे इसलिए असमर्थ रहे कि उनका ममतापूर्ण मन युधिष्ठिर आदि मुनिबधुओ पर किए गए उपसर्ग की ओर चला गया। इससे वे अद्वैत समाधि की समाराधना सम्यक् प्रकार सम्पन्न न कर सके। उन्होने सर्वार्थसिद्धि की श्रेष्ठ दिव्य पदवी प्राप्त की, जहा से चलकर दूसरे भव मे वे मुक्ति प्राप्त करेगे। आचार्य कहते है .-

नकुलः सहदेवश्च ज्येष्ठदाह निरीक्ष्य तौ।
अनाकुलितचेतस्कौ जातौ सर्वार्थसिद्धिजौ।।23।।

- *(हरिवशपुराण)*

शत्रुञ्जय तीर्थ से पाण्डवो ने क्रोध, मान, माया, लोभादि मोह शत्रुओ पर विजय की थी इसलिए उस क्षेत्र का नाम सार्थक है। वह क्षेत्र पाचो पाडवो के सर्वागीण जीवन का स्मरण कराता हुआ साधक को प्रेरित करता है तथा कहता है अरे मूर्ख। मेरे समीप आकर तू भी क्यो नही पराक्रमी पाण्डवो के समान अतरग शत्रुओ पर विजय पाने के लिए प्रयत्न करता है। सम्यक् चारित्र की शरण ग्रहण कर और अपने मनुष्य जीवन को सार्थक बना।

पालीताणा मे तीन हजार से अधिक जैन मन्दिर है, जिससे शत्रुजय क्षेत्र की मनोज्ञता बढ गई है। उसे मन्दिरो का नगर भी कहते हैं।

जिस स्थान पर विशेष प्रभावशाली मूर्ति, मदिर आदि होते है, उसे अतिशय क्षेत्र कहते है। इनकी सख्या लगभग सौ से अधिक है। किसी स्थान पर साधको को अथवा भक्तो को विशेष लाभ दिखायी दे, उसे भी अतिशय क्षेत्र कहते है। ऐसे अतिशय क्षेत्र नवीन भी बन जाते है।

जयपुर राज्य मे श्री महावीर जी नामक स्टेशन है। यहाँ के भगवान् महावीर की मूर्ति का बडा प्रभाव सुना जाता है। हजारो यात्री वहाँ वदना को आते हैं। मीना और गूजर नामक ग्रामीण लोग हजारो की सख्या मे महावीर भगवान् की ऐसी भक्ति करते है, जो दर्शको को चकित करती है।

जयपुर राज्य मे शिवदासपुरा स्टेशन के समीप एक नवीन अतिशय क्षेत्र की उपलब्धि हुई है। उसे **पद्मपुरी** कहते है।

मध्यप्रान्त मे दमोह से 22 मील की दूरी पर **कुण्डलपुर** अतिशय क्षेत्र है। कहते है कि यवनराज औरगजेब ने वहा की भगवान् महावीर की अतिशय मनोज्ञ पद्मासन 12 फीट ऊची मूर्ति तुडवाने का प्रयत्न किया, किन्तु वहा की कुछ विशिष्ट घटनाओ ने यवन सम्राट् को चकित कर दिया, इससे उस तीर्थ से उसकी वक्र दृष्टि दूर हो गई। पर्वत कुण्डलाकृति है। 64 जिन मन्दिरो से बडा रमणीय मालूम पडता है। महावीर भगवान् के मन्दिर जिसे बडे बाबा का मन्दिर कहते है, के प्रवेश द्वार पर महाराज छत्रसाल के समय का लेख खुदा हुआ है। विक्रम सवत् 1757 मे मन्दिर का जीर्णोद्धार होकर जो महापूजा उत्सव हुआ था उसमे छत्रसाल महाराज ने भी भाग लिया था। उनके द्वारा भेट मे प्रदत्त एक बडा थाल मन्दिर के भण्डार मे अभी भी सुरक्षित है।

राजपूताना मे आबू पर्वत पर अवस्थित जैन मदिर अपनी कला के लिए विख्यात है। **कर्नल टॉड** ने अपने राजस्थान मे लिखा है–

"Beyond controversy this is the most superb of all the temples in India and there is not an edifice besides the Taj Mahal that can approach it "

–भारतवर्ष के मदिरो मे यह श्रेष्ठ है यह बात निर्विवाद है। ताजमहल के सिवाय कोई और भवन उसकी समता नही कर सकता।

विमलशाह ने भगवान् आदिनाथ का मंदिर विक्रम सवत् 1088 (ईस्वी सन् 1031) मे बनवाया था। नेमिनाथ भगवान् का मनोज्ञ मदिर तेजपाल वस्तुपाल नामक राजमंत्रियो ने बनवाया था। विक्रम सवत् 1287 मे इस प्रख्यात मंदिर का निर्माण हुआ था। करोडो रुपयो का व्यय कर इस अनुपम मंदिर की रचना की गई है। शिल्पशास्त्र के अधिकारी विद्वान् **फर्ग्यूसन** महाशय लिखते है-"इस मदिर मे, जो कि सगमरमर का बना हुआ है, अत्यन्त परिश्रमी हिन्दुओ की टाकी से फीते जैसी बारीकी के साथ, ऐसी मनोहर आकृतिया बनाई गई है कि उनकी नकल कागज पर उतारने मे बहुत समय लगाने पर भी मै समर्थ नही हो सका।[11]"

कर्नल टॉड ने मदिर के गुम्बज को देख चकित होकर लिखा है कि "इसका चित्र तैयार करने मे लेखनी थक जाती है। अत्यन्त श्रमशील चित्रकार की कलम को भी इसमे महान् श्रम पडेगा। इन मदिरो मे जैनधर्म की कथाए चित्रित की गई है। व्यापार, समुद्रयात्रा, रणक्षेत्र आदि के भी चित्र विद्यमान है।" मदिर के सौन्दर्य ने कर्नल टॉड के अत:करण पर इतना प्रभाव डाल रखा था कि श्रीमति **हटर ब्लेर** नाम की महिला ने मदिर के गुम्बज का चित्र जब टॉड साहब को विलायत मे दिखाया तो उससे आकर्षित हो उन ने **'पश्चिम भारत की यात्रा'** नाम की अग्रेजी पुस्तक उक्त महिला को समर्पण की और उस महिला से कहा-"हर्ष है कि तुम आबू गई ही नही, किन्तु आबू को इग्लैण्ड ले आई हो।"[12]

देवगढ बुदेलखड के जाखलोन स्टेशन से लगभग 10 मील की दूरी पर अत्यन्त कलापूर्ण स्थान है। देवपति और खेपति बधुओ ने अपनी विशुद्ध भक्ति के प्रसाद से विपुल द्रव्य लाभ किया और द्रव्य का सद्व्यय करते हुए अगणित कलामय जिनेन्द्रमूर्तिया देवगढ मे बनवाईं, जिनके सौन्दर्य दर्शन से नयन सफल हो जाते है। यह श्रवणवेलगोला की लघु-आवृत्ति सदृश प्रतीत होता है। साची (भूपाल रियासत) की प्राचीन भव्य बौद्ध सामग्री जिस प्रकार हृदय पर अमिट प्रभाव डालती है उसी

प्रकार प्रेक्षक भी देवगढ की अनुपम उत्कृष्ट कलापूर्ण सामग्री से प्रभावित तथा आनदित हुए बिना नही रह सकता। वहा हजारो मूर्तियो को देख आत्मा मे वीतरागता का अपूर्व प्रभाव उत्पन्न होता है। वहा का सजीव प्रभाव हृदयपटल पर एक बार भी अंकित होकर सदा अमिट रहता है।[13]

जर्मन विद्वान् डा ब्रून (Bruhn) ने देवगढ रहकर महान श्रम उठाकर महत्त्वपूर्ण शोध की है। डा ब्रून हमे देवगढ मे मिले थे। उनका अभिमत है कि देवगढ मे क्रमिक विकास की द्योतिका जितनी सामग्री मिलती है उतनी अन्यत्र नही है। वहा शान्तिनाथ के बडे मंदिर मे 12 फुट ऊची मूर्ति है। उस मदिर की उत्तरी दालान मे एक ज्ञान शिला अकित है यह विचित्र शिलालेख 18 भाषाओ और लिपियो मे उत्कीर्ण है। मौर्यकालीन ब्राह्मीलिपि से लेकर मध्यपूर्वकालीन आर्य और द्रविड लिपियो तथा विभिन्न भारतीय भाषाओ का उसमे समावेश है। देवगढ के शिलालेख नागरी लिपि के विकास के इतिहास की दृष्टि से बडे महत्त्व के है। 11वी सदी मे चदेल राजा कीर्तिवर्मन के मत्री वत्सराज ने यहा एक दुर्ग निर्माण कराकर इस स्थल का नाम कीर्तिगिरि रखा था। पहले इस क्षेत्र को 'लुअच्छगिरि' कहते थे। यहा एक लेख है कि आचार्य कमलदेव के शिष्य आचार्य श्रीदेव ने विक्रम सम्वत् 919, शककाल 784 (सन् 862) की अश्विन शुक्ला चतुर्दशी बृहस्पतिवार को उत्तराभाद्र पद नक्षत्र मे शांतिनाथ मदिर के निकट मान स्तभ को प्रतिष्ठापित कराया था। विक्रम तथा शक सम्वत् का एकत्र प्राचीन उल्लेख इस शिलालेख की विशेषता है। देवगढ की कला दक्षिण की द्रविड कला से भिन्न है। देवगढ की जैन कला को नागर कला कहा जाता है।

एक जगह चक्रेश्वरी देवी है, जो आदिनाथ भगवान् की शासन देवी है। उस देवी के 20 हाथ बताए गए है, जिनमे वह चक्र तथा अन्य शस्त्र पकडी है। वहा 22वे तीर्थकर नेमिनाथ की यक्षिणी अम्बिका देवी की मूर्तिया अन्य यक्षियो की अपेक्षा अधिक पाई जाती है। पच परमेष्ठियो की मूर्ति भी यहा है।

यहा ऋषभदेव की मूर्ति जटायुक्त है। मुनि, आर्यिका के सिवाय श्रावक तथा श्रविकाओ की भी मूर्ति यहा है। कहीं-कहीं दपति का चित्र वृक्ष के नीचे खडा हुआ पाया जाता है और प्रत्येक की गोद मे एक बच्चा है। पुरातत्व विभाग के तत्कालीन सुपरिन्टेडेट श्री दयाराम साहनी ने इसका भाव यह सोचा था, "ये बच्चे अवसर्पिणी के सुषमा-सुषमा समय की प्रसन्न जोडिया है। ये युगलिये कल्पवृक्ष के नीचे खडे है।" पुराणो मे से उत्तम भोगभूमि का वर्णन आया है। माता पिता सतति का मुख देखने के पूर्व ही स्वर्गवासी बन जाते थे। अतः साहनी जी की सूझ चितनीय हो जाती है। देवगढ मे 200 शिलालेख है, जिनमे 157 ऐतिहासिक महत्त्वपूर्ण है।

देवगढ क्षेत्र मे वैष्णवो और शैवो की कला भी पाई जाती है। वहा सूर्य, गणेश, विष्णु, दशावतार, नर-नारायण, सप्तमातृका देवी आदि की मूर्तिया पाई जाती है, इससे यह ज्ञात होता है, कि देवगढ जैनो का ही नही वैष्णवो और शैवो की भी आराधना का स्थल रहा है। वहा रामायण ,महाभारत के भी दृश्य पाए जाते है। यह पर्वत उत्तर दक्षिण एक मील लम्बा, पूर्व-पश्चिम छह फर्लांग चौडा है। पर्वत की चढाई सरल है।

बुदेलखड मे पन्ना रियासत के अन्तर्गत खजुराहो के जैन मंदिरो की उच्च और मनोज्ञ कला भी दर्शनीय है। भगवान् शान्तिनाथ की 20 हाथ के लगभग उन्नत प्रतिमा बहुत सुन्दर है। वहा की स्थापत्यकला बहुत भव्य है। ग्वालियर के किले की विशाल प्रतिमाये अपूर्व है। थूबौन, पपौरा, चदेरी आदि के स्थानो की वदना से हृदय हर्षित होता है। सारे भारत मे अनेक महत्त्वपूर्ण वदनीय स्थल है। उनका वर्णन एक महान् ग्रथ का विषय है।

जिस प्रकार अतिशय विशेष होने के कारण कोई स्थल अतिशय-क्षेत्र रूप मे पूंजा जाकर साधक के अन्तःकरण मे भव्य-भावनाओ को सवर्द्धित करता है उसी प्रकार तीर्थंकर भगवान् के गर्भ, जन्म, तपश्चर्या तथा कैवल्योत्पत्ति के स्थान भी विशेष उद्‌बोधक माने जाते है। भगवान् पार्श्वनाथ तथा सुपार्श्वनाथ तीर्थंकर के जन्म से काशी नगरी पवित्र हुई और वह साधको के लिये पुण्यधाम बन गई। इन तीर्थकरो के जन्म से

पवित्र बनारसी नगरी के प्रति भक्ति प्रकट करने के लिये श्रीयुत खरगसैन जी जौहरी ने अपने होनहार चिरजीव और सर्वमान्य महाकवि का नाम **बनारसी दास** रखा था। अपने अर्धकथानक के आरम्भ मे जो पद्य इन्होने दिए है वे उद्बोधक होने के साथ आनन्दजनक भी है तथा उनसे '**बनारस**' नगर की अन्वर्थता प्रकाश मे आती है–

"पानि-जुगल-पुट-सीस धरि, मानी अपनपौ दास।
आनि भगति चित जानि प्रभु, वन्दौ पास-सुपास॥1॥
गग माहि आइ धसी द्वै नदी वरुना असी,
बीचि बसी बानारसी नगरी बखानी है।
कसिवार देस मध्य गाउ तातै कासी नाउ,
श्री सुपास पास की जनम भूमि मानी है॥
तहा दुहू जिन सिवमारग प्रगट कीनौ,
तब सेती सिवपुरी जगत मै जानी है।
ऐसी विधि नाम थपे नगरी बनारसीके,
और भाति कहै सो, तो मिथ्यामत-वानी है"॥2॥

महाकवि की 'बनारस' इस नाम पर बडी आदर भावना प्रतीत होती है, उनकी सुरुचि आत्म-स्वरूप की ओर बढी इसे वे पारस प्रभु के जन्म से पुनीत बनारस नगरी का प्रसाद मानते है और वे अपने अन्त करण की निर्मल और अत्यन्त स्फीत भक्ति को इस अमर पद्य द्वारा व्यक्त करते है–

"जिन्हके वचन उर धारत जुगल नाग,
भए धरनिद पदमावती पलक मे।
जाकी नाम-महिमासो कुधातु कनक करे,
पारस पखान नामी भयो है खलक मे॥
जिन्ह की जनमपुरी नाम के प्रभाव हम,
अपनो स्वरूप लखे भानुसो भलक मे।
तेई प्रभु पारस महारस के दाता अब,
दीजे मोहि साता दृग लीलाकी ललकमे॥"

"नाटक समयसार, मगलाचरण-3।

जैन सस्कृति के विकास और सवर्द्धन की पुनीत पुण्य-भूमि के रूप मे बिहार प्रान्त के राजगृही का अत्यन्त उच्च स्थान है। कारण, वासुपूज्य भगवान् को छोड शेष 23 तीर्थकरो ने कैवल्य लाभ के उपरान्त अपनी धार्मिक देशना से राजगिरि को पवित्र किया था। बीसवे तीर्थंकर भगवान् मुनिसुव्रत के पुण्य जन्म से यह पच शैलपुर-राजगिरि पवित्र है-**'पञ्च शैलपुर पूत मुनिसुव्रतजन्मना॥"** हरि॰ पु॰ 52-3॥

भगवान् महावीर के समवसरण-धर्मसभा के प्रधान पुरुष-सम्राट् श्रेणिक-बिम्बसार की निवासभूमि और राजधानी राजगृही रही है। राजगृही के पूर्व मे चतुष्कोण ऋषिशैल, दक्षिण मे वैभार और नैऋत्य दिशा मे विपुलाचल पर्वत है, पश्चिम, वायव्य और उत्तर दिशा मे छिन्न नाम का पर्वत है, ईशान दिशा मे पाण्डु नाम का पर्वत है।' हरिवशपुराण से विदित होता है कि भगवान् महावीर ने जृम्भिक ग्राम की ऋजुकूला नदी के तीर वैशाख सुदी 10 को कैवल्य प्राप्त किया था। गणधर का योग न मिलने के कारण 66 दिन तक प्रभु का मौन विहार हुआ और वे राजगृह नगर पधारे। आचार्य जिनसेन राजगृह का विशेषण **'जगत्ख्यातम्'** देकर उस पुरी की लोक प्रसिद्धता को प्रकट करते है। अनन्तर भगवान् ने जिस प्रकार सूर्य विश्व के प्रबोधन निमित्त उदयाचल को प्राप्त होता है, उसी प्रकार अपरिमित श्रीसम्पन्न विपुलाचल शैल पर आरोहण किया। **हरिवश पुराण** मे लिखा है-

"षट्षष्टिदिवसान् भूयो मौनेन विहरन् विभुः।
आजगाम जगत्ख्यात जिनो राजगृह पुरम्॥61॥
आरुरोह गिरि तत्र विपुल विपुलश्रियम्।
प्रबोधार्थ स लोकाना भानुमानुदय यथा॥62॥" -सर्ग 2

भगवान् की दिव्य-वाणी प्रकाशन के योग्य गणधरादि की प्राप्ति होने पर विपुलाचल को ही सर्वप्रथम यह सौभाग्य प्राप्त हुआ कि 66 दिन के पश्चात् श्रावण कृष्ण प्रतिपदा के प्रभात मे जब कि सूर्य उदय हो रहा था और अभिजित नक्षत्र भी उदित था, भगवान् के द्वारा धर्म-तीर्थ की उत्पत्ति हुई आचार्य **यतिवृषभ** तिलोयपण्णत्ति मे श्रावण कृष्ण प्रतिपदा को युग का प्रारम्भ बताते है।[14]

ससार के महान् ज्ञानी सन्त-जन और पुण्यात्मा नर-नारियो के आवागमन से राजगिरि का भाग्य चमक उठा। अनेकान्त विद्या के सूर्य ने राजगिरि के विपुलाचल के शिखर से मिथ्यात्व अन्धकार निवारिणी किरणो के द्वारा विश्व को परितृप्त किया, इसलिये राजगिरि और उसके विपुलाचल का दर्शन साधक के हृदय मे भगवान् महावीर के समवसरण की स्मृति जागृत कर देता है। राजा श्रेणिक विपुलाचल का इन सुन्दर शब्दो मे कथन करते है–

तपोवनमिद रम्य परितो विपुलाचलम्
दयावनमिवोम्दूत प्रसादयति मे मन.॥1-17॥

महापुराण

विपुलाचल के आस-पास का तपोवन बडा रमणीय है। वह दया वन रूप मे मेरे मन को आनद प्रदान करता है।

राजगिरि का नाम साधको को स्मरण कराता है और सम्भवत वे अपने ज्ञान नेत्र से उस अतीत के आध्यात्मिक जागरणसम्पन्न भव्य काल को देख भी ले, जबकि वनमाली ने आकर मगध-सम्राट् श्रेणिक को यह श्रुति-सुखद समाचार सुनाया था, कि श्री वीर प्रभु विपुलाचल पर पधारे है और उनके आध्यात्मिक प्रभाव से सारा वन विचित्र सौदर्यसम्पन्न हो गया है। वनपालक के यह शब्द सदा स्मृतिपथ मे गूजते रहेगे–

"वीर प्रभु विपुलाचल आए, छह रितु फूली कली कली॥"

जैन तीर्थयात्रा विवरण मे निर्वाणभूमि, अतिशय क्षेत्र पचकल्याणक स्थल सब साधको के लिये पूज्यस्थल बताए है। हमने कतिपय स्थलो का ही ऊपर सक्षिप्त वर्णन किया है, अन्यथा हमे बडवानी सत्पुडा पर्वत की चार हजार फुट ऊची चोटी पर स्थित सिद्धक्षेत्र चूलगिरि के विषय मे प्रतिपादन करना अनिवार्य था। वहा से इन्द्रजीत, कुम्भकर्ण ने तप-साधना के फलस्वरूप सिद्धि प्राप्त की। बडवानी से 5 मील दूर भगवान् ऋषभदेव की 84 फीट ऊची खड्गासन मूर्ति की विशालता दर्शको को चकित कर देती है।[15] इतनी विशाल मूर्ति सारे विश्व मे नही है। वह इतिहासातीत काल की मूर्ति कही जाती है। अब पुरातन मूर्ति का

जीर्णोद्धार हो जाने से पुरातत्त्वज्ञ प्राचीनता का प्रत्यक्ष बोध प्राप्त करने मे असमर्थ है। हमे 22 नवम्बर सन् 1962 के प्रभात मे महोत्सव के समय उनका अभिषेक करने का पुण्य अवसर प्राप्त हुआ था।

निर्वाण प्राप्त आत्माए लोक के शिखर पर विद्यमान रह अपने ज्ञान तथा आनन्द स्वभाव मे निमग्न रहती है। बौद्ध मानता है, कि दीपक का तेल-स्नेह समाप्त होने पर वह बुझ जाता है, उसी प्रकार स्नेह-रागादि के क्षय होने से जीवन प्रदीप भी बुझ जाता है। जैनदृष्टि मे आत्मा के विकारो का पूर्ण क्षय होने पर परिशुद्ध आत्मा का पूँर्ण विकास होता है।

मोक्ष के विषय मे वरागचरित्र का यह वर्णन महत्त्वपूर्ण है :-

आदित्योऽन्यो भुवि नास्ति भास्वान्।
समुद्रतोऽन्यो न जलाश्रयश्च॥
न चोच्छ्रितोऽन्याऽस्ति गिरिर्गिरीन्द्रात्
मोक्षतोऽन्योऽस्ति सुखप्रतिष्ठा॥10-56॥

जगत् मे सूर्य से अधिक तेजस्वी अन्य नही है, समुद्र से बढकर अन्य जल का अधिष्ठान नही है, सुमेरु पर्वत की अपेक्षा अधिक समुन्नत अन्य पर्वत नही है, तथा मोक्ष से बढकर सुख का सद्भाव अन्यत्र नही है।

साधक की मनोवृत्ति निर्मल करने मे पुण्यस्थलो को निमित्तमात्र कहा है। वैसे जो जिस किसी स्थल पर समासीन हो समर्थ साधक विकारो के विनाशार्थ प्रवृत्त होता है, वही निर्वाणस्थल बन जाता है।

निश्चय नय की प्रधानता से यथार्थ देवालय शरीर है जहा आत्मदेव विद्यमान है। योगसार मे कहा है.-

तित्थहि देवलि देउ णवि इम सुइकेवलि वुत्तु।
देहा-देवलि देउ जिणु एहउ जाणि णिभतु॥ 41॥

श्रुतकेवली का कथन है, कि तीर्थ देवालय तथा देव नही है। देह देवालय है। उसमे जिनदेव है, यह स्पष्ट रूप से जानना चाहिए।

यह तत्त्व निर्विकल्प समाधि के अभ्यासी शुद्धोपयोगी महामुनियो के लिए हितप्रद है। आर्तध्यान तथा रौद्रध्यान के कुचक्र मे फसने वाले गृहस्थ का कर्त्तव्य है कि वह जिन मदिर प्रतिमा, निर्वाणभूमि आदि को न भूले। उसे यह स्मरण रखना चाहिए –

जिन प्रतिमा अरु जिन भवन कारण सम्यक्ज्ञान।
कृत्रिम और अकृत्रिम तिनहि नमो धर ध्यान।।

भगवान पार्श्वनाथ ने दो भव पूर्व आनन्द नरेश की पर्याय धारण की थी। उस जीव ने ही तीर्थंकर प्रकृति का बध किया था। एक बार वसन्तमास के नदीश्वर पर्व मे उन्होने ही नदीश्वर महापूजा की थी, उसमे विपुलमति महानमुनि पधारे थे। आनद राजा ने मुनीश्वर से पूछा था, "भगवन्! अचेतन प्रतिमा की पूजा से किस प्रकार कल्याण होता है?" मुनिराज ने कहा था, "प्रतिमा, मदिर आदि के निमित्त से विशुद्धभाव होते है। अचेतन होते हुए भी वे भव्यो के पुण्य बन्धन के कारण भावो की उत्पत्ति मे कारण है"। उत्तरपुराण मे लिखा है, कि मदिर, मूर्ति आदि अचेतन है, फिर भी वे कल्याणप्रद है

भवत्यचेतन किन्तु भव्याना पुण्यबधने।
परिणाम-समुत्पत्तिहेतुत्वात्कारण भवेत्।।73 पर्व-49।।

जो एक उपादान कारण से ही कार्य की उत्पत्ति मानते है, उनके भ्रमभाव भगाता हुआ यह पद्य कहता है –

कारणद्वय सान्निध्यात्सर्वकार्य-समुद्भव.।
तस्मात्तत्साधुविज्ञेय पुण्यकारणकारणम्।।73-53।।

निमित्त और उपादान इन कारणद्वय से समस्त कार्यो की उत्पत्ति होती है, इसलिए यह बात भलीभाति जान लेना चाहिए कि जिन मन्दिर, प्रतिमा पुण्य बध के कारण, जो शुभ परिणाम है, उनमे कारण बनते है। वे पुण्य के कारण होने से 'पुण्यकारण-कारण' कहे गए है। बाह्य सामग्री को indirect cause कहा जायेगा। किन्ही की यह भ्रमपूर्ण धारणा हो गई है, कि कार्य की उत्पत्ति मे उपादान कारण ही प्रायोजनीक है निमित्त कारण कुछ भी सहायता न कर यथार्थ मे अकिचित्कर है। इस विवेक

शून्य दृष्टि की समीक्षा करते तार्किक अकलकदेव ने अष्टशती मे लिखा है, **"तदसामर्थ्य मखडयद किचित्कर कि सहकरिकारण स्यात्"**–यदि निमित्त कारण के द्वारा उपादान कारण की असमर्थता दूर नही की गई तो ऐसे न कुछ करने वाले–अकिंचित्कर कारण को क्यो सहकारी कारण कहा जाएगा? निमित्त यदि कुछ नही करता तो, जल के बिना चावल भात रूप क्यो नही होता है? अत. निमित्त कारण की उपादेयता स्पष्ट है। उसका उचित मूल्याकन न करना सम्यक् ज्ञान के विरुद्ध कथन है। इस तात्त्विक विचार की पृष्ठभूमि मे तीर्थो की वदना का महत्व स्पष्ट हो जाता है। 'हाथ कगन को आरसी क्या', इस सूक्ति के प्रकाश मे तीर्थवदक स्वय सोच सकता है, कि पुण्य स्थलो मे पहुचने से उसके हृदय को स्फूर्ति, शान्ति तथा आनन्द मिलता है या नही? भगवान पार्श्वनाथ की निर्वाणभूमि स्वर्णभद्र कूट पर पहुचने वाले यात्री से पूछो, कि तुम्हे कितना सुख और शाति वहा मिलती है, तो वह 'अवर्णनीय' शब्दो के द्वारा अपना असीम आनन्द व्यक्त करेगा। ऐसी ही अखुत मनोदशा भगवान् बाहुबली की श्रवणबेलगोला स्थित दिव्य मूर्ति के दर्शन करने पर होती है। उसके समक्ष स्वर्ग का साम्राज्य भी तुच्छ लगता है। अमूर्ति पूजक वर्ग का भी हृदय उनके दर्शन से नाच उठता है? यह बाह्य समीचीन सामग्री के प्रभाव को स्पष्ट सूचित करता है। तीर्थकर, उनकी मूर्ति, उनके कल्याणको के स्थानो की भक्ति करने वाला विवेकी भक्त स्वय तीर्थकर बनने मे कारण श्रेष्ठ पुण्य को प्राप्त करता है। **कुन्दकुन्द स्वामी** ने प्रवचनसार मे कहा है **"पुण्ण फला अरहता"** (1 45)–पुण्य का फल अरहत का पद है। अमृतचन्द्रसूरि की टीका मे लिखा है **"अर्हन्त· खलु सकल-सम्यक्-परिपक्व-पुण्य- कल्पपादप फला एव भवति"**–अर्हन्त परिपूर्ण तथा समीचीन एव परिपक्व दशा को प्राप्त पुण्यरूप कल्पवृक्ष के फल है।" इस प्रकाश मे तीर्थस्थल की महिमा स्पष्ट होती है। धवला टीका मे मगल के सचित्त, अचित्त तथा मिश्ररूप तीन भेद कहे है। **"अचित्त मगल कृत्रिमाकृत्रिम–चैत्यालयादि"** (पृष्ठ 28ए भाग 1)–कृत्रिम अकृत्रिम चैत्यालयादि अचित्त मगल है। अत· निर्वाण स्थल अचित्त मगल है। गौतम गणधर सम्पूर्ण निर्वाण क्षेत्रो को प्रणाम करते हुए कहते है, **"णमो लोए सव्वसिद्धायदणाण"**

(प्रतिक्रमण ग्रथत्रयी)। गृहस्थो तथा सविकल्पावस्था युक्त प्रमत्तगुण स्थानवर्ती मुनीश्वरो के लिए तीर्थ स्थान 'अमृतकुभ' सदृश है।

दुर्बल मनोवृत्ति वाले साधको के लिये अवलम्बन की अधिक आवश्यकता होती है। समर्थ जिस प्रकार प्रवृत्ति करता है, वह मार्ग बन जाता है। आचार्य **अमितगति** कहते है–

"न सस्तरो भद्र, समाधिसाधन
न लोकपूजा न च सघमेलनम्।
यतस्ततोऽध्यात्मरतो भवानिश
विमुच्य सर्वामपि बाह्यवासनाम्॥"

–द्वात्रिशतिका 23

जैनशास्त्रो के परिशीलन से स्पष्ट विदित होता है, कि किस महापुरुष ने कब और किस स्थल से आत्मस्वातत्र्य-मुक्ति प्राप्त की। आज तक यह स्थल परम्परा से पूजा भी जाता है। निर्वाणभूमि पर मुक्त होने वाले आत्मा के चरणो के चिह्न बने रहते है, उनको ही आराधक प्रणाम कर मुक्त आत्माओ की पुण्यस्मृति द्वारा अपने जीवन को आलोकित करता है। इन प्रमाणो के आधार पर विद्यावारिधि बैरिस्टर **श्री चम्पतराय जी** यह निष्कर्ष निकालते है कि–'यथार्थ मे जैनधर्म के अवलम्बन से निर्वाण प्राप्त होता है। यदि अन्य साधना के मार्गो से निर्वाण मिलता, तो मुक्त आत्माओ के विषय मे भी स्थान, नाम, समय आदि का प्रमाण उपस्थित करते।' वे लिखते है–"No other religion is in a position to furnish a list of men who have attained Godhood by following its teachings " (Change of Heart, p 21)

मुमुक्ष के लिये **भैया भगवतीदास जी** कहते है–

"तीन लोक के तीरथ जहाँ, नित प्रति बदन कीजै तहाँ।
मन-वच-काय सहित सिर नाय, वदन करहि भविक गुण गाय॥"

कौन साधक मुक्ति की उज्ज्वल भावना के प्रबोधक पुण्य तीर्थो की अभिवन्दना द्वारा अपने जीवन को आलोकित न करेगा।

*****

संदर्भ सूची ·

1 गौतम स्वामी के निर्वाण के विषय मे यह बात ज्ञातव्य है कि महावीर भगवान का जिस दिन निर्वाण हुआ, उसी दिन गौतम स्वामी ने चार घातिया कर्मों का नाश कर केवलज्ञान प्राप्त किया। उसके अनन्तर उन्होने अनेक देशो मे विहार कर अन्य जीवो को धर्म का उपदेश दिया और अन्त मे राजगिरी के विपुलाचल पर्वत से उन्होने मोक्ष प्राप्त किया। उत्तर पुराण मे लिखा है कि गौतम स्वामी ने श्रेणिक महाराज को अपने निर्वाण के विषय मे इन शब्दो द्वारा सूचना दी थी–

भविष्याम्यहमप्यद्य केवलज्ञान्लोचन ।
भव्याना धर्मदेशेन विहृत्य विषयास्तत ।।76-516।।
गत्वा विपुलशब्दादिगिरौ प्राप्स्यामि निर्वृतिम्।।517।। उत्तर पुराण।।

2. "अज्ज वि तिरयणसुद्धा अप्पा झाएवि लहहि इदत्त।
लोयंतियदेवत्त तत्थ चुआ णिव्वुदि जति।।"

—*मोक्षप्राभृत 1771मे कुन्दकुन्द स्वामी*

3 नेमिनाथ भगवान् के विवाह और वैराग्य का जस्टिस जैनी ने बडा आकर्षक वर्णन किया है–

"He (Neminatha) was a prince born of the Yadava clan at Dwarka and he renounced the world when about to be married to Princess Rajamati, daughter of the chief Ugrasena When the marriage procession of Neminatha approached the bride's castle, he heard the bleating and moaning of animals in a cattle pen Upon inquiry he found that the animals were to be slaughtered for the guests, his own friends and party

Compassion surged up in the youthful breast of Neminatha and the torture which his marriage would cause to so many dumb creatures laid bare before him the mockery of human civilization and heartless selfishness He flung away his princely ornaments and repaired at once to the forest

The bride who had dedicated herself to him as a prince followed him in his ascetic life and became a nun He attained Nirvana at Mount Girnar in the small state of Junagadh in Kathiawadh and on the same lovely mountain is shown a grotto where the chaste Rajamati breathed her last, not far from the feet of Neminatha "

4. स्व० प्रधानमन्त्री प जवाहरलाल नेहरु के वन्य पशुओ के शिकार के विरोध मे व्यक्त किए गए ये विचार महत्वपूर्ण हैं– "बेवकूफ लोग जगल मे बन्दूक लेकर जाते है और जानवरो को मार डालते है और खूबसूरत चीजो को बरबाद कर देते है। ज्यादा मजा तो निहत्थे होकर जगलो मे घूमने मे आता है। ऐसे जाने पर ही मालूम होता है कि जगली जानवर हमसे डरते नही है और उनके पास जाया

जा सकता है। जानवरो मे आदमी से ज्यादा समझने की ताकत होती है। अगर कोई आदमी उन्हे मारने के इरादे से जाता है तो जानवर डर कर भाग जाते है। लेकिन अगर हम जानवरो को दोस्त बनाने के इरादे से जाये तो वे समझ जाते है कि कोई दोस्त आ रहा है और वे उसका बुरा नही मानते।" (*नवभारत टाइम्स*, 7 जून 1964)।

कभी-कभी शिकारी की आत्मा मे भी दीन पशु की व्यथा के प्रति करुणा का भाव जगता है। शेक्सपियर का एक पात्र सीनियर ड्यूक शिकार के लिए जाते समय कहता है–

"Come, shall we go and kill us Venison?
And yet it irks me, the poor dappled fools,
Being native burghers of this desert city,
Should in their own confines with forked heads
Have their round haunches gored

[*As You Like It*, Act II, scene I]

5 षट्खण्डागम भाग 1 पृ० 67 70।

6 बहत्तर वर्ष की आयु-युक्त।

7 जैन सिद्धान्तभास्कर भाग 4 किरण 3 पृ० 148।

8 "The image of the cut-out of a huge boulder and its rough surface has been made to yield by the hand of an unknown artist an exquisite statue with the calm and beatific smile of a saint The visitor would be astonished at the amount of labour such a prodigious work must have entailed and would be puzzled to know whether the statue was part of the hill itself or had been moved to the spot where it now stands Whether the rock was found *in situ* or was moved "Nothing grandeur" says Fergusson, "or more imposing exists anywhere out of Egypt and even there, no known statue surpasses it in height or excels it in the perfection of art it exhibits (p 23)

9 "प्रेयसीय तवैवास्तु राज्यश्रीर्या त्वयादृता।
नौचितैषा ममायुष्मन् बन्धो न हि सता मुदे।। 97।।"
"विषकण्टकजालीव त्याज्यैषा सर्वथापि न।
निष्कण्टका तपोलक्ष्मी स्वाधीना कर्तुमिच्छताम्।।99।।"(*–महापुराण पर्व, 36*)

10 "रामहणूसुग्गीओ गवयगवक्खो य णीलमहणीलो।
णवणवदीकोडीओ तुगीगिरिणिव्वुदे वदे"।।8।।*–प्राकृत निर्वाणकाण्ड।*

11 Picturesque Illustrations of Ancient Architecture in Hindustan by Fergusson

12 आबू जैन मदिरो के निर्माता, पृ 65, 69।

13 *जैन सिद्धान्त-भास्कर* (भाग 8 किरण 2) से ज्ञात होता है कि पर्वत उत्तर-दक्षिण 1 मील लम्बा, पूर्व-पश्चिम 6 फर्लांग चौड़ा है। पर्वत की चढाई सरल है। मन्दिर लगभग 8 सौ वर्ष प्राचीन कहे जाते है। भगवान् ऋषभदेव की मूर्ति जटायुक्त है। वहाँ तीर्थंकर बाहुबली शासन-देवता, मुनि-आर्यिका, श्रावक तथा श्राविकाओ की मूर्तियाँ भी मिलती है। कही-कही दम्पति का चित्र वृक्ष के नीचे खडा हुआ पाया जाता है और प्रत्येक की गोद मे एक-एक बच्चा है। पुरातत्त्व विभाग के तत्कालीन सुपरिन्टेन्डेन्ट श्रीयुत दयाराम साहनी एम ए. ने इसका अर्थ यह सोचा है–'ये बच्चे अवसर्पिणी के सुषम-सुषम समय की प्रसन्न जोडियाँ युगलिये है और जिसके नीचे स्त्री-पुरुष खडे है वह वृक्ष कल्पद्रुम है, जिससे उस जमाने मे मनुष्य वर्ग की सभी इच्छाए पूर्ण होती थी।' पुराणो मे उत्तम भोगभूमि का जो वर्णन है उससे विदित होता है कि माता-पिता सन्तति का मुख-दर्शन करने के पूर्व छीक और जम्हाई ले शरीर परित्याग कर स्वर्ग लोक की यात्रा करते थे। शिलालेखो की दृष्टि से पर्वत महत्त्वपूर्ण है। 200 शिलालेखो मे से 157 ऐतिहासिक महत्त्व रखते है। नागरी अक्षरो के क्रमिक विकास को जानने के लिये ये लेख बहुत काम के है।

14 ''वासस्स पढममासे सावणणामम्मि बहुलपडवाए।
अभिजीणक्खत्तम्मि य उप्पत्ती धम्मतित्थस्स।
सावणबहुले पाडिवरुद्दमुहुत्ते सुहोदये रविणो।
अभिजिस्स पढमजोए जुगस्स आदो इमस्स पुढ।।69-70।।

15 बडवानी की मूर्ति भी बावनगजा के नाम से प्रसिद्धि है। मूर्ति अत्यन्त प्राचीन है। इस मूर्ति का जीर्णोद्धार विक्रम सवत् 1223 मे हुआ था। इसके पश्चात् पुन जीर्णोद्धार 1931 मे होकर मूर्ति का महामस्तकाभिषेक हुआ था। मूर्ति के नेत्रो की लम्बाई 3 फुट 3 इच कान की लम्बाई 6 फुट 8 इच नासिका की लम्बाई 3 फुट 11 इच मस्तक का घेरा 26 फुट, कमर से एडी तक 37 फुट भुजा से अगुली तक 46 फुट 2 इच वक्षस्थल 39 फुट 9 इच है। पूर्ण मूर्ति 84 फुट ऊँची है। बडवानी खण्डवा से 119 मील तथा इदौर से 93 मील की दूरी पर है। आध्यात्मिक साधना के लिए यह स्थल अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

*****

साधक के पर्व

साधक के जीवन-निर्माण मे पर्व तथा उत्सवो का महत्त्वपूर्ण स्थान है। जिस प्रकार तीर्थयात्रा, तीर्थस्मरण आदि से साधक की आत्मा निर्मल होती है, उसी प्रकार आत्मप्रबोधक पर्वो के द्वारा जीवन मे पवित्रता का अवतरण होता है। कालविशेष आने पर हमारी स्मृति अतीत के साथ ऐक्य धारण कर महत्त्वपूर्ण घटनाओ को पुन जागृत कर देती है। अतीत नैगमनय भूतकालीन घटनाओ मे वर्तमान का आरोप करता है। यद्यपि भगवान् महावीर प्रभु को निर्वाण प्राप्त हुए सन् 2001 मे 2500 वर्ष से अधिक व्यतीत हो गए, किन्तु दीपावली के समय उस कालभेद को भूलकर ससार कह बैठता है–

"अद्य दीपोत्सवदिने वर्द्धमानस्वामी मोक्ष गत ।"

–आलापपद्धति पृ० 169

इस प्रकार की मधुर स्मृति के द्वारा साधक उस स्वर्णकाल से क्षणभर को ऐक्य स्थापित कर सात्त्विक भावनाओ को प्रबुद्ध करता है। पर्व और त्यौहार नाम से ऐसे बहुत से उत्सव के दिवस आते है, जब कि अप्रबुद्ध लोग जीवन को रागद्वेषादि की वृद्धि द्वारा मलिन बनाने का प्रयत्न किया करते है। आश्विन मास मे दुर्गापूजा के नाम पर बहुत से व्यक्ति पशु-बलि द्वारा अपने को कृतार्थ समझते है।

पशु बलि का अर्थ यदि मनुष्य मे विद्यमान 'पशुता' का क्षय किया जाए तो सुसगत बात है। सर्वज्ञ प्रणीत आगम मे आत्म यज्ञ का कथन है। उस यज्ञ मे बोध रूप अग्नि कामाग्नि तथा उदराग्नि मे क्षमा, वैराग्य और अनशन की आहुति दी जाती है। क्रोधाग्नि मे क्षमा की, कामाग्नि मे वैराग्य की और उदराग्नि मे उपवास की आहुति दी जाती है। उत्तरपुराण मे **गुणभद्र आचार्य** ने लिखा है :–

त्रयोग्नय. समुद्दिष्टा क्रोध-कामो-दराग्नय।
तेषु क्षमा-विरागत्वा-नशनाहुतिभिर्वने॥ *67 पर्व-202॥*

इस आत्मयज्ञ को करने वाले वनवासी मुनीश्वर मोक्ष को प्राप्त करते है। मास भक्षण के लोलुपी काली आदि को जग की माता-जगदम्बा कहते है। जब वह जग की माता है, तो बकरा आदि की भी वह माता हुई। कौन माता अपने बच्चो का बलिदान चाहेगी? अपनी सतति के मास और रक्त को कौन देवता पसन्द करेगा? धर्म की आज्ञा के नाम पर स्वार्थी व्यक्ति दया धर्म का मार्ग छोड क्रूरता के मार्ग को पकडकर राक्षसी कृत्य करते है। जिस काल मे ऐसे हिसा के कार्यो की प्रचुरता होती है उस समय जीव पुण्य के स्थान से दु खप्रद पाप का सचय करता है।

ऐसे पर्व या उत्सव से साधक को सतर्कतापूर्वक आत्मरक्षा करनी चाहिये, जिनसे आत्मसाधना का मार्ग अवरुद्ध होता है। जिन पर्वो से सात्त्विक विचारो को प्रेरणा प्राप्त होती है उनको ही सोत्साह मनाना चाहिये।

तिलोयपण्णत्ति[1] मे बताया है कि जिस काल मे जीव कैवल्य, दीक्षा-कल्याणक, निर्वाण आदि से पापरूपी मल को नष्ट करता है, वह काल-मगल कहा है।

"एव अणेयभेय हवेदि त काल मगल पवर।
जिणमहिमासबध णदीसरदीवसपहुदीओ॥"-1॥26।

इस प्रकार जिनेन्द्र भगवान् की महिमा से सम्बन्ध रखने वाला वह श्रेष्ठ काल मगल कहा है, जैसे नन्दीश्वरद्वीप पर्व आदि।

'मगल' शब्द के विषय मे षट्खण्डागम सूत्र की टीका (सत्प्ररुपणा भाग 1, पृष्ठ 32, 33) मे इस प्रकार प्रकाश डाला गया है -**'मल गालयति, विनाशयति, दहति, हन्ति, विशोधयति विध्वन्सयतीति मगलम्'**। मल को गलाने से, विनाश करने से, जलाने से, नाश करने से, शोधन करने से एव विध्वस करने से मगल कहा गया है। इस मगल के द्वारा जीव के प्रदेशो मे सान्द्र और कठिन रूप से बधे हुए प्रकृति

स्थिति, अनुभाग और प्रदेश रूप मे विभक्त ज्ञानावरणादि अष्टविध कर्म रूप द्रव्य मल का क्षय होता है और अज्ञान अदर्शनादि परिणामरूप भावमल का विनाश होता है। इस मगल का अर्थ निषेधात्मक (negative) है। इसका दूसरा अर्थ विधिरूप इस प्रकार किया जाता है–**'मग-सुख-तल्लाति आदत्त इति वा मगलम्।'** यह मग अर्थात् सुख को लाता है, उसे स्वीकार करता है, इस कारण उसे मगल कहा गया है। 'मग शब्द पुण्य का भी पर्यायवाची कहा गया है'।

मग शब्दोयमुद्दिष्ट पुण्यार्थस्याभिधायक.।
तल्लातीत्युच्यते सभ्दिर्मगल मगलार्थिभि.॥

यह मगल सुखदायी है पुण्य प्रदाता है; यह अर्थ विधिरूप (positive) है। मगल का तीसरा अर्थ इस प्रकार दिया गया है **"मगति-गच्छति कर्ता कार्य-सिद्धिमनेनास्मिन वेति मगलम्"** (पृ० 34)–उद्दिष्ट कार्य को करने वाला जिसके द्वारा अथवा जिसके किये जाने पर कार्य की सिद्धि को प्राप्त होता है उसे भी मगल कहते है। इस प्रकार मगल शब्द की उत्पत्ति द्वारा यह बात अवगत होती है, कि अरहतादि पच परमष्ठी के नाम स्मरण रूप मगल से ही कर्म क्षय होता है, पापो का नाश होता है। उससे सुख प्राप्त होता है तथा पुण्यकर्म का बध होता है। उसके द्वारा इष्ट कार्य की सिद्धि भी होती है। द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा भाव चतुष्टय की अनुकूलता होने पर ध्येय की सिद्धि होती है। यह सत्य है कि जीव के भावो के अनुसार ही कर्म का आस्रव तथा कर्मो की निर्जरा आदि होगे, किन्तु यह भी उतना ही सत्य है कि बाह्य वातावरण की अनुकूलता आदि से परिणामो पर प्रभाव पडा करता है। मगल पर्व आने पर भव्यात्माओ का चित्त धर्म कार्यो के लिए विशेष उत्साह पाता है। अनत चतुर्दशी रूप महान पर्व काल के प्राप्त होने पर वर्ष भर अत्यन्त निद्य कर्म करने वाले प्राय· पाप प्रचुर परिणामधारी व्यक्ति भी स्वय उपवास या एकाशन कर धर्म ध्यान द्वारा उस दिन को व्यतीत करते है। इससे योग्य काल की महत्ता भी स्मरणीय है। कृषक खेत मे बीज बोते समय काल की अनुकूलता पर विशेष दृष्टि रखता है। इसी प्रकार धर्मात्मा व्यक्ति सत्कार्यो को विशेष रूप से सम्पन्न करते

समय मगलवेला पर भी दृष्टि रखा करते हैं। पुण्य काल आने पर साधक मगल कार्यों को करने मे विशेष उत्साह और उल्लास धारण करता है।

आचार्य गुणभद्र ने मनुष्य के शरीर को घुन के द्वारा भक्षित इक्षु के साथ [2] तुलना की है। इक्षु मे जो गाँठे होती है, उनको पर्व कहते है। गाँठो को न खाकर यदि उर्वरा भूमि मे लगा देते है, तो अच्छी फसल आती है। इसी प्रकार जीवन मे नदीश्वर, दशलक्षण पर्व के काल को भोग मे न लगाकर सयम तथा आत्मसाधना मे व्यतीत करे, तो साधक मगलमय जीवन द्वारा अभ्युदय एव निश्रेयस-निर्वाण की प्रतिष्ठा को प्राप्त करता है।

जैन पर्वो मे **श्रावण कृष्णा प्रतिपदा** का प्रभात अपना विशिष्ट महत्त्व रखता है, कारण उस दिन भगवान् महावीर प्रभु ने विपुलाचल पर्वत पर शांति और समृद्धि का जीवनप्रद उपदेश दिया था।[3] वर्धमान हिमाचल से स्याद्वाद गगा का अवतरण इस मगलमय अवसर पर हुआ था, अतएव उस महान् शुद्ध एव सात्त्विक स्मृति का उद्बोधक होने के कारण वह **'वीरशासन दिवस'** साधक के लिये सर्वदा अभिवदनीय है। यदि भगवान् ने अपना सार्वजनीक अनेकान्तमय अभय उपदेश न दिया होता, तो ससार मोहान्धकार मे निमग्न रहकर अपथगामी रहता।

"वीर-हिमाचल ते निकसी, गुरु गौतम के मुख कुण्ड ढरी है।
मोह-महाचल-भेद चली, जग की जड़तातप दूर करी है।
ज्ञान-पयोनिधि माहि रली, बहु-भगतरगनिसो उछरी है।
ता शुचि शारद गगनदी प्रति मै अँजुलीकर शीस धरी है।।
या जगमदिर मे अनिवार अज्ञान अधेर छयो अतिभारी।
श्री जिनकी धुनि दीप-शिखासम जो नहि होत प्रकासनहारी।
जो किह भाति पदारथ पाति कहा लहते रहते अविचारी।
या विधि सन्त कहे धनि है धनि है जिन बैन बड़े उपगारी।।"

यह दिवस वीरशासन के प्रकाशन के द्वारा मगल रूप होने के पूर्व भी अपना विशिष्ट स्थान धारण करता था। भोगभूमि की रचना के अवसान होने पर कर्मभूमि का आरम्भ इसी दिन हुआ था। **यतिवृषभ**

आचार्य ने तिलोयप्पणत्ति[4] मे इस समय को वर्ष का आदि दिवस बताया है, कारण श्रावणमास को वर्ष का प्रथम मास कहा है। श्रमण सस्कृति वालो को वर्षारम्भ श्रवण नक्षत्रयुक्त श्रावण मास से होना उपयुक्त तथा सगत भी दिखता है। वर्षाकाल से धार्मिक जगत् का सवत्सर आरम्भ होना ठीक मालूम पडता है। उस समय मेघमाला जलधारा द्वारा विश्व को परितृप्त करती है, तो धर्मामृत वर्षा द्वारा श्रमणगण अथवा उनके आराधक सत्पुरुष स्व तथा पर का कल्याण करते हुए आत्मा को निर्मल बनाते है।

रक्षाबधन—यह पर्व साधर्मियो के प्रति वात्सल्यभाव का स्मारक है। जैन-शास्त्रकारो ने बताया है कि उज्जैन मे **श्रीध्वर्मा** नाम के राजा थे। उनके बलि, बृहस्पति, प्रह्लाद और नमुचि नाम के चार मत्री थे। वहाँ अकपन आचार्य के नेतृत्व मे सात सौ जैन साधुओ का विशाल नगर के बाह्य उद्यान मे पधारा। मन्त्रियो के चित्त मे जैनधर्म के प्रति प्रारभ से ही विद्वेषभाव था। उन्होने श्रीधर्म नरेन्द्र को मुनिसमूह की वदना के लिये अनुत्साहित किया, किन्तु राजा की आतरिक प्रेरणा देख मत्रियो को भी मुनिवदना को जाना पडा। उस समय सघस्थ सभी साधु आत्मध्यान मे निमग्न थे। राजा साधुओ की दिगम्बर, शान्त, निस्पृह मुद्रा देखकर प्रभावित हुआ, किन्तु मत्रिमण्डल ने साधुओ के प्रति विद्वेष के भाव व्यक्त किये। इतने मे मार्ग मे आहार कर लौटते हुए श्रुतसागर मुनिराज दिखाई दिए।[5] जिनको सघपति अकपनाचार्य का आदेश नही मिला था कि यहॉ के राजमत्री जिनधर्म के विद्वेषी है अत. मौनवृत्ति रखना उचित है, उनसे वाद-विवाद नही करना चाहिये, कारण इससे हानि की सम्भावना है।

मत्रियो ने श्रुतसागर मुनि के समक्ष पवित्र धर्म पर झूठा आक्षेप लगाया तब मुनि महाराज ने अपने पाडित्यपूर्ण उत्तर से उनको पराजित किया। मत्री लोगो ने अपने को अपमानित अनुभव कर सघ के समस्त साधुओ पर उपद्रव करने की सोची।

मुनि श्रुतसागर जी से मत्रियो के वार्तालाप तथा उनकी पराजय का हाल सुनकर अकपनाचार्य ने निश्चय किया, कि आज सघ पर आपत्ति

आए बिना न रहेगी, अतः उन्होने मध्याह्न मे विवाद के स्थल पर ही श्रुतसागर जी को जाकर ध्यान करने का आदेश दिया।

श्रुतसागर जी बडे ज्ञानी तथा योगी थे। वे आत्मध्यान मे मग्न थे। नीरव रात्रि मे उक्त मत्रियो ने तलवार से उन पर आक्रमण किया, किन्तु मुनि श्री के तप.प्रभाव से पापी मत्री लोग कीलित हो गए। प्रभात-कालीन प्रकाश ने उन पापियो का चरित्र जगत् के समक्ष प्रकट कर दिया। राजा को जब मत्रियो की इस जघन्य वृत्ति का पता चला, तब उसने मंत्रियो को उचित दड दे तिरस्कारपूर्वक राज्य से निर्वासित कर दिया।

अनतर बलि आदि पर्यटन करते हुए हस्तिनागपुर पहुँचे। अपनी योग्यता से वहाँ के जैन राजा पद्मराय को उन्होने शीघ्र ही प्रभावित किया। पद्मराय को अपने प्रतिद्वन्दी सिहबल नरेश की सदा भीति रहा करती थी। बलि ने अपनी कूटनीति से सिहबल को शीघ्र ही बधन बद्ध कर पद्मराय को चिन्तामुक्त कर दिया। इस पर अत्यन्त प्रसन्न हो पद्मराय बलि से बोले, मन्त्री तुम्हे जो कुछ भी चाहिये, मागो। मै उसकी पूर्ति करूगा। बलि ने कहा–महाराज, जब हमे आवश्यकता होगी, तब हम आप से वर की याचना करेगे। अभी कुछ नही चाहिये। राजा ने यह स्वीकार किया।

कुछ समय के अनन्तर अकपनाचार्य पूर्वोक्त सात सौ तपस्वियो सहित विहार करते हुए हस्तिनागपुर मे वर्षा काल व्यतीत करने के उद्देश्य से पधारे। जैन नरेश पद्मराय के अधीन रहने वाली जिनेन्द्रभक्त जनता ने साधुओ के शुभागमन पर अपार आनन्द व्यक्त किया। बलि और उनके सहयोगियो ने सोचा, इस अवसर पर इन साधुओ से बदला लेना उचित है, अन्यथा जैन नरेश के पास अब अपना अस्तित्व न रहेगा। पुराने वर को स्मरण कराकर बलि ने पद्मराय से सात दिन का राज्य मागा **"दीयता मेऽद्यराज्य सप्त दिनावधि"**। मत्रियो के दुर्भाव को बिना जाने राजा ने एक सप्ताह के लिए बलि को राजा का पद प्रदान कर दिया। अब तो अमात्य बलि राजा बन गया। साधुओ के सहार निमित्त उसने यज्ञ का जाल रचा।

नरमेधयज्ञ का नाम रखकर मुनियो की आवासभूमि को हड्डी, मास आदि घृणित पदार्थो से पूर्ण कराकर उसने उसमे आग लगवा दी, जिसके भीषण एव दुर्गन्धयुक्त धुए से साधु लोगो का दम घुटने लगा। बलि ने अवर्णनीय उपद्रव आरम्भ करा दिया। उसने सोचा था, इस यज्ञ की ओट मे सम्पूर्ण मुनिसघ को स्वाहा करके सदा के लिये निश्चिन्त हो जाऊगा। इधर यह पैशाचिक जघन्य लीला हो रही थी, उधर मिथिला मे एक महान् योगी विष्णुकुमार मुनि के गुरु तथा अवधिज्ञानी मुनिराज ने अपने दिव्य ज्ञान से आकाश मे श्रवण नक्षत्र को कपित देख हस्तिनागपुर मे मुनिसघ के महान् उपसर्ग को जानकर बहुत दु.ख प्रकट किया। उनके समीपवर्ती पुष्पदन्त क्षुल्लक ने सर्व वृत्तान्त ज्ञात कर यह जाना कि विक्रिया ऋद्धि नामक महान् योगशक्ति को धारण करने वाले महामुनि विष्णुकुमार जी के प्रयत्न से ही यह सकट टल सकता है, अन्यथा नही।

पुष्पदन्त क्षुल्लक ने विष्णुकुमार मुनिराज के पास जाकर सम्पूर्ण वृत्तान्त सुनाया। मुनिसघ पर आगत विपत्ति-निवारणनिमित्त आध्यात्मिक सिद्धियो का उपयोग करते हुए वे वात्सल्य मूर्ति मुनिराज अपने भाई पद्मराय के राज्य मे पहुँचे, जहाँ बलि ने नरबलि का पाखण्ड फैलाया था। पद्मराय को डाटते हुए उन्होने कहा–**"पद्मराय, किमारब्ध भवता राज्यवर्तिना"**[6]–तुमने यह क्या कार्य मचा रखा है। पद्मराय ने अपनी असमर्थता बताते हुए निवेदन किया कि एक सप्ताह पर्यन्त राज्य पर मेरा कोई भी अधिकार नही है। **हरिवश-पुराणकार** कहते है–

"पद्मस्ततो नत प्राह नाथ, राज्य मया वले.।
सप्ताहावधिक दत्त नाधिकारोऽधुनात्र मे॥"–20, 40।

विष्णुकुमार मुनिराज ने यज्ञ और दान देने मे तत्पर बलि को देख अपने लिये केवल तीन पाँव भूमि मागी। स्वीकृति प्राप्त कर विक्रिया ऋद्धि के प्रभाव से विष्णुकुमार ने अपने दो पावो को मेरु तथा मानुषोत्तर पर्वत पर्यन्त विस्तृत करके तीसरे पैर के योग्य भूमि मागी। यह लोकोत्तर प्रभाव देखकर बलि घबडाया। उसने क्षमा मागी और उपसर्ग दूर किया। विष्णुकुमार मुनिराज ने श्रावणी पूर्णिमा के प्रभात मे साधुओ का उपसर्ग

दूर किया। बलि को अपने पाप कर्म के कारण निन्दा प्राप्त हुई तथा वह देश के बाहर कर दिया गया। आचार्य **जिनसेन** कहते है–

"उपसर्गं विनाश्याशु बलि बद्ध्वा सुरास्तदा।
विनिगृह्य दुरात्मान देशाद् दूर निराकिरन्॥"

–हरिवशपु० (20-601)

हस्तिनागपुर के श्रावको ने उपसर्ग दूर होने पर अकपन आदि मुनीन्द्रो की भक्तिपूर्वक पूजा की तथा योग्य आहार देकर पुण्य सचय किया।

धर्मवात्सल्यवश विष्णुकुमार मुनीश्वर ने जो कार्य किया था, उसकी सभी धार्मिक जनता प्रशसा करती है, किन्तु उन मुनीश्वर के चित्त मे यह शल्य थी, कि मैने दिगम्बर मुनि पद की सीमा का अतिक्रमण किया है। इस विषय मे **हरिवशपुराण** मे कहा है–

कृत्वा शासन-वात्सल्यमुपसर्ग-विनाशनात्.।
विष्णु. स्वगुरुपादान्ते विक्रियाशल्य मुज्ज हौ॥ 62॥
तपो घोर मसौ कृत्वा कृत्वान्त घातिकर्मणाम्।
विहृत्य केवली विष्णुर्मोक्षमन्ते ययौ विभु॥ 63॥

–(पर्व 20)

इस प्रकार सात सौ मुनियो के महासघ का उपसर्ग दूर कर जिनधर्म के प्रति वात्सल्यभाव को व्यक्त करते हुए विष्णुकुमार ने अपने गुरु के समीप जाकर विक्रिया शक्ति का उपयोग कर जो कुछ कार्य किया था, उसकी शल्य का त्याग किया। तत्पश्चात् घोर तप करके उन्होने घातिया कर्मो का नाश किया तथा केवली भगवान बनकर विहार करते हुए धर्मोपदेश दिया तथा अन्त मे मुक्ति प्राप्त की।

हरिषेण कथाकोष मे लिखा है कि विष्णुकुमार मुनीश्वर ने गुरु के समीप जाकर आत्मदोष निवेदन रूप आलोचना की और पश्चात् योग्य पद को प्राप्त किया। उस सपय जैन धर्म की महान प्रभावना हुई थी। राजा पद्म आदि ने अकम्पनाचार्यादि के चरण कमलो की पूजा की।

इस अखुत घटना से प्रभावित हो किन्ही व्यक्तियो ने महाव्रत लिए, किन्ही ने श्रावको के नियम लिए तथा किन्ही ने उपशान्त परिणामो को प्राप्त किया। जो क्रोधादि से कलुषित हृदय वाले मिथ्यात्वी लोग थे, उन्होने जैनधर्म की प्रशसा की तथा वे अत्यन्त हर्षित हुए। **हरिषेणाचार्य** ने लिखा है .–

दृट्वातिशयमीदृक्ष प्रापु केचन महाव्रतम्।
केचिच्छ्रावकता शुद्धा केचिच्चोपशम परम्।। 146।।
येऽपि मिथ्यादृशो लोका क्रोधादिकलुषीकृता ।
जिनधर्म प्रशसन्त स्तस्थुर्मुदितचेतस ।। 147।।
उपसर्ग सहित्वा ते यतयोऽकम्पनादय ।
शुभानुष्ठानसयुक्ता धर्मयोग्य पद यभु:।। 148।।
विधाय मुनिवात्सल्य कुमारो विष्णुपूर्वक·।
आलोचना गुरो पार्श्वे कृत्वा योग्य पद मयौ।।148।।

– *बृहत्कथाकोश*

जैसे महामुनि विष्णुकुमार ने साधुसघ पर वात्सल्य दिखाकर उनका उपसर्ग निवारण किया, उसी प्रकार जिनेन्द्र प्रतिमा, मन्दिर, मुनिराज आदि पर विपत्ति आने पर प्राणो की भी बाजी लगाकर धर्म तथा धर्मात्माओ का रक्षण करना रक्षाबन्धन पर्व का सन्देश है। उत्कृष्ट सात्त्विक प्रेम का प्रबोधक यह रक्षाबन्धन या श्रावणी पर्व है। उस दिन साधक उपसर्ग विजेता अकपनाचार्य आदि की पूजा करता हुआ कहता है–

"श्री अकपन गुरु आदि दे मुनि सात सौ जानो।
तिनकी पूजा रचौ सुखकरी भव-भव के अघ हानो।।"

रक्षाबन्धन के समय बहिन के द्वारा भाई को राखी बाँधने की लौकिक पद्धति यथार्थ मे वात्सल्य रस की उद्बोधक है। 'बहिन' वात्सल्य भावना की प्रतीक है। 'भाई' आदर्श श्रावक का रूप वीतराग शासन के समाराधक यदि इस पर्व के भाव को हृदयगम करे तो समाज तथा विश्व का कल्याण हो। सामाजिक जागृति वात्सल्य भाव को धारण करने मे है।

दीपावली—कार्तिक कृष्णा अमावस्या के सुप्रभात मे पावापुरी के उद्यान से भगवान् महावीर प्रभु ईस्वी सन् से 527 वर्ष पूर्व सम्पूर्ण कर्मशत्रुओ को जीतकर अनन्त ज्ञान, अनन्त आनद, अनत शक्ति आदि अनन्त गुणो को प्राप्त कर मुक्तिधाम को पहुँचे थे। उस आध्यात्मिक स्वतन्त्रता की स्मृति मे प्रदीप पक्तियो के प्रकाश द्वारा जगत् भगवान् महावीर प्रभु के प्रति अपनी श्रद्धाजलि अर्पित करता हुआ अपनी आत्मा को निर्वाणोन्मुख बनाने का प्रयत्न करता है। **हरिवशपुराण** से विदित होता है, कि भगवान् महावीर ने सर्वज्ञता की उँपलब्धि के पश्चात् भव्यवृन्द को तत्त्वोपदेश दे पावानगरी के मनोहर नामक उद्यानयुक्त वन मे पधार कर स्वाति नक्षत्र के उदित होने पर कार्तिक कृष्णा के सुप्रभात की सध्या के समय अघातिया कर्मो का नाश कर निर्वाण प्राप्त किया। उस समय दिव्यात्माओ ने प्रभु की और उनके देह की पूजा की। **हरिवशपुराण** मे लिखा है कि धर्मनाथ, अरनाथ और नेमिनाथ भगवान् ने भी प्रभात समय मे मोक्ष प्राप्त किया था —

धर्मस्यारजिनेन्द्रस्य नमि-वीर-जिनेन्द्रयो·।
प्रत्यूषे सिद्धिरुद्दिष्टा नष्टाष्ट विधकर्मणाम्॥ (60-279)

उस समय अत्यन्त दीप्तिमान जलती हुई प्रदीप पक्ति के प्रकाश से आकाश तक को प्रकाशित करती हुई पावानगरी शोभित हुई। सम्राट् श्रेणिक (बिम्बसार) आदि नरेन्द्रो ने अपनी प्रजा के साथ महान् उत्सव मनाया था। तबसे प्रतिवर्ष लोग भगवान् महावीर जिनेन्द्र के निर्वाण की अत्यन्त आदर तथा श्रद्धापूर्वक पूजा करते है।[7]

आज भी दीपावली का मगलमय दिवस भगवान् महावीर के निर्वाण की स्मृति को जागृत करता है। समग्र भारत मे दीपमालिका की मान्यता भगवान् महावीर के व्यक्तित्व के प्रति राष्ट्र के समादर के परम्परागत भाव को स्पष्ट बताती है, यद्यपि साम्प्रदायिक दृष्टिकोण वाले कल्पित घटनाओ से ऐतिहासिक दीपावली को सम्बद्ध बता अपनी सकीर्ण दृष्टि को पुष्ट करते है। कोई-कोई लोग दयानदजी सरस्वती (जो बीसवी सदी के व्यक्ति हुए है) के मरण के उपलक्ष्य मे दीपावली की

मान्यता बताते हुए अपने सम्प्रदायमोह तथा अतिसाहसपूर्ण उद्गार के लिये उल्लेखनीय माने जा सकते है।

इतिहास का उज्ज्वल आलोक दीपावली का सम्बन्ध भगवान् महावीर के निर्वाण से स्पष्टतया बताता है। दीपावली का मगलमय पर्व आत्मीक स्वाधीनता का दिवस है। उस दिन सध्या के समय भगवान् के प्रमुख शिष्य गौतम गणधर को कैवल्य लक्ष्मी की प्राप्ति हुई थी। इससे दिव्यात्माओ के साथ मानवो ने केवलज्ञान-लक्ष्मी की पूजा की थी। इस तत्त्व को न जानने वाले रुपया पैसा की पूजा करके अपने आपको कृतार्थ मानते है। वे यह नही सोचते, कि द्रव्य की अर्चना से क्या कुछ लाभ हो सकता है? वे यह भूल जाते है कि लक्ष्मी, पुण्य और पुरुषार्थ के आधीन है –

"उद्योगिन पुरुषसिहमुपैति लक्ष्मीर्दैवेन देयमिति कापुरुषा वदन्ति॥"

दीपावली के उत्सव पर सभी लोग अपने-अपने घरो को स्वच्छ करते है, और उन्हे नयनाभिराम बनाते है। यथार्थ मे वह पर्व आत्मा को राग, द्वेष, दीनता, दुर्बलता, माया, लोभ, क्रोध आदि विकारो से बचा जीवन को उज्ज्वल प्रकाश तथा सद्गुण-सुरभि-सपन्न बनाने मे है। यदि यह दृष्टि जागृत हो जाये, तो यह मानव महावीर बनने के प्रकाशपूर्ण पथ पर प्रगति किए बिना न रहे।

दीपावली के दिन से वीरनिर्वाण सम्वत् आरम्भ होता है। अभी (सन् 2001) मे वीर निर्वाण सवत् 2528 प्रचलित है।

इस वीर निर्वाण सवत् के विषय मे दिगम्बर जैन ग्रन्थो के अनुसार एक दूसरा मत भी विशेष ध्यान देने योग्य है। त्रिलोकसार की 850 गाथा के टीकाकार श्री माधव चन्द्र त्रैविध देव ने लिखा है कि महावीर भगवान् के मोक्ष जाने के 605 वर्ष 5 माह व्यतीत होने पर विक्रम नाम का शक राजा हुआ–

"श्री वीरनाथ निर्वृते सकाशात् पचोत्तर-षट्छत-वर्षाणि पचमासयुतानि गत्था पश्चात् विक्रमाक शकराजो जायते।"

सन् 1964 मे 2020 वि स प्रचलित था। इसीलिए महावीर भगवान का निर्वाण सम्वत् 2625 वर्ष 5 माह मानना चाहिए। श्वेताम्बर परम्परा मे विक्रम का समय महावीर भगवान् के निर्वाण के 40 वर्ष बाद माना है इसलिए उस मत के अनुसार महावीर का निर्वाण काल 2020 + 470 (2490) होगा। यही मत इस समय प्रचलित है। दिगम्बर शास्त्रानुसार महावीर भगवान् का निर्वाण प्रचलित वीर सम्वत् से 135 वर्ष पूर्व माना जायेगा। इस विषय मे डाक्टर जैकोबी के शब्द ध्यान देने योग्य है। Jacobı says—"The tradıtıonal date of Mahavıra's nırvana ıs 470 years before Vıkrama accordıng to the Svetambars and 605 accordıng to the Dıgambers"

जैकोबी का कथन है कि श्वेताम्बरो के मतानुसार महावीर के निर्वाण का परम्परानुसार काल विक्रम से 470 वर्ष पूर्व है और दिगम्बरो के मतानुसार यह काल 605 वर्ष पूर्व का है।

श्री 'राइस' महोदय ने अपने शिलालेख सग्रह की प्रस्तावना (पृ 10) मे यह लिखा है कि महावीर भगवान (वर्धमान स्वामी) के निर्वाण के 605 वर्ष बाद उज्जयिनी मे विक्रमादित्य नाम का राजा हो गया है। उनके शब्द इस प्रकार है–

> "There was born Vıkramadıtya ın Ujjayını and he, by hıs knowledge of astronomy, havıng made an almanac, establıshed hıs own era from the year Rudhırodgarı, the 605th year after the death of Vardhamana"

यह केवल विक्रम और शक सम्वतो मे अविवेक का परिणाम है जिनके बीच 135 वर्ष का अन्तर है और यही अन्तर 470 व 605 वर्षो के बीच दिखाई देता है। यह सर्व प्राचीन प्रचलित सवत्सर प्रतीत होता है। मगलमय महावीर के निर्वाण को अमगलनाशक और मगलदायक मानकर भव्य लोग अपने व्यापार आदि का कार्य दीपावली से ही प्रारम्भ करते है।

अक्षयतृतीया–रक्षाबन्धन, दीपमालिका के समान अक्षय-तृतीया का दिवस भी सारे देश मे मगल-दिवस माना जाता है। वैशाख सुदी

तृतीया के दिन भगवान् वृषभदेव को कर्मभूमि के प्रारम्भ मे सर्वप्रथम आहार दान देकर अक्षय पुण्य सम्पत्ति प्राप्त करने का अनुपम सौभाग्य हस्तिनापुर के नरेश श्रेयास महाराज ने प्राप्त किया है। इस कारण यह दिवस अत्यन्त पवित्र तथा मगलमय माना जाता है।

भगवत् जिनसेनाचार्य ने अपने **महापुराण** मे अक्षय-तृतीया के विषय मे बताया है कि भगवान् वृषभदेव ने छह मास पर्यन्त अनशन के उपरान्त आहार ग्रहण करने के लिये विहार प्रारम्भ किया। वह कर्मभूमिरूप युग का प्रारम्भिक समय था। लोगो को इस बात का बोध न था, कि किस विधिपूर्वक दिगम्बर मुनिमुद्राधारी भगवान् को सम्मानपूर्वक आहार कराया जाए।[8] भगवान् मौनपूर्वक एक स्थान से दूसरे स्थान को विहार करते थे तब भक्त लोग प्रेमपूर्वक आ-आकर उन्हे प्रणाम करते थे। कोई पूछते थे—भगवन्, कृपा कर हमे कार्य बताइये, कोई लोग चुपचाप भगवान् के पीछे-पीछे चले जाते थे। कोई अमूल्य रत्नो को लाकर भेट करते थे, कोई वस्तु, वाहन आदि लाते थे, किन्तु भगवान् के चित्त मे उनके प्रति इच्छा न होने के कारण वे चुपचाप विहार करते जाते थे। भिन्न-भिन्न सामग्री के द्वारा लोग अपने प्रभु का सम्मान करने का प्रयत्न करते थे, किन्तु भगवान् की गूढचर्या का भाव कोई भी नही जान सका था। इस प्रकार छह माह का समय और व्यतीत हो गया। उस समय कुरुजागल देश के अधिपति श्रेयास महाराज ने रात्रि के अन्तिम प्रहर मे 7 स्वपन देखे, जिनका पुरोहित ने कल्याणप्रद फल बताया। मेरुदर्शन का फल बताया था कि मेरु समान उन्नत तथा मेरु पर्वत पर अभिषेकप्राप्त महापुरुष आपके राजप्रासाद मे पधारेगे।

इतने मे बडा कोलाहल हुआ कि भगवान् आदिनाथ प्रभु हमारे पालन-निमित्त पधारे है, चलो शीघ्र जाकर उनका दर्शन करे तथा भक्तिपूर्वक उनकी पूजा करे।

"भगवानादिकर्ताऽस्मान् प्रपालयितुमागतः।
पश्यामोऽत्र द्रुत गत्वा पूजयामश्च भक्तित.॥"

—महापु० पर्व 20-54।

कोई-कोई कहते थे कि—श्रुति मे सुनते थे कि इस जगत् के पितामह है। हमारे सौभाग्य से उन सनातन प्रभु का प्रत्यक्ष दर्शन हो गया।

इनके दर्शन से नेत्र सफल होते है, इनकी चर्चा सुनने से कर्ण कृतार्थ होते है; इन प्रभु का स्मरण करने से अज्ञ प्राणी भी अन्त:निर्मलता को प्राप्त करता है।

उस समय प्रभुदर्शन की उत्कण्ठा से अहमहमिकाभावपूर्वक पुरवासियो का समुदाय महाराज श्रेयास के महल तक इकट्ठा हो गया। उस समय सिद्धार्थ नामक द्वारपाल ने तत्काल जाकर महाराज सोमप्रभ तथा श्रेयासकुमार से भगवान् के आगमन का समाचार निवेदन किया।

जब श्रेयास महाराज ने भगवान् का दर्शन किया, तब उन्हे जाति-स्मरण-जन्मान्तर की स्मृति प्राप्त हो गई। अत· पुरातन सस्कार के प्रभाव से आहारदान देने मे बुद्धि उत्पन्न हुई। उनको यह स्मरण हो गया कि हमने चारणऋद्धिधारी मुनियुगल को श्रीमती और वज्रजघ के रूप मे आहार दान दिया था। इस पुण्य स्मृति की सहायता से श्रेयास महाराज ने इक्षु रस की धारा के समर्पण द्वारा एक वर्ष के महोपवासी जिनेन्द्र आदिनाथ प्रभु के निमित्त से अपने भाग्य को पवित्र किया।

हरिवशपुराण मे लिखा है कि वज्रजघ और श्रीमती ने जिस चारणमुनियुगल को आहार दिया था वे उनके पुत्र ही थे जिन्होने सयमी जीवन को स्वीकार कर अपना जीवन कृतार्थ किया था। जिस समय भगवान् आदिनाथ का दर्शन श्रेयासकुमार ने किया, उस समय का सुन्दर चित्रण **हरिवश पुराणकार** ने इस प्रकार किया है–

स श्रेयानीक्षमाणस्त निमेष रहितेक्षण ।
रूपमीदृक्षमद्राक्ष क्वचित् प्रागित्यधान्मन.।।180।।
दी प्रेणाप्युपशान्तेन स तद्रूपेण वोधित:।
दशात्मेशभवान् बुद्ध्वा पादावाश्रित्य मूर्च्छित·।। 181।।
मूर्च्छितेनापि तत्पादौ प्रभृज्य मृदुमूर्धजै·।
अध्वश्रमच्छिदा धौतौ सोष्णानन्दाश्रुधारया।। 182।।
श्रीमती-वज्रजङ्घाभ्या दत्त दान पुरा यथा।
चारणाभ्या स्वपुत्राभ्या सस्मृत्य जिनदर्शनात्।।183।। (सर्ग 9)

उस समय निमेष रहित नेत्रो से आदिनाथ भगवान् को देखते हुए कुमार श्रेयास के मन मे यह विचार आया कि, मैने पहिले इस रूप का

दर्शन किया है। दैदीप्यमान होते हुए भी परम प्रशान्त रूप का दर्शन कर उसे अपने और भगवान के दस पूर्व भवो का परिज्ञान हो गया और वह उनके चरणो के समीप मूर्च्छा को प्राप्त हो गया। मूर्च्छित होने पर भी कुमार ने अपने कोमल मस्तक के केशो से प्रभु के चरणो को पोछा और भगवान् के मार्ग का श्रम दूर करने के लिए उष्ण आनन्दाश्रुओ की धारा से उनके चरणो का प्रक्षालन किया। श्रीमती और वज्रजघ ने पहिले चारण ऋद्धिधारी अपने दो पुत्रो को जिस विधि से दान दिया था वह सब विधि भगवान् का दर्शन करते ही कुमार की स्मृति मे आ गई। उस समय कुमार ने भगवान् से कहा–'प्रभु 'गृहाणेप्रासुक रसम्'–भगवान् ने इक्षु रस को ग्रहण किया। एक वर्ष एक माह और नौ दिन के पश्चात् भगवान् को दिए गए इस दान के शुभ समाचार को ज्ञात कर सारा विश्व हर्षित हो गया। उस समय देवो ने आकाश से रत्नो की वर्षा की। आचार्य कहते है कि यह रत्नो की धारा इक्षु रस की धारा के साथ स्पर्धा करती हुई सी प्रतीत होती थी–

श्रेयसा पात्र-निक्षिप्तपुण्ड्रेक्षुरस-धारया।
स्पर्धयेव सुरै स्पृष्टा वसुधारा पतद्दिव ॥

– 195 श्लोक, सर्ग नवम

यह दान अक्षय पद प्रदाता तथा अक्षयकीर्ति का निमित्त बना, इस कारण उस वैशाख सुदी तीज के साथ 'अक्षय' पद लग गया। महाराज श्रेयास को अमरकीर्ति प्राप्त हुई चक्रवर्ती भरतेश्वर श्रेयास महाराज से कहते है–

"भगवानिव पूज्योऽसि कुरुराज त्वमद्य न·।
त्व दानतीर्थकृत् श्रेयान् त्व महापुण्यभागसि॥"

–आदिपु॰ 28-217

हे कुरुराज, आज तुम भगवान् वृषभदेव के समान पूजनीय हो, कारण श्रेयास, तुम दान तीर्थ के प्रवर्तक हो, अतः तुम महापुण्यशाली हो। आज उस घटना को व्यतीत हुए बहुत काल हो गया, किन्तु प्रतिवर्ष अक्षय तृतीया का मगलमय दिवस साधक की आत्मा को पुनः-पुन. दिव्य प्रकाश प्रदान करता हुआ सत्पात्र दान की ओर प्रेरित करता है।

दान के विषय मे यह बात स्मरण करने योग्य है कि देय वस्तु की बहुमूल्यता पर दान की महत्ता अवलम्बित नही है। महाराज श्रेयास ने थोडा सा इक्षुरस भगवान् वृषभदेव को आहार मे दिया था, उस रस का आर्थिक दृष्टि से कोई मूल्य नहीं है, किन्तु उसका परिणाम इतना महत्त्वपूर्ण हुआ कि दान का दिवस सम्पूर्ण शुभकार्यों के लिए मगलमय बन गया। चक्रवर्ती भरत तक ने उस दान के दाता को दान तीर्थंकर कहकर सम्मानित किया।

भगवान् महावीर के चरित्र से ज्ञात होता है कि चेटक नरेश की गुणवती पुत्री कुमारी चदना ने बन्दीगृह मे रहते हुए भी कोदो चावल के आहारदान द्वारा भगवान् महावीर को सम्मानित कर आश्चर्यप्रद कीर्ति प्राप्त की।

पद्मपुराण[10] मे बताया है कि मर्यादापुरुषोत्तम महाराज रामचद्र ने दण्डक वन मे मिट्टी और पत्तो के बने हुए पात्र मे भोजन बनाकर मासोपवासी सुगुप्ति तथा सुगुप्त नामक दिगम्बर मुनियो को श्रद्धा तथा अत्यन्त हर्षयुक्त हो सीताजी एव लक्ष्मणजी के साथ आहार अर्पण किया था। उस समय उन योगीन्द्रो को दिए गए आहारदान की महिमा **आचार्य रविषेण** ने पद्मपुराण मे बडी सजीव भाषा मे बताई है।

इससे यह बात स्पष्टतया प्रमाणित होती है कि पात्र को विधिपूर्वक योग्य वस्तु उचित काल मे देने से महाफल की प्राप्ति होती है। सूत्रकार **उमास्वामि** महाराज ने कहा है—**"विधिद्रव्यदातृपात्रविशेषात् तद्विशेषः।"** विधि, द्रव्य, दाता तथा पात्र की विशेषता से दान मे विशेषता होती है। अक्षयतृतीया के उज्ज्वल सदेश को प्रत्येक गृहस्थ को अपने अन्तःकरण मे पहुँचाना चाहिये।

श्रुतपचमी—श्रुत शब्द 'शास्त्र' का वाचक है। ज्येष्ठ सुदी पचमी का मगलमय दिवस सरस्वती की समाराधना का सुदर समय है। सौराष्ट्र देश की गिरिनार पर्वत की चद्रगुहा मे प्रातःस्मरणीय आचार्य **धरसेन** ने भगवान् महावीर के कर्म-साहित्य सम्बन्धी परम्परा से प्राप्त प्रवचन को लोकहितार्थ भूतबलि और पुष्पदन्त नामक दो मुनीन्द्रो को आषाढ़ शुक्ला

एकादशी के प्रभात मे पूर्णतया पढाया था। इसके अनन्तर गुरुदेव का स्वर्गवास हो गया और शिष्ययुगल ने कर्म साहित्य पर **षट्खडागम सूत्र** नाम की महान् रचना आरम्भ की। कुछ काल पश्चात् पुष्पदन्त आचार्य सहयोग न दे सके, अत· शेषाश भूतबलि स्वामी ने लिखा। उस षट्खडागम शास्त्र की साधर्मी समुदाय ने ज्येष्ठ सुदी पचमी को बडे वैभव तथा उत्साहपूर्वक पूजा कर सरस्वती के प्रति अपनी उत्कृष्ट श्रद्धा व्यक्त की। तबसे श्रुतपचमी नाम का पर्व प्रख्यात हो गया।[11] श्रुतपचमी मे ग्रथो को उच्च स्थान पर विराजमान करके सम्यक्ज्ञान की पूजा की जाती है। साधक यह भी चितन करता है कि यथार्थ ज्ञान आत्मा का स्वभाव है। बाह्य ग्रन्थ उस ज्ञान-ज्योति को प्रदीप्त करने मे सहायक होते है।

ऋषि प्रणीत आगम के अभ्यास से आत्मा का विकार दूर होता है। मोह के क्षय करने मे शास्त्र का स्वाध्याय अधिक उपयोगी है। स्वाध्याय की अन्तरग तप मे गणना की गई है। शास्त्र के मनन मे तल्लीन व्यक्ति कर्मो की निर्जरा करता है। **प्रवचनसार** मे लिखा है:-

जिणसत्थादो अट्ठे पच्चक्खादीहि बुज्झदो णियमा।
खीयदि मोहोवचयो तम्हा सत्थ समधिदव्व॥1-86॥

प्रत्यक्षादि प्रमाणो के द्वारा सर्वज्ञ प्रणीत शास्त्र से वस्तु स्वरूप को जानने वाले व्यक्ति के नियम से मोह का समूह क्षय को प्राप्त होता है, इस कारण जिनागम का भली प्रकार अभ्यास करना चाहिये।[12]

बाजार मे सच्ची और अच्छी वस्तु कठिनता से अल्प मात्रा मे मिलती है, इसी प्रकार आत्मा को श्रेयोमार्ग मे प्रवृत्त कराने वाले शास्त्र अल्प प्रमाण है। सुन्दर तथा मोहक नाम धारण कर शस्त्र के समान आत्मा का घात करने वाले मिथ्या शास्त्रो की अमर्यादित वृद्धि हो रही है। जैन आगम मे भी मिथ्यात्व से मलिन मन वाले पापी व्यक्ति विषय कषाय पोषक विष मिलाने लगे है। धन की लोलुपता वश कोई-कोई विद्वान् कहे जाने वाले परमागम के स्वरूप मे विपयसि करने का महापाप करते हुए पाए जाते है, अत. साधक को सावधानी से ऐसे शास्त्रो से

बचना चाहिए जिनमे आर्ष परम्परा के विपरीत स्वच्छन्द प्रवृत्ति की पोषक सामग्री पाई जाती है। मोक्ष की प्राप्ति के लिए वीतराग की वाणी का ही अभ्यास हितकारी होगा। जिनवाणी मोहरोग की अमोघ औषधि है।

कोई लोग सोचते है कि श्रुतपचमी पर्व के पूर्व मे शास्त्र नही थे तथा जैनागम के लेखन की पद्धति नही थी। यह कल्पना मिथ्या है। भगवान् ऋषभदेव ने अनेक शास्त्रो की रचना कर अपने पुत्रो और पुत्रियो को शिक्षा दी थी। भगवान् महावीर स्वामी के साक्षात, शिष्य गौतम गणधर रचित **'प्रतिक्रमण ग्रथत्रयी'** आज उपलब्ध है।[13] चतुर्विध दान प्रणाली मे शास्त्रदान भी अतर्भूत है। मन्द क्षयोपशम वाले भव्य जीवो के कल्याणार्थ सदा ही सद्‌गुरुओ ने अपनी वाणी और अपनी रचना द्वारा स्व-परोपकार किया है। जैनधर्म के विद्वेषी वर्ग द्वारा अपरिमित जैन ग्रथ नष्ट किए गए, इससे प्राचीन सामग्री कठिनता से उपलब्ध होती है। आप्त, आगम तथा साधु का श्रद्धान करना सम्यक्त्व का लक्षण है। इस जैन धर्म मे सदा से रत्नत्रय धर्म की दिव्यज्योति दैदीप्यमान होती चली आई है। अत· ऐसे समय की कल्पना करना अखुत लगता है जब शास्त्र और धर्म की देशना का सखाव इस कर्मभूमि मे न हो। अतः भगवान् महावीर के पूर्व ही नही ऋषभादि तीर्थकरो के समय मे भी शास्त्र की रचना होती थी और भव्य जीव उस आगम के प्रकाश में अपनी आत्मा को विशुद्ध बनाते थे। साधक सदा श्रुत की समाराधना करके जीवन को कृतार्थ करता है।

अभी हमने कुछ मगलमय प्रमुख पर्वो का वर्णन किया है। ये पर्व सादि है, कारण उनकी उद्‌भूति विशेष घटनाओ के आधार पर हुई। अब हम थोडे से ऐसे पर्वो पर प्रकाश डालना उचित समझते है, जो अनादि पर्व के नाम से प्रसिद्ध है। अनादि अनन्त विश्व पर दृष्टिपात करे, तो ऐसा स्थान और दिवस इस मनुष्यलोक मे नही मिलेगा, जब कि किसी महान् साधक ने अपनी सफल साधना के प्रसाद से निर्वाण का पद न प्राप्त किया हो, फिर भी लोक-व्यहारनिमित्त प्रमुख पुरुषो से सम्बन्धित या मुख्य सयम की ओर आत्मा को आकर्षित करने वाले मगलकाल को[14] विशेष मान्यता प्रदान की जाती है।

अष्टाह्निका—आषाढ, कार्तिक तथा फाल्गुन मास के अन्त के आठ दिवस पर्यन्त यह पर्व प्रतिवर्ष तीन बार मनाया जाता है। इसे महापर्व कहा है—

"सरब परब मे बड़ो अठाई परब है
नदीसुर सुर जांहि, लिए वसु वरब है।"

नदीश्वर महाद्वीप मे विद्यमान जिन मंदिरो की वदना दिव्यात्माएँ आठ दिवस पर्यन्त बडे आनन्द तथा उत्साहपूर्वक किया करती हैं। जैन पुराण ग्रन्थो मे इस पर्व का अनेक बार वर्णन आता है। जैन रामायण-पद्मपुराण मे **रविषेणाचार्य** लिखते है, कि आषाढ़ शुक्ला अष्टमी से पूर्णिमापर्यन्त महाराज दशरथ ने बड़े वैभव के साथ आठ दिवस पर्यन्त उपवास करके जिनेन्द्र भगवान् का अभिषेक पूजादि द्वारा महान् पुण्य का सचय किया था।

"तत· सर्वसमृद्धीना कृतसम्भारसन्निधिः।
चकार स्नपन राजा जिनाना तूर्यनादितम्॥
अष्टाहोपोषित कृत्वाभिषेक परम नृप·।
चकार महतीं पूजा पुष्पैः सहजकृत्रिमैः॥
यथा नन्दीश्वरे द्वीपे शक्रः सुरसमन्वितः।
जिनेन्द्रमहिमानन्द कुरुते तद्वदेव सः॥" 7-9

—पद्मपुराण (पर्व 29।)

श्रीपाल चरित्र से विदित होता है, कि महाराज श्रीपाल की रानी मैना सुन्दरी ने कार्तिक मास मे अष्टाह्निका महापूजा करके कुष्ठरोग से व्यथित महाराज श्रीपाल तथा उनके साथियो को अपनी सकाम साधना के प्रभाव से रोगमुक्त किया था।

तार्किक अकलकदेव की कथा से विदित होता है कि अष्टाह्निका की महापूजा के पश्चात् जैन रथ के निकालने मे जिनधर्मश्रद्धालु राजमाता को राजा की ओर से आपत्ति दिखी, कारण शासक पर बौद्धधर्म का प्रभाव जमा हुआ था। उस समय अकलकदेव ने अपने प्रतिभापूर्ण शास्त्रीय प्रतिपादन द्वारा जैनधर्म की प्रतिष्ठा स्थापित कर राजा तथा प्रजा

को प्रभावित किया था। यह अष्टाह्निका का महापर्व अर्हदभक्ति का महापर्व है जिसमे असख्य देवगण भाग लेते है। सम्यक्त्व की उपलब्धि के उद्योग की मगल बेला है। मिथ्यात्वी देव नदीश्वर की पूजा से सम्यक्त्व प्राप्त करते है।

यह अष्टाह्निका पर्व यद्यपि जैन आगम तथा परम्परा की दृष्टि से सबसे बडा प्रसिद्ध है, किन्तु आज प्रचार मे दशलक्षण पर्व की अधिक मान्यता है।[15]

दशलक्षण पर्व—भादो सुदी पचमी से चतुर्दशी तक माना जाता है। अष्टाह्निका के समान दशलक्षण तथा सोलहकारण पर्व वर्ष मे तीन बार मानने का शास्त्रो मे वर्णन है, किन्तु शैथिल्योन्मुखी समाज मे भाद्रपद मे ही पर्व प्रचलित है। इस पर्व को पज्जूसण या पर्यूषण पर्व भी कहते है। दस दिवस पर्यन्त उत्तम क्षमा, मार्दव (निरभिमानता), आर्जव (मायाहीनता), शौच (निर्लोभवृत्ति), सत्य, सयम, तप, त्याग, अकिचनत्व तथा ब्रह्मचर्य इन दश धर्मों का स्वरूपकथन माहात्म्य चितन एव उनकी उपलब्धि निमित्त अभ्यास तथा भावना की जाती है। **तत्त्वार्थसूत्र** मे सवर के कारणो मे उत्तमक्षमादि धर्मो का कथन करते हुए यह सूत्र दिया है, **"उत्तमक्षमा-मार्दवार्जव-शौच-सत्य-सयम-तपस्त्यागा-किचन्य-ब्रह्मचर्याणि धर्मः** (9-5)। गौतम गणधर रचित प्रतिक्रमण मे दश धर्मों को श्रमण धर्म अर्थात् मुनियो का धर्म कहा है, **"दसण्ह समणधम्माण"** (पृ 9)। इन धर्मो के विशुद्ध रूप का परिपालन वास्तव मे सर्व परिग्रहत्यागी दिगम्बर मुनि पदवी प्राप्त महापुरुष ही कर सकते है। गृहस्थो ने अपने मुख्य पर्व अष्टाह्निका को आजकल पूर्णरूप से प्रायः भुलाकर श्रमण पर्व को अपना मुख्य पर्व बनाया है। दशधर्म यथार्थ मे आत्मा के लिए अमृत है, रसायन है; उनका आंशिक भी पालन सुखदायी होगा। दशधर्म भाषण की वस्तु नही है। जब तक हमारे कषायभाव शात नही होते है और सयम की ओर हमारा विषयलोलुपी मन उन्मुख नही होता है, तब तक धर्म का आनन्द नहीं मिलता है। गृहस्थ का कर्त्तव्य है, कि आगमोक्त पद्धति के अनुसार धर्म पालन करे। पापाचार मे निमग्न व्रतशून्य तथा देव दर्शनादि से भी विमुख गृहस्थ जब उच्च मुनियो की क्षमा का पाठ पढकर उसे स्वय की वस्तु सोचता है,

तो अखुत बात लगती है। हजरत मसीह गाव भर के लोगो को मछली खाने को बाटते है, साथ मे यह कहते है, जो तेरे बाए गाल पर चपत मारे, तो तू अपना सीधा गाल उसके समक्ष कर दे। एक ओर भयकर जीवहिसा का नजारा है और दूसरी तरफ यह क्षमा का रूप दिखाया जाता है। ऐसी विषमता जैनशासन के प्रतिपादन की वस्तु नही है। गृहस्थ क्षमा का आराधक, पूजक तथा वदक होते हुए सीमा के भीतर ही उसका पालक है। आवश्यकता पडने पर वह अन्याय का दमन करने के लिए तलवार का उपयोग करने मे चुप नही बैठेगा। क्षमा यती का भूषण है, भूपति का नही। अतः दशधर्मो की चर्चा करते समय गृहस्थो को यह ध्यान मे रखना चाहिए, कि कही वे मुनि जीवन के क्षेत्र मे प्रवेश तो नही कर रहे है। गृहस्थ को अपनी मर्यादा के भीतर ही रहना चाहिए। शकाकार कह सकता है यदि मुनि के जीवन की बातो को अपना लिया तो क्या बुराई है? स्थूल रूप मे बात अच्छी लगती है, किन्तु उससे धर्म की व्यवस्था आदि को क्षति पहुँचती है। एक गृहस्थ बगल मे बदूक रखकर एक हाथ मे पिच्छी कमण्डलु रखकर दया भाव का प्रदर्शन करे तो जैन आचार्य उस श्रावक को विवेक शून्य कहेगे। हमने एक गृहस्थ को देखा, जो स्वय को द्वितीय प्रतिमाधारी कहते हुए भी सन की बनी हुई पिच्छी हाथ मे रखते थे। यह मार्ग जैन धर्म का नही है। स्वच्छदता पूर्ण प्रवृत्ति करने पर महान अनर्थ हो जाएगा। अत दशधर्मो की चर्चा तथा अर्चा करते समय गृहस्थो को यह बात मुख्यता से सोचनी चाहिए कि वे श्रावक पद की एकादश प्रतिमाओ मे से किस पर प्रतिष्ठित है? विवेक के प्रकाश मे कार्य करना श्रेयस्कर है। दशधर्मो के पालन द्वारा व्यक्ति, समाज तथा राष्ट्र का कल्याण होता है।

वरागचरित्र मे कहा है .–

यत्प्राणिना जन्म-जरोग्र-मृत्युर्महाभयत्रास निराकृतानाम्।
भैषज्यभूतो हि दशप्रकारो धर्मो जिनानामिति चितनीयम्।। 31-97।।

जीवो के जन्म, जरा, उग्रमरण का महाभय तथा त्रास से पीडित प्राणियो के लिए भैषज्यरूप है इस प्रकार जिनेन्द्र के दशविध, धर्म के विषय मे चितवन करना चाहिये।

मनुस्मृति मे दश धर्मों का इस प्रकार उल्लेख किया गया है:–

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेय शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशक धर्मलक्षणम्॥ 6-92॥
दशलक्षणानिधर्मस्य ये विप्रा समधीयते।
अधीत्य चानुवर्तन्ते ते याति परमा गतिम्॥ 6-93॥

साधक गुणमय परमात्मा के क्षमादि गुणो की भेदविवक्षा द्वारा पूजन करके अपने मन को उज्ज्वल विचारो की ओर प्रेरित करता है। इस पर्व मे जो पूजा की जाती है वह बहुत उद्बोधक, शान्ति तथा स्फूर्तिप्रद है। यह पर्व यथार्थ मे सम्पूर्ण विश्व के द्वारा उत्साहपूर्वक मनाने योग्य है। यदि दशलक्षण धर्म का प्रकाश जगत् मे व्याप्त हो जाए, तो ससार मे स्वार्थ, सकीर्णता स्वच्छन्दता आदि का जो प्रसार देखा जाता है, वह अकुश सहित हो जाएगा और जगत् यथार्थ कल्याण की ओर प्रवृत्त हो पवित्र **'वसुधैव कुटुम्बकम्'** के भव्य-भवन-निर्माण मे सलग्न हो जाए। इस पर्व की पूजा बहुत उदार तथा उज्ज्वल भावनाओ से परिपूर्ण है। स्थान का अभाव होने से हम केवल सयम की समाराधना के परिचय निमित्त लिखते है। **द्यानतरायजी** कहते है–

"उत्तम सयम गहु मन मेरे। भवभव के भाजै अघ तेरे।
सुरग-नरक-पशु-गति मे नाहीं। आलस-हरन, करन सुख ठाही।
ठाही, पृथ्वी, जल, आग, मारुत, रूख, त्रस, करुना धरो।
सपरसन, रसना, घ्रान, नैना, कान, मन, सब वश करो।
जिस बिना नहि जिनराज सीझे, तू रुल्यो जग कीचमे।
इक घरी मत विसरो करो नित, आवु जममुख बीचमे॥"

पृथ्वी आदि पच स्थावर तथा त्रसकाय की रक्षा करते हुए पच इन्द्रिय और मन को अपने अधीन रखने के लिए कितनी सुन्दर प्रेरणा की गई है। यदि सयम रत्न की सम्यक् प्रकार रक्षा न की गई, तो विषय-वासनारूपी चोर इस निधि को लूटे बिना न रहेगे। कवि साधक को सतत सावधान रहने के लिए प्रेरणा करते है, अन्यथा भविष्य अन्धकारमय होगा।

सयम के समान मार्दव, आर्जव, ब्रह्मचर्य, तपश्चर्या, दान आदि के विषय मे भी बडे अनमोल पद लिखे गए है। इस प्रकार की गुणाराधना करते-करते दोष सचय से आत्मा बचकर परम-आत्मा बनने की ओर प्रगति प्रारम्भ कर देती है।

षोडशकारण पर्व--इसमे दर्शनविशुद्धता, विनयसम्पन्नता शील तथा व्रतो का निर्दोष परिपालन, षट्आवश्यको का पूर्णतया पालन करना, सतत ज्ञानाराधन, यथाशक्ति त्याग तथा तपश्चर्या, साधु-समाधि, साधु की वैयावृत्य-परिचर्या, अरिहत भगवान्, आचार्य तथा उपाध्याय की भक्ति, श्रुत-भक्ति, दयामय जिन शासन की महिमा को प्रकाशित करना, जिन शासन के समाराधको के प्रति यथार्थ वात्सल्य भाव रखना इन सोलह भावनाओ के द्वारा साधक विश्व उद्धारक तीर्थंकर भगवान् का श्रेष्ठ पद प्राप्त करता है। इन सोलह भावनाओ को तीर्थंकर पद के लिए कारणरूप होने से **'कारण-भावना'** कहते है। इनमे प्रथम भावना प्रधान है। जब कोई पवित्र मनोवृत्ति वाला तत्त्वज्ञ साधक जिनेन्द्र भगवान् के साक्षात् सान्निध्य को प्राप्त कर यह देखता है कि प्रभु की अमृत तथा अभय वाणी के द्वारा सभी प्राणी मिथ्यात्वभाव को छोड सच्चे कल्याण के मार्ग मे प्रवृत्त हो रहे है, तब उसके हृदय मे भी यह बल-प्रेरणा जागृत होती है कि भगवान्, मै भी पापपक मे निमग्न दीन दुःखी पथभ्रष्ट प्राणियो को कल्याण के मार्ग मे लगाने मे समर्थ हो जाऊँ, तो मै अपने को सौभाग्यशाली अनुभव करूगा। इस प्रकार विश्व-कल्याण की सच्ची भावना द्वारा यह साधक ऐसे कर्म का सचय करता है, कि जिससे वह आगामी काल मे तीर्थंकर के सर्वोच्च पद को प्राप्त करता है। सम्राट् बिम्बसारश्रेणिक ने भगवान् महावीर प्रभु के समवशरण मे इस भावना के द्वारा तीर्थंकर प्रकृति का सातिशय बध किया और इससे वे आगामी काल मे महापद्म नाम के प्रथम तीर्थंकर होगे।

सोलहकारण भावना द्वारा तीर्थंकर प्रकृति नामक श्रेष्ठ पुण्यकर्म का बध होता है। चतुर्थगुणस्थानवर्ती अव्रत सम्यक्त्वी भी इस महान्, अखुत तथा लोकातिशायी पुण्य का बध करता है। अपूर्वकरण गुणस्थान के छटवे भाग तक इसका बध कहा है। उस गुणस्थान मे शुक्लध्यान रहता है। शुद्धोपयोग तथा निर्विकल्प समाधि का सखाव पाया जाता है। ऐसी विशुद्ध आत्मस्थिति होने पर जो पुण्य कर्म आता है, वह विश्व के द्वारा पूज्य तथा आराध्य तीर्थंकर अरिहत की अवस्था को प्रदान करता है।

श्रेष्ठ अपराजित महामत्र मे सर्वप्रथम **'णमो अरहताण'**–'अरहतो को नमस्कार हो', यह पद आता है। कुदकुदस्वामी कहते है कि यह अरहत पद **"पुण्णफला अरिहता"**–पुण्य कर्म वृक्ष के फलस्वरूप है। तीर्थंकर प्रकृति के उदय होने पर तीर्थंकर अरहत पद को प्राप्तकर धर्मतीर्थ का प्रवर्तन करते है। इसी से सहस्त्रनामो मे 'पुण्यराशि' का उल्लेख आता है। **'ॐ पुण्यराशये नमः'**। अनेकान्त विद्या के प्रकाश मे पुण्य का सम्यक् रूप से स्वरूप समझना चाहिए। गृहस्थ का कर्त्तव्य है कि पाप का त्याग कर पुण्य का सग्रह करे। जब वह महामुनि बनेगा, तब वह **'पुण्यापुण्य-निरोध '** का पुरुषार्थ करेगा। अयोगी जिन अत्य समय मे तीर्थकर आदि पुण्य प्रकृतियो का क्षपण कार्य करते है। गृहस्थ का मुख्य कर्त्तव्य, पाप का त्याग करना चाहिए। **भाव सग्रह** मे कहा है;

त्यक्तपुण्यस्य जीवस्य पापास्त्रवो भवेद् ध्रुवम्।
पापबधो भवेत्तमात् पापबद्याच्च दुर्गतिः॥ 611॥

पुण्य कार्य को छोडने वाले गृहस्थ के पाप का आस्रव होता है। उससे पाप का बध होता है और पाप का बध होने से वह दुर्गति मे जाता है। अत· गृहस्थ का कर्त्तव्य पाप से विमुख होकर पुण्य का सचय करना कहा गया है। एकान्त पक्ष ग्रहण करने वाला सन्मार्ग से विमुख होता है।

इन सोलहकारण भावनाओ के प्रभाव पर **जैनपूजा** मे **द्यानतरायजी** ने इस प्रकार प्रकाश डाला है–

"दरश विशुद्धि धरै जो कोई। ताको आवागमन न होई।
विनय महा धारै जो प्रानी। शिव वनिता की सखी बखानी।
शील सदा दृढ जो नर पालै। सो अवरन की आपद टालै।
ज्ञानाभ्यास करै मन माहीं। ताके मोह-महातम नाहीं।
जो सवेग भाव विस्तारै। सुरग मुकति पद आप निहारै।
दान देय मन हरष विशेखै। इह भव जस परभव सुख देखै।
जो तप तपै खपै अभिलाषा। चूरै करम-शिखर गुरु भाषा।
साधु समाधि सदा मन लावै। तिहुँ जग भोग भोगि शिव जावै।
निश दिन वैयावृत्य करैया। सो निहचै भव-नीर तिरैया।
जो अरहन्त भगति मन आनै। सो जन विषय कषाय न जानै।

जो आचारज भगति करै है। सो निरमल आचार धरै है।
बहु-श्रुत-वन्त भगति जो करई। सो नर सम्पूरन श्रुत धरई।
प्रवचन भगति करै जो ज्ञाता। लहै ज्ञान परमानद दाता।
षट् आवश्यक काल जो साधै। सो ही रत्नत्रय आराधै।
धरम प्रभाव करै जो ज्ञानी। तिन शिव मारग रीति पिछानी।
वत्सल अग सदा जो ध्यावे। सो तीर्थंकर पदवी पावे।।9।।
एही सोलह भावना, सहित धरै व्रत जोय।
देव-इन्द्र-नर-वन्द्य पद, 'द्यानत' शिवपद होय।।"

सम्पूर्ण भाद्रपद मे भावनाओ का व्रत सहित अभ्यास किया जाता है। इन भावनाओ के अतस्तल पर दृष्टि डालने से विदित होता है, कि अत्यन्त महिमापूर्ण त्रिभुवनवदित तीर्थंकर-पद प्राप्त करने वाले आत्मा को कितनी उच्चकोटि की साधना आवश्यक होती है। जैन आगम मे कहा है–कोई भी समर्थ मानव अपनी साधना के द्वारा तीर्थंकर बनने योग्य पुण्य का सम्पादन कर सकता है।

इस प्रकार योग्यकाल को प्राप्त कर साधक अपनी साधना के पथ मे प्रगति करता रहता है। मोहान्धकार और प्रमाद को दूर कर आत्म-जागरण की ओर उन्मुख हो सात्त्विक वृत्तियो को विकसित करना तत्त्वज्ञो का कर्त्तव्य है। चतुर साधक अनुकूल काल को प्राप्त कर अपने साध्य की प्राप्ति निमित्त हृदय से उद्योग करता है।

★★★

सदर्भ सूची

1 "नास्ति काले केवलणाणादिमगल परिणमति"।।1-24।।
"परिणिक्कमण केवलणाणुब्भवणिव्वुदिप्पवेसादि।
पावमलगालणादो पण्णत्तो कालमगल एद"।।1-25।।

2 "मानुष्य घुणभक्षितेक्षुसदृशम्।"–आत्मानुशासन 81।

3 "प्रत्यक्षीकृतविश्वार्थ कृतदोषत्रयक्षयम्।
जिनेन्द्र गौतमोऽपृच्छत्तीर्थार्थं पापनाशनम्।।89।।
स दिव्यध्वनिना विश्वसशयच्छेदिना जिन ।
दुन्दुभिध्वनिधीरेण योजनान्तरयायिना।।90।।
श्रावण स्यासिते पक्षे नक्षत्रेऽभिजिति प्रभु ।
प्रतिपद्यह्नि पूर्वाह्णे शासनार्थमुदाहरत्।।91।।" (*–हरिवशपुराण सर्ग 2*)

4 "वासस्स पढममासे सावणणामम्मि बहुलपडिवाए।
अभिजीणक्खत्तम्मि य उप्पत्ती धम्मतित्थस्स। 69।।
सावणबहुले पाडिवरुद्दमुहुत्ते सुहोदये रविणो।
अभिजिस्स पढमजोए जुगुस्स आदी इमस्स पुढ"।। 70।।

5 एको मुनिर्न तन्मध्ये केवल श्रुतसागर ।
भिक्षार्थ नगरयात स्थित स्तिस्तत्रशनेच्छाय।। पृ 11।। *(हरिषेणकृत बृहत्कथाकोष)*

6. हरिवशपुराण (सर्ग 20, श्लोक 32)।

7 "जिनेन्द्रवीरोऽपि विबोध्य सन्तत समन्ततो भव्यसमूहसन्ततिम।
प्रपद्य पावानगरी गरीयसी मनोहरोद्यानवने तदीयके।।15।।
चतुर्थकालेऽर्धचतुर्थमासकैर्विहीनता विश्चतुरब्दशेषके।
स कार्तिके स्वातिषु कृष्णभूत सुप्रभातसन्ध्यासमये स्वभावत ।।16।।
अघातिकर्माणि निरुद्धयोगको विधूय घातीन्धनवद्विबन्धन ।
विबन्धनस्तानमवाप्य शङ्करो निरन्तरायोरुसुखानुबन्धनम्।।17।।
ज्वलत्प्रदीपालिकया प्रबुद्धया सुरासुरैर्दीपितया प्रदीप्तया।
तदा स्म पावानगरी समन्तत प्रदीपिताकाशतला प्रकाशते।।19।।
ततस्तु लोक प्रतिवर्षमादरात् प्रसिद्धदीपालिकयात्र भारते।
समुद्यत पूजयितु जिनेश्वर जिनेन्द्रनिर्वाणविभूतिभक्तिभाक्।।21।।"
।।देखो-शक सवत् 705 रचित हरि॰ पु॰ (*सर्ग 66*)।।

8 "यतो यत पद धत्ते मौनि चर्यास्म सश्रित । ततस्ततो जना प्रीता प्रणमन्त्येत्य सम्भ्रमात्।। प्रसीद देव कि कृत्यमिति केचिज्जगुर्गिरम्। तूष्णीभाव व्रजन्त च केचित्तमनुवव्रजु ।। परे परार्ध्यरत्नानि समानीय पुरो न्युध । इत्यूचुश्च प्रसीदैनामिज्या प्रतिगृहाण न ।। वस्तुवाहनकोटीश्चय विभो केचिदढौकयन्। भगवास्ता स्वनर्थित्वात्तूष्णीको विजहार स ।। केचित्स्रग्वस्त्रगन्धादीनानयन्ति स्म सादरम्। भगवन् परिधत्स्वेति पटल्यासह भूषणै ।। केचित् कन्या समानीय रूपयौवनशालिनी । परिणाययितु देवमुद्यता धिक् विमूढताम्।। केचिन्मज्जनसामग्र्या संश्रित्योपारुधन् विभुम्। परे भोजनसामग्रीं पुरस्कृत्योपतस्थिरे।। विभो भोजनमानीत प्रसीदोपविशासने। सम मज्जनसामग्र्या निर्विश स्नानभोजने।। एषाञ्जलि कृतोऽस्माभि प्रसीदानुगृहाण न॰। इत्येकेऽघौषिषन्मुग्धा विभूमज्ञाततत्क्रमा ।।" –*महापु॰* (पर्व 20। 14-22।)

9 "श्रुयते य श्रुतश्रूत्या जगदेकपितामह ।
स न सनातनो दिष्ट्या यात प्रत्यक्षसन्निधिम्।।
दृष्टेऽस्मिन् सफले नेत्रे श्रुतेऽस्मिन् सफले श्रुती।
स्मृतेऽस्मिन् जन्तुरज्ञोऽपि व्रजत्यन्त पवित्रताम्।।49-50।।
अह पूर्वमह पूर्वमित्युपेतै समन्तत ।
तदा रुद्धमभूत् पौरे पुरमाराजमन्दिरात्।।63।।
तत. सिद्धार्थनामैत्य द्रुत दौवारपालक ।

भगवत्सन्निधि राज्ञे सानुजाय न्यवेदयत्॥69॥
सप्रेक्ष्य भगवद्रूप श्रेयान् जातिस्मरोऽभवत्।
ततो दाने मति चक्रे सस्कारै प्राक्तनैर्यत "॥78॥ *–आदिपुराण (पर्व 20)*

10 पद्मपुराण, पर्व 41।

11 "ज्येष्ठसितपक्षपञ्चम्या चातुर्वर्ण्यसघसमवेत ।
तत्पुस्तकोपकरणैर्व्यधात् क्रियापूर्वक पूजाम्॥143॥
श्रुतपञ्चमीति तेन प्रख्याति तिथिरिय परामाप।
अद्यापि येन तस्या श्रुतपूजा कुर्वते जैना ॥144॥"*–इन्द्रनन्दि–श्रुतावतार।*

12 मोहक्षपणे परम शब्दब्रह्मोपासन भवज्ञानावष्टभ-
दृढीकृतपरिणामेन सम्यक् अधीयमानमुपायान्तरम् –अमृतचद्रसूरि- पृ 109

13 जिनसेन स्वामी ने महापुराण मे लिखा है कि भगवान् वृषभनाथ ने एक व्याकरण बनाया था जिसमे सौ से अधिक अध्याय थे। उन्होने भरत को अर्थशास्त्र, बाहुबली को आयुर्वेद, धनुर्वेद, वृषभसेन को गधर्वशास्त्र पढाया था। भगवान् ने अपने पुत्रो को सर्व लोकोपकारी शास्त्र पढाए थे।

किमत्र बहुनोक्तेन शास्त्र लोकोपकारिपत्।
तत्सर्वमादिकर्तासौ स्वा समन्वशिषत् प्रजा॥ (16-125)

मुनियो को **'ज्ञान-ध्यान-तपोरक्त** '– ज्ञान, ध्यान तथा तप मे अनुरक्त कहा गया है। ज्ञानाराधना के लिए शास्त्र का सखाव आवश्यक है। उपवास के दिन धर्मामृत पीने तथा पिलाने का कथन है आचार्य तथा उपाध्याय परमेष्ठी सदा धर्म का उपदेश देकर भव्यो का कल्याण करते है। इन सब बातो को ध्यान मे रखने पर सर्वज्ञ परम्परा मे ऐसे समय की कल्पना भी नही की जा सकती, जबकि जिनवाणी शास्त्र रूप मे अविद्यमान हो। **'णाण पयासय'**–ज्ञान प्रकाशक है। उसके अभाव मे तो अधकार हो जाएगा। श्रुतपचमी को कर्म सबधी आगम के अश का लेखन पूर्ण होकर पूजा हुई थी। इससे अधिक कल्पना करते रहना अयोग्य है।

14 "तत्थ कालमगल णाम जम्हि काले केवलणाणादिपज्जएहि परिणदो कालो पावमलगालणत्तादो मगल। तस्योदाहरणम् परिनिष्क्रमण-केवलज्ञानोत्पत्ति-परिनिर्वाण-दिवसादय । जिनमहिमसम्बद्धकालोऽपि मगल यथा नन्दीश्वरदिवसादि ।
–धवलाटीका (भाग 1, पृ 29)

15 'नदीश्वर दर्शन' पुस्तक मे इस पर्व पर हमने विशेष विवेचन किया है।

*****

इतिहास के प्रकाश में

पुरातत्त्व प्रेमियो का प्राचीन वस्तु पर अनुराग होना स्वाभाविक है, किन्तु किसी दार्शनिक विचार-प्रणाली को प्राचीनता के ही आधार पर प्रामाणिक मानना समीचीन नही है। ऐसा कोई सर्वमान्य नियम नही है, कि जो प्राचीन है, वह समीचीन तथा यथार्थ है और जो अर्वाचीन है, वह अप्रामाणिक ही है। असत्य, चोरी, लालच आदि पापो के प्रचारक का पता नही चलता, अतः अत्यन्त प्राचीनता की दृष्टि से उनको कल्याणकारी मानने पर बडी विकट स्थिति उत्पन्न हो जाएगी। प्राचीन होते हुए भी जीवन को समुज्ज्वल बनाने मे असमर्थ होने के कारण जिस प्रकार चोरी आदि त्याज्य है, उसी प्रकार प्रामाणिकता की कसौटी पर खरे न उतरने के कारण प्राचीन कहा जाने वाला तत्त्वज्ञान भी मुमुक्षु का पथ-प्रदर्शन नही करेगा।

कालिदास ने कितनी सुन्दर बात लिखी है-

"पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि नून नवमित्यवद्यम्।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः॥"

प्राचीन होने मात्र से सभी कुछ अच्छा नही कहा जा सकता और न नवीन होने के कारण सदोष ही। सत्पुरुष परीक्षा कर योग्य को स्वीकार करते है किन्तु अज्ञानी दूसरे के ज्ञान के अनुसार अपनी बुद्धि को स्थिर करते है-वे स्वय उचित-अनुचित बात के विषय मे विचार नही करते।

तार्किक जैन **आचार्य सिद्धसेन** कहते है-प्राचीनता का कोई अवस्थित रूप नहीं है। जिसे हम आज नवीन कहते है, कुछ काल के व्यतीत होने पर उसे ही हम प्राचीन कहने लगते हैं। उनका तर्क यह है-

"जनोऽयमन्यस्य मृतः पुरातनः पुरातनैरेव समो भविष्यति।
पुरातनेष्वित्यनवस्थितेषु कः पुरातनोक्तान्यपरीक्ष्य रोचयेत्॥"

मरने के अनन्तर अन्य पुरुषो के लिए हम भी प्राचीन हो जायेगे और प्राचीनो के सदृश हो जायेगे। ऐसी स्थिति मे पुरातनता कोई अवस्थित वस्तु नही रहती, अतएव पुरातन तथा नवीन का परीक्षण करके अगीकार करना चाहिए।

जैन तत्त्वज्ञान समीचीन तथा तर्काबाधित होने से मुमुक्षु के लिए वदनीय है। प्राचीनता के साथ सत्य का सम्बन्ध सोचने वाले सभ्यो के लिए भी जैन सिद्धान्त माननीय है। जैन धर्म की प्राचीनता के विषय मे जैन ग्रन्थो मे इस प्रकार प्रकाश डाला गया है। सर्वज्ञ प्रकाशित शासन मे लोक अकृत्रिम तथा अनादि निधन है। महापुराण मे लिखा है :–

लोको ह्यकृत्रिमो ज्ञेयो जीवाद्यर्थावगाहक ।
नित्य. स्वभाव-निर्वृत्तः सोऽनन्ताकाशमध्यग·॥4-15॥

यह जगत्, किसी के द्वारा रचित न होने से अकृत्रिम है। इसमे जीव पुद्गल (matter) धर्म, अधर्म, काल तथा आकाश द्रव्य है। आकाश द्रव्य मे जीवादि पाँच द्रव्य विद्यमान है। यह लोक नित्य है, स्वभाव से रचित है अर्थात् इसकी रचना मे किसी अन्य शक्ति का हाथ नही है। यह लोक अनन्त आकाश के मध्य मे स्थित है।

इस जगत् के पदार्थो मे स्वभाव से सर्वदा क्षण-क्षण मे परिवर्तन का चक्र चला करता है। इस परिवर्तन मे सहकारीकारण काल द्रव्य कहा गया है।

यथा कुलालचक्रस्य भ्रान्तेर्हेतुरधश्शिला।
तथा काल· पदार्थाना वर्तनोपग्रहे मत."॥3-4॥

जिस प्रकार कुभकार के चक्र के परिभ्रमण मे चक्र के नीचे स्थित शिला की कील सहकारी होती है, उसी प्रकार पदार्थो के परिवर्तन मे काल द्रव्य सहकारीकारण है।

इस काल के दो भेद है– निश्चय काल तथा व्यवहार काल। निश्चय काल कालाणु रूप द्रव्य है। उसकी सहायता से भूत, वर्तमान तथा भविष्यत् रूप व्यवहार काल का सखाव माना गया है। इस व्यवहार

काल मे उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी इस प्रकार दो भेद कहे गए है। उत्सर्पिणी मे मनुष्यो के बल, आयु और शरीर का प्रमाण बढता है, जिस प्रकार शुक्ल पक्ष मे चद्रमा की कला वृद्धिगत होती है। अवसर्पिणी काल मे कृष्णपक्ष के चद्रमा के समान क्रम-क्रम से हानि होती है। इस समय इस भरत क्षेत्र मे अवसर्पिणी काल प्रवर्तमान है, जिससे सर्वत्र क्रमिक ह्रास का चक्र चल रहा है। यह सुषमा-सुषमा, सुषमा, सुषमा-दु:षमा, दु·षमा-सुषमा, दु·षमा तथा दु:षमा-दु.षमा रूप छह प्रकार का कहा गया है। प्रथम सुषमा-सुषमा द्वितीय सुषमा और तृतीय सुषमा दु:षमा काल मे क्रमशः उत्तम, मध्यम और जघन्य भोगभूमि की प्रवृत्ति रहती है। कल्पवृक्षो के द्वारा सर्वप्रकार के मनोवाछित पदार्थ प्राप्त होते है। प्रथम काल चार कोडा कोडी सागर दूसरा तीन कोडा कोडी सागर, तीसरा दो कोडाकोडी सागर चौथा एक कोडा कोडी सागर मे ब्यालीस हजार वर्ष न्यून, पाँचवा दु:षमा काल 21 हजार वर्ष और छटवाँ दु·षमा-दु:षमा काल भी 21 हजार वर्ष प्रमाण होता है। अवसर्पिणी के तीसरे काल के अवसार के पल्य का अष्टमाश शेष रहने पर कर्मभूमि का उषःकाल सा दिखाई पडने लगा। उस समय प्रतिश्रुति, दूसरे सन्मति, तीसरे क्षेमकर, चौथे क्षेमधर, पाचवे सीमकर, छठवे सीमधर, सातवे विमलवाहन, आठवे चक्षुष्मान्, नवमे यशस्वान्, दसवे अभिचन्द, ग्यारहवे चद्राभ, बारहवे मरुदेव, तेरहवे प्रसेनजित और चौदहवे नाभिराज, पद्रहवे तीर्थंकर ऋषभदेव तथा सोलहवे चक्रवर्ती भरतेश्वर, ये सोलह मनु हुए। इन महापुरुषो के द्वारा समस्त जनता को परवर्तित युग मे सामयिक मार्गदर्शन प्राप्त हुआ था। इनको कुलकर, कुलधर और युगादि पुरुष भी कहते थे। इनके द्वारा प्रजा को जीवन का उपाय ज्ञात हुआ था। महापुराण मे लिखा है ·—

प्रजाना जीवनोपायमननान्मनवो मताः।
आर्याणा कुल-सस्त्याय कृतेः कुलकरा इमे॥211॥
कुलाना धारणा देते मता कुलधरा इति।
युगादिपुरुषाः प्रोक्ता युगादौ प्रभविष्णवः॥212॥ पर्व 3॥

भोगभूमि मे सभी समान रूप से श्रेष्ठ सुख भोगते थे। छोटे, बडे की विषमता का अभाव था। **"षट्कर्म-धर्माभिरता न यस्याम्"** (वरागचरित्र

7-11) लोग न असिमषि आदि षट् कर्मों द्वारा जीविका करते थे, और न देव पूजा, स्वाध्याय, सयमादि का पालन करते थे। कर्मभूमि के उषाःकाल आने पर कुलकरो, मनु अथवा कुलधरो द्वारा तत्कालीन मानव समाज का मार्गदर्शन होता था।

भगवान ऋषभदेव के समय से कर्मभूमि की सर्वप्रकार से सुव्यवस्था हो गई थी। उनके द्वारा सर्वश्रेष्ठ लोक तथा समाज की रचना हुई थी, जिसमे धर्म पुरुषार्थ का प्रमुख स्थान था। अर्थ और काम उस धर्म के अनुशासन मे रखे गये थे। भगवान् ऋषभदेव ने कर्म शत्रुओ के क्षय हेतु राज्य का परित्याग करते समय भरत को राजा बनाया था। प्रतापी भरत ने चक्रवर्ती का गौरव प्राप्त किया था। ऋषभदेव के मोक्ष जाने के पश्चात्, दूसरे तीर्थंकर अजितनाथ, तीसरे सम्भवनाथ, चौथे अभिनदन, पचम सुमतिनाथ, षष्टम पद्मप्रभु, सप्तम सुपार्श्वनाथ, अष्टम चद्रप्रभु, नवम पुष्पदन्त, दशम शीतलनाथ, एकादशम श्रेयासनाथ, बारहवे वासुपूज्य, तेरहवे विमलनाथ, चौदहवे अनतनाथ, पद्रहवे धर्मनाथ, सोलहवे शान्तिनाथ, सत्रहवे कुथुनाथ, अठारहवे अरनाथ, उन्नीसवे मल्लिनाथ, बीसवे मुनिसुव्रत, इक्कीसवे नमिनाथ, बाईसवे नेमिनाथ, तेईसवे पार्श्वनाथ तथा चौबीसवे महावीर हुए। इन चौबीस तीर्थंकरो ने सर्वज्ञता की ज्योति को प्राप्तकर सर्वागीण सत्य का दर्शन किया तथा उसका प्रतिपादन कर प्राणीमात्र को सुख और शान्ति प्रदान की। इन चौबीस तीर्थंकरो के पूर्व भी चौबीस तीर्थंकर हो चुके है। जब विश्व अनादि है; मानव समाज अनादि है, तब अनतकाल से अहिसा तत्त्वज्ञान की धर्मदेशना देने वाले महापुरुष होते चले आए है तथा उनकी श्रृखला सदा चलती रहेगी। सूर्य सदा से प्रकाश देता है तथा उसके असगत होने पर अधःकार का राज्य होता है; इसी प्रकार तीर्थंकर भगवान रूपी धर्म सूर्य के मोक्ष जाने के पश्चात् अनेक बार अज्ञान, अविद्या तथा अनाचार की वृद्धि हुई है। जैन धर्म का सम्बन्ध सत्य से है। जब वस्तु स्वभाव रूप सत्य अनादि है, तब वस्तु स्वभाव रूप धर्म का प्रतिपादक जैन धर्म भी काल की मर्यादा से विमुक्त हो जाता है। वर्तमान अवसर्पिणी काल की अपेक्षा जैनधर्म का प्रतिपादन सर्व प्रथम ऋषभनाथ तीर्थंकर द्वारा हुआ है और वे 'जैन धर्म के सस्थापक

माने जाते है'। भगवान् ऋषभदेव द्वारा जो रत्नत्रय धर्म-आत्म श्रद्धा, आत्मज्ञान तथा आत्म निमग्नता का श्रेयमार्ग प्रतिपादित हुआ था, उसी परम सत्य का प्रतिपादन शेष सभी तीर्थंकरो ने किया है। जिस प्रकार विश्व के विविध दार्शनिको मे मतभेद पाया जाता है, इस प्रकार तीर्थंकरो की देशना मे कोई अन्तर नही था। अल्पज्ञ मानव को पूर्ण परमार्थ सत्य का दर्शन नही होने से उनके विचारो मे भिन्नता होना स्वाभाविक है, किन्तु सर्वज्ञो मे मतभेद की गुजायश ही नही है। वे वस्तु तत्त्व का प्रत्यक्ष ज्ञान करके उस सत्य को अपनी दिव्यध्वनि द्वारा व्यक्त करते है। कोई-कोई यह सोचते है, महावीर भगवान् ने जो धर्म का स्वरूप कहा, वह पार्श्वनाथ की देशना के विपरीत या भिन्न था। इससे वर्तमान जैनधर्म के उपदेष्टा महावीर वर्तमान जैनधर्म के सस्थापक है, यह धारणा जैन ग्रथो के कथन से असम्बद्ध है, तथा भ्रान्त कल्पना है। भगवान् ऋषभदेव से महावीर पर्यन्त तीर्थकरो ने स्याद्वाद रत्नत्रय कर्मसिद्धान्त आदि की समान रूप से देशना दी है। उनके उपदेशो मे तनिक भी मतभेद नही है। भगवान् ऋषभदेव की मान्यता हिन्दू धर्म मे अवतार रूप मे पाई जाती है। आदिब्रह्मा, आदि देव, बडे देव, आदम बाबा, विष्णु आदि नामो द्वारा भी विश्व मे उनको स्मरण करते है।

तीर्थकर भगवान् महावीर ने 42 वर्ष की अवस्था मे कैवल्य प्राप्त कर 30 वर्ष पर्यन्त अहिसा धर्म की देशना देकर पावापुरी से 72 वर्ष की अवस्था मे मोक्ष प्राप्त किया। उनके पश्चात् उसी दिन गौतम गणधर ने सर्वज्ञता पाई। उनके मोक्ष जाने के बाद सुधर्माचार्य केवली हुए। उनके मोक्ष जाने के पश्चात्, अनुबद्ध रूप से जम्बू स्वामी ने केवलज्ञान प्राप्त किया। अनुबद्धरूपता, परिपाटी क्रम अथवा अत्रुटित सन्तान (अतुट्टसताण) की अपेक्षा जम्बूस्वामी अंतिम केवली रूप मे माने गए है, किन्तु अपरिपाटी क्रम की अपेक्षा अतिम केवली का नाम श्रीधर केवली आया है तिलोयपण्णत्ति मे आचार्य **यतिवृषभ** ने लिखा है–

जादो सिद्धो वीरो तद्दिवसे गोदमो परमणाणी।
जादो तस्सि सिद्धे सुधम्मसामी तदो जादो॥1488॥

तम्मि कदकम्मणासे जम्बूसामित्ति केवली जादो।
तत्थ वि सिद्धिपवण्णे केवलिणो णत्थि अणुबद्धा॥1489।
कुडलगिरिम्मि चरिमो केवलणाणीसु सिरिधरो सिद्धो।
चारणरिसीसु चरिमो सुपासचदाभिधाणो य॥1491॥ अ. 4, ति. प.॥

गौतम, सुधर्माचार्य तथा जम्बूस्वामी का काल मिलकर 62 वर्ष कहा गया है। इनके पश्चात् नदी, नंदिमित्र, अपराजित, गोवर्धन और भद्रबाहु ये पच श्रुत केवली हुए। इनकी चतुर्दशपूर्वी रूप मे प्रसिद्धि हुई। इनका समय सौ वर्ष कहा है। धवला टीका मे प्रथम श्रुतकेवली का नाम नंदि के स्थान मे विष्णु दिया गया है। उक्त ग्रथ मे यह भी लिखा है कि अपरिपाटीक्रम की अपेक्षा सम्पूर्ण श्रुतज्ञान के पारगामी श्रुतकेवली सख्यात हजार हुए है। **"अपरिवाडीए पुण सयल-सुद-पारगा सखेज्ज-सहस्सा"** (पृष्ठ 65, भाग 1 ध टी)। इस द्वादशाग की जैन धर्म मे आगम सज्ञा है। इसके मूलग्रथ कर्ता सर्वज्ञ तीर्थंकर है। **"तदो भावसुदस्स अत्थपदाण च तित्थयरो कत्ता। तित्थयरादो सुद-पज्जाएण गोदमो परिणदो। त्तिदत्व-सुदस्य गोदमो कत्ता।"**–भावश्रुत और अर्थ पद के कर्ता तीर्थंकर है। तीर्थंकर के निमित्त स गौतम श्रुत पर्याय से परिणत हुए इसलिए द्रव्य श्रुत के कर्त्ता गौतम है। (पृ 65 ध टी 1)। तिलोयपण्णत्ति मे लिखा है कि **"बार सगाण चोद्दस-पुव्वाण एक्क मुहुत्तेण विरचणा विहिदा"** (ति प 1-79)–बारह अग, चौदह पूर्व की रचना एक मुहूर्त मे की गई थी। चौदहपूर्व, बारहवे अग दृष्टिवाद के चतुर्थ भेद स्वरूप है। जैनागम के अग बाह्य और अग प्रविष्ट, इस प्रकार दो भेद किए गए है। अग बाह्य के ये चौदह भेद है –(1) सामायिक (2) चतुर्विंशति स्तव (3) वन्दना (4) प्रतिक्रमण (5) वैनयिक (6) कृतिकर्म (7) दश वैतालिक (8) उत्तराध्ययन (9) कल्प व्यवहार (10) कल्प्याकल्प्य (11) महाकल्प्य (12) पुण्डरीक (13) महापुण्डरीक (14) निषिद्धिका।

अग प्रविष्ट के ये 12 अग है ·–(1) आचाराग (2) सूत्रकृताग (3) स्थानाग (4) समयावाग (5) व्याख्या प्रज्ञप्ति अग (6) ज्ञातृधर्मकथा (7) उपासकाध्ययनाग (8) अन्तःकृतदशाग (9) अनुत्तरऔपपादिकदशाग

(10) प्रश्नव्याकरणाग (11) विपाकसूत्राग (12) दृष्टिवादाग। दृष्टिवाद नाम के बारहवे अग के पाँच भेद ये है :–(1) परिकर्म (2) सूत्र (3) प्रथमानुयोग (4) पूर्वगत (5) चूलिका। इस पूर्वगत के चौदह भेद बताए गए है। इन चौदह पूर्वों को जैन शास्त्रो मे द्वादशाग के अन्तर्गत ही माना है। कोई-कोई लेखक पूर्वगत का अर्थ अपनी कल्पना से यह लगाते है कि महावीर भगवान् के पूर्व रचित साहित्य को पूर्वगत कहते है। यह धारणा पूर्णतया आचार्य परम्परा के कथन से बाधित होती है। प्रत्येक तीर्थकर की दिव्यध्वनि को अवधारण कर गणधर देव द्वादशाग, जिसमे 14 पूर्व गर्भित है, रचते है। सर्वप्रथम भगवान् ऋषभदेव की दिव्य-देशना को अवधारण कर वृषभसेन गणधर ने अगपूर्व आगम की रचना की थी। इसके पश्चात् भी अन्य तीर्थकरो के काल मे गणधरदेव द्वादशाग की रचना करते चले आए है। पूर्व साहित्य की रचना गौतम गणधर ने नही की, यह कथन धवलादि टीकाओ से बाधित होता है। **तिलोयपण्णत्ति** मे यह स्पष्ट लिखा है कि गणधर ने बारह अग और चौदह पूर्वों की एक मुहूर्त मे रचना की (1-79)। इस प्रकार आगम के प्रकाश मे पूर्वो को तीर्थकर महावीर के पूर्व की सामग्री बताना सर्वज्ञप्रणीत आगम के प्रतिकूल है। इस सबध मे एक युक्तिवाद है। श्रमण सस्कृति का मूलाधार उच्चश्रेणी का सदाचार है, जिसके पालक श्रमण तथा श्रावक रूप मे विभाजित किए गए है। श्रमणो के आचार का प्रतिपादन आचाराग रूप प्रथमाग मे तथा श्रावको अथवा उपासको के आचार का निरूपण सातवे उपासकाध्ययन अग मे किया गया है। सर्वज्ञ तीर्थकर पार्श्वनाथ ने उक्त श्रमणो तथा श्रावको के आचार के प्रतिपादक अगो की रचना नही की, यह बात बडी अखुत सी लगती है। द्वादशाग का सार आचाराग है। मोक्षमार्ग का साक्षात् कारण सम्यक्चारित्र है। उसका प्रणयन मे प्रत्येक तीर्थकर के तीर्थ की परम आवश्यक निधि है। अत: पूर्व की रचना का भाव महावीर के पूर्व रचित ग्रथ है, यह कथन आगम और सद्विचार से बाधित है।

दृष्टिवाद नामक बारहवे अग के पाँचवे भेद चूलिका मे अनेक प्रकार की आधुनिक विज्ञान द्वारा खोजी हुई बातो का कथन किया गया था। आकाश गता चूलिका मे आकाश गमन के कारणभूत तत्र, मत्र तथा

तपश्चरण का वर्णन है। स्थलगता चूलिका मे पृथ्वी के भीतर गमन करना, वास्तु विद्या, भूमि सबधी विविध बातो का कथन है। प्राणावाय पूर्व मे आयुर्वेद, प्राणायाम विष विद्या आदि का कथन है। विद्यानुवाद पूर्व मे अतरिक्ष, स्वर, स्वप्नादि विविध क्रियाओ की सिद्धि योग्य मत्रादि का कथन है। इन विषयो का निरुपण करने वाले गौतम गणधर अपने दिव्यज्ञान के द्वारा (सर्वावधिज्ञान) पुद्गल के सूक्ष्मतम भाग, परमाणु का साक्षात् दर्शन कर सकते थे। उस समय इन महामुनीश्वरो के होते हुए आध्यात्मिक विज्ञान के साथ भौतिक विज्ञान भी कल्पनातीत पराकाष्ठा को प्राप्त था। आध्यात्मिक विभूति के अप्रतिम सौन्दर्य सिन्धु मे निमग्न रहने के कारण से महाज्ञानी ऋषिराज भौतिक वैभव और चमत्कार के द्वारा पथभ्रष्ट नही हुए। उस समय का बहुभाग साहित्य का काल-कवलित हो गया तथा बहुत सा भाग धर्मान्धता के कारण जलाया गया और जहाज भर-भर कर नदी और समुद्र मे डुबाया गया। इन कारणो से हम उस ज्ञान राशि रूप विभूति से आज वचित हो गए।

गौतम गणधर सप्तऋद्धि विभूषित थे। उनके सिवाय महावीर भगवान के दस और गणधर भी समस्त् श्रुत के पारगामी तथा सप्तऋद्धि सहित थे। **हरिवश पुराण** मे लिखा है –

प्राप्तसप्तर्द्धि-सम्पद्धि समस्तश्रुतपारगै ।
गणेन्द्रै-रिन्द्रभूत्याधै-रेकादशभिरन्वित·॥ 3-40॥

एकादश गणधरो के नाम इस प्रकार कहे गए है-(1) इद्रभूति गौतम (2) अग्निभूति (3) वायुभूति (4) शुचिदत्त (5) सुधर्म (6) माण्डव्य (7) मौर्यपुत्र (8) अकपन (9) अचल (10) मेदार्य (11) प्रभास। **हरिवशपुराण** के शब्द **"मौर्यपुत्रस्तु सप्तम."** (3-42) इस बात को सूचित करते है, कि ईसा पूर्व सन् 557 मे मौर्यवश का सखाव था। भगवान महावीर का निर्वाण 527 ई पूर्व माना जाता है। उन्होने 30 वर्ष पूर्व केवलज्ञान पाया था। उस समय उनके समवशरण मे मौर्यपुत्र सप्तम गणधर थे। उस समय वशो के साथ पुत्र का शब्द जोडा जाता था, जैसे शाक्य पुत्र, ज्ञातृपुत्र आदि। इस प्रसग मे एक महत्त्वपूर्ण बात पर प्रकाश डालना उचित प्रतीत होता है।

मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त के विषय मे शासकीय राजाओ मे यह पाठ पढाया जाता है कि चन्द्रगुप्त मौर्य को अपनी माता मुरा के कारण मौर्य कहा गया। वास्तव मे चन्द्रगुप्त का मौर्य वश अत्यन्त प्राचीन क्षत्रिय वश था। उसे सिद्ध करने की इतिहास मे उचित सामग्री है, जिसके प्रकाश मे चन्द्रगुप्त को शूद्र जातीय मानने की कल्पना निर्मूल हो जाती है। जैन धर्म मे सातवे गणधर मौर्य वश के थे, ये पूर्व मे लिखा जा चुका है। बौद्ध साहित्य भी मौर्यवश को क्षत्रिय बताता है। **महावश** मे लिखा है कि मौर्य शाक्यो की एक उपशाखा थी। **महापरिणिव्वाणसुत्त** से बुद्ध के समय भी मौर्यों का सखाव ज्ञात होता है। डॉ राधाकुमुद मुकर्जी ने The Age of Imperial Unity मे लिखा है –

> "According to the text, the Moriyas, the ruling clan of Pipphalivan, sent a messanger to the Mallas, claiming a portion of the relics of the Buddha, saying "The blessed one belonged to the Kshatriya caste and we too are of the Kshatriya caste "

महापरिणिव्वाण सुत्त से यह ज्ञात होता है कि पिप्फली वश के शासक मौर्यो ने मल्लो के पास दूत भेज कर बुद्ध की अस्ति के अवशेष यह कहते हुए मागे थे कि भगवान् बुद्ध क्षत्रिय जाति के थे, हम भी क्षत्रिय जाति के है।

दिव्यावदान बौद्ध ग्रन्थ चन्द्रगुप्त के पुत्र बिन्दुसार को क्षत्रिय बताता है। **मुद्राराक्षस** मे चाणक्य अपने स्नेह और ममता के पात्र चन्द्रगुप्त को 'वृषल' शब्द से सबोधित करता है। इस शब्द का अर्थ कोई 'कुलहीन' करते है, जोकि अयथार्थ है तथा मनोविज्ञान के विरुद्ध भी है। चन्द्रगुप्त धर्मपरायण था इसलिए उसे वृषल कहा गया है। **"वृष-धर्म लाति इति वृषल."**, जैसे **"मग-पुण्य लाति इति मगल"** शब्द बनता है। इसलिए यह उचित है कि क्षत्रिय कुल-शिरोमणि प्रतापी मौर्य शासक चन्द्रगुप्त के विषय मे साम्प्रदायिक विद्वेष की पृष्ठभूमि मे प्रचारित की गई भ्रान्त धारणा का उन्मूलन किया जावे। डॉ राधाकुमुद मुकर्जी के इन शब्दो का प्रत्येक विचारक स्वागत करेगा·

"We therefore readily accept the view that Chandragupta

belonged to the Kshatrıya clan, called the Morıyas "
(p 56)

"इसलिए हम इस मत से पूर्णतया सहमत है कि चन्द्रगुप्त क्षत्रिय जाति के मौर्य वश का था।"

महावीर भगवान् के समवशरण मे एकादश गणधरो के सिवाय अनेक उच्च ज्ञानी मुनीन्द्र थे। सात सौ केवलज्ञानी, पाँच सौ विपुलमति मनः पर्ययज्ञानी, तेरहसौ अवधिज्ञानी, तीन सौ पूर्वधारी, नौ सौ विक्रियाऋद्धिधारी, चार सौ परवादी विजेता वादी मुनि तथा नौ हजार नौ सौ शिक्षक थे। इन महान ज्ञानी मुनीन्द्रो के सखाव को ध्यान मे रखने से महावीर भगवान् के समय मे देश की बौद्धिक स्थिति तथा आध्यात्मिक विकास की कल्पना की जा सकती है। दिगम्बर ग्रथो मे 3 केवली के पश्चात् विष्णु, नन्दी, अपराजित, गोवर्धन तथा भद्रबाहु रूप पच श्रुतकेवली बताये गये है, किन्तु वीर भगवान के समवशरण मे स्थित श्रुतकेवली तीन सौ थे। यह भी कहा है महावीर भगवान के मोक्ष जाने के पश्चात् गौतम स्वामी, सुधर्माचार्य तथा जम्बूस्वामी तीन अनुबद्ध केवली विषयक कथन मे श्वेताम्बर परम्परा दिगम्बर परम्परा का समर्थन करती है। उसके पश्चात् होने वाले श्रुतकेवली के विषय मे श्वेताम्बरो ने ये नाम गिनाए है, प्रभव, स्वयभव, यशोभद्र, सभूति-विजय और भद्रबाहु। भद्रबाहु श्रुतकेवली को दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्परा मे पूज्य माना गया है। जम्बू स्वामी के मोक्ष जाने के पश्चात् पच अनुबद्ध श्रुतकेवलियो का कथन किया गया है। इनका कुल समय सौ वर्ष कहा गया है। इनके अनतर एकादश मुनीन्द्र दस पूर्व के ज्ञाता हुए है। उनके नाम विशाखाचार्य, प्रोष्ठिल, क्षत्रिय, जयनाग, सिद्धार्थ, घृतिषेण, विजय, बुद्धिल, गगदेव और सुधर्म थे। इन सबका काल 180 वर्ष था। इनके पश्चात् नक्षत्र, जयपाल, पाण्डु, ध्रुवसेन और कस ये पाँच मुनि एकादशागी हुए। इनका काल 220 वर्ष कहा गया है। इनके बाद श्रुतज्ञान की ज्योति और क्षीण होती गई और सुभद्र, यशोभद्र, यशोबाहु और लोहार्य ये आचाराग के ज्ञाता चार मुनीश्वर हुए। ये शेष ग्यारह अग और चौदह पूर्व के एकोदश के भी ज्ञाता थे। इनका समय 118 वर्ष है। इनके पश्चात्, **"तेसु अदीदेसु तदा**

आचारधरा ण होंति भरहम्मि" (1492-4 ति प) फिर भरत क्षेत्र मे आचाराग के पाठी नही होगे। इस प्रकार महावीर भगवान् के निर्वाण के 683 वर्ष (62 + 100 + 183 + 220 + 118) के पश्चात् आचाराग के पाठी मुनियो का अभाव होगा। धवला टीका मे वीरसेन स्वामी ने लिखा है कि सम्पूर्ण अग और पूर्वो के एकदेश के ज्ञाताओ का लोप नही हुआ था। आचार्य परम्परा से अग पूर्वों के एक देश का ज्ञान धरसेन आचार्य को प्राप्त हुआ था **"तदो सव्वेसिमग-पुव्वाणमेगदेसो आइरिय परम्पराए आगच्छमाणो धरसेणाइरिय सम्पत्तो"** (पृ 67 ध टीका, भाग 1)। **जयधवला** टीका मे लिखा है कि अग-पूर्वो के एकदेश के ज्ञाता गुणधर आचार्य भी हुए है। उन्होने 'कसाय पाहुड' ग्रथ की रचना की थी। वे कषाय प्राभृत शास्त्र समुद्र के पारगामी महापुरुष थे। इसमे 233 गाथाएँ है।[3] उन पर रचित टीका को जयधवला कहते है। दिगम्बर जैन मुनि परम्परा मे **कुन्दकुन्द स्वामी** की अत्यन्त प्रसिद्धि है और उनके नाम को बडी श्रद्धापूर्वक लिया जाता है।

मगल भगवान वीरो मगल गौतमो गणी।
मगल कुदकुन्दाद्यो जैन धर्मोस्तु मगलम्।

महावीर भगवान् मगलरूप है। गौतम गणधर मगल है, आचार्य कुन्दकुन्दादि मगल स्वरूप है। जैन धर्म मगल रूप हो।

समन्तभद्र, अकलक, वीरसेन, जिनसेन आदि आचार्यो की रचनाएँ विश्व साहित्य के लिए अपूर्व देन है। इस प्रसग मे यह बात ध्यान देने योग्य है, कि महावीर भगवान् के निर्वाण के लगभग 162 वर्ष बाद अंतिम श्रुतकेवली भद्रबाहु का नाम लिया जाता है। उनके जीवन के विषय मे यह घटना ज्ञातव्य है। पौडुवर्धनपुर मे सोमशर्मा ब्राह्मण की पत्नी सामश्री से भद्रबाहु का जन्म हुआ था। एक समय बालक भद्रबाहु गोली खेल रहे थे। उन्होने एक गोली के ऊपर दूसरी गोली जमाना आरम्भ किया और अत मे तेरहवी गोली के ऊपर चौदहवी गोली जमा दी। श्रुतकेवली गोवर्धन स्वामी ने यह बात देखकर अपने दिव्यज्ञान से यह निश्चय कर लिया कि यह बालक समस्त द्वादशाग का ज्ञाता

श्रुतकेवली होगा। सोमशर्मा ब्राह्मण ने भद्रबाहु को गोवर्धन स्वामी के आदेशानुसार उनके समीप सौप दिया। भद्रबाहु ने शीघ्र ही मुनि दीक्षा ली और समस्त श्रुतज्ञान के स्वामित्व की प्रतिष्ठा प्राप्त की। **बृहत्कथाकोश** मे **हरिषेणाचार्य** ने लिखा है :–

महावैराग्य सम्पन्नो ज्ञान-निष्णात बुद्धिक ।
गोवर्धन समीपेऽर भद्रबाहुस्तपोऽग्रहीत्॥17॥
तत. स्ताकेन कालेन समस्त-श्रुतपारग ।
गोवर्धन प्रसादेन भद्रबाहुरभून्मुनि॥18॥

गोवर्धन श्रुतकेवली का स्वर्गवास होने पर भद्रबाहुस्वामी विहार करते हुए महान सघ के साथ उज्जयिनी आये और क्षिप्रानदी के समीपवर्ती उपवन मे ठहरे। वहॉ धर्मपरायण चद्रगुप्त सम्राट् का शासन था। भद्रबाहु महामुनि आहारार्थ चर्या करते हुए एक गृहस्थ के घर पहुचे। वहाँ कोई भी व्यक्ति नही था। एक छोटा सा शिशु पालने मे था। वह बोलना नही जानता था, किन्तु यह अघटित घटना हुई कि उस बालक के मुख से शब्द निकल पडे **"भगवन् त्व इत क्षिप्र गच्छ"** (आप शीघ्र ही यहॉ से जाइये। श्रुतकेवली ने अपनी दिव्य दृष्टि से इस पर विचार किया तो उन्हे ज्ञात हुआ .–

ईदृश वचन यत्र बालस्य ब्रूयते तदा।
तदा द्वादशवर्षाणि मण्डलेऽत्र न वर्षणम्॥ 32॥

इस प्रकार बालक के वचनो को सुनने से यह सूचित होता है, कि इस देश मे बारह वर्ष पर्यन्त वर्षा नही होगी।

भद्रबाहु स्वामी ने जिनमदिर मे जाकर आवश्यक क्रियाओ के उपरान्त समस्त सघ से दोपहर के बीत जाने पर कहा कि यह प्रदेश द्वादश वर्षीय दुष्काल युक्त होगा।

एतस्मिन्विषये नूनमनावृष्टिर्भविष्यति।
तथा द्वादशवर्षाणि दुर्भिक्ष च दुस्तरम्॥ 35॥
अय देशो जनाकीर्णो धनधान्य-समन्वित.।
शून्यो भविष्यति क्षिप्र नृप-तस्कर-लुण्टनै.॥ 36॥

भद्रबाहु स्वामी ने सघ को समझाया कि मेरी आयु थोडी रह गई है, अत· मै यहाँ ही रहूगा। इस वृत्तान्त को ज्ञात कर महाराज चन्द्रगुप्त ने मुनि दीक्षा ली। वे दशपूर्व ज्ञानधारी बने। उनकी विशाखाचार्य नाम से प्रसिद्धि हुई। अपने गुरु भद्रबाहु स्वामी के आदेशानुसार वे समस्त सघ को लेकर दक्षिण गए और पुन्नाट नगर मे पहुचे। उपरोक्त **बृहत्कथाकोश** के कथन से भिन्न कथन रत्ननदि रचित **भद्रबाहुचरित्र** मे (15वी सदी) आया है। उसमे लिखा है कि "भद्रबाहु स्वामी उज्जैनी आए। चद्रगुप्त ने अपने सोलह स्वप्नो का हाल उनसे पूछा। उनका अशुभ फल ज्ञातकर चन्द्रगुप्त ने मुनि दीक्षा ली। द्वादश वर्षीय दुष्काल को ज्ञातकर भद्रबाहु स्वामी ने 12 हजार शिष्यो सहित दक्षिण की ओर विहार किया। मार्ग मे भद्रबाहु स्वामी का स्वर्गवास हो गया। चद्रगुप्त गुरुचरणो की वदना करते हुए उसी जगह रहे आए। शेष सघ चोल देश को गया।" यह ग्रथ भद्रबाहु और चद्रगुप्त के दक्षिण गमन का समर्थन नही करता है।

चिदानद कवि ने सन् 1680 मे **मुनिवशाभ्युदय** नामक कन्नड काव्य मे लिखा है कि भद्रबाहु स्वामी श्रवणबेलगोला के चिक्कवेट्टा पर्वत पर रहे थे, वहाँ पर एक व्याघ्र ने उनका प्राण-हरण किया था। आज भी उक्त पर्वत पर विद्यमान भद्रबाहु स्वामी के चरणो की पूजा होती है। तीर्थ यात्रा करते हुए चद्रगुप्त श्रवणबेलगोला पहुचे। वहाँ उन्होने दक्षिणाचार्य से दीक्षा ली। उन्होने स्वनिर्मित जिनालय तथा भद्रबाहु के चरणो की पूजा करते हुए अपना काल व्यतीत किया। कुछ समय पश्चात् चद्रगुप्त ने आचार्य पद प्राप्त किया। इस कथन से भद्रबाहु स्वामी और चद्रगुप्त का बेलगोला पहुचना सिद्ध होता है।

सन् 1838 मे रचित देवचद कवि के **'राजावलिकथे'** कन्नड ग्रथ मे कहा है कि भद्रबाहु स्वामी चद्रगुप्त मुनि तथा बारह हजार शिष्यो को साथ लेकर दक्षिण की ओर रवाना हुए। मार्ग मे उन्हे अपना अल्प जीवन विदित हुआ। उन्होने सघ को चोल एव पाड्य देश भेज दिया। चद्रगुप्त मुनि गुरु चरणो मे रहे आए। गुरु के स्वर्गारोहण के पश्चात् भी वे गुरु चरणो की वदना करते हुए वहाँ रहे आए। कुछ काल के बाद चद्रगुप्त

के पौत्र उनके समीप आए। इसके अनन्तर उन्होने चद्रगिरि के समीप पहुँचकर श्रमणबेलगोला नगर बसाया। वहाँ के पर्वत पर पहुँचकर चद्रगुप्त मुनि ने समाधिमरण किया था। यह ग्रथ भद्रबाहु का श्रवणबेलगोला पहुँचना नही बताता है। इस प्रकार की विविध सामग्री की छानबीन कर डा ल्यूमेन और डा हर्नले यह मानते है कि भद्रबाहु स्वामी श्रवणबेलगोला पहुचे थे।

श्रवणबेलगोला के विविध शिलालेखो के अध्ययन से यह सूचित होता है कि भद्रबाहु स्वामी तथा उनके शिष्य चद्रगुप्त श्रवणबेलगोला पहुचे थे। सिद्धरबस्ती के दक्षिण की ओर के स्तभ मे लिखा है कि भद्रबाहु श्रुतकेवली महान ज्ञानी थे। उनके शिष्य चद्रगुप्त थे। जिनके विशुद्ध चरित्र होने के कारण महान देवता उनकी पूजा करते थे।

यो भद्रबाहु: श्रुतकेवलीना मुनीश्वराणामिह पश्चिमोपि।
अपश्चिमोऽभूत् विदुषा विनेता सर्वश्रुतार्थ-प्रतिपादनेन॥ 8॥

तदीय शिष्योऽजनि चद्रगुप्त. समग्रशीलानत-देववृद्ध·।
विवेश यत्तीव्रतपप्रभाव-प्रभूत-कीर्ति व्यर्भुवनान्तराणि॥ 9॥

(शिलालेख न 258, सन् 1432)

श्रवणबेलगोला के सन् 650 के शिलालेख मे बताया है कि भद्रबाहु स्वामी तथा चद्रगुप्त मुनीन्द्र के तेज से समृद्ध जैन धर्म की ज्योति क्षीण होने पर शातिसेन मुनिराज ने उसे पुन समुन्नत किया। इन मुनियो ने वेलगोल पर आहारादि का त्याग किया था। इस सामग्री से यह बात स्पष्ट होती है कि चद्रगुप्त ने मुनि दीक्षा लेकर अपने गुरु भद्रबाहु श्रुतकेवली के समीप बेलगोला मे निवास किया तथा वहाँ समाधिमरण किया था।

उत्तर भारत मे द्वादश वर्षीय दुष्काल का भीषण रूप रहा। जो जैन साधु उत्तर मे रहे थे, उन्हे भीषण परिस्थिति ने बाध्य किया कि वे उस आपत्ति काल मे जीवन रक्षा हेतु शिथिल आचार को अगीकार करे। उस समय की भयकर स्थिति के विषय मे '**भावसग्रह**' प्राकृतग्रथ मे देव सेन आचार्य ने लिखा है कि **शान्तिचन्द्र** आचार्य अपने अनेक शिष्यो के

साथ सौराष्ट्र देश के बल्भी नगर मे पहुचे थे, वहाँ ऐसा भीषण दुष्काल था, कि क्रूर निर्धन भिक्षुक आदि दूसरो के पेट को विदीर्ण कर उस उदर मे स्थित अन्न को खा जाते थे। उस निमित्त को लेकर उन आचार्य शान्तिचद्र के समस्त सघ ने कवल, दड, कुडी और ओढने के लिए सफेद वस्त्र धारण किये थे। वे घर घर से भिक्षा मागकर अपनी-अपनी बसतिका मे लाकर बैठकर इच्छानुसार भोजन करने लगे।[4] भाव सग्रह मे यह भी लिखा है कि जब दुर्भिक्ष दूर होकर सुभिक्ष हो गया तब, आचार्य शान्तिचद्र ने सघ से कहा, **"छडेय कुत्थियायरण"–त्यजत् कुत्सिताचरण**। और **"गिण्हइ पुणरवि चरिउ मुषिदाण"–गृह्णत पुनरापि चारिइ मुनीन्द्राणाम्**। फिर से पूर्ववत् मुनीन्द्रो का आचरण ग्रहण करना चाहिए। शिष्यो ने कहा कि अब मुनियो के दुर्धर आचरण को कौन धारण कर सकता है? हम लोग इस दुःषमा काल मे इन आचरणो को नही छोड सकते। उस समय गुरु शान्तिचन्द्र ने अपने शिष्यो को पुन. सम्बोधित किया। इससे रुष्ट होकर एक शिष्य ने दीर्घ दण्ड द्वारा गुरु के सिर पर प्रहार किया। दण्डाघात से शान्तिचन्द्र की मृत्यु हो गई तथा उन्होने व्यन्तर देव का पद प्राप्त किया। प्रमुख शिष्य ने अपने को सघातिपति प्रगट करके श्वेत पट (श्वेताम्बर) सम्प्रदाय चलाया तथा यह कहा कि **"सग्गथे अत्थि णिव्वाण"** (154)–परिग्रह सहित होने पर भी मोक्ष-प्राप्ति होती है। तत्पश्चात् अपने मत के प्रचार निमित्त विविध शास्त्रो का निर्माण किया। शान्तिचन्द्र का जीव व्यन्तर हुआ था। उसने इन लोगो को पुन सम्यक् मार्ग पर लगने के लिए बलपूर्वक समझाया। उसकी बाते सुनकर भयाकुल हो जिनचन्द्र ने अष्टद्रव्यो से उस व्यन्तर को कुलदेवता मानकर उसकी पूजा प्रारम्भ की। **भावसग्रह** मे यह लिखा है कि जिनचन्द्र ने जिस प्रकार उस व्यन्तर की पूजा की थी, उसी प्रकार आज भी श्वेताम्बर सघ मे कुलदेवता मानकर उसकी पूजा की जाती है। हरिषेणाचार्य के **वृहत्कथाकोश** से विदित होता है कि दुष्काल के समय उत्तर मे स्थित साधुओ ने अर्धफालक सम्प्रदाय बनाया था। वे पूर्ण दिगम्बर न रहकर अल्प वस्त्र ग्रहण करते थे और भी अनेक बाते उस कठिन परिस्थिति मे उन्हे स्वीकार करनी पडी थी। सुभिक्ष हो जाने पर दक्षिण का सघ उत्तर आया।

विशाखाचार्य के समीप जाकर रामिल्ल, स्थविर तथा स्थूलभद्र नाम के योगियो ने अर्धफालक का त्याग कर दिगम्बर मुद्रा स्वीकार की। श्वेताम्बर लोग अपने को प्राचीन बताते हुए दिगम्बर जैनधर्म की उत्पत्ति, पश्चात् बताते है। किन्तु यह बात युक्ति-विचार तथा शास्त्राधार से बाधित होती है। स्वय श्वेताम्बर ग्रन्थ बताते है कि महावीर भगवान् ने अन्त मे दिगम्बर-अचेल-रूपता अगीकार की थी।

आचाराङ्ग सूत्र श्वेताम्बर शास्त्र मे दिगम्बरत्व की पोषक महत्वपूर्ण सामग्री पाई जाती है। आचाराङ्ग के अध्ययन 6, तृतीय उद्देशक, पृ 466 मे लिखा है, "पवित्रता से धर्म पालन करने वाला आचार का अनुष्ठान करने वाला मुनि इस प्रकार कर्म के उपादान वस्त्रादि को त्याग कर, जो अचेल रहता है (वस्त्र को चेल कहते है, अचेल का अर्थ दिगम्बर है), उस भिक्षु को ऐसी चिन्ता नही होती है कि मेरा वस्त्र जीर्ण हो गया है, मै वस्त्र की याचना करूगा, डोरा माँगूगा, सुई की याचना करूँगा, साधूगा (सन्धिस्सामि) अर्थात् वस्त्रो को जोडूगा, वस्त्र सीऊगा, दूसरा वस्त्र जोडूगा, जीर्ण वस्त्र निकालकर कम करूगा, वस्त्र पहनूगा, वस्त्र से शरीर ढकूगा, अथवा सयम मे पराक्रम रखते हुए वस्त्ररहित साधक को पुन तृण स्पर्श के दु ख आते है, ठण्ड के दु ख आते है, आतप के दु ख आते है, दशमशक के दु ख आते है, तृणस्पर्श, दशमशकादि के अविरुद्ध शीतोष्ण विरोधी परीषहो मे से कोई एक विविध प्रकार के दु ख वस्त्र रहित साधक कर्मो की लघुता को समझ कर सहन करता है। उसको तप प्राप्त होता है। मूल पाठ इस प्रकार है–

"एय खु मुणी आयास सया सुयक्खाय धम्मे विहूयकप्पे निज्झोसइत्ता जे अचेले परिवुसिए तस्स ण भिक्खुस्स नो एव भवइ–परिजुण्णे मे वत्थे वत्थ जाइस्सामि, सुत्त जाइस्सामि, सूइ जाइस्सामि, सधिस्सामि, सीविस्सामि, उक्कस्सामि (दूसरा वस्त्र जोडूगा), वुक्कसिस्सामि (जीर्ण वस्त्र निकाल कर कम करूगा), परिहिस्सामि (वस्त्र पहनूगा), पाउणिस्सामि (वस्त्र से शरीर ढाकूगा)। अदुवा तत्थ परिक्कमत भुज्जो अचेल तण फासा फुसति। सीय फासा फुसति, तेउफासा फुसति, दस मसग फासा फुसति। एगमरे अन्तयरे विरुवरुवे

फासे अहियासेइ (सहन करता है)। अचेले लाघव आगममाणे (समझकर) तवे से अभिसमन्नागए भवइ। (आचाराग अध्ययन 6, तृतीयोद्देशक पृ 466, प्रकाशक जैन साहित्य समिति, नयापुरा उज्जैन)।

आचाराग के नवम अध्याय मे भगवान महावीर की तप साधना का वर्णन करते हुए कहा है, कि भगवान् एक वर्ष, एक माह तथा कुछ और दिन पर्यन्त वस्त्रयुक्त थे। उसके पश्चात् महावीर भगवान् ने उस वस्त्र को भी छोड दिया था।–**'सवच्छर साहिय मास ज न रिक्कासि वत्थग भगव। अचेलए तओ चाई त वोसिज्ज वत्थमणगारे"** (पृ 586)

इस सम्बन्ध मे भाषा टीकाकार श्वेताम्बर साधु श्री सौभाग्यमलजी ने यह खुलासा किया है सामायिक चारित्र स्वीकार करने के पश्चात् ही इद्र ने भगवान् के शरीर पर देव दूष्य वस्त्र डाल दिया। भगवान् ने सब प्रकार के वस्त्रो का पहिले ही त्याग कर दिया था, तदपि नि सग अभिप्राय से यह समझकर कि दूसरे मुमुक्षु धर्मोपकरण के बिना धर्म का अनुष्ठान करने मे समर्थ नही होगे, इसलिए मध्यस्थ वृत्ति से भगवान् ने वस्त्र अपने शरीर पर रहने दिया । तेरह मास पर्यन्त वस्त्र रखकर भगवान् ने यह बताया कि एकान्त अचेलता या सचेलता का आग्रह करना उचित नही है। बाद मे उस देव दूष्य का त्याग कर भगवान् सर्वथा अचेल होकर विचरने लगे।"

उक्त कथन से यह बात स्पष्ट होती है कि भगवान् महावीर प्रभु का 13 माह छोड शेष जीवन दिगम्बर मुद्रा युक्त रहा। वे सयोगी जिन के पश्चात् अयोग केवली होकर पावापुरी से मोक्ष गए। उस समय पर उनका शरीर दिगम्बर ही था, अर्थात् पावापुरी मे महावीर भगवान् के जिस शरीर का अत्येष्टि सस्कार हुआ था, वह दिगम्बर ही था। भगवान् ने 28 वर्ष के लगभग दिगम्बर मुद्रा धारणकर सद्धर्म की देशना जगत् को दी थी। इससे उनके उस धर्मोपदेश काल मे जो जो भव्य आए, उनके हृदय पर दिगम्बरत्व की विशेषता नियमत· अकित हुई होगी, यह मानना अबाधित है, तर्क सगत भी है।

इद्र ने देव दूष्य वस्त्र भगवान् के शरीर पर डाल दिया था, यद्यपि भगवान् ने सर्व प्रकार के वस्त्रो का पहिले ही परित्याग कर दिया था। यह हिन्दी भाषाकार का कथन विचारणीय है। सामयिक चारित्र धारण करते समय प्रभु ने कहा था, "मै सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग करता हूँ", इद्र के द्वारा प्रदत्त वस्त्र स्वीकार करना भगवान् का प्रतिज्ञा से पराडमुख होना माना जाएगा। इद्र ने वस्त्र दे दिया, किन्तु उसको सम्हालना आदि कार्य वस्त्र त्यागी भगवान् के द्वारा कैसे सम्भव हो सकते थे? इन्द्र ने भगवान् के हितार्थ उनके द्वारा वस्त्र त्याग होने पर भी पुनः वस्त्र प्रदान किये, क्या भगवान् पर भयकर उपसर्गो के आते समय इद्र को उपसर्ग निवारण करने की आवश्यक बात नही सूझी थी? महापुरुष अपनी प्रतिज्ञा से किसी भी स्थिति मे परावृत्त नही होते। अन्य धर्म के उच्च साधु भी लगोटी मात्र परिग्रह धारण करते है, उसके प्रकाश मे श्रेष्ठ अहिसा के साधक श्रमणो के साधु दिगम्बर वृत्ति ही उपयुक्त ठहरती है। अनुभव स्वय परिग्रह के धारण को मानसिक आकुलता तथा क्लेश का कारण कहता है। दिगम्बरत्व के प्रति जिनके मन मे आकर्षण नही है वे भी विविध वस्त्रादिधारी साधु अहिसा के रक्षणार्थ अल्प वस्त्र रख सकते है। एक प्रमुख स्थानकवासी जैन साधु से मैने कहा था, कि जब जीवदया के लिए आप मुह मे पट्टी लगाते है तब जल के भीतर रहने वाले जीवो की रक्षार्थ यदि आप लगोटी मात्र रखे, तो वस्त्र धोने मे खर्च होने वाले बहुत से जल को सहज ही बचाया जा सकता है। ग्रीष्म ऋतु मे सहज ही गाधीजी के समान अल्प वस्त्र को धारण कर जीव रक्षा का कार्य किया जा सकता है। मैने उस साधु से यह भी कहा था, कि रात्रि मे मौन होने पर मुह की पट्टी रखने का कोई उपयोग नही है; तथा जब बोला जाय, तब ही उसका उपयोग किया जाय, उसको निरन्तर साथ रखने से मुख के सम्पर्क मे जीव उत्पन्न होते है तथा और भी बाते है, जिन पर आपको इस नवीन वैज्ञानिक युग मे सोचना चाहिए" परिग्रह धारण करने के दोषो का उल्लेख श्वेताम्बर ग्रथ **सुत्रकृताग की आचार्य शीलाक** की टीका मे इस प्रकार आया है, जिसके प्रकाश मे दिगम्बरत्व की महत्ता स्वयमेव स्पष्ट हो जाती है।

मोहस्यायतन धृतेरपचय. क्षान्तेः प्रतीपो विधि.।
व्याक्षेपस्य सुहृन्मवस्व भवन ध्यानस्य कष्टो रिपुः॥
दुःखस्य प्रभव. सुखस्य निधन पापस्य वासो निजः।
प्राज्ञस्यापि परिग्रहो ग्रह इव क्लेशाय नाशाय च॥

श्वेताम्बर आचार्य शीलाक परिग्रह के विषय मे यह कहते है–**"परिग्रहेस्वप्राप्तनष्टेषु काक्षाशिकौ, प्राप्तेषु च रक्षणमुपभोगे चातृप्तिरित्येव परिग्रहे सति दु.खात्मकाद् बधान्न मुच्यते"** (पृ 5-सूत्रकृताग टीका)–अप्राप्त परिग्रह के विषय मे लालसा तथा प्राप्त के नष्ट होने पर शोक, प्राप्त परिग्रह के रक्षण मे दुःख, उपभोग करने पर अतृप्ति इस प्रकार परिग्रह होने पर दु खस्वरूप बध से छुटकारा नही होता है।

श्रुतकेवली भद्रबाहु के दिवगत होने पर द्वादश वर्षीय दुष्काल की भीषण परिस्थिति मे अर्धफालक सम्प्रदाय उत्पन्न हुआ, जो विकसित होकर श्वेताम्बर सम्प्रदाय रूप मे परिणत हो गया। श्वेताम्बर भाइयो की मान्यता है, कि आगम ग्रथो को निश्चित रूप पाटलीपुत्र मे एकत्रित की गई विद्वत्समिति द्वारा प्रदान किया गया था, किन्तु देवर्धिगणि के नेतृत्व मे लगभग 800 वर्ष पश्चात् बल्लभी की परिषद् मे सन् 454 मे आगम का सुनिश्चित और सुव्यवस्थित रूप निर्धारित किया गया। उन्होने चौरासी आगम ग्रथ माने है। 41 सूत्र ग्रथ, 30 प्रकीर्णक, 12 निरुक्ति और एक महाभाष्य मिलकर 84 शास्त्र होते है। 41 सूत्रो मे 11 अग, 12 उपाग, 5 छेद सूत्र 5 मूल सूत्र तथा 8 प्रकीर्णक रचना है जिनमे कल्पसूत्र है, जिसके रचयिता श्वेताम्बर लोग भद्रबाहु को मानते है। (*Outlines of Jainism,* पृष्ठ 36, 37 प्रस्तावना)

सन् 1452 मे श्वेताम्बरो मे लौकायत मत प्रचलित हुआ, जिसमे मूर्ति पूजा का निषेध किया गया तथा सन् 1653 मे स्थानकवासी सम्प्रदाय की स्थापना हुई, जिसे ढूंढिया मत कहते है। **भावसग्रह मे देव सेन आचार्य** का कथन है :–

छत्तीसे वरिससये विक्कमरायस्स मरण पत्तस्स।
सोर ट्ठे उप्पण्णो सेवडसघो हुबलभीए॥ 137॥

विक्रम राजा के मरण के 136 वर्ष बाद सौराष्ट्र देश के बलभी नगर मे श्वेतपट सघ अर्थात् श्वेताम्बर सघ की उत्पत्ति हुई। श्वेताम्बरो मे ढूढिया के सिवाय तेरापथी आदि अनेक भेद हुए। दिगम्बरो मे तेरापथी, बीसपथी, चरनागरे, समैया आदि भेद हो गए। यह भिन्नता तथा सघ विभाजन चद्रगुप्त मौर्य के सोलह स्वप्नो मे अतिम स्वप्न की सार्थकता को बताता है। अतिम स्वप्न मे सम्राट ने चद्रमा मे अनेक छिद्र देखे थे। उसका फल महानयोगी तथा दिव्य ज्ञानी श्रुतकेवली भद्रबाहु स्वामी ने बताया था, कि जैन धर्म मे अनेक पथ और सम्प्रदाय होगे। चद्रगुप्त को बारहवे स्वप्न मे स्वर्णपात्र मे भोजन करते हुए एक कुत्ता दिखा था। गुरु भद्रबाहु ने कहा था, कि इस कलिकाल मे धन वैभव का उपभोग करने वाले दुराचारी लोगो की प्रचुरता होगी। यह स्वप्न आज साक्षात् रूप मे अनुभवगोचर हो रहा है। जैन शास्त्र का यह भी कथन है, कि इस भरत क्षेत्र मे महावीर भगवान् के निर्वाण से आगे इक्कीस हजार वर्ष पर्यन्त जैन धर्म के तत्त्वज्ञान का सखाव रहेगा, उसके अनतर दु.षमा-दु.षमा नामक छठवाकाल आएगा, तब इस भरत क्षेत्र मे अहिसा धर्म का दर्शन नही होगा। तिलोयपण्णत्ति मे लिखा है कि महावीर भगवान के मोक्ष के पश्चात् 683 वर्ष पर्यन्त आचाराग के ज्ञाता मुनि होगे। उसके अनतर धर्म प्रवर्तन का कारण श्रुततीर्थ किस अवस्था को प्राप्त होगा। इसका **यतिवृषभ आचार्य** इस प्रकार स्पष्टीकरण करते है –

वीस-सहस्स तिसदा सत्तारह वच्छराणि सुदतित्थ।
धम्मपयट्टण हेदू वोच्छिस्सदि कालदोसेण॥1505 *ति प*

धर्म प्रवर्तन के निमित्त श्रुततीर्थ बीस हजार तीन सौ सत्रह (20317 वर्ष) वर्ष के पश्चात् विच्छेद को प्राप्त हो जाएगा।

तेत्तियमेत्ते काले जम्मिस्सदि चाउवण्ण-सघादो।
अविणीदो दुम्मेधो असूयको तह य पाएण॥1506॥

इतने काल पर्यन्त चातुर्वर्ण्य सघ जन्म लेता रहेगा। किन्तु लोग प्राय अविनीत, दुर्बुद्धि, असूयक (ईर्षालु) होग।

सत्त-भय-अडमदेहि सजुत्तो सल्लगारवतएहि।
कलहपिओ रागिट्ठो कूरो कोहालुओ लोओ॥1507॥

वे लोग सप्तभय से तथा अष्ट मद युक्त, शल्य और गारव युक्त, कलह प्रिय, रागिष्ठ क्रूर एव क्रोधी होगे।

उत्तर पुराण मे लिखा है कि कार्तिककृष्णा अमावस्या को दोपहर के समय राजा का नाश होगा, सध्या को अग्नि का क्षय और षट्कर्म, कुल, देश और अर्थ के कारण धर्म का नाश होगा।

मध्याह्ने भूभुजो ध्वस. सायान्हे पाक भोजन।
षट्कर्म-कुल-देशा-र्थ हेतु-धर्माश्च-मूलत:।।76-437।।

इसके अनतर अतिदु:षमा काल का प्रवेश होगा। नरक-तिर्यच गतियो से जीव यहाँ जन्म लेगे और पश्चात् उन्ही गतियो मे गमन करेगे।

पर्णादिवसना: कालस्याते नग्ना यथेप्सितम्।
चरिष्यति फलादीनि दीना: शाखामृगोपमा·।।441।।

लोग पत्ते छाल आदि पहनेगे और अन्त मे यथेच्छ रूप मे नग्न रहेगे और बदरो के समान फलादि का भक्षण करेगे।

छठवे काल के पश्चात् उत्सर्पिणी रूप काल चक्र का प्रवर्तन होगा। उसके तीसरे काल मे पुन· धर्मतत्त्व का प्रवर्तन होगा। अहिसा धर्म की पुन. इस भरत क्षेत्र मे प्रतिष्ठा होगी। महापद्म आदि चौबीस तीर्थकरो की उत्पत्ति होगी। जैनशास्त्र के अनुसार विदेह क्षेत्र मे अहिसापूर्ण जैनधर्म का सदा सद्भाव होगा। वहाँ धर्म तीर्थ प्रवर्तक सीमधर आदि तीर्थकर तथा महाज्ञानी महर्षियो का निरन्तर सद्भाव पाए जाने से मुमुक्षु जीव रत्नत्रय धर्म की समाराधना कर मोक्ष जाते रहेगे।

जैनधर्म मे चौबीस तीर्थकर, भरतादि द्वादश चक्रवर्ती, नव अर्ध चक्रवर्ती अर्थात् विष्णु[5] नव प्रतिविष्णु तथा नव लागलधर अर्थात् बलभद्र इस प्रकार त्रेसठ शलाका पुरुष कहे गए है। ये पुरुष महान् वैभव युक्त होते हुए मोक्ष को प्राप्त करते है। **मगलाष्टक** मे इन मगलमय विभूतियो का स्मरण किया जाता है:–

नाभेयादि-जिनाधिपास्त्रिभुवन ख्याताश्चतुर्विंशति:।
श्रीमतो भरतेश्वर प्रभृतयो ये चक्रिणो द्वादश।।

ये विष्णु-प्रतिविष्णु-लागलधरास्सप्तोत्तरा विशतिः।
त्रैकाल्ये प्रथितास्त्रिषष्टिपुरुषा· कुर्वन्तु ते मगलम्॥ 3॥

इन त्रैसठ महान पुरुषो के सिवाय 106 महापुरुष और माने गये है। कुल मिलाकर 169 पुण्य आत्मा माने गए है। 9 नारद, 11 रुद्र, 24 कामदेव, 24 तीर्थकरो के पिता, 24 तीर्थकरो की जननी और चौदह कुलकर ये 106 महापुरुष तथा 63 शलाकापुरुष मिलकर 169 सख्या हो जाती है। इनके विषय मे विशेष कथन **महापुराण**, **हरिवशपुराण** तथा **तिलोयपण्णत्ति** से अवगत करना चाहिए।

सक्षेप मे, जैन दृष्टि से जैन धर्म अनादि तथा अविनाशी है। यह द्रव्य दृष्टि की अपेक्षा कहा गया है। पर्याय दृष्टि से उसका आरम्भ और अवसान भी माना गया है। भरत क्षेत्र मे जैनधर्म का प्रवर्तन इस अवसर्पिणी काल मे आदि जिन अर्थात् तीर्थकर ऋषभदेव द्वारा हुआ और भगवान् महावीर चौबीसवे तीर्थकर हुए। विदेह क्षेत्र मे यह धर्म तत्त्व प्रवर्तन निरन्तर होता है। **हरिवशपुराण** मे **आचार्य जिनसेन** का यह मगल पद्य महत्त्वपूर्ण है। इसमे जैन शासन को अनादि तथा सादि स्वीकार किया है।

सिद्ध ध्रौव्य-व्ययो-त्पादलक्षण-द्रव्य साधनम्।
जैन द्रव्याद्य पेक्षात· साधना द्यथ शासनम्॥ 1॥ सर्ग 1॥

भगवान् जिनेन्द्र का शासन मगलरूप है। वह निर्णीत स्वरूप होने से सिद्ध है, उत्पाद, व्यय तथा ध्रौव्य लक्षण युक्त द्रव्य अर्थात् वस्तुस्वरूप के परिज्ञान का साधन है और द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा अनादि है तथा पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा सादि है।

जब हम वर्तमान युग के विदेशी लेखको के लगभग 200 वर्ष पूर्व के इतिहास लेखको की रचनाओ को पढते है, तो हमे आश्चर्य होता है कि उन्होने जैन वाड्मय का सम्यक् अनुशीलन किए बिना जैनधर्म का जो ऐतिहासिक चित्रण किया है, उसका वास्तविकता से बहुत कम सबध है। जस्टिस जैनी जुगमन्दर लाल ने लिखा है कि पाश्चात्य शोधको का सम्पर्क प्रथम हिन्दू धर्म, तत्पश्चात् बौद्धधर्म के साहित्य से हुआ। जैनधर्म

का परिचय पूर्वधर्मों के अभ्यास से विशेष प्रभावित विद्वानो को मिलने पर उन्होने विचित्र धारणाए बना ली थी। वेबर (Webér), बूहलर (Buhler), जैकोबी (Jacobe), हार्नले (Hoernle) आदि विद्वानो के परिश्रमस्वरूप जैनधर्म की प्राचीनता तथा महत्ता पर सम्यक् प्रकाश पड़ा। जस्टिस जैनी के *"Outlines of Jainism"* के ये शब्द महत्त्वपूर्ण है:–

> "About a century and a half ago there arose in Europe a great desire to explore the buried and current treasures of the East Among the religions of Indian origin, Brahminism or Hinduism, was the first to attract attention, but Buddhism soon followed Jainism, which came last and made its advent in unfavourable circumstances The Jains of India were ignorant of the West and of Western methods of study Worse than this, they were religiously averse to letting non-Jains read, or even see or touch their sacred books In consequence, Jainism was misunderstood and misrepresented Its tradition and teachings suffered from the scholar's partiality for his older and accustomed studies in Brahmanism & Buddhism But, by the labours of men like Weber, Buhler, Jacobi, Hoernle and others, the credibility of its tradition has been established, and it has been accorded the recognition due to its antiquity and importance " (*Outlines of Jainism* by Shri J I Jaini, pp XII-XIII)

पूर्व मे पुरातत्त्वज्ञो ने जो खोज की थी, वह आज के विशिष्ट विकसित अध्ययन के उज्ज्वल आलोक मे केवल मनोरजन की वस्तु है। **एलफिन्सटन** नामक अग्रेज अपनी भारतीय इतिहास (History of India) नामक पुस्तक मे लिखते है[6]–"जैनधर्म छठवी या सातवी ईसवी मे उत्पन्न हुआ।" इस परम्परा का अनुगमन **टामस, वेबर, जोन्स, मुल्ला** आदि अनेक विद्वानो ने किया। इस विचार के आधार पर जैनधर्म की ऐतिहासिकता के विषय मे बहुत भ्रम उत्पन्न हुआ; किन्तु आधुनिक शोध ने जैनधर्म को अत्यन्त प्राचीन मानने की अकाट्य सामग्री उपस्थित कर दी है।

मेगस्थनीज[7] के लेखो से इस बात पर प्रकाश पडता है कि ईसवी सन् चार सौ वर्ष पूर्व बडे-बडे नरेश अपने विश्वासपात्र लोगो को जैन श्रमणो-मुनियो के पास भेजकर उनसे अनेक विषयो पर प्रकाश प्राप्त किया करते थे।

अजमेर के पास बडली ग्राम मे एक जैन लेख[8] वीरनिर्वाण सम्वत् 84 अर्थात् ईसवी सन् से 443 वर्ष पूर्व का **महामहोपाध्याय रा० ब० गौरीशकर हीराचन्द ओझा** ने स्वीकार किया है। इससे ज्ञात होता है कि आज से लगभग 2400 वर्ष पूर्व राजपूताना मे जैनधर्म का प्रचार था। दिल्ली के अशोक स्तम्भ मे जैनधर्म का **'णिग्गठ'** शब्द द्वारा उल्लेख किया गया है। प्रशस्ति के उस लेख मे बताया है कि सम्राट् अशोक ने अन्य सम्प्रदायो के अनुसार निर्ग्रथ (निगन्थ) पथ के लिए 'धर्म-महामात्य' की नियुक्ति की थी। यह लेख ईसवी सन् से 275 वर्ष पूर्व अर्थात् आज से 2239 वर्ष पूर्व जैनधर्म की महत्त्वपूर्ण स्थिति को सूचित करता है। यदि वह महत्त्वपूर्ण अवस्था मे न होता, तो उसके लिए सम्राट् अशोक विशिष्ट मत्री की नियुक्ति क्यो करता?

रेवेरेण्ड जे० स्टेवेनसन[9], अध्यक्ष रायल एशियाटिक सोसाइटी इस निष्कर्ष पर पहुचे है कि दि० जैन सम्प्रदाय प्राचीन समय से अब तक पाया जाता है। ग्रीक लोगो ने पश्चिमी भारत मे जिन 'जिमनोसोफिस्टो' का वर्णन किया है वे जैन लोग थे। वे न तो बौद्ध थे और न ब्राह्मण थे। सिकन्दर ने दिगम्बर जैनो के समुदाय को तक्षशिला मे देखा था, उनमे से कालोनस-कल्याण नामक दिगम्बर जैन महात्मा फारस तक उनके साथ गए थे। इस युग मे यह धर्म 24 तीर्थकरो द्वारा निरुपित किया गया, उनमे भगवान् महावीर अतिम है।

मथुरा के ककालीटीले मे महत्त्वपूर्ण जैन पुरातत्त्व की सामग्री के सिवाय 110 जैन शिलालेख मिले है। जो प्राय. कुशानवशी राजाओ के समय के है। **स्मिथ** महाशय उन्हे प्रथम तथा द्वितीय शताब्दी का मानते है। एक खड्गासन जैन मूर्ति पर लिखा है "यह अर (अरहनाथ) तीर्थकर की प्रतिमा सवत् 78 मे देवो के द्वारा निर्माणित इस स्तूप की सीमा के भीतर स्थापित की गई।"

इस स्तूप के विषय मे **फुहरर** साहब लिखते है–"यह स्तूप इतना प्राचीन है, कि इस लेख की रचना के समय स्तूप आदि का वृत्तान्त विस्मृत हो गया होगा। लिपि की दृष्टि से यह लेख इडोसिथियन सवत् (शक) अर्थात् सन् 150 ईस्वी का निश्चित होता है। इसलिए ईसवी सन् से अनेक शताब्दी पूर्व यह स्तूप बनाया गया होगा। इसका कारण यह है कि यदि इसकी उस समय रचना की गई होती, जब कि मथुरा के जैनी सावधानीपूर्वक अपने दान को लेखबद्ध कराते थे, तो इसके निर्माताओ का भी नाम अवश्य ज्ञात रहता।"[10]म्युजियम मथुरा की दूसरी रिपोर्ट मे लिखा है कि मथुरा के ककालीटीला मे ईसा से दो सदी पूर्व की महत्त्वपूर्ण जैन सामग्री उपलब्ध होती है।[11]मथुरा की जैन और बौद्ध स्तूपो की सदृशता के सबध मे **डा० बूलर** (Dr Buhler) का कथन है कि–"इस सादृश्य का कारण सम्भवत यह नही है कि एक सम्प्रदाय वालो ने अन्य सम्प्रदाय की नकल की हो कितु दोनो सम्प्रदायो ने भारत की राष्ट्रीय कला को अपनाया और इस कार्य के लिए दोनो ने उन्ही कारीगरो को रखा।"[12] यह सदृशता ककालीटीला के जैन-स्थल तथा दूसरे बुद्ध-स्थलो मे उपलब्ध स्तम्भो से प्रगट होती है। इस सबध मे मथुरा म्युजियम के भूतपूर्व क्यूरेटर **डा० वासुदेवशरण** यह लिखते है कि "प्राचीनता की दृष्टि से बौद्धकला के समान जैन-कला भी है। जैसा की ककाली टीला के शिलालेखो से सूचित होता है कि ईसा से दो सदी पूर्व वहाँ जैन स्तूप का सद्भाव था।"[13] रिपोर्ट के पृष्ठ 39 मे ईसवी सन् 162 की जैन तीर्थंकर वृषभनाथ की मूर्ति का उल्लेख है, जो एक कुटुम्बनी ने विराजमान की थी तथा जिसने अपने पति, अपने श्वसुर व अपने गुरु का नाम उल्लेख किया है।[14]

मथुरा के ककाली टीला मे प्राप्त कुषाणकालीन शिलालेख मे ऋषभदेव भगवान् का इस प्रकार उल्लेख आया है, "**पसकस्य कुटुम्बिनीये दत्ताये दानधर्मो महाभोगयताप प्रीयताम्भगवानृषभ श्री.**"–पसक की स्त्री दत्ता ने महाभोगता (महान सुख) के लिए यह दानधर्म किया। भगवान् ऋषभदेव प्रसन्न होवे।

म्युजियम मे खड्गासन और पद्मासन मे कुषाणकालीन जैन तीर्थंकरो की मूर्तिया है। खड्गासन मूर्तियो के सबध मे कुषाणकालीन यह

महत्त्वपूर्ण बात सूचित की गई है कि खड्गासन जैन मूर्ति अपनी नग्नता के कारण पहचानी जाती है, किन्तु पद्मासन तीर्थंकरो की मूर्तिया वक्षस्थल के मध्य मे विद्यमान श्रीवत्स चिह्न के द्वारा पहचानी जाती है।[5]

'आभरणयुक्त या सग्रन्थ खड्गासन जैनमूर्ति का भी सद्भाव होता है, यह बात पुरातत्त्वज्ञो की शोध से प्रमाणित नही होती। पद्मासन जैन मूर्ति दिगम्बर है, अथवा नही है, इस विषय मे कभी सदेह उत्पन्न हो भी जाता है, किन्तु प्राचीनतम खड्गासन जैन मूर्ति का दिगम्बर मुद्रा से अंकित पाया जाना, दिगम्बर सम्प्रदाय ही पुरातन जैनधर्म है, इस दृष्टि को परमार्थ प्रमाणित करता है। एक बात और भी विचारणीय है, कि पद्मासन जैनमूर्ति की पहचान वक्षःस्थल मे विद्यमान श्रीवत्स चिह्न से होती है, यदि पुरातन जैनमूर्ति अदिगम्बर सम्प्रदायानुसार सालकार होती, तो उसमे श्रीवत्स चिह्न का दर्शन ही सम्भव नही होता, तब उनकी पहचान भी न हो पाती। अत अदिगम्बर सम्प्रदाय की अर्वाचीनता अबाधित सिद्ध होती है।

जैनधर्म मे स्तूपो की मान्यता के विषय मे जिन्हे सदेह है, वे कृपया महापुराण के सर्ग 22, श्लोक 214 को देखे, जिससे जिनेन्द्र भगवान् के समवशरण मे मानस्तभ, चैत्यवृक्षादि के साथ स्तूपादि का भी सद्भाव बताया है, यथा–

"सिद्धार्थचैत्यवृक्षाश्च प्राकारवनवेदिका ।
स्तूपा· सतोरणा मानस्तम्भा स्तम्भास्स केतव "॥214॥

यह भी वर्णन आया है कि बडे रास्ते के मध्य मे 9 स्तूप थे, जिन पर अरिहन्त तथा सिद्ध भगवान् की मूर्तिया विराजमान थी। (262-65)। अत यदि सूक्ष्म परीक्षण किया जाए तो जिन शोधको ने जैनियो मे स्तूप नही होते इस भ्रमवश स्तूप मात्र देख उन्हे बौद्ध कह दिया है, उन्हे महत्त्वपूर्ण सशोधन अनेक स्थलो के विषय मे करना न्याय प्राप्त होगा।

इतिहासकारो ने बहुत सी जैनपुरातत्त्व की महत्त्वपूर्ण सामग्री को अपनी भ्रान्त धारणाओ के कारण बौद्ध सामग्री घोषित कर दिया है।

स्मिथ साहब यह बात स्वीकार करने का सौजन्य प्रदर्शित करते है कि[16] कही–कहीं भूल से जैन स्मारक बौद्ध बता दिए गए है। **डा॰ फ्लीट** अधिक स्पष्टतापूर्वक कहते है कि समस्त स्तूप और पाषाण के कटघरे बौद्ध ही होगे, इस पक्षपात ने जैन ढाचो को जैन माने जाने मे बाधा उत्पन्न की, और यही कारण है कि अब तक केवल दो ही जैन स्तूपो का उल्लेख किया गया है।

उत्कल–उडीसा प्रान्त मे पुरी जिले के अन्तर्गत उदयगिरि–खण्डगिरि के जैन मन्दिर का हाथी गुफावाला शिलालेख जैनधर्म की प्राचीनता की दृष्टि से असाधारण महत्त्वपूर्ण है। उस लेख मे **"नमो अरहतान नमो सव सिद्धान"** आदि वाक्य उसे जैन प्रमाणित करते है। यह ज्ञातव्य है कि शिलालेख मे आगत **'नमो सव सिधान'** वाक्य आज भी उडीसा प्रात मे वर्णमाला शिक्षण प्रारम्भ कराते समय 'सिद्धिरस्तु' के रूप मे पढा जाता है। [18]तेलगू भाषा मे 'ॐ नम· शिवाय 'सिद्ध नमः' वाक्य उस अवसर पर पढा जाता है। महाराष्ट्र प्रान्त मे भी 'ॐ नमः सिद्धेम्यः' पढा जाता है। हिन्दी पाठशालाओ मे जो पहले 'ओ नामा सीध' पढाया जाता था वह 'ॐ नम. सिद्धम्' का ही परिवर्तित रूप है। उससे भिन्न भिन्न प्रान्तीय भाषाओ पर अत्यन्त प्राचीनकालीन जैन-प्रभाव का सद्‌भाव सूचित होता है।[19]

शिलालेख मे लिखा है कि **महामेघवाहन महाराज** खारवेल मगध देश के अधिपति पुष्यमित्र के पास से भगवान् वृषभदेव की मूर्ति वापिस लाए। तीन सौ वर्ष पूर्व मगधाधिपति नन्दनरेश उस मूर्ति को अपने यहाँ कलिग से ले गए थे। स्व पुरातत्त्वज्ञ बैरि॰ **श्री काशीप्रसाद जायसवाल**[20] ने उस लेख का गम्भीर अध्ययन करके लिखा है कि "अब तक उपलब्ध इस देश के लेखो मे जैन इतिहास की दृष्टि से वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण शिलालेख है।[21] उससे पुराण के लेखो का समर्थन होता है। वह राज्यवश के क्रम को ईसा से 450 वर्ष पूर्व तक बताता है। इसके सिवाय उससे यह सिद्ध होता है कि भगवान् महावीर के 100 वर्ष के अनतर ही उनके द्वारा प्रवर्तित जैनधर्म राज्यधर्म हो गया और उसने उडीसा मे अपना स्थान बना लिया।[22]

इस मूर्ति के विषय मे विद्यावारिधि बैरिस्टर **चपतरायजी** लिखते है–"This statue most probably dated back prior to Mahavira's time and possible even to that of Parsvanatha "—(Rishabhadeva p 67) "यह मूर्ति बहुत करके महावीर के पूर्व की होगी और पार्श्वनाथ से पूर्ववर्ती भी सम्भवनीय है।"

आज से लगभग ढाई हजार वर्ष पूर्व भी जैनधर्म के आद्य तीर्थंकर भगवान् वृषभदेव की मूर्ति की मान्यता इस जैन दृष्टि को प्रामाणिक सूचित करती है कि जैनधर्म का उद्‌भव इस युग मे भगवान् महावीर अथवा पार्श्वनाथ से न मानकर उनके पूर्ववर्ती भगवान् वृषभदेव से मानना उचित है।

जैन शास्त्रो मे चौबीस तीर्थंकर–श्रेष्ठ महापुरुष माने गए है। हिन्दू शास्त्रो मे 24 अवतार स्वीकार किए गए है। बौद्धधर्म मे 24 बुद्ध माने गए है। जोरेस्ट्रयनो (Zorastrians) मे 24 अहूर (Ahurs) माने गए है। यहूदी धर्म मे भी अलकारित भाषा मे 24 महापुरुष स्वीकार किए गए है।[23] जैनेतर स्रोतो द्वारा जैनधर्म के चौबीस महापुरुषो की मान्यता का समर्थन यह सूचित करता है कि जैन मान्यता सत्य के आधार पर प्रतिष्ठित है।

इसी प्रकार जैनियो मे प्रचलित 'जुहार' शब्द का भारत मे व्यापक प्रचार जैन सस्कृति के प्रभाव को स्पष्ट करता है।[24] 'जु' युगादि पुरुष भगवान् वृषभदेव के प्रणाम का द्योतक है, 'हा' का अर्थ है जिनके द्वारा सर्व सकटो का हरण होता है और 'र' का भाव है, जो सर्व जीवधारियो के रक्षक है इस प्रकार जिनेन्द्र गुण वर्णन रूप 'जुहार' शब्द का भाव है। 'जुहार' शब्द का व्यवहार जैन बधु परस्पर अभिवादन मे करते है। **तुलसीदासजी** की रामायण मे 'जुहार' शब्द का अनेक बार उपयोग किया गया है। अयोध्याकाण्ड मे लिखा है कि चित्रकूट की ओर जब रामचद्र जी गए है, तब योग्य निवास भूमि को देखते समय पुरवासियो ने रघुनाथ जी से जुहार की है।

"लै रघुनाथहि ठाउँ देखावा। कहेउ राम सब भाति सुहावा।
पुरजन करि जोहारु घर आए। रघुवर सध्या करन सिधाए"॥

89-3॥

पुरवासियो के द्वारा इस शब्द का प्रयोग इसकी सर्वमान्यता को सूचित करता है।

भीलो ने भी रामचद्र जी से जुहार की है और अपनी भेट अर्पित की है–

"करहि जोहारु भेट धरि आगे। प्रभुहि विलोकहि अति अनुरागे। प्रभुहि जोहारि बहोरि बहोरी। वचन विनीत कहहि कर जोरी"॥135॥

अयोध्यावासियो ने राम वनवास के पश्चात् भरतजी के अयोध्या आगमन पर भी इस शब्द का प्रयोग किया है–

"पुरजन मिलहि न कहहि कछु, गवहि जोहारहि जाहि।
भरत कुसल पूछि न सकहि, भय विषाद मन माहि"॥159॥

इत्यादि प्रमाण पाए जाते है।

आल्हाखड मे भी वीर क्षत्रिय तथा राजा लोग परस्पर मे 'जुहार' द्वारा अभिवादन करते हुए पाए जाते है।

'पद्मिनीहरण' अध्याय मे पृथ्वीराज और जयचद मे 'जुहार' शब्द का प्रयोग आया है–

"आगे आगे चद भाट भए पाछे चले पिथौरा राय।
भारी बैठक कनउजिया की भरमा भूत लगो दरबार॥
जाइ पिथौरा दाखिल हो गए। दोउ राजन मे भई जुहार"॥40॥

माडौ की लडाई मे देखिए–

"इक हरिकारा दौड़ति आयो। जा आल्हाको करी जुहार॥"

'सिरसा समर' मे मलखान ने धीरसीग **से जुहार की है–**

"सिह की बैठक क्षत्र की बैठे। सबके बीच वीर मलिखान।
साथी अपने ताहर छोड़े। अकिले गयो धीर सरदार॥
करो जुहार जाय समुहे। पर ऊँची चौकी दई डराय।
देखि पराक्रम नर मलिखे को धीरज मन मे गए सरमाय।
करि जुहार धीरज तब चलिये। पहुँचे जहाँ वीर चौहान॥"

इस प्रकार बहुत से प्रमाण उपस्थित किए जा सकते है, जिनसे जुहार शब्द का व्यापक प्रचार सार्वजनिक रूप से होता हुआ ज्ञात होता है।

शिवाजी महाराज ने अपने एक पत्र मे भी इसका प्रयोग किया है।

"भोर किल्ले रोहिडा प्रति राजश्री शिवाजी राजे जोहार।"

(मराठी वाङ्मयमाला–पटवर्धनकृत)

जुहार शब्द की व्यापकता पर गहरा प्रकाश **रहीम** कवि के इस पद्य द्वारा पडता है–

"सब कोई सबसो करे, राम जुहार[25] सलाम।
हित रहीम जब जानिये, जा दिन अटके काम।।"

इस प्रकार भारतीय जीवन के साहित्य पर सूक्ष्म दृष्टि डालने से जैनत्व के व्यापक प्रभाव को ज्ञापित करने वाली विपुल सामग्री प्रकाश मे आए बिना न रहेगी। भारत मे ही क्यो बाहरी देशो मे भी ऐसी सामग्री मिलेगी। अमेरिका का पर्यटन करने वाले एक प्रमुख भारतीय विद्वान ने हमसे कहा था कि वहाँ भी जैन सस्कृति के चिह्न विद्यमान है। जिन लेखको ने वैदिक दृष्टिकोण को लेकर प्रचार की भावना से उन स्थलो का निरीक्षण किया उन्होने अपने सम्प्रदाय के मोहवश जैन सस्कृति विषयक सत्य को प्रगट करने का साहस नही दिखाया। आशा है अन्य न्यायशील विद्वान भविष्य मे उदार दृष्टि से काम लेगे।

भारत के बाहर भी जैन सस्कृति के चिह्न पाये जाते है। पुरातत्व विभाग के डायरेक्टर जनरल डा एन पी चक्रवर्ती ने दक्षिण-पूर्व के देशो का दौरा किया था। उस समय उन्होने हमे अपने पत्र मे सूचित किया था, कि उन्हे प्रवास मे कोई भी जैन धर्म सबधी महत्त्वपूर्ण सामग्री नही दिखाई पडी, किन्तु जब सन् 1956 मे जापान की विश्व धर्म परिषद् से लौटते हुए हम सिगापुर आए, तब वहाँ के राइफल्स म्यूजियम मे भगवान् पार्श्वनाथ की कुछ मूर्तियाँ मिली। बौद्ध देशो के धर्मस्थानो तथा उनके वाग्मय का सूक्ष्मता से निरीक्षण करने पर जैनधर्म, दर्शन तथा

इतिहास के सम्बन्ध मे महत्वास्पद सामग्री उपलब्ध होने की अधिक आशा है। डा टुक्की (Dr Tucci) ने लिखा है कि वे तिब्बत और बौद्ध मठ मे गए थे। वहाँ उन्हे एक जैन मूर्ति मिली, जो शिलालेख युक्त थी। वह 14वी सदी की मूर्ति है। उन्होने यह भी लिखा है कि चीनी त्रिपिटक ग्रन्थो मे जैनधर्म का अनेको स्थलो पर उल्लेख है। उसमे जैनो को निर्ग्रन्थ कहा है। कही–कही अचेलक शब्द भी प्रयुक्त हुआ है। उक्त विद्वान् के शब्द इस प्रकार है.–

> "You will be interested to hear that in the Sakya monastery, in Tibet, I found a Jain image of the 14th century with inscription, but up to now no Jain book has been found, though occasional references of Jainism can be found in Tibetan books " He adds, "In many of the texts preserved in the Chinese Tripitakas the references to Jainism and particular points of Jain dogmatics are very numerous The Jains are called there Nirgranthas or someties Achelakas "

हिन्दूशास्त्रों[26] से विदित होता है कि युग के आदि मे भगवान् वृषभदेव ने जैनधर्म की स्थापना की। वे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी महामानव थे, जिनकी हिन्दू धर्म के अवतारो मे भी परिगणना की गई है।

ऋग्वेद का यह मत्र है, इसमे केशी वृषभ का उल्लेख है

ककर्दवे वृषभो युक्त आसीद्
अवावचीत् सारथिरस्य केशी।
दुधेर्युक्तस्य द्रवत· सहानस
ऋच्छन्तिस्मा निष्पदो मुद्गलानीम्॥10, 102, 6॥

सायण ने अपने भाष्य मे लिखा है "केशी प्रकृष्ट केशो वृषभोऽवावचीत्"। जैनधर्म की कथा के अनुसार ऋषभनाथ भगवान् ने छह माह पर्यन्त उपवास किए थे। उस समय उनके केश बहुत लम्बे हो गये थे। महापुराण मे **जिनसेन आचार्य** ने लिखा है :–

सस्कारविरहात् केशा जटीभूता स्तदा विभो.।
नून तेपि तपःक्लेशम् अनुसोढु तथा स्थिता:॥18-75॥

उस समय भगवान् ऋषभदेव के केश सस्कार रहित होने से जटा युक्त हो गए थे और ऐसे प्रतीत होते थे मानो तपस्या का क्लेश सहन करने के लिए ही वैसे ही कठोर हो गए हो।

भागवत मे ऋषभावतार के विषय मे लिखा है कि भगवान् विष्णु महाराज नाभि का प्रिय करने के लिए उनके रनिवास मे महारानी मेरु देवी के गर्भ मे आए। उन्होने इस शरीर का अवतार **'धर्मान् दर्शमितु कामो वातरशनाना श्रमणाना'**—वातरशना युक्त अर्थात् पवन रूप करधनी युक्त-दिगम्बर श्रमणो के धर्मो को प्रकट करने के लिए ग्रहण किया था। इस वृषभावतार का उद्देश्य अत्यन्त उच्च था। भागवत मे कहा है - **"अयमवतारो रजसोप्लुत-कैवल्योपशिक्षणार्थम्"**—(स्कन्ध 5) यह अवतार रजोगुण से परिपूर्ण लोगो को कैवल्य की शिक्षा देने के लिए हुआ था। ऋग्वेद मे भी 'वातरशना' (10/136/2-3) मुनियो का उल्लेख आया है। इसका अर्थ डा वेबर ने दिगम्बर जैन मुनि किया है। इससे दिगम्बर जैन धर्म की महान प्राचीनता स्पष्ट रूप से ज्ञात होती है। इंडियन एन्टीक्वेरी (Indian Autiquary, 1901, Vol XXX) मे यह महत्वपूर्ण स्पष्टीकरण किया गया है,

> "The Digambaras appear to be more ancient, for not only in Rik Samhita (X 1362) is mention made of 'wind girdled Bachabates (Muna-Jo-Vatavasanas) but they also appear to be referred to in the well-known accounts of the Indian "gyrenosophinsts" of the time of Alexander, the great

जैन शास्त्रो के समान ही उनके माता-पिता मरुदेवी तथा नाभिराजा कहे गए है। भारतवर्ष का नाम जिन चक्रवर्ती भरत के प्रभाववश पडा वे भगवान् वृषभदेव के गुणवान् पुत्र हिन्दू शास्त्रो मे भी कहे गए है। **कूर्मपुराण** मे लिखा है कि—"हिमवर्ष मे महात्मा नाभि के मरुदेवी से महादीप्तिधारी वृषभ नामक[27] पुत्र हुआ। ऋषभ से भरत हुआ, जो सौ पुत्रो मे ज्येष्ठ एव वीर था।" **मार्कण्डेयपुराण** के कथानुसार[28] पिता ऋषभ ने दक्षिण दिशा मे स्थित हिमवर्ष भरत को दिया। इससे उस महात्मा के कारण यह भारतवर्ष कहलाया। राष्ट्रपति **सर राधाकृष्णन्** का कथन है, "जैन परम्परा ऋषभदेव को जैनधर्म का सस्थापक बताती है जो अनेक सदी

पूर्व हो चुके है। इस विषय के प्रमाण विद्यमान है कि ईस्वी सन् से एक शताब्दी पूर्व लोग प्रथम तीर्थकर ऋषभदेव की पूजा करते थे। इसमे कोई सदेह नही है कि वर्धमान अथवा पार्श्वनाथ के पूर्व मे भी जैनधर्म विद्यमान था। यजुर्वेद मे ऋषभदेव, अजितनाथ तथा अरिष्टनेमि इन तीन तीर्थंकरो का उल्लेख पाया जाता है। भागवत पुराण से, ऋषभदेव जैनधर्म के सस्थापक थे; इस विचार का समर्थन होता है।"[29]

विद्यामार्तण्ड **डा. मगलदेव शास्त्री**, भूतपूर्व अध्यक्ष, वाराणसी सस्कृत कॉलेज, वाराणसी का चितन और अनुशीलन पूर्ण कथन महत्वास्पद है "वेदो का विशेषत· ऋग्वेद का काल अति प्राचीन है। उसके नादसीय सदृश सूक्तो और मत्रो मे उत्कृष्ट दार्शनिक विचारधारा पाई जाती है। ऐसे युग के साथ जबकि प्रकृति के कार्य निर्वाहक तत्तद देवताओ की स्तुति आदि के रूप मे अत्यन्त जटिल वैदिक कर्मकाण्ड ही आर्य जाति का परमध्येय हो रहा था, उपर्युक्त दार्शनिक विचार की सगति बैठाना कुछ कठिन ही दिखाई देता है। हो सकता है कि दार्शनिक विचारधारा का आदि स्रोत वैदिक धारा से पृथक् या उससे पहले का हो।"

"ब्रह्मसूत्र शाकर भाष्य" मे 'कपिल-साख्यदर्शन' के लिए स्पष्टत· अवैदिक कहा है। (न तथा श्रुतिविरुद्धमपि कापिल मत श्रद्धातु शक्यम् ब्रह्मसूत्र 2/1/1) इस कथन से तो हमे कुछ ऐसी ध्वनि प्रतीत होती है कि उसकी परम्परा प्राग्वैदिक या वैदिकेत्तर हो सकती है। जो कुछ भी हो ऋग्वेद सहिता मे जो उत्कृष्ट दार्शनिक विचार अंकित है, उनकी स्वय परम्परा और भी प्राचीनत्तर होनी चाहिए।" **डा. मगलदेव** का यह कथन ध्यान देने योग्य है .- (1) जैनदर्शन की सारी दार्शनिक दृष्टि वैदिक दार्शनिक दृष्टि से स्वतत्र ही नही, भिन्न भी है। इसमे किसी को सदेह नही हो सकता है। (2) हमे तो ऐसा प्रतीत होता है, कि उपर्युक्त दार्शनिक धारा को जिसे हमने प्राग्वैदिक परम्परा से जोड़ा है, मूलत: जैन दर्शन भी उसके स्वतत्र विकास की एक शाखा हो सकता है। उसकी सारी दृष्टि से तथा उसके पुदगल जैसे विशिष्ट पारिभाषिक शब्दो से इसी की पुष्टि होती है" (*जैनदर्शन की भूमिका*, पृष्ठ 10)।

भागवतपुराण के अनुसार ऋषभदेव विष्णु नाम से नवमे अवतार थे। यह अवतार राम, कृष्ण तथा बुद्ध रूप अवतारो के पूर्व हुआ है। वामन अवतार पद्रहवा है। ऋग्वेदो मे वामन अवतार का उल्लेख है। इससे विद्यावारिधि बैरिस्टर **चपतरायजी** ने यह परिणाम निकाला है कि वामन अवतार सबधी मत्र की रचना के पूर्व ऋषभदेव हुए है। ऋग्वेदोक्त वामन अवतार के पहिले ऋषभावतार हुआ है। अत: ऋषभदेव का अस्तित्व ऋग्वेद की रचना के पूर्व स्वीकार करना होगा:-

"According to Bhagvata Purana, Rishabhadeva was the ninth Avatara (incarnation) of Vishnu and included the Vamana or Dwarf, Rama, Krishna, Buddha who are also regarded as Avatars Now since the Vamana Avtara, the fifteenth in the order of enumeration is expressly referred to in the Rigveda, it follows that it must have priority in points of time to the composition of the hymn that refers to it and inasmuch as Shri Rishabha Deva Bhagwan even preceded the Vamana Avatara, he must have flourished still earlier" (*Practical Path*, pp 193-194)

भगवान् ऋषभदेव की सर्वमान्यता का प्रकाश डालते हुए **भागवत** मे कहा है कि वे सर्व आश्रम वालो के द्वारा पूजित थे। ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा सन्यासी वर्ग उन्हे प्रणाम करता था :-

अष्टमे मेरुदेव्यातु नाभेजति· उरुक्रम ।
दर्शनयन् वर्त्म धीराणा सर्वाश्रम-नमस्कृत ॥

वैदिक विद्वान् **प्रो विरूपाक्ष** एम ए , वेदतीर्थ ऋग्वेद मे भगवान् वृषभदेव के सद्भाव ज्ञापक मत्र को बताते हुए लिखते है–

"ऋषभं[30] मासमानाना सपत्नाना विषासहि।
हन्तार शत्रूणा कृधि विराज गोपित गवाम्॥-101-21-66॥"

हे रुद्रतुल्य, क्या तुम हम उच्चवश वालो मे ऋषभदेव के समान श्रेष्ठ आत्मा को उत्पन्न नही करोगे? उनकी अर्हन् उपाधि आदि धर्मोपदेष्टापने को द्योतित करती है। उसे शत्रुओ का विनाशक बनाओ।

डा. ए. पी. करमरकर अपनी मार्मिक शोध के फलस्वरूप ऋषभदेव को अत्यन्त प्राचीनकालीन महापुरुष मानते है। उन्होने लिखा है, "ऐसे योगियो का पता वैदिक साहित्य मे उपनिषदो के प्रारम्भिक काल से पहले नही लगता। इस काल मे वैदिक आर्यों ने उनको अपना लिया और आश्रमो मे चौथे सन्यासाश्रम को भी जोड दिया। यह सब कुछ व्रात्यो से लिया गया। 'पचविश ब्राह्मण' मे व्रात्यो के दो भेद राजन्य और अर्हत् किये गये है। व्रात्यो के अर्हत् जैनो और बौद्धो के भी अर्हत् हुए है। ऋषभ जैसे महान व्यक्ति प्रेरणा के सुदृढ स्रोत बने। वह व्रात्यो के परमहस योगी थे और जैनधर्म के सस्थापको के लिए भी प्रेरणा के आधार बने"।

विख्यात् विद्वान् **श्री विनोबा भावे** लिखते है, "जैनविचार निःसशय प्राचीनकाल से है, क्योंकि "अर्हन् इद दय से विश्वमभ्वम्"[31]। इत्यादि वेद वचनो मे यह पाया जाता है।" इस पंक्ति का अर्थ वेद के व्याख्याकार **सायण** के शब्दो मे यह है-"हे अर्हन्, तुम इस विशाल विश्व की रक्षा करते हो।" इस वाक्य का भाव भी जैनियो के मूलभूत जीवदया या अहिसा सिद्धान्त के अनुकूल है।

जैनशासन के आराधको के इष्ट देव 'अर्हन्त' है, यह बात सर्वत्र रूढ है। यही कथन **हनुमन्नाटक** के इस प्रसिद्ध पद्य से स्पष्ट होता है-

"य शैवा समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनो।
बौद्धा बुद्ध इति प्रमाणपटवः कर्त्तेति नैयायिकाः।

अर्हन्नित्यथ जैनशासनरताः कर्मेति मीमासकाः
सोऽय वो विद्धातु वाञ्छितफल त्रैलोक्यनाथः प्रभुः॥"[32]

सस्कृत के पुरातन नाटक **मुद्राराक्षस** का एक जीवसिद्धि नाम का पात्र दिगम्बर जैन मुनि के रूप मे आकर कहता है-

"सासणमलिहन्ताण पडिवज्जह मोहवाहिवेज्जाण।
जे मुत्तमात्तकडुअ पच्छा पत्थ उववसिंति॥"-अक 4,

अरहतो के शासन को स्वीकार करो, कारण वे मोहव्याधि के

निवारण मे वैद्य है। उनकी औषधि प्रारम्भ मे कटुक, किन्तु पश्चात् लाभप्रद होती है। इस प्रकार अनेक प्रमाणो से यह निर्णय सिद्ध होता है, कि 'अर्हन्त'[33] शब्द जैनधर्म के इष्ट देव का द्योतक है।

डा॰ जैकोबी का कथन है, [34]"भगवान् पार्श्वनाथ को जैनधर्म के सस्थापक प्रमाणित करने वाले साधनो का अभाव है। प्रथम तीर्थकर ऋषभदेव को जैनधर्म का सस्थापक प्रमाणित करने मे जैन परम्परा एकमत है। इस परम्परा मे, जो उनको प्रथम तीर्थकर बताती है, कुछ ऐतिहासिक तथ्य सम्भवनीय है।" पूर्वोक्त जैनेतर प्रमाण भी जब ऋषभदेव को जैनधर्म के सस्थापक बताते है, तब उसमे निश्चित ऐतिहासिक तथ्य मानना होगा अन्यथा ऐतिहासिक तथ्य किसे मानेगे? यही बात **बैरिस्टर चपतरायजी** भी कहते है–"If this is not history and historical confirmation, I do not know what else would be covered by these terms "—(Rishabhadeva p 66)

वैदिक साहित्य मे अर्हन्, श्रमण, 'मनुय वातवसना ', व्रात्य, महाव्रात्य आदि शब्दो द्वारा जैन परम्परा का उल्लेख किया गया है। **श्री काशीलाल जायसवाल** ने लिखा है[35] 'कि लिच्छवि लोग व्रात्य अथवा अब्राह्मण-क्षत्रिय कहलाते थे। उनकी प्रजातत्र रूप शासनपद्धति थी। उनके देवस्थान पृथक् थे। उनकी पूजा अवैदिक थी। उनके धर्मगुरु पृथक् थे। वे जैनधर्म का सरक्षण करते थे।" **प्रोफेसर चक्रवर्ती** ने अथर्ववेद मे अनेक बार उल्लिखित व्रात्य का अर्थ यज्ञ करने वाले के विपरीत व्रत पालने वाला किया है।[36]

प्राचीन प्रतिवाले, वेद आदि का परिशीलन कर महान् विद्वान् **प॰ टोडरमलजी** ने अपने 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' ग्रन्थ मे अनेक अवतरण देकर बताया है कि वेदो मे चौबीस तीर्थकरो की वन्दना की गई है। उसमे नेमिनाथ, सुपार्श्वनाथ नामक 22वे तथा सातवे तीर्थकर का उल्लेख किया गया है, किन्तु वर्तमान वेद के सस्करणो मे अनेक मत्रो का दर्शन नही होता। इसका कारण **बैरिस्टर श्री चम्पतरायजी** के शब्दो मे यह है कि साम्प्रदायिक विद्वेषवश ग्रथ मे काट-छाट अवश्य हुई है। **श्रीहरिसत्य भट्टाचार्य** एम ए.[37] सदृश उदार विद्वान् 'भगवान्

अरिष्टनेमि' नामक अग्रेजी पुस्तक (पृ 88, 89) मे नेमिनाथ भगवान् को ऐतिहासिक महापुरुष स्वीकार करते है। यदि महाभारत के प्रमुख पुरुष श्रीकृष्ण इतिहास की भाषा मे अस्तित्व रखते है, तो उनके चचेरे भाई परम दयालु भगवान् नेमिनाथ को कौन सहृदय ऐतिहासिक विभूति न मानेगा, जिनके निर्वाण स्थल रूप मे उर्जयन्त गिरि पूजा जाता है?

भगवान् नेमिनाथ बाल ब्रह्मचारी तथा श्रेष्ठ व्यक्तित्व सपन्न महापुरुष थे। वे दयामूर्ति महामानव थे। इस लोकोत्तरता के कारण ही हम ऋग्वेद मे उन अरिष्टनेमि भगवान् की स्तुति इस प्रकार पाते है:–"स्वस्ति नः इद्रो, वृद्धश्रवा, स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदा, स्वस्ति नस्ताक्ष्यों अरिष्ट नेमिः, स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु" (ऋग्वेद अष्टक 1, अध्याय 6)।

वे अरिष्टनेमि हमारा कल्याण करे, जो इद्र (परमेश्वर) है; जो वृद्धश्रवा (जिनका यश वृद्धो मे विख्यात है) है, जो सूर्य के समान पोषण प्रदाता होने से पूषा है; विश्व के ज्ञाता सर्वज्ञ है, जो ताक्ष्यं अर्थात् महाज्ञानियो के वश वाले है तथा जो बृहस्पति है–महान देवो के अधिपति है।

मत्र मे आगत 'वृद्धश्रवा' वृद्धो मे जिनका यश वर्तमान है, महत्त्वपूर्ण है। इससे यह ध्वनित होता है कि इस मत्र की रचना के पूर्व भगवान् अरिष्टनेमि विद्यमान थे। **हरिवशपुराण** मे भगवान् नेमिनाथ की जिन्हे अरिष्टनेमि कहते है, इस प्रकार अभिवदना की गई है :–

भास्वते हरिवशाद्रि श्रीशिखामणये नम.।
द्वाविशतीर्थसच्चक्रनेमयेऽरिष्टनेमये॥1-24॥

जो सूर्य के समान तेजोमय थे, हरिवश रूप पर्वत के लिए शिखामणि थे, तथा बाइसवे तीर्थ रूप उत्तम चक्र के नेमि (अयोधारा) स्वरूप थे, उन अरिष्टनेमि तीर्थकर के लिए नमस्कार हो।

भगवान अरिष्टनेमि का **स्वामी समन्तभद्र** ने इस प्रकार स्मरण किया है :–

हरिवशकेतु-रनवद्यविनय-दम-तीर्थनायकः।
शील जलधिरभवोविभवस्त्वमरिष्टनेमि-जिनकुजरोऽजरः॥122॥

अरिष्टनेमि जिनेन्द्र। आप हरिवश (विष्णुवश) के ध्वज स्वरूप, निर्दोष, विनय और इन्द्रिजय के प्रतिपादक, तीर्थ के नायक, शील के समुद्र, विभव अर्थात् ससार से विमुक्त, जरा विमुक्त है।

हरिवशपुराण से ज्ञात होता है कि उस समय वसुदेव के भाई महाराज समुद्र विजय के अनेक पुत्र थे, जिनके नामो मे नेमि शब्द था। महानेमि, सत्यनेमि, दृढनेमि, सुनेमि के समान अरिष्टनेमि भी थे। अरिष्ट शब्द के प्रयोग से अरिष्ट नेमि का उत्तर नामो से पृथक्करण हो जाता था। **हरिवशपुराण** मे समुद्र विजय के पुत्रो का उल्लेख करते हुए लिखा है –

समुद्रविजयोभ्दूता महा-सत्य-वृढ़ाधिकाः।
नेमयोऽरिष्टनेमीश. सुनेमिर्जयसेनक.॥48-43॥

अरिष्टनेमि का अर्थ "अरिष्टाना कर्मणा नेमिश्चक्रधारा अरिष्टनेमि."।

अरिष्ट अर्थात् ज्ञानावरणादि कर्मो के नाश करने के लिए नेमि अर्थात् चक्र की धारा के समान होने से वे अरिष्टनेमि है। उनके स्मरण से अरिष्ट अर्थात् भयकर सकट दूर होते है इसलिए अरिष्ट निवारक होने के कारण उनकी अरिष्टनेमि के रूप मे प्रसिद्धि हुई। समन्तभद्र स्वामी भगवान् अरिष्टनेमि के विषय मे लिखते है कि–'सुधिय प्रणमन्ति मन्त्रमुखरा महर्षय ।'–निर्मल बुद्धि वाले महर्षि गण नेमिनाथ के स्मरणरूप मन्त्रो का उच्चारण करते हुए उन अरिष्ट नेमि को प्रणाम करते है। तीर्थकर अरिष्टनेमि और श्री कृष्ण महाराज एक ही परिवार के रत्न थे। श्री कृष्ण की गीता मे भगवान् नेमिनाथ की स्वाश्रयी दृष्टि तथा आत्मनिर्भरता, अहिसा, सयम एव स्वावलम्बन पूर्ण विचारधारा का प्रभाव स्पष्टतया दृष्टिगोचर होता है। प्राचीन युग मे भगवान् नेमिनाथ तथा कृष्ण महाराज को पूज्यता प्रदान की गई है। इस विवेचन के प्रकाश मे भगवान् अरिष्टनेमि को महाराज कृष्ण के समान ऐतिहासिक महापुरुष स्वीकार करना न्यायपूर्ण तथा युक्तियुक्त होगा। सौराष्ट्र का विशाल तथा उन्नत गिरनार पर्वत भगवान् नेमिनाथ के अस्तित्व का प्रबल प्रमाण है, जिनके पुण्य-चरणो के स्पर्श के कारण वह पर्वत जैन तीर्थ रूप मे विख्यात है और विविध सम्प्रदाय वाले भी उस पावन पर्वतराज के पार्श्व मे पहुँचकर परिशुद्ध परिणामो को प्राप्त करते है।

जैनेतर साहित्य, जैन वाङ्मय तथा शिलालेख आदि के प्रकाश मे जैनधर्म भारत का सबसे प्राचीन धर्म प्रमाणित होता है। जैनशास्त्रो का वर्णन और उसकी यथार्थता का परिज्ञान कराने वाली मथुरा की जैनस्तूप आदि सामग्री को दृष्टि मे रखते हुए **श्री विसेन्ट स्मिथ** लिखते है[38]–"इन खोजो से लिखित जैन परम्परा का अत्यधिक समर्थन हुआ है। वे इस बात के स्पष्ट और अकाट्य प्रमाण है कि जैनधर्म प्राचीन है और वह प्रारम्भ मे भी वर्तमान स्वरूप था। ईसवी सन् के प्रारम्भ मे भी चौबीस तीर्थंकर अपने-अपने चिह्न सहित निश्चयपूर्वक माने जाते थे।"

जब **स्मिथ** सदृश प्रकाण्ड ऐतिहासिक विद्वान् जैन परम्परा के प्रतिपादन से अविरुद्ध सामग्री को देखकर उसे अकाट्य कहते है तब ऐतिहासिक क्षेत्र मे विज्ञ पुरुषो का जैन मान्यताओ को उचित आदर प्रदान करना चाहिए। जैन वाङ्मय की शब्दावली आदि मे कुछ सादृश्य देखकर कोई-कोई लोग जैन और बौद्ध धर्मों को अभिन्न समझा करते थे, किन्तु अर्वाचीन शोध दोनो धर्मो की भिन्नता को पूर्णतया स्पष्ट करती है। सम्वत् 1070 मे रचित अपने 'धर्मपरीक्षा' नामक सस्कृत ग्रन्थ मे **अमितगति आचार्य** कहते है कि 'भगवान् पार्श्वनाथ के शिष्य मौडिलायन नामक तपस्वी ने वीर भगवान[39] से रुष्ट होकर बुद्ध दर्शन स्थापित किया और अपने आपको शुद्धोदन का पुत्र बुद्ध परमात्मा कहा।'

जैन और बौद्ध साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन करने वाले विशेषज्ञ **डॉक्टर विमलचरण ला** ने बताया है कि–कुछ शब्द जैन वाङ्मय मे जिस अर्थ मे प्रयुक्त होते है, उन शब्दो को बौद्धसाहित्य मे[40] अन्य अर्थ मे लिया गया है। कुछ जैन शब्द बौद्धो मे नही पाए जाते है। जैसे आकाश का जो भाव जैनो ने ग्रहण किया है, उसका बौद्धग्रथो मे अभाव है। जीव शब्द का अर्थ जैनो मे सचेतन किया गया है, बौद्धो मे उसे प्राणवाची कहते है। जैन शास्त्रो मे आस्रव का अर्थ है कर्मों के आगमन का द्वार, किन्तु बौद्धशास्त्रो मे उसे 'पाप' का पर्यायवाची कहा गया है। जैनियो के समान बौद्धो मे निर्जरा का भाव नही है। पूर्ण स्वतत्रता का द्योतक 'मोक्ख' का बौद्धो मे अभाव है। साधन, स्थिति, विधान आदि जैनियो की बाते बौद्ध साहित्य मे नही है। 'श्रावक' का अर्थ जैनियो मे गृहस्थ होता है। बौद्ध

'भिक्खू' को श्रावक कहते है। 'रत्नत्रय' का भाव दोनो मे जुदा-जुदा है। जैनशास्त्रो मे जैसा षड्द्रव्यो का वर्णन है, वैसा बौद्ध साहित्य मे नही है। इन शब्दो के अर्थो पर गम्भीर विचार करते हुए **डा. जैकोबी** ने एक महत्त्वपूर्ण शोध की, कि 'आस्रव', 'सवर' सदृश शब्दो का जैन साहित्य मे मूल अर्थ मे उपयोग हुआ है और बौद्धसाहित्य मे उसका अन्य अर्थ मे (Metaphorically) प्रयोग हुआ है, अत मूल अर्थ का प्रयोग करने वाला जैनधर्म बौद्धधर्म की अपेक्षा विशेष प्राचीन है।

डा. जैकोबी की जैनधर्म को प्राचीन प्रमाणित कर उसे बौद्धधर्म से भिन्न सिद्ध करने वाली युक्तियो मे ये मुख्य है–

पुरातन बौद्ध साहित्य मे जैन धर्म सम्बन्धी मान्यताओ आदि का उल्लेख पाया जाता है। दीघनिकाय के ब्रह्मजाल सुत्त की टीका मे **'जलकाय'** जीवो का वर्णन है। उसमे आजीवक सम्प्रदाय की आत्मा मे वर्ण मानने वाली मान्यता का निराकरण किया गया है। **सामञ्ज फलसुत्त** मे पार्श्वनाथ के नियमचतुष्टय का वर्णन है। **मज्झिमनिकाय** मे महावीर के आराधक उपाली नामक श्रावक का बौद्धधर्मी बनने का उल्लेख है। उसमे जैनधर्म सम्बन्धी मान्यता मन, वचन, काय को दण्डित करने का वर्णन है। **अगुत्तरनिकाय** मे राजकुमार अभय इस जैन मान्यता का उल्लेख करता है कि तपश्चर्या से कर्मो का नाश होता है और आत्मा पूर्ण ज्ञान को प्राप्त करता है। उसमे दिग्व्रत और उपोसथ (Uposatha) नामक जैन व्रतो का भी उल्लेख है। **महावग्ग** मे सिह सेनापति महावीर का पक्ष छोडकर बौद्धधर्म अगीकार करता हुआ बताया गया है।

बौद्धशास्त्रो मे निर्ग्रन्थो-जैनो का बौद्धो के प्रतिद्वन्द्वी के रूप मे वर्णन आता है और उनमे कही भी यह नही लिखा है कि जैनधर्म एक नवीन धर्म है। दूसरी बात, मक्खलि गोशाल के द्वारा परिगणित धर्मो के षट्भेदामे मे निर्ग्रन्थो की तीसरे नम्बर मे गणना की गई है। नवीन धर्म को इस प्रकार गणना का महत्त्व नही प्राप्त होता। निर्ग्रन्थ पिता की अनिर्ग्रन्थ सतान 'सच्चच्चक' (Sachchaka) का बुद्ध से विवाद हुआ था। इससे जैनधर्म बौद्धधर्म का भेद है यह बात खडित होती है।

डा जैकोबी का यह भी कथन है कि जैन ग्रथो मे विद्यमान साक्षियो और परम्पराओ की उपेक्षा करने के लिए उचित साधन-सामग्री का अभाव है। उनमे जैनधर्म की प्राचीनता का अनेक स्थलो पर उल्लेख विद्यमान है।

जैनतत्त्वज्ञान के आधार पर भी जैनो की प्राचीनता प्रमाणित होती है। जैनदर्शन मे 'जीवो' का वर्णन अन्य दर्शनो की अपेक्षा जुदा है। जैन तत्त्वो की गणना करते समय 'गुण' को पृथक् पदार्थ नही बताया है। द्रव्यो मे धर्म और अधर्म द्रव्यो का उल्लेख किया गया है। इससे जैकोबी इस निर्णय पर पहुँचते है कि इडो-आर्यन-इतिहास के अत्यन्त आरम्भ काल मे जैनधर्म का उद्‌भव हुआ था।[41]

स्वामी विवेकानन्द ने कहा था 'Buddhism is the rebelled child of Hinduism' बुद्धधर्म हिन्दूधर्म से बगावत करने वाला बच्चा है। 'भारतवर्षाचा धार्मिक इतिहास' नामक मराठी पुस्तक के लेखक **श्री साने** लिखते है "हे स्वामी विवेकानन्दाचे बुद्ध धर्मासबधी चे उद्‌गार जैनधर्मासही ततोतत व लागू पडतात"-"ये स्वामी विवेकानन्द के बुद्धधर्म सम्बन्धी उद्‌गार जैनधर्म के विषय मे पूर्णतया चरितार्थ होते है।" अभी काग्रेस कार्यकारिणी के एक उत्तरदायी सदस्य ने भी जैनधर्म के विषय मे 'revolt religion'-क्रान्तिकारी धर्म कहकर अपना भाव व्यक्त किया था।[42] निष्पक्ष इतिहास के उज्ज्वल प्रकाश मे इस सम्बन्ध मे विचार करना उचित प्रतीत होता है।

प्रोफेसर चक्रवर्ती मद्रास ने वैदिक साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन कर यह शोध की कि कम से कम जैनधर्म उतना प्राचीन अवश्य है, जितना कि हिन्दूधर्म। उनकी तर्कपद्धति इस प्रकार है। वैदिक शास्त्रो का परिशीलन हिसात्मक एव अहिसात्मक यज्ञो का वर्णन करता है। **'मा हिस्यात् सर्वभूतानि'** 'जीव वध मत करो' की शिक्षा के साथ **'सर्वमेधे सर्वं हन्यात्'** सर्वमेध यज्ञ मे सर्वजीवो का हनन करने वाली बात भी पाई जाती है। **ऋग्वेद** मे शुनःक्षेप की कथा आई है, उसमे अहिसात्मक यज्ञ के समर्थक वसिष्ठ मुनि है और हिसात्मक बलिदान के समर्थक विश्वामित्र ऋषि है। यह आश्चर्यप्रद बात है कि-अहिसा

पक्ष का समर्थन क्षत्रिय नरेश करते है और हिसात्मक बलिदान की पुष्टि ब्राह्मणवर्ग के द्वारा होती है। वैदिक युग के अनन्तर ब्राह्मण साहित्य का समय आया। उसमे पूर्वोक्त धाराद्वय का सघर्ष वृद्धिगत होता है। **शतपथ ब्राह्मण** मे कुरुपाचाल के विप्रवर्ग को आदेश किया गया है कि–तुम्हे काशी, कौशल, विदेह, मगध की ओर नही जाना चाहिए, कारण इससे उनकी शुद्धता का लोप हो जाएगा। उन देशो मे पशुबलि नही होती है, वे लोग पशुबलि निषेध को सच्चा धर्म बताते है। ऐसी अवस्था मे कुरुपचाल देशवालो का काशी आदि की ओर जाना अपमान को आमंत्रित करना है। पूर्व की ओर नही जाने का कारण यह भी बताया है कि वहाँ क्षत्रियो की प्रमुखता है, वहाँ ब्राह्मणादि तीन वर्णो को सम्मानित नही किया जाता। इससे पूर्व देशो की ओर जाने से कुरुपाचालीय विप्रवर्ग के गौरव को क्षति प्राप्त होगी।

वाजसनेयी सहिता से विदित होता है कि पूर्व देश के विद्वान् शुद्ध सस्कृत भाषा नही बोलते थे। उनकी भाषा मे 'र' के स्थान मे 'ल' का प्रयोग होता था।[43] इससे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि उस समय प्राकृत भाषा का प्रचार था, जिससे पाली और अर्वाचीन प्राकृत भाषा की उत्पत्ति हुई। प्राकृत भाषा का प्रयोग जैन साहित्य मे पाया जाता है।

उपनिषद्–कालीन साहित्य का अनुशीलन सूचित करता है कि उसमे आत्मविद्या के साथ ही साथ तपश्चर्या को भी उच्च धर्म बताया है। इस युग मे हम देखते है कि कुरुपाचालीय विप्रगण पूर्वीय देशो की ओर गमन करने को उत्कण्ठित दिखाई पडते है कारण वहाँ उन्हे आत्मविद्या के अभ्यास करने का सौभाग्य प्राप्त होता है। पहले जिसको वे कुधर्म कहते थे, अब उसे ही प्राप्त करने को वे लालायित है। याज्ञवल्क्य और राजर्षि जनक आत्मविद्या के समर्थक है और अप्रत्यक्ष रीति से पशुबलि वाले पुरातन सिद्धात का निषेध करते है। इस प्रकार आत्मविद्या के समर्थक ही पशुबलि के विरोधक थे। इनको ही **प्रोफेसर चक्रवर्ती** जैनधर्म के पूर्व पुरुष कहते है। जैनधर्म के अनुसार क्षत्रिय कुल मे उत्पन्न होने वाले चौबीस तीर्थकर ही अहिसा धर्म का सरक्षण करते है। अतएव यह दृढतापूर्वक कहा जा सकता है, कि जैनधर्म कम से कम[44] वैदिक धर्म के समान प्राचीन अवश्य है।

कई व्यक्ति यह सोचते है, कि वेद मे जैन सस्कृति के सस्थापक तथा उन्नायनो का उल्लेख क्यो आता है, जब कि वेद अन्य धर्म की पूज्य वस्तु है? इसके समाधान मे किन्ही-किन्ही विद्वानो का यह अभिमत है कि जब तक वेद अहिसा के समर्थक रहे, तब तक वे जैनियो के सम्मानपात्र रहे। जब **'अजैर्यष्टव्यम्'** मत्र के अर्थ पर पर्वत और नारद में विवाद हुआ, तब न्याय-प्रदाता के रूप मे मोहवश राजा वसु ने **'अज'** का अर्थ अकुर उत्पादन शक्ति रहित तीन वर्ष का पुराना धान्य न करके **'बकरा'** बताया और हिसात्मक बलिदान का मार्ग प्रचारित किया। जैन **हरिवंशपुराण** की[45] इस कथा का समर्थन महाभारत मे मिलता है। इस प्रकार अहिसात्मक वेद की धारा पशु बलि की ओर झुकी। अत· अहिसा को अपना प्राण मानने वाले जैनियो ने वेद को प्रमाण मानना छोड दिया। पूर्व मे वेदो का जैनियो मे आदर था, इसलिये ही वेद मे जैन महापुरुषो से सम्बन्धित मत्रादि का सद्भाव पाया जाता है, किन्तु खेद है कि साम्प्रदायिक विद्वेष के कारण उस सत्य को विनष्ट किया जा रहा है।

केन्द्रीय धारा सभा के भूतपूर्व अध्यक्ष **सर षण्मुख चेट्टी** ने कुछ वर्ष पूर्व मद्रास मे महावीर जयती महोत्सव पर अपने भाषण मे कहा था कि–आर्य लोग बाहर से भारत मे आए थे। उस समय भारत मे जो द्रविड[46] लोग रहते थे, उनका धर्म जैनधर्म ही था। अत. प्रमाणित होता है, कि भारतवर्ष के आदि निवासी जैनधर्म के आराधक रहे है।[2] ऋग्वेद मे पुरातत्त्वज्ञो को भारतवर्ष के प्राचीन अधिवासियो के विषय मे महत्त्वपूर्ण सामग्री प्राप्त होती है। आर्य नाम से कहे जाने वाले लोग तो बाहर से आए थे। उनके सिवाय जो लोग यहाँ रहते थे, उनको वेद मे घृणित शब्दो मे 'दस्यु' अथवा 'दास' कहा है। आदिनिवासी होने के कारण उन लोगो ने आर्यों के स्वदेश मे प्रवेश का प्रतिरोध किया इसलिये शत्रुओ का निन्दनीय वर्णन आगत आर्यो द्वारा होना अस्वाभाविक नहीं है। कथित 'दस्यु' वर्ग का धर्म, सस्कृति, वर्ण आदि पृथक् था। उनका वर्ण श्याम था। वे अयज्वन (यज्ञबलि विहीन), अकर्मन् (वैदिक क्रियाकाण्डशून्य) अदेव्य (देवो के विषय मे उदासीन), अन्यव्रत (भिन्न प्रकार के नियमो का पालन करने वाले) तथा देवपीयु (देवताओ का तिरस्कार करने वाले, कारण मास आदि को ग्रहण करने वाले कथित

देवताओ का सम्मान करना उनकी सस्कृति के विपरीत है) थे। वे आर्यो के देवताओ, यज्ञो तथा धार्मिक विचारो का प्रकट रूप मे निषेध करते थे। उनकी नासिका की आकृति आर्यो की अपेक्षा जुदी थी। अत. उनको **'अनास'** कहा है। उन्हे **'मृध्रवाक्'** (Mrıdhravac) कहा है, जो उनकी अस्पष्ट भाषा या विरुद्ध वाणी को सूचित करता था। पुरात्त्वज्ञो के मत मे ये ही द्रविड लोग थे। उनके असुन्दर चित्रण द्वेषबुद्धिवश आर्यो ने किया है। द्रविड लोगो की भाषा सस्कृत न थी। वह भाषा प्राकृत थी, जिसके द्वारा वे अपने धार्मिक साहित्य का प्रचार करते थे। यह तामिल नामक द्रविड भाषा के अधिक सन्निकट है। अत्यन्त प्राचीन तमिल साहित्य, विशेषत. **'टोलकप्पैयम्'** (Tolkappıum) नामक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थो से उपरोक्त बातो का समर्थन होता है।

उडीसा के विद्वान् **श्री नीलकण्ठदास** ने लिखा है कि "जैनधर्म मूलत अध्यात्म धर्म है। प्रागूवैदिककालीन द्राविडो का यही धर्म था। जगन्नाथ की परम्परा मूलत पूर्णरूप मे जैनधर्म की है। 'नाथ' शब्द पूर्ण रूप से जैनधर्म का निदर्शन है। पहले 'नाथ' का अर्थ स्वामी था, पश्चात् वह भक्ति धर्म रूप बन गया।" चौबीस तीर्थकरो मे बाबीस तीर्थकरो के नाम के साथ 'नाथ' शब्द है। जैसे ऋषभनाथ, अजितनाथ आदि। बारहवे तीर्थकर वासूपूज्य के नाम मे नाथ नही है। चौबीसवे तीर्थकर वर्धमान महावीर के नाम मे भी 'नाथ' नही है, किन्तु उनका वश 'नाथ' वश कहलाता था। जैनधर्म योगमार्ग का द्योतक रहा है। इसमे ज्ञान, भक्ति और चारित्र का योग अर्थात् समन्वय पाया जाता है। **नीलकण्ठदास** जैन अध्ययन से प्रभावित हो कहते है, "जैन धर्मियो के अलावा वैष्णव ही निरामिषता के उपासक है। यह जैनधर्म का प्रभाव है। जैनधर्म ससार के सारे धर्म और मानविक आत्मविकास के मूल मे है। इसके ऊपर मानव विकास की प्रतिष्ठा आधारित है।" इस जैनधर्म ने जीव को उसके उत्कर्ष की पूर्ण स्वतत्रता प्रदान की है। **श्री दास** ने जस्टिस जैनी के ये महत्त्वपूर्ण शब्द उद्धृत किए है, "Jaınısm gıves absolute relıgıous ındependence and freedom to man Nothıng can ıntervene between the actıons whıch we do and the fruıts thereof The soul ıs responsıble for what ıt does "–"जैनधर्म मानव को पूर्णतया धार्मिक स्वातत्र्य और स्वाधीनता प्रदान करता है। हम जो कर्म करते है तथा उनके फल के

मध्य मे कोई भी वस्तु प्रतिबधक नहीं है। आत्मा जो कुछ करती है, उसके लिए वही उत्तरदायी है।"

सम्राट् खारवेल के हाथीगुफा शिलालेख से यह ज्ञात होता है कि ईसा पूर्व काल मे जैनधर्म उत्कल की आम जनता का धर्म रहा है। खारवेल ने मगध के नद नरेश के यहाँ से आदिजिन की मूर्ति वापिस लाई थी। उन आदिजिन का नाम भुवनेश्वर भी है। जिनसेन रचित **सहस्त्रनाम** पाठ मे लिखा है –

खडगिरि उदयगिरि के समीपवर्ती प्रमुख नगर का नाम भुवनेश्वर है। इस स्थान का हाथीगुफा मे उल्लिखित आदि जिन से कोई सबध रहा हो, यह बात चितनीय है।

इससे यह प्रमाणित होता है कि जैनधर्म की प्राचीनता की जड कितनी गहरी है। वह वैदिक धर्म का न तो अग है, न उससे प्रभावित है। तुलनात्मक धर्म के विशेषज्ञ विद्यावारिधि **श्री चम्पतराय जी बैरिस्टर** ने अपनी शोध का यह परिणाम प्रकाशित किया है[48] कि जैनधर्म वैज्ञानिक तथा सुव्यवस्थित है। वैज्ञानिक[49] दार्शनिक विचार प्रणाली के अनन्तर रूपकयुक्त (allegoraical) धार्मिक विचारधारा प्रचलित हुई। मूल तत्त्व की ओर ध्यान न रहने से रूपक तथा पौराणिकता ने विवाद और द्वन्द प्रारम्भ कर दिया। वैज्ञानिक समन्वय प्रणाली के प्रकाश मे विरोध, असम्भाव्यता आदि दोष क्षणमात्र मे नष्ट हो जाते है। वैज्ञानिक पद्धति को अगीकार करने वालो के वशजो को आज जैन कहते है। जिन्होने पहले-पहले रूपक या आलकारिक पौराणिकता को अपनाया वे हिन्दू कहे जाते है। इस दृष्टि से जैनधर्म वैदिक धर्म से पूर्ववर्ती सिद्ध होता है।

सिन्धु नदी के तट पर अवस्थित **मोहनजोदड़ो** एव **हड़प्पा** नामक स्थानो मे खुदाई के द्वारा जो आज से पाच हजार वर्ष पूर्व की भारतीय समृद्धि, विकास तथा सभ्यता को बताने वाली महत्त्वपूर्ण सबसे प्राचीन सामग्री उपलब्ध हुई है, उससे भी जैनधर्म की प्राचीनता पर प्रकाश पडता है और यह सूचित होता है कि प्राचीनतम सामग्री जैनधर्म तथा सस्कृति के स्वतत्र सद्भाव को बताती है। जब कि आज विद्यमान सस्कृतियो

और धर्मों का नामोनिशान नहीं मिलता, तब भी जैन-सस्कृति का सद्भाव बताने वाली महत्त्वपूर्ण सामग्री जैनधर्म की प्राचीनता को प्रकट करती है।

हडप्पा की नग्न मूर्ति जैन प्रतिमा ही है, क्योंकि लुहानीपुर (पटना) से उपलब्ध मौर्यकालीन तथा शुग कालीन दिग जैन मूर्ति के समान ही वह दिगम्बर रूप मे है।

जापानी विद्वान् **डा. हाजिमे नाकामुरा** ने लिखा है कि "जापानी लोग भी भगवान् ऋषभदेव से परिचित है। उन्हे Rokshab (रोकशव) कहते है। चीनी भाषा के त्रिपिटको मे ऋषभदेव का कई जगह उल्लेख है।" **प्रोफेसर नाकामुरा** ने चीनी पिटक मे जैनग्रथ 'महा-सत्य-निर्ग्रन्थपुत्र-व्याकरण सूत्र का पता लगाया है। इसका चीनी भाषा मे सन् 519 ईस्वी मे बोधिरुचि ने किया था। **(Voice of Ahimsa,** Vol V, pp 79-80) चीनी भाषा के षट्शास्त्रा अध्याय 1 मे ऋषभदेव को भगवत् कहा है। उसमे यह भी कहा है कि ऋषभदेव के शिष्य गण निर्ग्रन्थो (जैनो) के धर्मग्रन्थो का पाठ करते है।

डा. कालिदास नाग ने **'डिसकवरी आफ एशिया'** ग्रथ मे डेल्फी से प्राप्त आर्गिव की मूर्ति का चित्र दिया है, जो दि जैन मूर्ति सदृश है। "वह मूर्ति दस हजार वर्ष प्राचीन है और जैन मूर्ति के अनुरूप है" यह डा नाग का अभिमत है। यूनान मे नग्न मूर्ति पाई जाती है। उसे रेशेफ (Reshef) कहते है। ऋषभ का ही रूप रेशेफ प्रतीत होता है। यदि सावधानी और सहृदयतापूर्वक विश्व की पुरातन सामग्री का अन्वेषण किया जाय तो सर्वत्र जैन सस्कृति के चिह्न उपलब्ध होगे। इसका कारण यह है, कि चौबीस तीर्थकरो ने सर्वज्ञता प्राप्ति के पश्चात् आर्य क्षेत्र मे विहार कर जीवो को अहिसात्मक धर्म का अमृत पान कराया था।

शिवपुराण मे ऋषभदेव को शिव का अवतार कहा गया है .—

इत्थ प्रभाव ऋषभोऽवतार शकरस्य मे।
सता गतिर्दीनबधुर्नवम. कथितस्तवन:॥47॥

इस प्रकार प्रभाव युक्त शकर (शिव) का अवतार ऋषभ होगा, वे सज्जनो के आश्रय, दीनो के बधु नवम अवतार होगे।

अफगानिस्तान, ईरान, सीरिया, मिश्र, यूनान आदि मे जैन चिह्नो का सद्भाव है, ऐसा शोधक विद्वानो का अनुभव है।

मोहनजोदडो एव हडप्पा की खुदाई मे उपलब्ध सील-मुहर न 449 मे डा **प्राणनाथ विद्यालकार**-जैसे वैदिक विद्वान **जिनेश्वर** शब्द का सद्भाव पढ़ते है। **रायबहादुर चदा** जैसे महान् पुरातत्त्वज्ञ का कथन है कि वहाँ की मोहरो मे जो मूर्ति पाई जाती है, उसमे मथुरा की ऋषभदेव की खड्गासन मूर्ति के समान त्याग अथवा वैराग्य का भाव अंकित है। सील न एफ जी एच मे वैराग्य मुद्रा के साथ, नीचे के भाग मे, ऋषभदेव का सूचक बैल का चिह्न भी पाया जाता है।[50]

डा. हेनरिच जिमर ने जैनधर्म को 'Pre-Aryan' (आर्यो का पूर्ववर्ती) धर्म कहा है। उनका कहना है कि जैनधर्म द्रविडकालीन है, जिस का सिन्धु की उपत्यका मे उपलब्ध सामग्री से ज्ञान होता है। जैनधर्म का ब्राह्मण धर्म अथवा आर्य धर्मों से उद्भव नही हुआ। किन्तु वह अत्यन्त प्राचीन आर्य पूर्ववर्ती धर्म है। *'The Philosophies of India'* के ये शब्द ध्यान देने योग्य है–

> "That there is truth in the Jain idea that their religion goes back to remote antiquity, the antiquity in question being that of the pre-Aryan, so-called Dravidian period, which has recently been dramatically disillusioned by the discovery of a series of great Late Stone Age Cities in the Indus Valley, dating from the 3rd and even perhaps 4th millenium B C (Cf Ernest Mackay, *The Indus Civilization* London] 1935, also Zimmer, *Myths and Symbols in Indian Art & Civilization* pp 93h)"—Vide *Philosophies of India*, by Heinrich Zimmer, p 60 He further observes "Jainism does not derive from Brahmanism Aryan sources reflect the cosmology and anthropology of a much older pre-Aryan upper class of North-Eastern India " (p 217)

डॉ. जिमर ने जैनधर्म को 'Non-Aryan Group'–(आर्यभिन्न) समुदाय का सर्वाधिक प्राचीन धर्म माना है। उन्होने साख्य और योगदर्शनो मे जैनसिद्धान्तो का प्रभाव स्वीकार किया है। उक्त ग्रथ मे फुटनोट मे लिखा है–

> "Dr Zımmer regarded Jaınısm as the oldest of the non-Aryan groups ' Sankhya Yoga represented a later psychologıcal sophıstıcatıon of the prıncıples preserved ın Jaınsım and prepared the ground for the forceful, antı-Brahmın statements of the Buddha "

मोहनजोदडो एव हडप्पा मे प्राप्त दिगम्बर मूर्ति की त्याग, वैराग्य तथा योग मुद्रा ऋषभदेव से ही सम्बद्ध है। क्योकि भगवान् ऋषभदेव योगियो के ईश्वर रूप मे भी पूजे जाते थे। **मानतुगाचार्य** ने ऋषभनाथ का स्तवन करते हुए उन्हे योगीश्वर कहा है.–

त्वामव्यय विभुमचिन्त्य मसख्यमाद्य,
ब्रह्माणमीश्वर मनन्तमनगकेतुम्।
योगीश्वर विदित योगमनेकमेक,
ज्ञानस्वरूप ममल प्रवदन्ति सन्तः॥ भक्तामर स्तोत्र-24॥

भगवज्जिनसेन ने ऋषभनाथ तीर्थकर की स्तुतिरूप मे रचे गए अपूर्व सहस्रानामपाठ मे उन्हे 'सर्वयोगीश्वरोऽचिन्त्य ', 'योगोत्मा', 'महायोगीश्वर ' आदि नामो से स्मरण किया है। (महामुन्यादिशतक) (महापुराण पर्व 25)।

इस प्रकार महत्त्वपूर्ण सामग्री के प्रकाश मे **मेजर जनरल फरलाग** एम ए. एफ आर. ए एस का यह कथन हृदयग्राही मालूम होता है–"पश्चिमीय एव उत्तरीय मध्यभारत का ऊपरी भाग ईसवी सन् से 1500 वर्ष से लेकर 800 वर्ष पूर्व पर्यन्त, उन तूरानियो के अधीन था, जिनको द्रविड कहते है। उनमे सर्प, वृक्ष तथा लिगपूजा का प्रचार था। उस समय उत्तर भारत मे एक प्राचीन, अत्यन्त सगठित धर्म प्रचलित था, जिसका दर्शन, आचार एव उच्च तपश्चर्या सुव्यवस्थित थी, वह जैनधर्म था। उससे ही ब्राह्मण तथा बौद्धधर्म मे आरम्भिक तपश्चर्या के चिह्न

प्रवृद्ध हुए। आर्य लोगो के गगा अथवा सरस्वती तक पहुँचने के बहुत पूर्व अर्थात् ईसवी सन् से आठ सौ, नौ सौ वर्ष पहले होने वाले तीर्थंकर पारसनाथ के पूर्व बाईस तीर्थंकरो ने जैनियो को उपदेश दिया था।"[51]

फरलाग साहब इस परिणाम पर पहुँचते है कि "जैनधर्म के प्रारम्भ को जानना असम्भव है।"[52]

इससे यह भ्रम भी दूर हो जाता है कि जैनधर्म हिन्दू धर्म की बुराइयो को दूर करने के लिए सशोधित-हिन्दूधर्म (Protestant) के रूप मे उदभूत हुआ। जैनधर्म मौलिक और स्वतत्र है। **डा. ए. गिरनाट** ने लिखा है[53]–"जैनधर्म मे मनुष्य की उन्नति के लिए सदाचार को अधिक महत्त्व प्रदान किया गया है। जैनधर्म अधिक **मौलिक, स्वतन्त्र** तथा **सुव्यवस्थित** है। ब्राह्मण धर्म की अपेक्षा यह अधिक सरल, सम्पन्न एव विविधतापूर्ण है और यह बौद्धधर्म के समान शून्यवादी नही है।"

हिन्दूधर्म का स्वरूप समझने से जैनधर्म की स्वतन्त्रता का भाव अनायास हृदयगम किया जा सकता है। हिन्दूधर्म के प्रकाण्ड विद्वान् **सर राधाकृष्णन** का कथन है कि[54] "वेद हिन्दूधर्म का मूलाधार है। हिन्दू वह है, जिसने वेद के आधार पर भारत मे विकास प्राप्त किसी भी धर्म परम्परा को अपने जीवन एव आचरण मे अपनाया हो।" **लोकमान्य तिलक** ने लिखा है कि[55] "जिसकी बुद्धि वेद को प्रमाण मानती है, वह हिन्दू है।" हिन्दू कानून के विशेषज्ञ **डा. सर हरिसिह गौर** का कथन है कि[56] हिन्दू शब्द शास्त्राधार पर अवस्थित नही है। मुस्लिम विजेताओ ने इस शब्द का निर्माण किया था। **प. जवाहरलाल नेहरु** ने लिखा है कि[57]–"भारतवर्ष के लिए हिन्द शब्द का व्यवहार होता है, जो हिन्दुस्तान का सक्षिप्त रूप है। पश्चिम एशिया, ईरान, टर्की, ईराक, अफगानिस्तान, ईजिप्ट तथा अन्यत्र भारत को पहले की तरह आज भी हिन्द कहा जाता है। प्रत्येक भारतीय पदार्थ को हिन्दी कहते है। हिन्दी का धर्म से कोई सम्बन्ध नही है। भारतीय मुस्लिम अथवा भारतीय ईसाई उतना ही हिन्दी है, जितना कि हिन्दूधर्म को माननेवाला। अमेरिकावासी सभी भारतीयो को हिन्दू कहते हैं, यह पूर्णतया मिथ्या बात नही है। हाँ! यदि वे हिन्दी शब्द का प्रयोग करते तो पूर्ण सत्य कथन होता।" उनका यह कथन

विशेष ध्यान देने योग्य है–"बुद्ध धर्म और जैनधर्म यथार्थ मे हिन्दू धर्म नही है और न वे वैदिक धर्म ही है, यद्यपि इनकी उत्पत्ति भारतवर्ष मे ही हुई और वे भारतीय जीवन, सस्कृति तथा तत्त्वज्ञान के मुख्य अग है। भारत मे जो कोई बौद्ध अथवा जैन हो, वह भारतीय तत्त्वज्ञान और सस्कृति की शत प्रतिशत कृति है, किन्तु धर्म की दृष्टि से उनमे से कोई भी हिन्दू नही है।"

इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है, कि जिस प्रकार पारसी, ईसाई, आदि धर्म वैदिकधर्म–जिसे हिन्दूधर्म कहा जाता है–से पृथक् है, उसी प्रकार जैन और बौद्ध भी परमार्थत. हिन्दूधर्म नही कहे जा सकते। सिधु नदी से सिधु-समुद्र पर्यन्त जिसकी भूमिका है, वह हिन्दुस्तान है, और उसमे जिनके तीर्थस्थान है, अथवा जिनकी वह पितृ-भू है, उसे हिन्दू कहना चाहिए, ऐसी परिभाषा भी निराधार है एव सदोष भी है। खोजा लोगो की पुण्यभूमि भारत मे है। उनके धर्मगुरु आगाखान भारतीय है। अत: परिभाषा के अनुसार उनको हिन्दू कहना होगा, किन्तु यह प्रगट है, कि वे मुस्लिमधर्मी होने से अहिन्दू माने जाते है। इसी प्रकार रोमन कैथलिक ईसाइयो के पूज्य गुरु सेण्ट जेवियर का निधन बम्बई प्रान्त के गोवा मे हुआ था, अत वह स्थल उनका तीर्थस्थान बन गया है, इससे परिभाषा की दृष्टि से उनकी परिगणना हिन्दुओ मे होनी थी, न कि अहिन्दू ईसाइयो मे। ऐसा नही होता अत परिभाषा अतिव्याप्ति दूषणयुक्त है। हिन्दुस्थान के अग कश्मीर मे परिभाषा नही जाती है, अत: वह अव्याप्त दूषण दूषित होने के कारण धर्म की दृष्टि से जैन तथा बौद्धो को हिन्दू मानने के पक्ष को प्रबल प्रमाण से सिद्ध नही कर सकती है। ऐसी स्थिति मे जैनधर्म का स्वतन्त्र अस्तित्व अगीकार करना न्याय तथा सत्य की मर्यादा के अनुकूल है।

जैनधर्म का साहित्य मौलिक है। इसकी भाषा भी (प्राकृत) स्वतत्र है। इसका कानून भी हिन्दू कानून से पृथक् है। ऐसी भिन्नता की सामग्री को ध्यान मे न रख कोई-कोई इसे 'आर्यधर्म की शाखा' बताने मे अपने को कृतार्थ मानते हैं। मद्रास हाईकोर्ट के स्थानापन्न प्रधान विचारपति **श्रीकुमारस्वामी शास्त्री** ने हिन्दूधर्मावलम्बी होते हुए भी सत्यानुरोध से

यह लिखा है[58]–"आधुनिक शोध ने यह प्रमाणित कर दिया है कि जैनधर्म हिन्दूधर्म से मतभिन्नता करने वाला उपभेद नही है। जैनधर्म का उद्‌भव एव इतिहास उन स्मृतिशास्त्रो तथा उनकी टीकाओ से बहुत प्राचीन है जो हिन्दू कानून और रिवाज के लिए प्रामाणिक मानी जाती है। यथार्थ बात तो यह है कि जैनधर्म हिन्दूधर्म के आधार-स्तभ वेदो को प्रमाण नही मानता। यह उन अनेक क्रियाकाण्डो को अनावश्यक मानता है, जिन्हे हिन्दू लोग आवश्यक समझते है।"

इस प्रसग मे बम्बई हाईकोर्ट के न्यायमूर्ति **रागलेकर** का यह निर्णय भी महत्त्वपूर्ण प्रतीत होता है कि[59]–"यह सत्य है कि जैन लोग वेदो को अपना धर्मग्रथ नही मानते। ब्राह्मणधर्म के समान वे मृत के क्रिया कर्म, श्राद्ध एव स्वर्गीय व्यक्ति के लिए नैवेद्य अर्पण करने की बात स्वीकार नही करते है। उनकी यह भी धारणा है कि औरत अथवा दत्तकपुत्र से पिता की आत्मा को कोई भी आत्मीय श्रेय नहीं प्राप्त होता। वे ब्राह्मणधर्म वाले हिन्दुओ से मृत व्यक्ति के शरीर-दाह अथवा गाडने के सिवाय अन्य क्रियाकाण्ड न करने के कारण पृथक् है। आधुनिक ऐतिहासिक शोध से यह प्रकट हुआ है कि **यथार्थ मे ब्राह्मण धर्म के सद्‌भाव अथवा उसके हिन्दूधर्म रूप मे परिवर्तित होने के बहुत पूर्व जैनधर्म इस देश मे विद्यमान था।** यह सत्य है कि देश मे बहुसख्यक हिन्दुओ के सम्पर्कवश जैनियो मे ब्राह्मण धर्म से सम्बन्धित अनेक रीति रिवाज प्रचलित हो गए है।"

इतिवृत्त विशेषज्ञ **डॉ. आर. सी. मजुमदार** ने भी यह स्पष्ट किया है कि पुरातन साहित्य मे जिसे ब्राह्मण धर्म कहा जाता था, वर्तमान समय मे उसी को हिन्दू धर्म कहते है :–"It is thus obvious that the foundation of that phase of Brahminical religion which we call today Hinduism, was laid during the period under review" (*The Classical Age*, p 366 Chapter on Religion and Philosophy)

अतः कुछ राजनैतिक दृष्टि वाले या साम्प्रदायिक जैनो के स्वतत्र अस्तित्व पर आपत्ति उठाते हुए उन्हे ब्राह्मणधर्म का अग मानने को बाध्य करते है, वह उचित नही है। लौकिक तथा व्यवहारिक दृष्टि से

पारस्परिक बधुत्व, प्रेम, सहयोग, मातृत्व का समर्थन करते हुए भी सत्य का आदर करते हुए यह मानना होगा, कि जैनधर्म मौलिक है। वह किसी धर्म की शाखा या उपभेद नही है। इतिहास की पृष्ठभूमि मे इस सत्य को आवृत नही किया जा सकता है। इतिहास का सबध अतीत से है। उसे बदलने का साहस आश्चर्य की वस्तु है। उसके प्रकाश मे भविष्य का निर्माण करना उचित है। इतिहास मे कथित भूतकालीन घटनाओ का असखव हो गया है।

भारत की विभूति **स्व. पडित जवाहर लाल नेहरु** ने 3 सितम्बर सन् 1949 को इलाहाबाद के भाषण मे जैनधर्म की स्वतत्रता का उल्लेख करते हुए उसे 'अल्प सख्यक समाज' (minorıry communıty) कहा था। *स्टेट्समेन* मे छपे ये शब्द शात भाव से ध्यान देने योग्य है —"No doubt India had a vast majorıty of Hındus but they could not forget the fact that there are also mınorıtıes Moslems, Chrıstıans, Parsıs and Jaıns" (*Statesman,* 5-9-49)

यदि अधिक गम्भीरता के साथ अन्वेषण एव शोध का कार्य किया जाए, तो जैनधर्म के विषय मे ऐसी महत्वपूर्ण बाते प्रकाश मे आवेगी, जिससे जगत् चकित हो उठेगा। जो धर्म बृहत्तर भारत का धर्म रह चुका है, जो चद्रगुप्त सदृश प्रतापी नरेशो के समय मे राष्ट्रधर्म रहा है, उसकी बहुमूल्य सामग्री अब भी भूगर्भ मे लुप्त है। भारत के बाहर भी जैनधर्म का प्रसार पुरातनकाल मे रहा है। कुछ वर्ष पूर्व आस्ट्रिया के बुडापेस्ट नगर के समीपवर्ती खेत मे एक किसान को भगवान् महावीर की मूर्ति प्राप्त हुई थी।[60]

एक पुरातत्त्ववेत्ता का कथन है[61]—"अगर दस मील लम्बी त्रिज्या (Radıus) लेकर भारत के किसी भी स्थान को केन्द्र बना वृत्त बनावे तो उसके भीतर निश्चय से जैन भग्नावशेषो के दर्शन होगे।" इससे जैनधर्म के प्रसार और पुरातनकालीन प्रभाव का बोध होता है।

जैनधर्म की प्राचीनता पर यदि दार्शनिक शैली से विचार किया जाए, तो कहना होगा, कि यह अनादि है। जब पदार्थ अनादि-निधन है, तब वस्तुस्वरूप का प्रतिपादक सिद्धान्त क्यो न अनादि होगा?[62] इस

पद्धति से विचार करने पर जैनधर्म बौद्धधर्म का पूर्ववर्ती मात्र ही नही, किन्तु विश्व का सर्वप्राचीन धर्म माना जायगा। यह धर्म सर्वज्ञ तीर्थंकर भगवान् के द्वारा प्रतिपादित सत्य का पुञ्जस्वरूप है, अतः इसमे कालकृत भिन्नता का दर्शन नही होता और यह एकविध पाया जाता है। **स्मिथ** सदृश इतिहासवेत्ताओ ने इसे स्वीकार किया है कि जैनधर्म का वर्तमान रूप (Present form) लगभग दो हजार वर्ष पूर्व भी विद्यमान था। बौद्धपाली ग्रथो से भी इसकी प्राचीनता का समर्थन होता है।[63] जैनशास्त्र बताते है कि इतिहासातीत काल मे भगवान् वृषभदेव ने अहिसात्मक धर्म को प्रकाशित किया, जिसको पुन.-पुनः प्रकाश मे लाने का कार्य शेष 23 तीर्थंकरो ने किया। महावीर भगवान इसके सस्थापक नही थे। वे इसके चौबीसवे तीर्थंकर थे अतएव प्राचीनता के वदको के लिए भी जैन सिद्धान्त महत्त्वपूर्ण है।

★★★

सदर्भ सूची

1 गौतम स्वामी ने केवली रूप मे 12 वर्ष विहार का मोक्ष प्राप्त किया था। पश्चात् 12 वर्ष पर्यन्त सुधर्म केवली ने धर्म तीर्थ प्रवर्तन किया था। इसके अनतर जम्बू स्वामी ने 38 वर्ष केवली रूप से विहार कर मोक्ष प्राप्त किया था। *जयधवलाटीका* (पृष्ठ 84 85, भाग 1)

2. चाण भद्र। वर्णयेदानी स्वनियोगवृत्तान्तम्। अपि वृषलमनुरक्ता प्रक्तत्तय ।
(प्रथमोङ्क पृ 19)

3 'कसायपाहुडे सोलसपद सहस्साणि। एदस्स उवसहारगाहाओ गुणहर-मुह-कमल विणिग्गयाओ तेत्तीसाहिय-विसदमेत्तीओ 233'।

4 त लहिऊण णिमित्त गहिय सव्वेहि कवली दड।
दुद्धियपत्त च तहा पावरण सेयवत्थ च।। 143।।
चत्त रिसी-आयरण गहिया भिक्खा य दीणवित्तीए।
उवविसिय जाइऊण भुत्त वसहीसु इच्छाए।।144।। *भावसग्रह*।।

5 विष्णु को नारायण या वासुदेव भी कहते है और प्रतिविष्णु को प्रतिनारायण कहते है।

6. "The Jains appear to have originated in the 6th or 7th century of our era " *History of India*, p 121

7 "We also know from the fragments of Magesthenes that as late as the 4th century B C the Sarmanas or the Jain ascetics who lived in the woods were frequently consulted by the kings through their messengers regarding the cause of things" —*Jain Gazette*, Vol XVI, p 216

8. "वीराय भगवते चतुरासीतिवसे काय जालामालिनिये रंनिविठ माझिमिके"

9 "As a sect the Digambaras have continued to exist among them from the old down to the present day, the only conclusion that is left to us that the Gymnosophist, whom the Greeks found in Western India where Digambarism still prevails, were Jains and neither Brahmans nor Buddhists and that it was a company of Digambaras of this sect that Alexander fell in with near Texila, one of the Calanus followed him to Persia The creed has been preached by 24 Tirthankaras in the present cycle, Lord Mahavira being the last

10 The stupa was so ancient that at the time, when the inscription was incised, its origin had been forgotten On the evidence of its character the date of inscription may be referred with certainty to the Indo-Scythian era and is equivalent to A D 150 The stupa must therefore have been built several centuries before the beginning of the Christian era, for the name of its builders would assuredly have been known, if it had been erected during the period, when the Jains of Mathura carefully kept record of their donations " - *Museum report 1890-91*

11 A famous Jain establishment existed at Kankali Tila from the second century B C This site has proved a veritable mine of Jain sculptures most of which are now deposited in the Luchnow Museum

12 'The cause of this agreement is in all probability not that adherents of one sect imitated those of the others, but that both drew on the national Art of India and employed the same artist is " *Ep Ind* , Vol II, p 322

13 This similarity finds striking illustration on the large number of railing pillars unearthed from the Jain site of Kankali Tila and the other Buddhist sites in Mathura In point of antiquity also the claims of Jain art are equal to those of the Buddhists art as the inscriptions from Kankali Tila testify to the existence of a Jain Stupa there in the second century B C

14 Along the opposite wall of the rectangle in front of Bay No 2 is installed the image of Jain Tirthankara Rishabhnath, (B 4) dedicated in the year 84 (A D 162) of Kushan king Vasudea by a kutumbni who mentions the name of her husband, father-in-law and spiritual teacher (p 3)

15 In the rectangular corner of this court are arranged other Jain Tirthankara images, both seated and standing, of the Kushana period and standing Jain image is obviously identified by its nudity and the seated Tirthankara images by the Srivatsa Symbol in the centre of the chest

16 "In some cases monuments which are really Jain, have been erroneously described as Buddhist "- V Smith

17 "The prejudice that all stupas and stone railings must necessarily be Buddhist has probably prevented the recognition of Jain structures as such, and upto the present only two undoubted Jain stupas have been recorded

Dr Fleet, Ipecial Gazelte, Vol 11, P 111

18 *English Jain Gazette*, p 242 of 1920 Article by Prof B Sheshagiri Rao M A on "Periods of Andhra culture "

19 गुरु गोविन्दसिह ने सिक्खो दसमग्रथ 'ग्रथ साहब' मे अर्हन्त को श्रावक मत-जैनधर्म का आराध्य लिखा है।

विशुण देव अज्ञा जब पाई, काल पुरुख की करी बडाई।
कालपुरुख तब हुये दियाला, दास जानके वचन रसाला।।
धर अरहनदेव का रूपा, नाश करो अशरण के भूपा।
तब अर्हन्नदेव बन आओ, आन और ही पथ चलाओ।
श्रावक मत उपारजन किया, सत सनोहण को सुख दिया।।

20 "But from the point of view of the history of Jainism, it is the most important inscription yet discovered in the country It confirms Pauranic record and carries the dynastic chronology to c 450 B C Further, it proves that Jainism entered Orissa and probably became the state religion within hundred years of its founder Mahavira "

21 "नमोअरह(न्)तान, नमो सवसिधान। ऐरेन महाराजेन महामेघवाहनेन कलिगाधिपतिना सिरिखारवेलेन वारसमे च बसे मा (गध) च राजान वह (स) तिमित पादे व ( ) दाप (य) ति नदराजनित कलिगजिन सनियेस अग-मगधबसु नयति ।" (जैन सि० भास्कर भा० 5 कि० 1 पृ० 26, 30)

22 "अशोक ने बौद्धधर्म के प्रचार मे जैसी सहायता दी थी, सम्प्रति ने जैनधर्म के प्रचार मे वैसी ही दी। मौर्यों का पतन होने पर पाटलिपुत्र पर चढाई करने वाले बलख के यूनानियो को खदेड भगाने वाला और पाण्ड्य देश से पजाब तक का दिग्विजय करने वाला कलिग देश (उडीसा तट) चक्रवर्ती राजा खारवेल (लगभग 195-182 ई पू) भी सम्प्रति की तरह जैनधर्म का अनन्य उपासक था। खारवेल के सुप्रसिद्ध हाथीगुम्फा-अभिलेख मे लिखा है कि उसने उडीसा के कुमारी पर्वत पर जैन ऋषियो का एक सघयन जुटाया और मौर्य काल मे जो अग उच्छिन्न हो गए थे, उन्हे उपस्थित किया। आश्चर्य है कि जैन वाङ्मय या अनुश्रुति मे कही खारवेल का नाम भी नही पाया जाता।"

(*भारतीय वाड्मय के अमररत्न* by जयचन्द्र विद्यालकार, पृ 50)

23 Vide-*Rishabhadeva, the Founder of Jainism*, p 58, also *Key of Knowledge*

24 जिणवरधम्म गहिय हणेइ दुट्टुकम्माण।
रुधइ म्रासवदार जुहारु जिणवरो भणिय।।
युगादिवृषभ देव हारिण सर्वसकट।
रक्षन्ति सर्वजीवाना तस्माज्जुहारूउच्यते।।

25 'जुहार' को भ्रांतिवश जौहर-व्रत का द्योतक कोई कोई सोचते है, किन्तु उपरोक्त विवेचन द्वारा इसका वैज्ञानिक अर्थ स्पष्ट होता है। जैन सस्कृति के अनुरूप भाव होने के कारण जैन जगत् मे अभिवादन के रूप मे इसका प्रचार है। अत 'जौहर' के परिवर्तित रूप मे जुहार को मानना असम्यक् है।

26 "What ıs really remarkable about the Jaın account ıs the confırmatıon of the number four and twenty ıtself from non-Jaın sources The Hındus, ındeed, never dısputed the fact that Jaınısm was founded by Rıshabhadeva ın thıs half cycle and placed hıs tıme almost at what they conceıved to be the commencement of the world " *Rıshabhdeva*, p 66

27 "हिमाह्वयन्तु यद्वर्ष नाभेरासीन्महात्मन ।
तस्यर्षभोऽभवत्पुत्रो मरुदेव्या महाद्युति ।।
ऋषभात् भरतो जज्ञे वीर पुत्रशताग्रज ।"

—*Kurma Purana, LXI, 37-38*

28 "ऋषभात् भरतो जज्ञे वीर पुत्रशताद्वर ।।
सोऽभिषिच्यर्षभ पुत्र महाप्राव्राज्यमास्थित ।
हिमाह्वय दक्षिण वर्ष भरताय पिता ददौ।।
तस्मात्तु भारत वर्ष तस्य नाम्ना महात्मन ।"

—*Markandeya Purana, L 39-41*

29 Jaın tradıtıon ascrıbes the orıgın of the system to Rıshabhadeva, who lıved many centurıes back There ıs evıdence to show that as far back as the fırst century B C , there were people who were worshıppıng Rıshabhdeva, the first Tırthankara There ıs no doubt that Jaınısm prevaıled even before Vardhaman or Parsvanatha The Yajurveda mentıons the names of three Tırthankaras–Rıshabha, Ajıtnath and Arıshtanemı The Bhagawatpurana endorses the vıew that Rıshabhdeva was the fırst founder of Jaınısm ' –*Indıan Phılosophy,* p 287, Vol I

30 "Rıshabhadeva "

31 पूर्ण वेद मत्र इस प्रकार है–
अर्हन् बिभर्षि सायकानि धन्व। अर्हन् निष्क यजत विश्वरूपम्।।
अर्हन् इद दयसे विश्वमभ्वम्। न वै ओजीयो रुद्र त्वदस्ति।।2 33 10।

Vide-'A Vedı Reader' by Macdonell, p 63

32 शैवलोग जिसकी 'शिव' कहकर उपासना करते है, वेदान्ती लोग 'ब्रह्म', बौद्ध लोग 'बुद्धदेव', प्रमाणप्रवीण नैयायिक लोग 'कर्ता', जैनधर्मावलम्बी 'अर्हन्त'

और मीमासक लोग 'कर्म' रूप में जिसे पूजते हैं, वह त्रिलोकनाथ भगवान् आपकी मनोकामना पूर्ण करे।

33 "सर्वज्ञो जितरागादिदोषस्त्रैलोक्यपूजितः।
यथास्थितार्थवादी च देवोऽर्हन् परमेश्वर ॥"
A Superior divinity with the Jains vide *Apte's Sanskrit English Dic*, p 55

34 "There is nothing to prove that Parsva was the founder of Jainism Jain tradition is unanimous in making Rishabha, the first Tirthankara (as its founder) There may be something histosrical in the tradition which makes him the first Tirthankara"

35 "They are called Vratyas or un-Brahmanical Kshatriyas, they had a republican form of Government they had their own shrines, their non-Vedic worship, their own religious leaders, they patronised Jainism"—*Modern Review* p 499, 1929

36 *Eng Jain Gazette*, part 6, vol XXXI

37 "It is interesting to note that Jain writers have quoted many other passages from the Vedas themselves, which are no longer to be found in the current editions Weeding has very likely been carried out on a large scale This may be accounted for by the bitter hostility of the Hindus towards Jainism in recent historical times" *Rishabhadeva*, p 68

38 "The discoveries have to a very large extent supplied corroboration to the written Jain tradition and they offer tangible and incontrovertible proof of the antiquity of the Jain religion and of its early existence very much in its present form The series of twenty four pontiffs (Tirthankaras) each in his distinctive emblem was evidently firmly believed in at the beginning of the Christian era"

39 "रुष्ट श्रीवीरनाथस्य तपस्वी मौडिलायन ।
शिष्य श्रीपार्श्वनाथस्य विदधे बुद्धदर्शनम्॥
शुद्धोदनसुत बुद्ध परमात्मानमब्रवीत्॥अ० 18॥"

40 Vide—The Introduction to *Bhagawan Mahavira Aur Mahatma Buddha*

41 Vide Introduction *Outlines of Jainism* pp XXX to XXXIII

42 प० जवाहरलाल नेहरु की '*Discovery of India*' नामक पुस्तक मे भी जैनधर्म के बारे मे इसी प्रकार भ्रान्त धारणाओ का दर्शन होता है। इस विषय मे सत्य का दर्शन करने के लिए जिज्ञासुओ को प्रख्यात व्यक्तियो के वचन-मोह को छोडकर प्रशात एव सक्रिय शोधक दृष्टि को सजग रखना होगा। कारण प्रकाश के नाम पर अधकार से सत्य अधिक आवृत हुआ है।

43 "सासणमलिहताण पडिवज्जह"–*मुद्राराक्षस* अक 4।

44 "We may make bold to say that Jainsism, the religion of Ahinsa (non-injury) is probably as old as the Vedic religion, if not older" *Cultural Heritage of India*, pp 185-8

45 देखो–*हरिवंशपुराण,* पर्व 17, पृ 263-272।

46 सदाचार, गुणादि की अपेक्षा द्रविडो को शास्त्रीय भाषा मे आर्य मानना होगा।

47 *Yesterday and Today*—Chapter on Glimpse of Ancient India pp 59-71 by Raibahadur A Chakravarty M A I E S (Retd)

48 "Religion then is a science and originated amongst Aryans Amongst the Aryans it originated with the Jains, not with the non-Jain Aryans All the chief religious quarrels of men have arisen, without exception, through mythology and will end completely, the moment it is thrown away by men The descendants of former (scientific section) are termed Jains today, those who allegorised first of all the Hindus" *Rishabhadeva* pp V-XI

49 "All mythologies as a matter of fact started with the teaching of truth as taught by the Tirthankaras From its very nature scientific religion could not have been a hole and corner affair"
—*Rishasbhdeva* p VI, Refer 'Key of Knowledge & Confluence of Opposites'

50 Ramprasad Chanda,"Sindh Five Thousand Years ago' in *Modern Review* August 1932 plate 11 fig d & p 159 "the pose of the image (standing Rishabha in Kayotsarga form from Mathura reproduced in fig 12) closely resembles the pose of the standing deities on the Indus seals Among the Egyptian sculptures of the time of the early dynasties (III-VI) there are standing statues with arms hanging on two sides But though these Egyptian statues and the archaic Greek Kouri show nearly the same pose, they lack the feeling of abandonment that characterises the standing figures of the Indus seals three to five (Plate II F G H) with a bull (?) in the foreground may be the prototype of Rishabha'

—Quoted in the *Jain Vidya,* Vol I, no I, Lahore

मोहनजोदडो की सील की वैराग्ययुक्त कायोत्सर्ग मुद्रा तथा वृषभ का चिह्न भगवान् वृषभदेव के प्रभाव को द्योतित करते है। जिनको यह स्वीकार करना आपत्तिप्रद मालूम पडता है, उनको कम से कम यह स्वीकार करना होगा कि सिन्धु नदी की सभ्यता के समय जैनधर्म था, जिसका प्रभाव सील की मूर्ति द्वारा अभिव्यक्त होता है।

पूर्वोक्त अवतरण मे श्रीरामप्रसाद चन्दा सीलो को वृषभदेव की द्योतक बताते है। जो श्री चन्दा महाशय से सहमत न हो, उन्हे यह मानना न्याय होगा, कि उस

पुरातन काल मे एक ऐसी सभ्यता या सस्कृति थी, जिसे आज जैन कहते है। उसका प्रभाव सील द्वारा प्रकाशित होता है। अत सील या तो जैन तीर्थंकर वृषभदेव को द्योतित करती है, अथवा जैन प्रभाव को सूचित करती है।

51 "All upper, Western, North Central India was then, say 1500 to 800 B C and indeed from unknown times–ruled by Turanians, conveniently called Dravids and given to tree, serpent, phalik worship, but there also then existed throughout upper India an ancient and highly organised religion, philosophical, ethical and severely ascetical, viz Jainism, out of which clearly developed the early ascetical features of Brahmanism and Buddhism Long before the Aryans reached the Ganges or even Saraswati, Jains had been taught by some 22 prominent Bodhas, saints or Tirthankaras, prior to the historical 23rd Bodha Parsva of the 8th or 9th century B C"—*Short Studies in the Science of Comparative Religion* by Major General J G.R Furlong F R A S , pp 243-44

52 'It is impossible to find the beginning of Jainism'

53 "There is very great ethical value in Jainism for man's improvement Jainism is a very original, independent and systematic doctrine It is more simple, more rich and varied than Brahmanical systems and not negative like Buddhism "—*Dr A, Guiernot*

54 "The Veda is the basis of Hindu religion A Hindu is one who adopts in his life and conduct any of the religious traditions developed in India on the basis of the Vedas"

' *Religion and Society* by Dr Radhakrishnan,pp 109-137

55 "प्रामाण्यबुद्धिर्वेदेषु साधनानामनेकता।
उपास्यानामनियम एतद्धर्मस्य लक्षणम्।।"

56 "We are called Hindus, a term for which there is no scriptural authority It is a term carried by the Muslim conquerors of India to describe the non-descript people living in the cis-Indus country At the most the term is about 300 years old, while Hinduism as we practise it today is about 1200 years old"

—*Facts and Fancies* by Dr Sir H S Gour p 405

57 "The correct word for 'Indian' as applied to country and culture or the historical continuity of our varying traditions is Hindi from 'Hind' a shortened form of Hindus Hind is still commonly used for India In the countries of western Asia, in Iran and Turkey, in Iraq, Afghanistan, Egypt and elsewhere India has always been referred to and is still called Hind and everything Indian is called Hindi" 'Hindi' has nothing to do with religion and a modern or Christian Indian is as much a Hindi as a person who follows Hinduism as a religion

Americans who call all Indians Hindus are not far wrong They would be perfectly correct, if they used the word Hindi"

(Discovery–India, pp 74&75)

"Buddhism and Jainism were certainly not Hinduism or even the Vedic Dharma, yet they arose in India and were integral parts of Indian life, culture and philosophy A Buddhist or Jain in India is a hundred per cent product of Indian thought and culture, yet neither as a Hindu by faith"–ibid p 73

58 "Were the matters *res integra* I would be inclined to hold that modern research has shown that Jains are not Hindu dissenters but that Jainism has an origin and history long anterior to the Smritis and commentaries, which are recognised authorities on Hindu law, usage In fact, Jainism rejects the authority of the Vedas, which form the bedrock of Hinduism and denies the efficacy of various ceremonies, which the Hindus consider essential

Sir Kumarswami, Acting Chief Justice, Madras H Court, A I R 1927, Madras 228

59 "It is true the Jains reject the scriptual character of the Vedas and repudiate the Brahmanical doctrines relating to obsequial ceremonies, the performance of Shradhas and the offering of oblations for the salvation of the soul of the deceased Amongst them there is no belief that a son by birth or adoption confers spiritual benefit on the father They also differ from the Brahmanical Hindus in their conduct towards the dead, omitting all obsequies after the corpse is burnt or buried Now it is true, as later historical researches have shown, that Jainism prevalied in this country long before Brahmanism came into existence or converted into Hinduism It is also true that owing to their long association with the Hindus, who formed the majority in the country, the Jains have adopted many of the customs and even ceremonies strictly observed by the Hindus and pertaining to Brahmanical religion "

Mr Justice Rangrekar Bom High Court A I R 1939, Bo 377

60 Vide Samprati, p 335

61 "An eminent archaeologist says that if we draw a circle with a radius of ten miles, having any spot in India as the centre, we are sure to find some Jain remains within that circle "

—Vide Kannad Monthly Vivekabhayudaya, p 96, 1940

62 "The Nigganthas (Jains) are never referred to by the Buddhists as being a new sect, nor is their reputed founder Nataputta spoken of as their founder, whence Jacobi plausibly argues that their real founder

was older than Mahavira and that this sect preceded that of Buddha"

—*Religion of India* by Prof E W Hopkins, p 283

बौद्धो ने निर्ग्रन्थो (जैनो) का नवीन सम्प्रदाय के रूप मे उल्लेख नहीं किया है और न उनके विख्यात सस्थापक नातपुत्त का सस्थापक के रूप मे ही किया है। इससे जैकोबी इस निष्कर्ष पर पहुचे है कि जैनधर्म के सस्थापक महावीर की अपेक्षा प्राचीन है तथा यह सम्प्रदाय बौद्ध सम्प्रदाय के पूर्ववर्ती हैं।

63 According to the belief of the Jains themselves, Jain religion is eternal, and it has been revealed again and again, in every one of the endless succeeding periods of the world by innumerable Tirthankaras In the present avasarpini period, the first Tirthankara was Risabha and the last, the 24th, was Vardhamana —Dr Jacobi

*****

पराक्रम के प्राङ्गण में

कुछ लोगो की धारणा है कि अब सम्पूर्ण विश्व मे वीरता की क्रियात्मक शिक्षा देने मे ही मानव जाति का कल्याण है। यह युग 'Survival of the fittest'–'जाको बल ताही को राज' की शिक्षा देते हुए बताता है कि बिना बलशाली बने इस सघर्ष और प्रतिद्वन्द्विता पूर्ण जगत् मे सम्मानपूर्ण जीवन सम्भव नही। 'बलमुपास्व-शक्ति की उपासना करो' यह मत्र आज आराध्य है। दीन-हीन के लिये सजीव प्रगतिशील मानव-समाज मे स्थान नही है। उन्हे तो मृत्यु की गोद मे चिरकाल पर्यत विश्राम लेने की सलाह दी जाती है। जैन आचार्य **वादीभसिह सूरि** अपने क्षत्रचूडामणि मे **'वीरभोग्या वसुन्धरा'** लिखकर वीरता की ओर प्रगति-प्रेमी पुरुषो का ध्यान आकर्षित करते है। हिदू शास्त्रकार इस दिशा मे तो यहा तक लिखते है कि बिना शक्ति-सचय किये यह मानव अपने आत्मस्वरूप की उपलब्धि करने मे समर्थ नही हो सकता। उनका प्रवचन कहता है **"नायमात्मा बलहीनेन लभ्य ।"** जैनशास्त्रकारो ने इस सबध मे और भी अधिक महत्त्व की बात कही है कि निर्वाण-प्राप्ति के योग्य अतिशय साधना की क्षमता साधारण नि.सत्त्व शरीर द्वारा सम्पन्न नही होती, महान् तल्लीनता रूप शुक्लध्यान की उपलब्धि के लिए वज्रशरीरी अर्थात् वज्रवृषभ-नाराच-सहननधारी होना अत्यत आवश्यक है।[1]

कुछ लोगो की ऐसी भी समझ है कि वास्तविक वीरता के विकास के लिये अहिसा की आराधना असाधारण कटक का कार्य करती है। अहिसा और वीरता मे उन्हे आकाश-पाताल का अतर दिखाई देता है। वे लोग यह भी सोचते है कि वीरता के लिए मास भक्षण करना, शिकार खेलना आदि आवश्यक है। अहिसात्मक जीवन शिकार तथा मासभक्षण का मूलोच्छेद किये बिना विकसित नही होता। अत· अहिसात्मक जैनधर्म की छत्रछाया मे पराक्रम-प्रदीप बराबर प्रकाश प्रदान नही कर सकता। यह जैनधर्म की अहिसा का प्रभाव था जो वीरभू भारत पराधीनता के

पाश मे ग्रस्त हुआ। एक बडे नेता ने भारत के राजनैतिक अध:पात का दोष जैन-धर्म की अहिसा की शिक्षा के ऊपर लादा था। ऐसे प्रमुख पुरुषो की भ्रान्त धारणाओ पर सत्य के आलोक मे विचार करना आवश्यक है। अहिसात्मक जीवन वीरता का पोषक तथा जीवनदाता है। बिना वीरतापूर्ण अत:करण हुए इस जीव के हृदय मे अहिसा की ज्योति नही जगती। जिसे हमारे कुछ राजनीतिज्ञो ने निदनीय अहिसा समझ रखा है यथार्थ मे वह कायरता और मानसिक दुर्बलता है। हस और बकराज के वर्ण मे बाह्य धवलता समान रूप से प्रतिष्ठित रहती है कितु उनकी चित्तवृत्ति मे महान् अतर है। इसी प्रकार कायरता अथवा भीरुतापूर्ण वृत्ति और अहिसा मे भिन्नता है। अहिसा के प्रभाव से आत्मशक्तियो की जागृति होती है और आत्मा अपने अनत वीर्य को सोचकर विरुद्ध परिस्थिति के आगे अजेय और अभयपूर्ण प्रवृत्ति करने मे पीछे नही हटती। जिस तरह कायरता से अहिसावान का वीरतापूर्ण जीवन जुदा है उसी प्रकार क्रूरता से भी उसकी आत्मा पृथक् है। क्रूरता मे प्रकाश नही है। वह अत्यत अधी और पशुतापूर्ण विचित्र मन: स्थिति को उत्पन्न करती है। साधक अपनी आत्मजागृति-निमित्त क्रूरतापूर्ण कृतियो से बचता है, कितु वीरता के प्रागण मे वह अभय भाव से विचरण करता है वह तो जानता है–**'न मे मृत्यु , कुतो भीति.'**–जब मेरी आत्मा अमर है तब किसका भय किया जाय, डर तो अनात्मज्ञ के हृदय मे सदा वास करता है।

क्रूरता की मुद्रा धारण करने वाली कथित वीरता के राज्य मे यह जगत् यथार्थ शाति और समृद्धि के दर्शन से पूर्णतया वंचित रहता है। क्रूर सिह के राज्य मे जीवधारियो का जीवन असम्भव बन जाता है। उसी प्रकार क्रूरता प्रधान मानव-समुदाय के नेतृत्व मे अशाति, कलह, व्यथा और दु:ख का ही नग्न नर्तन दिखाई देगा।

जब अहिसात्मक व्यक्तियो के हाथ मे भारत की बागडोर थी, तब देश का इतिहास स्वर्णाक्षरो मे लिखा जाने योग्य था।[2] आज इस अहिसा के स्थान मे कही क्रूरता और कही कायरता के प्रतिष्ठित होने के कारण अगणित विपत्तियो का दौरदौरा दिखाई पडता है। वस्तुस्थिति से अपरिचित

होने के कारण ही लोग भगवती अहिसा को क्रूरता और कायरता के फलस्वरूप होने वाले राष्ट्रीय पतन का अपराधी बनाते है। लोगो ने वीरता को युद्धस्थल तक ही सीमित समझा है कितु **'साहित्यदर्पण'** ने उसे दान, धर्म, युद्ध तथा दया इन चार विभागो से युक्त बताया है।[3] जैनधर्म की आराधना करने वालो को हम इस प्रकाश मे देखे तो हमे विदित होगा कि जैनधर्म का आलोक किस प्रकार जीवन को प्रकाशपूर्ण बनाता रहा है।

इतिहास के क्षेत्र मे भारतीय स्वातत्र्य के श्रेष्ठ आराधक महाराणा प्रताप को स्वेच्छा से अपनी सारी सम्पत्ति समर्पित करने वाला वीर **भामाशाह**[4] अहिसा का आराधक जैनशासन का पालक था। यदि भामाशाह ने अपनी श्रेष्ठ 'दानवीरता' द्वारा महाराणा की सहायता[5] न की होती तो मेवाड का इतिहास न जाने किस रूप मे लिखा मिलता। जैनशासन मे आदर्श गृहस्थ के दो मुख्य कर्त्तव्य बताये गये है, एक तो वीरो की वदना और दूसरा योग्य पात्रो को औषधि, शास्त्र, अभय, आहार नाम के चार प्रकार का दान देना है। एक जैन साधक शिक्षा देते है–**"धन बिजुरी उनहार, नरभव लाहौ लीजिये।"** आज भी जैन समाज मे दान की उच्च परम्परा का पूर्णतया सरक्षण पाया जाता है। जैन अखबारो से इस बात का पुष्ट प्रमाण प्राप्त होगा। असमर्थ जनो को इस सुन्दर शैली से समर्थ श्रीमान् सहायता देते थे, कि लेने वाले के कल्पित गौरव की भावना को बिना आघात पहुचे कार्य सम्पन्न किया जाता था। दान की घोषणा कर दानवीर बनने के बदले सात्त्विक भावापन्न धनी श्रावक गुप्त रूप से सहायता पहुचाया करते थे। **सर्वानन्दसूरि** रचित 'जगडू-चरित्र' के आधार पर 'हरिजन' (11 मार्च सन् 1947, पृ 143) मे एक लेख छपा था, कि सवत् 1312 मे कच्छ प्रान्त के भद्रेश्वरपुर मे श्रीमाली जैन जगडू नामक श्रावक बडे सम्पन्न तथा दानशील थे, जो रात्रि के समय सोने के दीनार-सिक्का सयुक्त-लाइ-समूह[6] को विपुल मात्रा मे कुलीन लोगो को अर्पण करते थे। प्रत्येक प्रान्त के बडे-बूढो से इस प्रकार की साधर्मी वात्सल्य की कथाएँ अनेक स्थल मे सुनने मे आती है। खेद है, कि आज के युग मे यह प्रवृत्ति सुप्तप्राय हो गई है।

अब नामवरी को लक्ष्य करके दान देने का भाव प्राय: सर्वत्र दिखाई पडता है।

धर्म के क्षेत्र मे वीरता दिखाने मे भी जैन गृहस्थो का चरित्र उदात्त रहा है। बौद्ध शासक के अत्याचार के आगे अपने मस्तक न झुका मृत्यु की गोद मे सहर्ष सो जाने वाले, तार्किक अकलकदेव के अनुज बालक **निकलक** का धर्म-प्रेम वीरता का अनुपम आदर्श है। विपत्ति की भीषण ज्वाला मे से निकलने वाले जैन धर्मवीरो की गणना कौन कर सकता है? **इतिहासकार स्मिथ महाशय** ने अपने 'भारतवर्ष के इतिहास' मे लिखा है कि 'चोलवशी पाण्ड्यनरेश सुन्दर ने अपनी पत्नी के मोहवश वैदिक धर्म अगीकार किया और जैन प्रजा को हिन्दू धर्म स्वीकार करने को बाध्य किया।' जिनके अत·करण मे जैनशासन की प्रतिष्ठा अंकित थी, उन्होने अपने सिद्धान्त का परित्याग करना स्वीकार नही किया। फलत उन्हे फासी के तख्ते पर टाग दिया गया। **स्मिथ महाशय** लिखते है–ऐसी परम्परा है कि 8000 जैनी फासी पर लटका दिये गये थे। उस पाशविक कृत्य की स्मृति मदुरई के विख्यात मीनाक्षी नाम के मंदिर मे चित्रो के रूप मे दीवार पर विद्यमान है। आज भी मदुरई के हिदू लोग उस स्थल पर प्रतिवर्ष आनन्दोत्सव मनाते है जहा जैनो का सहार किया गया था।[7] इसे व्यतीत हुए अभी दो सदी का समय न हुआ होगा जब कि प्रख्यात जैन ग्रथकार पडितप्रवर टोडरमल जी, जयपुर के तत्कालीन नरेश के कोपवश हाथी के पैरो के नीचे दबाकर मार डाले गये थे। इस प्रकार आत्मा की अमरता पर विश्वास कर सत्य और वीतराग धर्म के लिए परम प्रिय प्राणो का परित्याग करने वाले जैन वीरो का पवित्र नाम धार्मिक इतिहास मे सदा अमर रहेगा।

दया के क्षेत्र मे जैनियो का महत्त्वपूर्ण स्थान है। आज जब कि जडवाद के प्रभाववश लोग मासाहार आदि की ओर बढते जा रहे है और असयमपूर्ण प्रवृत्ति प्रवर्धमान हो रही है, तब जीवो की रक्षा तथा सयमपूर्ण साधना द्वारा मनुष्य भव को सफल करने वाले पुण्य पुरुषो से जैन समाज आज भी सम्पन्न है। श्रेष्ठ अहिसा के मन, वचन, काय, कृत, कारित, अनुमोदनापूर्वक पालक दयामूर्ति प्रात·स्मरणीय चारित्रचक्रवर्ती

आचार्य श्री शान्तिसागर जी महाराज सदृश वीतराग, परमशान्त दिगम्बर जैन श्रमणो का सद्भाव दया के क्षेत्र मे भी जैन सस्कृति को गौरवान्वित करता था। जैनश्रमणो के दिगम्बरत्व के गर्भ मे उत्कृष्ट दया का पवित्र भाव विद्यमान रहता है। एक विद्वान ने लिखा है-"जैन मुनि की वीरता शान्तिपूर्ण है। प्रत्येक शौर्यसम्पन्न कार्य के पूर्व मे प्रबल इच्छा का सद्भाव पाया जाता है, इस दृष्टि से इसे क्रियाशील वीरता भी कहते है।"

सग्राम-भूमि मे जो पराक्रम प्रदर्शित किया जाता है वह वीरता के नाम से विख्यात है। इस क्षेत्र मे भी जैनसमाज का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। साधारणतया जैन-तत्त्वज्ञान के शिक्षण से अपरिचित व्यक्ति यह भ्रान्त धारणा बना लेते है कि कहा अहिसा का तत्त्वज्ञान और कहा युद्धभूमि मे पराक्रम? दोनो मे प्रकाश-अधकार जैसा विरोध है। किंतु वे यह नही जानते कि जैनधर्म मे गृहस्थ के लिए जो अहिसा की मर्यादा बाधी गई है उसके अनुसार वह निरर्थक प्राणिवध न करता हुआ न्याय और कर्त्तव्यपालन निमित्त अस्त्र-शस्त्र का सचालन भी कर सकता है। इस विषय मे भारतीय इतिहास से प्राप्त सामग्री यह सिद्ध करती है कि पराक्रम के प्रागण मे महावीर के आराधक कभी भी पीछे नही रहे है। **रायबहादुर महामहोपाध्याय प. गौरीशकर हीराचद ओझा** ने 'राजपूताने के जैनवीर' की भूमिका मे लिखा है-"वीरता किसी जाति विशेष की सम्पत्ति नही है। भारत मे प्रत्येक जाति मे वीर पुरुष हुए है। राजपूताना सदा से वीरस्थल रहा है। जैनधर्म मे दया प्रधान होते हुए भी वे लोग अन्य जातियो से पीछे नही रहे है। शताब्दियो से राजस्थान मे मत्री आदि उच्च पदो पर बहुधा जैनी रहे है, उन्होने देश की आपत्ति के समय महान् सेवाएँ की है, जिनका वर्णन इतिहास मे मिलता है।" भारतीय इतिहास-प्रसिद्ध सम्राट् बिम्बसार-श्रेणिक जैनधर्म का आधार-स्तम्भ था। उसके पुत्र अजातशत्रु-कुणिक[8] जैनधर्म के सरक्षक प्रतापी नरेश थे। कलिग,[9] उत्तर भारत तथा पश्चिमोत्तर सीमाप्रात पर जैन नरेश नदवर्धन का शासन था। ग्रीकनरेश सिकदर के सेनापति सिल्युकस[10] को जैन सम्राट् चद्रगुप्त ने ही पराजित कर भारतीय साम्राज्य को अफगानिस्तान पर्यंत विस्तारित किया था। **स्मिथ** महाशय ने लिखा है कि "मै अब इस

बात को स्वीकार करता हू कि सम्भवत: यह परम्परा मूल मे यथार्थ है कि चद्रगुप्त ने वास्तव मे साम्राज्य का परित्याग कर जैन मुनि का पद अगीकार किया था।[11] प्रतापी चद्रगुप्त को आधुनिक अन्वेषणकार जैन प्रमाणित करने लगे है। **डा. काशीप्रसाद जायसवाल** जैसे विचारक विद्वान् लिखते है–"पाचवी सदी के जैनग्रथ एव पश्चात्वर्ती जैन शिलालेख यह प्रमाणित[12] करते है कि चद्रगुप्त जैन सम्राट् था, जिसने मुनिराज का पद अगीकार किया था। मेरे अध्ययन ने जैनशास्त्रो की ऐतिहासिक बात को स्वीकार करने को मुझे बाध्य किया है। मुझे इस बात को अस्वीकार करने का कोई कारण नही दिखता कि हम क्यो न जैनमान्यता को स्वीकार करे कि चद्रगुप्त ने अपने राज्यकाल के अन्त मे जैनधर्म को स्वीकार किया था, तथा राज्य का परित्याग करके जैनमुनि के रूप मे प्राणपरित्याग किए? इस बात को स्वीकार करने वालो मे केवल मै ही नही हू, **राइस** साहब, जिन्होने श्रवणबेलगोला के जैनशिलालेखो का भलीभांति अध्ययन किया है, इस बात के समर्थन मे अपना निर्णय दिया है, अत मे **स्मिथ** महाशय भी इसी ओर झुक गए है।" प्राक्तनविमर्शविचक्षण रायबहादुर **श्रीनरसिहाचार्य** का अभिमत[13] है कि–"चद्रगुप्त एक सच्चे वीर थे और उन्होने जैन शास्त्रानुसार सल्लेखना कर चद्रगिरि पर्वत से स्वर्गलाभ किया।" वे यह भी लिखते है कि श्रवणबेलगोला के चद्रबस्ती नाम के चद्रगिरि पर अवस्थित मंदिर की दीवारो मे सम्राट् चद्रगुप्त के जीवन को अकित करने वाले चित्र है। **डा. एस. डब्ल्यू. टामस** ने भी यह लिखा है[14] कि चद्रगुप्त श्रमणो के भक्तिपूर्ण शिक्षण को स्वीकार करता था जो ब्राह्मणो के सिद्धान्त के प्रतिकूल है।

जैनधर्मविद्वेषी विप्रवर्ग ने जैसे जैन देवस्थान, शास्त्रभण्डार, जैनमठ तथा जैन जनता के विनाश का निर्मम क्रूर कार्य किया, उसी प्रकार उन्होने जैन महापुरुष के चरित्र पर कालिमा लगाने मे कमी नही की। 'प्रतापी सम्राट् चद्रगुप्त मौर्य जैनधर्म के आराधक थे, वे क्षत्रिय कुल के शिरोमणि थे और उन्होने अपने जीवन का अन्त दिगम्बर जैन मुनि के रूप मे व्यतीत किया था।' यह बात प्राचीन प्राकृत के शास्त्र **'तिलोयपण्णत्ति'** से भी समर्थित होती है–

"मउडधरेसु चरिमो जिणदिक्ख धरवि चवगुत्तो य।
तत्तो मउडधरा दुप्पव्वज्ज णेव गिण्हति॥ 4/1481।

मुकुटधर राजाओ मे अतिम चद्रगुप्त नाम के नरेश ने जिनेन्द्र दीक्षा धारण की इसके पश्चात् मुकुटधारी नरेश प्रव्रज्या को नही धारण करते है।

मौर्यवश ईसा की छठवी सदी मे था। भगवान महावीर के एकदश मुख्य शिष्यो मे सातवे मुनि पुत्र थे। मौर्यपुत्रस्तु सप्तमः (हरिवशपुराण) बौद्ध साहित्य मे मौर्य वश वाले क्षत्रिय बताये गये है। अतः चन्द्रगुप्त मौर्य क्षत्रिय थे, यह सत्य शिरोधार्य करना उचित है। खेद है कि अब तक भी ऐसे महापुरुष के उच्च कुल को बदलकर उन्हे मुरा नाईन के गर्भ से उत्पन्न बताया जाता है, तथा सरकारी शालाओ तक मे ऐसा प्रचार किया जाता है।

बुद्धधर्म-भक्त रूप से विख्यात धर्मप्रिय सम्राट् अशोक के साहित्य को पढकर कुछ विद्वान् अशोक के जीवन को जैनधर्म से सबंधित स्वीकार करते है। **प्रो. कर्ण** की धारणा है[15] कि अहिसा के विषय मे अशोक के आदेश बौद्धो की अपेक्षा जैनसिद्धान्त से अधिक मिलते है। आज जो अशोक का धर्मचक्र भारत सरकार ने अपने राष्ट्रध्वज मे अलकृत किया है, उस चक्र-चिह्न मे चौबीस आरो का सद्भाव चौबीस तीर्थंकरो का प्रतीक मानना सम्यक् प्रतीत होता है। स्वामी **समन्तभद्र** ने चक्रवर्ती शान्तिनाथ तीर्थंकर के धर्मचक्र को करुणा की किरणो से सुसज्जित–'दयादीधिति-धर्मचक्रम्' कहा है। प्रत्येक तीर्थंकर ने अपनी करुणामयी प्रवृत्ति और साधना के पश्चात् धर्मचक्र को प्राप्त किया है, अतः धर्मचक्र के सच्चे अधिपति 24 तीर्थंकरो की पवित्र स्मृति का प्रतीक अशोक स्तम्भ का धर्मचक्र है। इसके विरुद्ध प्रबल तर्कपूर्ण सामग्री का सद्भाव भी नही है। अशोक का जैनधर्म से सम्बन्ध सिद्ध होने पर धर्मचक्र के आरो का उपरोक्त प्रतीकपना स्वीकार करना सरल हो जाता है। प्रतीत होता है, कि जैसे बिम्बसार श्रेणिक का जीवन पूर्व मे बौद्ध धर्माराधक के रूप मे था, और पश्चात् रानी चेलना के, जिसे विद्वेषी लोगो ने घृणित चित्रित किया है (देखो जयशकरप्रसाद का

चद्रगुप्त नाटक) समर्थ प्रयत्न से वह जैन धर्मावलम्बी हो गया और वह जैन सस्कृति का महान् स्तम्भ हुआ, ऐसी ही धर्म-परिवर्तन की बात अशोक के जीवन मे भी रही। इस समन्वयात्मक दृष्टि से अशोक को जैन तथा बौद्धधर्म के प्रचार की बातो का विरोध नही रहता है।

'राजावलिकथे' नामक कन्नड ग्रथ अशोक को जैन बताता है। **महाकवि कल्हण** ने अपने सस्कृत ग्रथ 'राजतरगिणी' मे अशोक द्वारा[16] काश्मीर मे जैनधर्म के प्रचार करने का उल्लेख किया है।[17] **डा. टामस** भी उपरोक्त बात का समर्थन करते है। **अबुलफजल** के 'आइने अकबरी' से भी अशोक का जीवन जैनधर्म से सबंधित प्रमाणित होता है।

फ्लोरा एनी स्टील (Flora Annie Steel) ने "*India through the Ages*" मे लिखा है –

"अशोक पर बौद्ध और जैनधर्म का सम्मिलित प्रभाव पडा था। उसके जीवन मे कलिग विजय मे हुए प्राणघात से जो पश्चाताप उत्पन्न हुआ, उसके कारण उसके जीवन मे परिवर्तन हुआ। इस विषय मे विशेषज्ञो का मतभेद है कि अशोक पर अधिक प्रभाव जीवदया के सिद्धान्त का पडा जिसका जैनधर्म मे प्रमुख स्थान है अथवा बौद्धधर्म से वह प्रभावित हुआ?" वास्तव मे अशोक के आदेशो मे अहिसाधर्म की जो सूक्ष्मता से परिपालना पाई जाती है, वह बौद्ध आचार की अपेक्षा जैनाचार के विशेष अनुरूप है।[18]

अशोक के उत्तराधिकारी सम्प्रति के बारे मे '*विश्ववाणी*' मासिक पत्रिका ने 1941 मे यह प्रकाशित किया था कि सम्राट् सम्प्रति ने अरबस्तान और फारस मे जैन सस्कृति के केन्द्र स्थापित किए थे। वह बडा शूरवीर तथा धार्मिक था।

विश्ववाणी के सम्पादक **श्री विशम्भर नाथ पाण्डे** ने लिखा है, "इस समय जो ऐतिहासिक उल्लेख उपलब्ध है, उनसे यह स्पष्ट है कि ईसवी सन् की पहली शताब्दी मे और उसके बाद एक हजार वर्षो तक जैनधर्म मध्यपूर्व के देशो मे किसी न किसी रूप मे यहूदी धर्म, ईसाई

धर्म और इस्लाम को प्रभावित करता रहा। प्रसिद्ध जर्मन इतिहास लेखक **वानक्रेमर** के अनुसार मध्यपूर्व मे प्रचलित समानिया सम्प्रदाय श्रमण शब्द का अपभ्रश है। इतिहास लेखक **जी एफ. मूर** लिखते है कि हजरत ईसा की जन्म की शताब्दी से पूर्व ईराक, श्याम, फिलीस्तीन मे जैन मुनि और बौद्ध भिक्षु सैकडो की सख्या मे चारो ओर फैले हुए थे। पश्चिम एशिया, मिश्र, यूनान और इथियोपिया के पहाडो और जगलो मे अगणित भारतीय साधु रहते थे। वे अपने त्याग और अपनी विद्या के लिए मशहूर थे। वे साधु वस्त्रो तक का त्याग किए हुए थे।[19] श्री पाण्डे ने यह भी लिखा है "**लोकमान्य तिलक** ने ठीक ही कहा था, कि गुजरात आदि प्रान्तो मे जो प्राणि दया और निरामिष भोजन का आग्रह है, वह जैन परम्परा का ही प्रभाव है।"

कुछ चितनशील विद्वानो का यह विचार है कि छादोग्य उपनिषद् मे घोर आंगिरस ऋषि ने महाराज श्री कृष्ण को आत्मयज्ञ की शिक्षा दी थी। उस यज्ञ की दक्षिणा दान, तपश्चर्या, अहिसा, सत्यसम्भाषण तथा ऋजुभाव थे। वे ऋषि महाराज कृष्ण के चचेरे भाई भगवान् नेमिनाथ ही थे, जिन्हे जैन परम्परा मे बाईसवे तीर्थकर रूप मे पूजते है।

प्रो पिशल और मुकर्जी आदि का अध्ययन इस निष्कर्ष को बताता है कि अशोक के नाम से विख्यात अनेक महत्त्वपूर्ण शिलालेख यथार्थ मे सम्प्रति के है। प्रियदर्शी रूप मे सम्प्रति का ही वर्णन किया गया है। 'Epitome of Jainism' मे सम्प्रति को महान् वीर जैन नरेश और धर्मप्रवर्धक कहा है, जिसने सुदूर देशो मे जैनधर्म के प्रचार का प्रयत्न किया था।[20]

महावश काव्य से ज्ञात होता है कि वर्तमान सीलोन-सिहल की राजधानी अनुराधपुर मे जैन मंदिर था जो स्पष्टतया सिहल द्वीप मे जैन प्रभाव को सूचित करता है।[21]

महाप्रतापी एलसम्राट् महामेघवाहन **खारवेल** महाराज जैन थे। उन्होने उत्तर भारत के प्रतापी नरेश पुष्यमित्र को पराजित किया था। नदनरेशो के यहा भी जैनधर्म की मान्यता थी। यह बात हाथीगुफा के शिलालेख से विदित होती है।

दक्षिण भारत के इतिहास पर दृष्टि डालने से ज्ञात है कि प्रतापी नरेश तथा गगराज्य के सस्थापक महाराज कोगुणी वर्मन ने आचार्य सिहनदि के उपदेश से शिवमग्गा के समीप एक जिन मंदिर बनवाया था। इनके वशज अविनीत नरेश ने अपने मस्तक पर जिनेन्द्र भगवान् की मूर्ति विराजमान कर काबेरी नदी को बाढ की अवस्था मे पार किया था। एक शिलालेख मे इन्हे शौर्य की मूर्ति तथा गज, अश्व एव धनुर्विद्या मे प्रवीण बताया है। इनके उत्तराधिकारी दुर्विनीत नरेश प्रभु, मत्र और उत्साह शक्तिसमन्वित महान् योद्धा तथा विद्वान थे। महाराज नीतिमार्ग और बूतग जिन धर्म परायण राजा थे।[122] बूतग शास्त्रज्ञ और शस्त्रज्ञ विख्यात था। महाराज मारसिह[23] गगवश के शिरोमणि पराक्रमी निर्भीक, धार्मिक जैन नरेश थे। पाचवी सदी मे कदम्ब नरेश मृगेश वर्मा और उनके पुत्र रवि वर्मा अपने पराक्रम और जैनधर्म के प्रेम के लिए प्रख्यात थे। रविवर्मा ने कार्तिक सुदी के अष्टाह्निका पर्व को महोत्सवपूर्वक मनाने की राजाज्ञा[24] प्रचारित की थी।

राष्ट्रकूटो मे जैनधर्म की विशेष मान्यता थी। सम्राट् अमोघवर्ष जिनेन्द्रभक्त, पराक्रमी, पुण्यचरित्र तथा व्यवस्थापक नरेश थे। उनका विश्व के चार विख्यात नरेशो मे स्थान था। नवी सदी का एक अरब देश का यात्री लिखता है[25] कि अमोघवर्ष के राज्य मे सर्व-प्रकार की सुव्यवस्था थी। लोग शाकाहारी थे। सन् 851 मे एक दूसरा अरब का यात्री लिखता है–"अमोघवर्ष के राज्य मे धन सुरक्षित था, चोरी-डकैती का अभाव था, वाणिज्य उन्नति के शिखर पर था, विदेशियो के साथ सम्मानपूर्ण व्यवहार होता था।" राष्ट्रकूट वश मे[26] बकेय, श्रीविजय, नरसिह आदि अनेक पराक्रमी जैन प्रतापी पुरुष हुए है। अमोघवर्ष ने अपने जीवन के सध्याकाल मे दिगम्बर जैनमुनि की मुद्रा भगवत् जिनसेनाचार्य के आध्यात्मिक प्रभाव वश धारण की थी। राष्ट्रकूटवश के जैनवीरो के चरित्र के अध्येता विद्वान् **डा. अल्टेकर** अपनी पुस्तक 'राष्ट्रकूट' मे लिखते है[27]–"जैन नरेशो तथा सेनानायको के ऐसे कार्यो को देखते हुए यह बात स्वीकार करने मे हम असमर्थ है कि जैनधर्म तथा बौद्ध धर्म की शिक्षा के कारण हिदू भारत मे साग्रामिक शौर्य का ह्रास हुआ है।"

[28]धारवाड, बेलगाव जिलो मे शासन करने वाले महामडलेश्वर नरेशो मे महान् योद्धा मेरद, पृथ्वीराम, शांतिवर्म, कलासेन, कन्नकैर, कार्तवीर्य, लक्ष्मीदेव, मल्लिकार्जुन आदि जैनशासन के प्रति विशेष अनुरक्त थे। दसवी से तेरहवी सदी तक कोल्हापुर, बेलगाव मे अपने पराक्रम के द्वारा शांति का राज्य स्थापित करने वाले शीलहार नरेश जैन थे। महाराज विक्रमादित्य ने चालुक्यो पर आक्रमण किया था। उनको कलिकाल विक्रमादित्य भी कहते थे। जिनधर्म के प्रति विशेष भक्तिवश उन्होने कोल्हापुर के जिनमदिर के लिये बहुत भूमिदान की थी।[29] सामत पराक्रमी निम्ब महाराज ने कोल्हापुर के विख्यात लक्ष्मीमदिर के समीप भगवान् नेमिनाथ का कलापूर्ण जिनमदिर बनवाया था, उसके बाह्य भाग मे 72 खड्गासन दि जैन मूर्तिया विद्यमान है। किन्तु आज वह वैष्णव मन्दिर बना लिया गया है। भगवान् नेमिनाथ के स्थान पर विष्णु की मूर्ति रख दी गई है।

कोल्हापुर के जैन मदिर का जिस प्रकार हिन्दू मदिर मे परिवर्तन किया गया, इसी प्रकार पढरपुर के प्रख्यात विठोबा मन्दिर की कथा है। कीर्तन सम्राट् तात्या साहब चौपडे रचित पुस्तक **'पढरपुर चा विठोबा'** मे यह बात साधार युक्तिपूर्वक प्रमाणित की गई है कि पडरपुर स्थित भगवान् नेमिनाथ की मूर्ति युक्त मदिर आज विठोबा का मदिर रूप मे माना जाता है। जान विल्सन नामक अग्रेज ने विठोबा के मदिर को हिन्दू मदिर नही माना है। उसका कथन है

"The celebrated temple of Vithoba near Pandharpur is supposed to be a Buddhist structural temple now appropriated by the Brahmins" (*Memories of the Cave Temples*—John Wilson D D F R S)–पढरपुर के समीपवर्ती विख्यात विठोबा का मदिर सम्भवत बौद्ध मदिर है, जिसको ब्राह्मणो ने अपना बना लिया।

सर विसेट स्मिथ सदृश नामाकित इतिहासवेत्ता ने यह स्वीकार किया है कि अनेक स्थलो मे जैन स्मारको को बौद्ध कह दिया गया है–"In some cases monuments which are really Jains, have been erroneously described as Buddhists " इस मूल का उदाहरण यह

विठोबा का जैन मंदिर ही है। वैदिक विद्वान् श्री जोशी का कथन है कि "या मूर्तीला शखादि चिन्हे आहेत" इस मूर्ति मे शख का चिह्न है। जैन तीर्थकर कृष्णबधु भगवान् नेमिनाथ का चिह्न शख माना गया है। इस मंदिर का विशिष्ट पुजारी जैन रहा आया है। उसे विट्ठलदास कहते है। हमने पढरपुर पहुचकर विट्ठलदास से पूछा था, तो उसने कहा था, कि हमारे पूर्वज इस मंदिर को जैन मंदिर ही कहते चले आए है। उसके पास गवर्नमेट आफ इंडिया की कई सनदे थी। एक सनद के अनुसार भारत सरकार से उसे 19 रु० प्रतिवर्ष भेट का मिलता था। श्री चौपडे की पुस्तक के पृष्ठ 54 मे लिखा है कि सतारा के छत्रपति शिवाजी महाराज की तरफ से विट्ठलदास को 120 रु० वार्षिक सन् 1848 पर्यन्त मिलता था। उस पुस्तक के पृष्ठ 40 मे एक महत्व की बात यह बताई है कि आषाढी एकादशी को शक सम्वत् 1724 मे विरोधकृत सवत्सर मे वहा मदिर मे मूर्ति की स्थापना हुई थी। **राष्ट्रीय मराठा** पत्र के 17 फरवरी सन् 1927 के अक मे मूर्ति के विषय मे ये पद्य दिए थे :–

नेमिनाथस्य या मूर्ति स्त्रिषु लोकेषु विस्तुता।
द्वौ हस्तौ कटिपर्याये स्थाययित्वा महात्मन.॥
मूर्ति स्तिस्ठति सा सम्यक् जैनेन्द्रेण च पूजिता।
अहिसा परम धर्म. स्थापयामास वै स च॥
युगैस्तु मनुजाक्षीणी विप्रभूमिश्च वासके।
मेलने धर्मराजस्य शकस्य गतावधि·॥
आषाढ़े शुक्लपक्षे तु एकादश्या महाति थौ।
बुधे च स्थापयामास विरोधकृति-वत्सरे॥

तीन लोक मे स्तुति को प्राप्त नेमिनाथ की मूर्ति है जिसके दोनो हाथ कटिभाग पर स्थित है। उसकी जैन लोग सम्यक् प्रकार पूजा करते है। अहिसा परमधर्म है, यह तत्त्व स्थापित किया गया। युग अर्थात् चार मनुष्यो के नेत्र अर्थात् दो विप्रभूति अर्थात् सात, धर्मराज युधिष्ठिर एक, इस प्राकर 1724 वर्ष शक के बीतने पर आषाढ शुक्ल एकादशी की महान तिथि को बुधवार के दिन विरोधकृत नामक सवत्सर मे इस मूर्ति की स्थापना हुई।

कोल्हापुर के श्री भास्कर राव जाधव, एक अब्राह्मण नेता ने लिखा है कि विठाबा की मूर्ति नग्न है तथा शख चिह्न युक्त होने से वह नि.सशय नेमिनाथ तीर्थकर की है। मराठी के शब्द इस प्रकार है–

"विठोबाची मूर्ति नग्न आहे व तिजजवळ लाछन शख काढलेले आहे यावरून ती मूर्ति नेमिनाथ तीर्थंकराची असावी असे नि'सशय ठरत आहे। कारण अशा लक्षणाची नग्न मूर्ति हिवूची नसते।"

बद्रीनाथ की हिन्दू समाज मे अत्यधिक मान्यता है; किन्तु इतिहासज्ञो के अनुसन्धान से वह जैन आराधना स्थल प्रमाणित होता है। इस सबध मे अत्यन्त विश्वसनीय वर्णन डॉ वाइ के जैन, डिस्ट्रिक्ट हेल्थ ऑफिसर के द्वारा प्राप्त हुआ, जो ढाई वर्ष पर्यन्त बद्रीनाथ मे रहे थे तथा जनता के स्नेह पात्र बन गए थे। सन् 1949 मे उन्हे बद्रीनाथ की मूर्ति को बिना श्रृगार किए हुए प्रभात मे सात बजे देखने का अवसर मिला। इसे निर्वाण-दर्शन कहा जाता है। मूर्ति श्यामवर्ण के पाषाण की है। वह जैन तीर्थकर पार्श्वनाथ की है जिनके मस्तक पर स्थित फण टूटा है। मूर्ति और उसका मुख मण्डल घिसा हुआ है। लोगो को बाहर से भगवान का दर्शन कराया जाता है, किन्तु मूर्ति कोठरी के भीतर है। मूर्ति की फोटो नही लेने देते है। किसी नारी ने फोटो ली थी, वह यत्र तत्र बाजार मे बिकती है। मूर्ति जैन होते हुए भी चमत्कारपूर्ण होने के कारण हिन्दू समाज की आराधना का केन्द्र बनी है। कहा जाता है कि शकराचार्य ने नादर कुण्ड मे मूर्ति पाई थी, उसे जैन मूर्ति देख उन्होने कुण्ड मे डाल दी। ऐसा उन्होने तीन बार किया। उन्हे स्वप्न हुआ कि यही मूर्ति बद्रीनाथ के नाम से प्रसिद्धि प्राप्त करेगी और लोग इसे पूजेगे। इस कारण इसे स्थापित किया गया। वहाँ इस प्रकार की लोक प्रसिद्धि है कि बद्रीनाथ को जो जिस रूप मे देखना चाहे, उसे वे उसी रूप मे दिखते है। वैदिक लोग इसे पारसनाथ की न कहकर पारस पत्थर की कहते है। बद्रीनाथ के पास श्रीनगर नाम का एक स्थान है, जहा एक सुन्दर दिगम्बर जैन मन्दिर विराजमान है। उसमे दो हजार वर्ष प्राचीन श्यामवर्णीय भगवान् पार्श्वनाथ की छोटी मूर्ति विद्यमान है। यह मन्दिर अलकनन्दा के किनारे पर है। वह अतिशय मन्दिर है। ऐसी प्रसिद्धि है कि एक बार मन्दिर नदी के प्रवाह मे बह गया था किन्तु मूर्ति ऊपर ही विराजमान रही आई थी। वहा के जैन बन्धुओ ने डॉक्टर साहब को कहा था कि बद्रीनाथ की मूर्ति जैन प्रतिमा है। कहा जाता है कि बद्रीनाथ के पास से

ही कैलाश पर्वत को जाने का रास्ता है। देहली से हरिद्वार तथा ऋषिकेश, लछमनझूला, देवप्रयाग, कीर्तिनगर तथा श्रीनगर होते हुए बद्रीनाथ पहुचा जाता है। यह मार्ग बहुत चलता है।

उत्कल प्रान्त मे जगन्नाथ तीर्थ की हिन्दू समाज मे बहुत मान्यता है। जगन्नाथ के मन्दिर में बाह्य भाग मे आज भी एक दिग जैन मूर्ति विद्यमान है। श्री नीलकण्ठदास ने, जो उत्कल प्रान्त के प्रख्यात नेता एव महान् विद्वान् है, "उडीसा मे जैनधर्म" पुस्तक की प्रस्तावना मे लिखा है, "जगन्नाथ एक जैन शब्द है। यह ऋषभनाथ से मिलता जुलता है। ऋषभनाथ का अर्थ सूर्यनाथ या जगत् के जीवन रूपी पुरुष होता है। यह प्राचीन बेबिलोन का आविष्कार है।" उन्होने यह लिखा है कि मिस्त्र देश के पुरुषोत्तम तथा पुरी के पुरुषोत्तम दोनो जैनधर्म के फल है। यह जगन्नाथ की परम्परा मूलत पूर्णरूप मे जैनधर्म की है। 'नाथ' शब्द पूर्णरूप से जैनधर्म का निदर्शन है। सस्कृत मे नाथ के माने होता है, जिससे माग की जाती है। लगता है, पहिले इसका अर्थ उपास्य–'आत्मा-रूपी-पुरुष' था। कालक्रम के बाद इसका अर्थ भक्तिधर्म के अनुसार हो गया है।"

उत्कल प्रान्त अत्यत प्राचीन काल से जैन सस्कृति का महत्त्वपूर्ण केन्द्र रहा है। **हरिवश पुराण** मे लिखा है, कि महावीर भगवान् के पिता महाराज सिद्धार्थ की छोटी बहिन का विवाह कलिग के राजा जितशत्रु के साथ हुआ था। जितशत्रु की रानी यशोदया से यशोदा नाम की पुत्री हुई थी। उस यशोदा के साथ महावीर भगवान् के विवाह की योजना थी, किन्तु विरक्त महावीर भगवान ने विवाह न कर दीक्षा ली थी। श्वेताम्बर ग्रथो मे विवाह की चर्चा मात्र को विवाह का रूप दे दिया गया और भगवान् के एक पुत्री होने की बात लिख दी गई। भगवान् महावीर की कुण्डली को देखकर ज्योति:शास्त्रज्ञ कहते है, कि वे बाल ब्रह्मचारी रहे है (**हरिवशपुराण**, सर्ग 66)। उत्कल प्रात के विद्वान पद्मभूषण डा लक्ष्मीनारायण साहू ने लिखा है "आज भारत का जो हिस्सा उत्कल के नाम से प्रख्यात है, उसमे डेढ करोड की आबादी के भीतर जैनियो की सख्या डेढ सौ भी नही दिखती। किन्तु एक दिन ऐसा भी था, जबकि

जैनधर्म उत्कल का राष्ट्रीय धर्म बना हुआ था। सम्राट् खारवेल के राजस्वकाल मे उसी उत्कल मे खण्डगिरि की गुफाओ मे खोदित शिला लिपिया इस बात की गवाही देने के लिए काफी है।" (पृष्ठ 15, **उड़ीसा मे जैन धर्म**)। खारवेल के शिलालेखो मे इस बात का वर्णन है कि [30]नद नरेश कलिग से जिन भगवान् की मूर्ति मगध ले गए थे, उस मूर्ति को सम्राट् खारवेल ने वापिस लाने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया था। कलिग के ऋषभ जिन की महान कीर्ति थी। डा काशीप्रसाद जायसवाल ने *Imperial History of India* मे लिखा है कि आर्य मजुश्री **मूलकल्प बौद्ध ग्रन्थ** का ईसवी 983 मे तिब्बती भाषा मे अनुवाद हुआ था। उसमे एक अध्याय है, जिसमे ई 770 तक के भारतीय राजवशो का वर्णन है। उसमे ऊचे साधको की गिनती मे कलिग के ऋषभ का नाम लिखा गया है। डॉ साहू ने लिखा है, ऋग्वेद पाचवा मण्डल 10 116 मे दिगम्बर साधुओ के नेता केशी की प्रशसा है। इस केशी का वर्णन भागवत के ऋषभदेव की वर्णना से करीब-करीब मिलता है। (पृ 16)। डॉ जायसवाल का कहना है कि सम्राट् खारवेल के हाथीगुफा शिलालेख की चौदहवी पक्ति मे महावीर स्वामी के कलिग आने की और कुमार पर्वत से अपने धर्म का प्रचार करने की सूचना दी गई है। (*J B O R S*, VIII P 246)। प्रतीत होता है कि जिन कलिग-जिन की प्रसिद्धि रही है, वे भगवान् ऋषभदेव ही होगे। भुवनेश्वर जगन्नाथ ये ऋषभदेव के नामान्तर है। सहस्त्र नाम पाठ मे लिखा है "देवदेवो जगन्नाथो जगद्बधुर्जगद्विभु (9 शतक) मुक्तः शक्तो निराबाधो निस्कलो भुवनेश्वर"। (2 शतक) ऋषभदेव को पुरुदेव भी कहा गया है, "आदिदेव पुराणाय पुरुदेवोऽधिदेवता" (9 शतक)। पुरुदेव चम्पू काव्य मे ऋषभदेव का चरित्र वर्णित है। एक विचार है, कि सभवत जगन्नाथ पुरी प्रारभ मे 'जगन्नाथ-पुरु' रहा जो जगन्नाथ पुरी हो गया हो। पद्मभूषण डा लक्ष्मीनारायण साहू ने लिखा है, कि "जगन्नाथजी के मंदिर के घेरा मे कोहली वैकुठ नाम से एक स्थान है।" (पृष्ठ 94) डा साहू कोहली को कैवल्य का पर्यायवाची मानते हुए कहते है, "यह कैवल्य शब्द जैनधर्म का ही है जिसे उडिया ने अपना बना लिया है।" उनका यह भी अभिमत है कि "जगन्नाथ की रथयात्रा ऋषभदेव के रथोत्सव से मिलती

सी है (पृष्ठ 97)।" जगन्नाथ जी के मंदिर मे जैन मूर्ति का सद्भाव, खारवेल के शिलालेख मे कलिग जिन का कथन तथा ऋषभदेव के पुरु नाम से पुरी रूप मे रूपान्तर की सभावना आदि सामग्री पुरातत्व प्रेमियो के लिए विशेष चिन्तन योग्य है। खण्डवा (निमाड जिला) के अतर्गत जैनतीर्थ सिद्धवरकूट के विषय मे पद्मभूषण डा माखनलाल जी चतुर्वेदी ने कहा था, कि "आज जिस स्थान को जैन लोग सिद्धवरकूट मानते है, वह यथार्थ मे प्राचीन तीर्थ नही है। नर्मदा के तट पर जो ओकारेश्वर का मंदिर है, वही जैन मंदिर रहा है।" उन्होने अपनी बात को पुष्ट करने के लिए यह कहा था कि उस मंदिर मे जो अभी मूर्ति है, वह शिखर के नीचे नही है। ऐसा कभी नही होता, कि शिखर का स्थान अन्यत्र हो और मूर्ति अन्यत्र हो। यथार्थ मे शिखर के नीचे का स्थान ढाक दिया गया है क्योकि वहा जैनमूर्तियाँ रही है। हमे मैसूर राज्य के आस्थान महाविद्वान् प शातिराज शास्त्री, श्री रघुचद्र वल्लाल, श्री मजैय्या हेगडे तथा केन्द्रीय धारा सभा के भूतपूर्व सदस्य श्री जिनराज हेगडे के साथ कर्णाटक प्रान्त का दौरा करने का सुयोग मिला था। उस समय हमने अनेक जैन मंदिरो को देखा था, जिनको अन्य सम्प्रदायो ने अपना बना लिया था, किन्तु उन मदिरो मे जैनत्व के चिह्न रूप कही कही दीवार, छत आदि पर जैन मूर्तिया पाई जाती थी। काल और परिस्थितिया अद्भुत परिवर्तन उत्पन्न करते है। कहा-कहा कैसे परिवर्तन आदि हुए इस को जानने के साधन बहुत कम हो गए। उदाहरणार्थ काची जैन वैभव का महान् केन्द्र रहा। उसी भूमि मे महान ज्ञानी आचार्य समतभद्र का जन्म हुआ था। वहा आज जैनवैभव की उस प्रकार की सामग्री नही दिखती, जैसी कि उसकी कीर्ति तथा प्रसिद्धि रही है। हमारा तो यह अनुमान है कि साम्प्रदायिक विद्वेष की जब भीषण अग्नि प्रज्ज्वलित हो रही थी तथा अगणित जैनो का सहार कार्य चल रहा था। उस समय बडे-बडे जैन वैभव स्थलो की काया पलट की गई। श्री टी एन रामचद्रन डायरेक्टर पुरातत्व विभाग ने *'Jain Monuments of India'* पुस्तक मे काची और मदुरा के जैन मंदिरो आदि का इस प्रकार उल्लेख किया है "The spread of Jainism and the dissemination of Jain ideals in the Tamil country received sufficient impetus on the advent of Kundakundacharya "evidently a Dravidian and the first in almost

all the genealogies of the southern Jains" and is attested to by literary work such as the Kural of Tiruvalluvar, Manimekhalai and Silappadikaram The spread of Jainism in the Tamil country is in no small measure due to "patronage it obtained at the Courts of Kanchi and Madura " At the time of the visits of Hiuen Tsiang to these cities, the former had a number of Deva temples of which the majority belonged to the Digambaras", and the latter had in it living a number of Digambaras "

श्री रामचन्द्रन का यह कथन भी महत्वपूर्ण है—

"Whatever may be the controversial views entertained by historians today on the question of "the antiquity of Jainism" and the existence of a "Jains period in the History of India" it is accepted on all hands that from the beginning of the Christian era down to the epoch-making conversion of the Hoysals Visnuvardhana by the great Vaisnava Acharya Ramanuja in the twelfth century, Jainism was the most powerful religion in the South " (p 16)

[31]जैन सेनापति बोप्पण को एक शिलालेख मे बडा प्रतापी बताया है। पाचवी से बारहवी शताब्दी पर्यन्त मैसूर, मुबई प्रात एव दक्षिण भारत मे चालुक्यवशीय जैन नरेशो का शासन था।[32] इनमे सत्याश्रय द्वितीय पुलकेशी नामक जैन नरेश का नाम विख्यात है। अपने शिलालेख मे कालिदास का उल्लेख करने वाले जैनकवि रविकीर्ति द्वारा निर्मित ऐहोल के जिन मदिरो को पुलकेशी ने सहायता प्रदान की थी। विमलादित्य, बिजयादित्य, विनयादित्य, तैलप, जयसिह तृतीय आदि जैन नरेशो के शासन मे जैनशासन खूब विकसित रहा। कलचुरि नरेशो मे महामडलेश्वर बिज्जल अपने पराक्रम और जिनेन्द्रभक्ति के लिये विख्यात थे। उनके पुत्र सोमेश्वर ने भी जैनधर्म की बहुत सेवा की और लिगायतो के अत्याचारो से उसे बचाया। [33]जैन नरेश बिज्जल महाराज के मत्री वसवराज ने लिगायत धर्म की स्थापना की थी। उसने बिज्जल के प्राणहरण करने के लिए शीलहार नरेश से युद्ध करते समय छलकर विषदूषित आम खिलाए। किन्तु सुचतुर वैद्यो के प्रयत्न से बिज्जल की मृत्यु न हुई पश्चात् जब वसव का पता चलाया गया तब उसने कुए मे गिरकर अपने प्राण गवाए।

दोरसमुद्र (Mysore) के शासक होयसाल नरेश जैन थे। उन्हे सम्यक्त्व-चूडामणि, दक्षिण चक्रवर्ती आदि पदो से समलकृत किया गया था। महाराज विनयादित्य के जिनभक्त पुत्र एरयग महान् योद्धा थे, उन्होने श्रवणबेलगोला के जिनमंदिरो का जीर्णोद्धार कराया था। बल्लाल द्वितीय ने बारहवी सदी मे मैसूर मे राज्य किया। इनकी महारानी शातला देवी ने श्रवणबेलगोला मे सवतिगधवारण वसदि (मंदिर) बनवाकर वहा शांतिनाथ भगवान् की मनोज्ञ मूर्ति विराजमान कराई थी। मैसूर का प्रसिद्ध चामुण्डी पर्वत[34] मारबल जैनतीर्थ के नाम से बारहवी शताब्दी मे प्रख्यात था। 'राजावलीकये' कन्नड ग्रथ मे कहा है कि बल्लालो की कुल-देवी पद्मावती का नाम चामुण्डेश्वरी पडा। शृगेरी, जो शकराचार्य का विशिष्ट स्थान है, जैनधर्म का महत्त्वपूर्ण स्थान था।[35] महाराज नरसिह के वीर सेनापति हल्ल ने श्रवणबेलगोला मे सुन्दर जैन मन्दिर बनवाए थे। होयसाल राज्य के अतिम नरेशद्वय जैन थे। ईसवी सन् 1960 के शिलालेख मे राचमल्ल और मारसिह द्वितीय के प्रधान सेनापति चामुडराय का उल्लेख आया है। इनके विषय मे कहा जाता है–[36]चामुडराय से बढकर वीर सैनिक, जैनधर्मभक्त सत्यनिष्ठ व्यक्ति का कर्नाटक ने कभी भी दर्शन नही किया।" जैनशास्त्रो मे चामुडराय की धार्मिकता की प्रशसा की गई है। अपने जीवन मे चामुडराय को लगभग 18 बार युद्धस्थल मे अपने पराक्रम को सफल प्रमाणित करने का अवसर प्राप्त हुआ। शौर्यमूर्ति चामुडराय का साहित्यिक जीवन भी विशेष महत्त्वपूर्ण है। सग्राम-भूमि मे इन्होने श्रेष्ठ अहिसापूर्ण प्रवृत्ति करने वाले महामुनियो के धर्माचरण को समझाने वाला **चारित्रसार** नामक ग्रथ लिखा। इनके समान [37]जिनधर्मभक्त सेनापति हल्ल और अमात्य गग का नाम आता है[38]। हल्ल ने श्रवणबेलगोला मे चतुर्विशति जिनालय बनवाया था। दक्षिण भारत की जैन वीरागनाओ मे जक्कैयाबी, जक्कलदेवी, सवियव्वी, भैरवी देवी विशेष विख्यात है। महारानी भैरवी देवी ने युद्धभूमि मे अपने प्रतिपक्षी के दात खट्टे किए थे। इस प्रकार दक्षिण भारत का इतिहास और वहा के महत्त्वपूर्ण अगणित शिलालेख जैनवीर पुरुषो के पराक्रम तथा शौर्य को स्पष्टतया प्रतिपादित करते है।

श्रीविश्वेश्वरनाथरेऊकृत 'भारत के प्राचीन राजवश' (पृष्ठ 227-28) और **रायबहादुर ओझाजी** के 'राजपूताना का इतिहास' (पृष्ठ 363) से

विदित होता है कि वीरभूमि राजपूताना मे शासन करनेवाले चौहान, सोलकी, गहलौत आदि जैनधर्मावलबी वीर पुरुष थे। अजमेर के नरेश पृथ्वीराज प्रथम ने जैनमुनि अभयदेव के प्रति अपनी भक्ति प्रदर्शित की थी। उसने रणथभोर के जैनमंदिर की सुवर्णजटित दहलान बनवाई थी। पृथ्वीराज द्वितीय जैनधर्म के सरक्षक थे। उनके चाचा महाराज सोमेश्वर जैनधर्म के प्रेमी थे। सोलकी नरेश अश्वराज तथा उनके पुत्र अल्हण देव जिनभक्त थे। परिहारवशी काक्कुक नरेश कीर्तिशाली तथा जैनधर्मावलबी थे। महाराज भोज के सेनापति कुलचद्र जैन थे। सोलकी नरेश मूलराज ने अनहिलवाडा मे मनोज्ञ जिनमंदिर बनवाया था। प्रतापी नरेश सिद्धराज, जयसिह के मत्री मुञ्जल और शातु जैन थे। महाराज कुमारपाल अनेक युद्ध-विजेता तथा जिनधर्म-भक्त थे। उन्होने अशोक की भांति धर्मप्रचार मे अपनी शक्ति लगाई थी, अनेक जैनमदिरो का निर्माण तथा हजारो प्राचीन शास्त्रो का सग्रह कराया था। राठौर नरेश सिद्धराज जैन थे। मम्मट तथा धवल महाराज भी जैनधर्मी थे। मारवाडक नरेश विजयसिह के सेनापति डूमराज जैन ने अठारहवी सदी के महाराष्ट्रो के साथ के युद्ध मे प्रशसनीय पराक्रम का परिचय दिया था। बीकानेर के दीवान एव सेनानायक अमीरचद जी जैन ने मटनेर वाले जबताखा को युद्ध मे जीता था। वीरशिरोमणि जिनभक्त सोलकी राज्य के मत्री आभू ने यवनो को पराजित कर अपने राज्य को निरापद किया था। **स्मिथ और कनिगहम** ने जिस वीर सुहलदेव को जैन माना है, उसने बहराइच मे मुस्लिम सैन्य को पराजित किया था। उस समय यवन पक्ष ने बडी विचित्र चाल खेली थी। अपने समक्ष गोपक्ति इकट्ठी कर दी थी। इससे गोभक्त हिदूसैन्य और शासक कि-कर्त्तव्यविमूढ हो गए थे और सोचते थे–यदि हमने शत्रु पर शस्त्र-प्रहार किया तो गौबध का महान् पाप हमारे सिर पर सवार हो हमे नरक पहुचाये बिना न रहेगा। ऐसे कठिन अवसर पर वीर सुहलदेव ने जैनधर्म की शिक्षा का स्मरण करते हुए आक्रमणकारी तथा अत्याचारी यवन सैन्य पर वाण वर्षा की और अत मे जयश्री प्राप्त की।

इससे यह बात प्रमाणित होती है कि भारतीय इतिहास की दृष्टि मे जैनशासको तथा नरेशो का पराक्रम के क्षेत्र मे असाधारण स्थान रहा

है। यदि भारतवर्ष के विशुद्ध इतिहास की, वैज्ञानिक प्रकाश मे सामग्री प्राप्त की जाए और उपलब्ध सामग्री पर पुनः सूक्ष्म चितना की जाए तो जैनशासन के आराधको के पराक्रम, लोकसेवा आदि अनेक महत्त्वपूर्ण बातो का ज्ञान होगा। विशुद्ध इतिहास, जो साप्रदायिकता और सकीर्णता के पक से अलिप्त हो यह प्रमाणित करेगा कि कम से कम समस्त भारत वर्ष मे भगवान् महावीर के पवित्र अनुशासन का पालन करने वाले जैनियो द्वारा भारतवर्ष की अभिवृद्धि मे अवर्णनीय लाभ पहुचा है। आज कही भी जैनधर्म के शासक नरेश नही दिखाई देते। इसका कारण एक यह भी रहा है कि देशो मे जब भी मातृभूमि की स्वतत्रता और गौरक्षा का अवसर आया है तब प्राय जैनियो ने स्वाधीनता के सच्चे पक्ष का समर्थन किया और उसके लिए अपने सर्वस्व तथा जीवननिधि की तनिक भी परवाह न की। आज जो अनेक नरेश दृष्टिगोचर होते है उनकी भी वही गति होगी, जो भारतीय स्वाधीनता के लिए मर मिटनेवालो की हुई, अथवा भारत का इतिहास ही बदल गया होता, यदि वे अपने स्वार्थ को प्राधान्य दे विरोधी पक्ष से मिलकर साम्राज्य प्राप्ति का पुरस्कार पाने की स्वार्थपूर्ण नीति को न अपनाते। फूट के विष फैलने पर अनेक अवसरवादियो ने अपनी स्वार्थरक्षता का ध्यान किया, इसलिए वे विशेष उन्नतिशील दिखाई दिए। निजाम यदि ब्रिटिश साम्राज्यवादियो का Faithfully–ईमानदार साक्षी न बनता, तो अग्रेजी राज्य मे उन हजरत का भारतीय नरेशो मे ऊचा आसन न होता। हमारी तो धारणा है कि निजामी नीति पर न चलने के कारण यद्यपि अनेक जैन नरेश केवल इतिहास के पृष्ठो मे स्मरणीय रह गये है, पर उनका अपने सिद्धान्त पर मर मिटना भी इस प्रकार के अस्तित्व से अच्छा है। आज कालचक्र के प्रसाद से जो नवीन परिवर्तन हुआ, वह सर्वत्र विदित है।

पूर्वोक्त विचार की पुष्टि वास्तविक घटनाओ से सम्बन्ध रखती है। जब सन् 1935 मे हम दक्षिण कर्नाटक पहुचे थे, तब हमे मूडबिद्री (मगलोर) मे पुरातन जैनराजवश के टिमटिमाते हुए छोटे से दीपक के समान श्रीयुत **धर्मसाम्राज्यैया** से यह समझने का अवसर मिला, कि किस प्रकार उन लोगो की राज्यशक्ति क्षीण और नष्ट हुई। उन्होने बताया

कि जब हैदरअली, टीपू सुल्तान आदि का अग्रेजो से युद्ध चल रहा था, उस समय हमारे पूर्वजो ने अग्रेजो का साथ नही दिया था और कूटनीति के प्रसाद से जब जयमाला अग्रेजो के गले मे पडी तब हम लोगो को अपने राज्य से हाथ धोना पडा। इस प्रकाश मे यह बात दिखाई पडती है कि किस प्रकार जैन नरेशो को अपना अस्तित्व तक खोना पडा। स्वार्थियो की निगाह मे जहा वे असफल माने जाएगे, वहा स्वाधीनता के पुजारियो के लिये वे लोग सुरत्व सम्पन्न दिखाई पडेगे।

भारतवर्ष ने अपनी असहाय अवस्था मे स्वाधीनता के लिये जो अहिसात्मक राष्ट्रीय सग्राम छेडा है, उसमे भी जैनियो ने तन, मन, धन और जीवन के द्वारा राष्ट्र की असाधारण सेवा की है। यदि राष्ट्रीय स्वाधीनता के सग्राम मे आहुति देने वालो का धर्म और जाति के अनुसार लेखा लगाया जाए तो जैनियो का विशेष उल्लेखनीय स्थान पाया जाएगा। प्राय: स्वतत्र व्यवसायशील होने के कारण जैनियो ने काग्रेस के नेताओ की गद्दी पर बैठने का प्रयत्न नही किया और वे सैनिक ही बने रहे, इस कारण सेनानायको की सूची मे समुचित सख्या नही दिखाई पडती। सुभाष बाबू ने जो आजाद हिद फौज का सगठन किया था, उसमे भी अनेक जैनो ने भाग लेकर यह स्पष्ट कर दिया कि जैनियो की शिक्षा सग्राम-स्थल मे सत्य और न्यायपूर्ण स्वत्वो के सरक्षणनिमित्त साधारण गृहस्थ को सशस्त्र सग्राम से पीछे कदम हटाने को नही प्रेरित करती। आजादी के मैदान मे वीरो को 'आगे बढे चलो' का ही उपदेश दिया गया है। जैनधर्म की शिक्षा वीरता को सजग करने की उपयुक्त मनोभूमिका तैयार करती है। आत्मा किस प्रकार ससार के जाल से छूटकर शाश्वतिक आनन्दमय मुक्ति को प्राप्त करे इस ध्येय की पूर्तिनिमित्त जैन साधक कष्टो से न घबरा कर विपत्ति को सहर्ष आमन्त्रित कर स्वागत के लिए तत्पर रहता है। **तत्त्वार्थ सूत्रकार** ने कहा है-"धर्ममार्ग से विचलित न हो जावे तथा कर्मो की निर्जरा करने के लिये कष्टो को आमत्रण देकर सहन करना चाहिये।" भौतिक सुखो का परित्याग कर आत्मीक आनन्द के अधीश्वर जिनेन्द्रो की आराधना के कारण सासारिक भोग-लालसा से विमुख होते कर्तव्यनिष्ठ व्यक्ति को विलम्ब नही लगता, अत: सत्यपथ पर प्रवृत्ति निमित्त प्राणोत्सर्ग करना उनके लिये कोई बडी बात नही रहती। **सिसरो** ने कहा है-

No man can be brave, who thinks pain the greatest evil, not temperate, who considers pleasure the highest good "–"जो व्यक्ति कष्ट को सबसे बुरी चीज मानता है वह वीर नही हो सकता तथा जो सुख को सर्वश्रेष्ठ मानता है, वह सयमी नही बन सकता।"

इस प्रकार यह स्पष्ट होगा, कि जैनधर्म की शिक्षाये वीरता के लिए कितनी अनुकूल तथा प्रेरक है। जो जरा भी सुखो का परित्याग नही कर सकता, वह जीवन उत्सर्ग की अग्नि-परीक्षा मे कैसे उत्तीर्ण हो सकता है? **जेम्स फ्रूड** ने आज के भोगाकाक्षी तरुणो की इन् शब्दो मे आलोचना की है, 'Young men dream of martyrdom and unable to sacrifice a single pleasure '

इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि जैनधर्म का शिक्षण पराक्रम और शौर्य से विमुख नही कराता है। भारतवर्ष मे जब तक जैन शिक्षा का तथा जैनदृष्टि का प्रचार था, तब तक देश स्वतत्रता के शिखर पर समासीन था। जब से भारतवर्ष ने क्रूरता, पारस्परिक कलह, भोगलोलुपता तथा स्वार्थपरता की जघन्य वृत्तियो का स्वागत किया और साम्प्रदायिकता की विकृत दृष्टि से वैज्ञानिक धर्मप्रसार के मार्ग मे अपरिमित बाधाएँ डाली तथा धार्मिक अत्याचार किए, तबसे स्वाधीनता के देवता कूच कर गए और दैन्य, दुर्बलता तथा दासता का दानव अपना ताडव नृत्य दिखाने लगा। एक विद्वान् ने जैन अहिसा के प्रभाव का वर्णन करते हुए कहा था–"यदि 15 लाख जैनियो की अहिसा लगभग 40 कोटि मानव समुदाय की हिसकवृत्ति को अभिभूत कर उस पर अपना प्रभाव दिखा सकती है, तब तो अहिसा की गजब की ताकत हुई।" ऐसी अहिसा के प्रभाव के आगे दासता और दभरूप हिसकवृत्ति पर प्रतिष्ठित साम्राज्यवाद का झोपडा क्षणभर मे नष्ट-भ्रष्ट हुए बिना नही रहेगा।

वास्तव मे देखा जाए तो भारतवर्ष के विकास और अभ्युत्थान का जैनशिक्षण और प्रभाव के साथ घनिष्ठ सबध रहा है। निष्पक्ष समीक्षक को यह बात सहज मे विदित हो जाएगी। कारण जब जैनधर्म चद्रगुप्त

आदि नरेशो के साम्राज्य मे राष्ट्रधर्म बन करोडो प्रजाजनो का भाग्यनिर्माता था, तब यहा यथार्थ मे दूध की नदिया बहती थी। दुराचरण का बहुत कम दर्शन होता था। लोगो को अपने घरो मे ताले तक नही लगाने पडते थे। स्वय की भूल और दूसरो के अत्याचारो के कारण जब से जैनशासन के ह्रास का आरभ हुआ तब से उसी अनुपात से देश की स्थिति मे अन्तर पडता गया।

प्रो **आयगर** सदृश उदारचरित्र विद्वानो के निष्पक्ष अध्ययन से निष्पन्न सामग्री से ज्ञात होता है कि जैनधर्म, जैनमदिर, जैनशास्त्रो तथा जैनधर्माराधको का अत्यन्त क्रूरतापूर्वक रीति से शैव आदि द्वारा विनाश किया गया। वे लिखते है, कि **'पेरियपुराणम्'** मे वर्णित शैव विद्वान् **तिरुज्ञान सबधर** के चरित्र से ज्ञात होता है कि पाड्य नरेश ने जैनधर्म का परित्याग कर शैवधर्म स्वीकार किया और जैनो पर ऐसा अत्याचार किया, कि [39]जिसकी तुलना मे योग्य दक्षिण भारत के धार्मिक आदोलनो के इतिहास मे सामग्री नही मिलेगी। सम्बन्धर रचित प्रति दस पद्य मे एक ऐसा मार्मिक पद्य है जो जैनियो के प्रति भयकर विद्वेष को व्यक्त करता है। इस पाड्य नरेश का समय 650 ईस्वी अनुमान किया जाता है। ऐसे ही अत्याचारो के कारण जैनधर्म पल्लव नरेशो के यहा अत्यधिक विपत्ति से आक्रान्त हुआ। जैनधर्म के परम विद्वेषी सबधर के प्रयत्न से जैनो के हिन्दुओ द्वारा सहार के चित्र मदुरा के मीनाक्षी मन्दिर के स्वर्णकमल युक्त सरोवर के मडप की दीवार मे सुरक्षित रखे गए। [40]इतने मात्र से सतुष्ट न होने के कारण ही मानो उस दुर्घटना का अभिनय वर्ष मे होने वाले द्वादश उत्सवो मे से पाच उत्सवो मे किया जाता है।

श्री कण्ठशास्त्री ने राजावली कथे के आधार पर लिखा है कि "कुन पाण्डयनरेश ने पाण्डय देश मे 985 तथा केवल मथुरा (मदुरा) मे ही 50 वस्तियो को नष्ट किया था। जैन मंदिर को 'वस्ती' कहते है। उसने पाड्यो के कुल देवता नेमिनाथ को छिपा दिया था और नेमिनाथ की शासन देवी कूष्माडिनी का नाम मीनाक्षी रखा। वहा के आडियो ने

जैनियो को कडा क्लेश पहुचाया और भाले-बर्छे का पर्व मनाया।" एक कन्नड विद्वान् ने मद्रास मे हमसे कहा था कि मीनाक्षी मंदिर जैन मंदिर था। उसके समीपवर्ती प्राचीन जैन सामग्री उक्त निश्चय मे सहायक है।

[41]वसवराज के नेतृत्व मे लिगायतो ने कलचूर्य राज्य से जैनियो का 12वी सदी के अत मे सहार किया।

वासव ने कालिका की उपासना से अनेक सिद्धियो प्राप्त की थी। उसने अपने भतीजे चेन्नवासव से छह हजार सात सौ जैन मंदिरो को नष्ट कराकर वीर शैव मत का प्रचार किया था। यह कथन राजावलिकथे से ज्ञात होता है। (राजावली कथा मे जैन परपरा)

तिरुज्ञान सबधर के समय मे **अप्परस्वामी** एक और शैव साधु ने जैनधर्म के सहार कराने मे अग्नि मे घृताहुति का कार्य किया। [42]अप्परस्वामी के बारे मे कहा जाता है, कि वह पहले जैन था, पश्चात् एक विशेष घटना से अप्परस्वामी ने शैवधर्म अगीकार कर लिया। इस कार्य मे उनकी बहिन की बडी तत्परता रही। अप्परस्वामी के पेट मे एक बार बडी पीडा उठी, अप्परस्वामी ने शिव मंदिर मे पहुचकर शिव की भक्ति की, इससे पेट की पीडा दूर हो गई, और वह कट्टर शैव हो गया। साप्रदायिको ने यह प्रयत्न किया कि उन लोगो की जैन हिंसिनी नीति पर आवरण पड जाए, और उल्टा जैनियो को उनके हिसन के लिये प्रयत्नशील रहने का दोषी बनाया जाए, किन्तु मदुरा के मीनाक्षी मन्दिर की जैन सहार की चित्रावली, सहार स्मृति उत्सव मनाना तथा "पैरियपुराणम्" मे जैनधर्म के प्रति विषपूर्ण उद्‌गार प्रोफेसर आयगर के इस कथन को पूर्णतया सत्य प्रमाणित करते है कि इनके निमित्त से जो सहार का कार्य हुआ है वह ऐसा भयकर है, कि उसकी तुलना की सामग्री दक्षिण भारत मे कही भी नही मिलेगी।

आज जैनधर्म के आराधक थोडी सख्या मे रह गए और अन्य धर्मपालको की जनगणना मे असाधारण अभिवृद्धि हुई। यदि आत्मविकास और अभ्युदय के तत्त्व जैनधर्म के शिक्षण मे न होते तो देश के ह्रास और विकास के साथ अनुपात सबध अथवा अन्वय-व्यतिरेक भाव नही

पाया जाता । जिस जैनशासन मे ईश्वर की दासता को भी स्वीकार न कर बौद्धिक और आत्मिक स्वाधीनता का चित्र विश्व के समक्ष रखा; जिस शिक्षण के द्वारा अगणित आत्माओ ने कर्म-शत्रुओ का सहार कर परम-निर्वाण रूप स्वाधीनता प्राप्त की, उस धर्म के शिक्षण मे व्यक्तिगत व राष्ट्र के पतन का अन्वेषण मृग का मरीचिका मे पानी देखने जैसा है।

चारित्र चक्रवर्ती 108 जैनाचार्य श्री शान्तिसागर महाराज ने सन् 1951 के हीरक जयती महोत्सव के महत्त्वपूर्ण अवसर पर अपने उद्बोधन मे कहा था, लोग जैन धर्म के अहिसा का यथार्थ रूप न समझकर कह बैठते है, "जो बिच्छू, साप को नही मारते, छोटे-छोटे कीडो की हिसा नही करते, मास नही खाते, ऐसे जैनी क्या राज करेगे? इस प्रश्न के उत्तर मे उन्होने कहा था "वास्तव मे जैनधर्म मे अहिसा, जीव दया का कथन है। गृहस्थ अवस्था मे सकल्पी हिसा का त्याग करना अनिवार्य है। इसलिए ही वह मास नही खाएगा तथा निरपराध प्राणी की हिसा भी नही करेगा। वह शिकार नही खेलेगा। इसका यह अर्थ नही है कि घर मे चोर घुस गए तो वह चुप बैठेगा। गृहस्थ विरोधी हिसा का त्यागी नही है। जैनधर्म मे सर्वप्रकार की हिसा का त्याग मुनि का आवश्यक कर्त्तव्य है। गृहस्थ जीवन मे आरम्भ, उद्योगी तथा विरोधी हिसा का त्याग नही बन सकता। सकल्पी हिसा का त्याग गृहस्थ के लिये परमावश्यक है। जैनधर्म के पालने वाले बडे-बडे नरेश, महामण्डलेश्वर, चक्रवर्ती आदि हो गए है। जैन नरेश सज्जन का पालन करता है और दुर्जन को उचित दण्ड देता है। जैन नरेश दुष्टो का दमन करते हुए अहिसा धर्म की वृद्धि करता है।"

महापुराण मे लिखा है, जितेन्द्रिय नरेन्द्र का कर्त्तव्य प्रजा का पालन करना है .—'प्रजानुपालन प्रोक्त पार्थिवस्य जितात्मन:।' वह युद्ध को प्रिय वस्तु नही मानता क्योंकि 'जनक्षयाय सग्रामो बह्वपायो दुरुत्तर.'—सग्राम मे बहुत लोगो का ध्वस होता है, उसमे अनेक हानि होती है और उसका भविष्य भी अच्छा नही होता। किन्तु उचित उपायान्तर के अभाव मे शासक को शस्त्र का प्रयोग करना परमावश्यक हो जाता है। यदि वह

प्रजा का परित्राण न करे तो सर्वत्र अशान्ति और दुःख व्याप्त हो जाएगा। सत्पुरुष दुःखी होगे तथा धूर्त एव पापी लोगो का बोलबाला हो जाएगा। इसलिए शासक न्याय दृष्टि को आदर्श बना अपने परम इष्ट का भी निग्रह करने मे मोह बुद्धि धारण नही करता है। जिनसेनाचार्य ने लिखा है–

द्विषन्तमथवा पुत्र निगृह्णन् निग्रहोचितम्।
अपक्ष पतितो दुष्ट इष्ट चेच्छन्ननागसम्।।42-200।।

राजा निग्रह करने योग्य शत्रु अथवा पुत्र दोनो का निग्रह करता है। उसे किसी का पक्षपात नही है। वह दुष्ट तथा मित्र सभी को निरपराध बनाने की इच्छा करता है। दुष्ट और शिष्ट का स्पष्टीकरण इस प्रकार किया गया है–

दुष्टा हिसादि दोषेषु निरता. पापकारिणः।
शिष्टास्तु क्षान्तिशौचादिगुणैर्धर्मपरा नराः।।42-203।।

जो व्यक्ति हिसा आदि पच पापो मे तत्पर हो पाप कार्य करते रहते है, वे दुष्ट कहलाते है, तथा जो क्षमा, सन्तोष आदि गुणो द्वारा धर्म ग्रहण करने मे तैयार होते है, वे शिष्टजन कहे जाते है।

वास्तव मे शान्ति, लोककल्याण तथा धर्म के पथ मे कण्टकरूप बनने वालो का उच्छेद करना अहिसा की अभिवृद्धि करना है। विवेकी व्यक्ति जैसे मार्ग मे पडे हुए कण्टक को दूर करते हुए सर्वसाधारण तथा स्वय को व्यथित होने से बचाते है, उसी प्रकार छात्र वृत्ति को धारण करने वाला जैन दुष्टता के उच्छेद हेतु कठोरतापूर्वक दुष्टो का दमन करना आवश्यक कर्त्तव्य मानता है। इस प्रसग मे जस्टिस जैनी के शब्द अति महत्त्वपूर्ण है:–

"Non-kılling cannot ınterfere wıth one's dutıes The kıng or the ȷudge has to hang a murderer The murderers act ın the negatıon of a rıght of the murdered The kıng's or the ȷudge's order ıs the negatıon of thıs negatıon, and ıs enȷoıned by Jaınısm as a duty Sımılarly, the soldıer's kıllıng on the battlefield It ıs only preȷudıced and garbled accounts of Jaınısm that have led to ıts beıng

misunderstood" (*Outlines of Jainism*, p 72)—अहिसा से कर्त्तव्यपालन मे तनिक भी बाधा नही आती है। राजा या न्यायाधीश को हत्या करने वाले को प्राणदण्ड देना ही पडता है। हत्यारे ने प्राण घात कर मृत व्यक्ति के जीवन सम्बन्धी अधिकार को नष्ट किया। राजा या न्यायाधीश का आदेश इस हत्यारे के प्राणघात कार्य के कारण उसके जीवन का निषेध रूप होता है। अर्थात् हत्यारे ने प्राणघात किया, इससे वह प्राणघात द्वारा दण्डित किया गया। ऐसा करना जैन धर्म की दृष्टि से कर्त्तव्य है। यही बात सैनिक द्वारा युद्धभूमि मे किए प्राणघात के विषय मे चरितार्थ होती है। जैनधर्म के विषय मे पक्षपात तथा विकृति पूर्ण कथन के कारण लोग उसके बारे मे भ्रान्त धारणा कर लेते है।

जैनधर्म मे वर्णित उपरोक्त हिसात्मक पद्धति का निषेध इसलिए नही किया गया है क्योंकि उस कठोर पद्धति के द्वारा लोक जीवन मे अहिसा और अभय प्रतिष्ठापित होते है। यदि दण्ड शिथिल हो तो भयकर अव्यवस्था उत्पन्न होकर पुण्य जीवन व्यतीत करना असम्भव हो जाएगा। चिकित्सक अपने प्राण प्रिय इकलौते बेटे के अग विशेष को जब भयकर रोगयुक्त देखता है और यदि उसका तत्काल ऑपरेशन न किया जाए तो उसके अन्य अग भी उसी प्रकार व्याधिग्रस्त हो जायेगे, इसलिए वह अपने पुत्र के उस अग को भीषण शस्त्र द्वारा भिन्न करने मे तनिक भी सकोच नही करता। इसी प्रकार की दृष्टि न्यायाधीश की रहती है। वह हिसा की बीमारी बढकर समस्त समाज को रोगाक्रान्त न कर दे, इसलिए मजबूर होकर उस दूषित तत्त्व के उच्छेद के लिए उसे कठोर नीति अगीकार करनी पडती है। व्यक्ति विशेष के प्रति वह अवश्य कठोर लगता है, किन्तु उसका कार्य सार्वजनिक दया का अग है। इस प्रकार का कार्य करने वाला व्यक्ति अपने विचार, बुद्धि तथा अन्त:करण को निर्मल तथा परिशुद्ध रखने के उद्देश्य से वह अपने जघन्य स्वार्थो की उपेक्षा कर मद्य-मासादि सेवन से विमुख रहता है। इसलिए वह शिकार करना आदि निकृष्ट कार्यो से परावृत्त होता है।

जैनधर्म की अहिसा को बदनाम करने के लिए कोई कोई लेखक यह लिखते है कि जैन लोग खटमल सदृश क्षुद्र प्राणियो को रक्त पान

कराकर जीवित रखने के लिए हृष्ट-पुष्ट गरीब आदमी को पैसा देकर खाट पर सुलवाते है और ऐसा करके जैन लोग अपने को अहिसा का पालक मानते है। यह प्रचार साप्रदायिक विद्वेष मूलक तथा पूर्णतया मिथ्या है। दूसरे को कष्ट देकर उसका रक्त पान करवाना घृणित तथा निदनीय कर्म है। ऐसे लोग यह सोचते हैं कि जैनधर्म सपन्न वणिक् समाज का ही धर्म है। यथार्थ मे जैनधर्म के सस्थापक क्षत्रिय तीर्थकर हुए है। डा जैकोबी ने लिखा है, "All Tirthankaras were Kshatriyas" जैनधर्म की शिक्षा यही है, कि शक्तिभर अन्याय और अत्याचार का मुकाबला कर धर्म, न्याय और सदाचार की जन जन के मानस मे प्रतिष्ठा अंकित कराओ। आत्मा मे सामर्थ्य हो, तो पराक्रम को आध्यात्मिक क्षेत्र की ओर प्रवृत्त कराकर अन्तरग कर्म शत्रुओ को पछाडने के श्रेष्ठ कार्य मे सलग्न हो जाओ। जैनधर्म के पालन करने का प्रत्येक व्यक्ति, वर्ण, वर्ग को अधिकार है। वह किसी वर्ण या जाति विशेष की व्यक्तिगत सपत्ति सदृश नही है। गाधी जी ने कहा था, कि "जैनधर्म विश्व धर्म होने योग्य है"।

जैन साधक का आदर्श भगवान् शान्तिनाथ सदृश चक्रवर्ती तीर्थंकर का चरित्र रहता है, जिन्होने साम्राज्य की अवस्था मे नरेन्द्र चक्र पर विजय प्राप्त की थी और अन्त मे भोगो को क्षणिक और निस्सार समझ मोह-शत्रु के नाश निमित्त अत.-बाह्य दिगम्बरत्व को अपनाकर कर्मसमूह को नष्ट किया। वास्तव मे विकास और प्रकाश का मार्ग वीरता है। इस वीरता मे दीनो का सहार नही होता। यह वीरता अन्याय और अत्याचार को पनपने नही देती।

जैनधर्म प्रत्येक प्राणी को महावीर बनने का उपदेश देता है और कहता है-'बिना महावीर बने तुम्हे सच्चा कल्याण नही मिल सकता, महावीर की वृति पर ही व्यक्ति अथवा समष्टि का अभ्युदय और अभ्युत्थान निर्भर है। कहते है, एक प्रतापी राजा अपने विजयोल्लास मे मस्त हो, सोचता था, कि इस जगत् मे ऐसा कोई व्यक्ति नही बचा, जो मेरे समक्ष अपने पराक्रम का प्रदर्शन कर सके, उसी समय छोटे से निमित्त से उसे क्रोध आ गया, नेत्र रक्तवर्ण हो गए। कुछ काल के उपरान्त अन्त·करण मे शान्ति का शासन स्थापित होने पर विवेक ज्योति जागी, तब उसे यह भान हुआ, कि मेरी महान् विजय की कल्पना तत्त्वहीन है; मैने अपने अन्त:करण मे विद्यमान प्रच्छन्न शत्रु क्रोधादि का तो नाश ही नही किया। तब वह लज्जित हुआ। आचार्य **वादीभसिह**

लिखते है, जब **जीवधरकुमार** काष्ठागार के अत्याचार की कथा सुनते ही अत्यन्त क्रुद्ध हो गया था, तब **आर्यनदी** गुरु ने यही तत्त्व समझाया था, वत्स,[43] सच्चे शत्रु पर यदि तुम्हे रोष है तो इस क्रोध पर क्यो नही क्रुद्ध होते, कारण इसने तुम्हारे निर्वाण-साम्राज्य तक को छीन लिया है। जीवधरकुमार ने अपने पराक्रम, पुरुषार्थ एव पुण्य के प्रभाव से अपने राज्य को पुनः प्राप्त तो कर लिया, किन्तु आत्म-साम्राज्य को प्राप्त करने के लिये अन्त मे उन्हे सब अनात्म पदार्थो का परित्याग कर जिनेन्द्र की शरण लेनी पडी। उन्होने महावीर भगवान के समवशरण मे पहुँचकर प्रार्थना की थी,-

ससारविषवृक्षस्य सर्वापत्फल दायिनः।
अकुर रागमुन्मूल वीतराग विधेहि मे॥11-99, क्षत्रचूड़ामणि॥

हे वीतराग जिनेन्द्र! यह ससार विषवृक्ष है। उसमे सब प्रकार के दु:ख रूप फल लगते है। उसका अकुर राग परिणाम है। उसे जडमूल से उखाड दीजिए अर्थात् आपके प्रसाद से मेरी आत्मा इतनी सशक्त तथा विशुद्ध हो कि वह सम्पूर्ण सकटो के बीज रूप रागभाव को नष्ट कर दे। आप वीतराग है इसलिए मै राग निवाराणार्थ आपके चरणो मे विनम्र विनय करता हू।

इसके पश्चात् उन्होने दिगम्बर दीक्षा लेकर महान् तप किया-

प्राज्ञ प्रव्रज्य तत्पार्श्वे तपस्तेपेऽतिदुश्चरम्।
येन कर्माष्टकस्यापि नष्टता स्याद्यथाक्रमम्॥11-102॥

अन्त मे वे कृतार्थ हुए, कृतकृत्य बने, और मोहारिजेता बन अविनाशी जीवन के अधिपति हो गए। बाह्य रिपुओ की विजय के लिए अस्त्र, शस्त्र, सैन्यादि की आवश्यकता पडती है, किन्तु इस जीवन को जन्मजरामरण की विपदाओ के फन्दे से बचाने वाली यदि किसी मे शक्ति है तो वह है कर्मारिविजेता जिनेन्द्र की वीतरागता का लोकोत्तर मार्ग।

मूलाचार मे कहा है-

"जम्म-जरा-मरण-समाहिदम्हि सरण ण विज्जदे लोए।
जम्ममरणमहारिउवारण तु जिणसासण मुत्ता।"[44]

★★★

सदर्भ सूची

1 "उत्तमसहननस्य एकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानमान्तर्मुहूर्तात्।"

–त० सूत्र 9।27

2. चन्द्रगुप्त आदि जैन नरेशो के शासन का इतिवृत्त इस बात का समर्थक है।

3 "स च दान-धर्म-युद्धर्दयया च समन्वितश्चतुर्धा स्यात्।"

–सा० द० श्लो 234, 3

4 "जा धन के हित नारि तजै पति पूत तजै पितु शीलहि सोई
भाई सो भाई लरै रिपु से पुनि मित्रता मित्र तजै दुख जोई।
ता धन को बनिया है गिन्यो न दियो दुख देश के आरत होई।
स्वारथ आर्य तुम्हारो ई है तुमरे सम और न या जग कोई।"

–भारतेन्दु हरिश्चद्र

5 कर्नल टाड के कथनानुसार यह धन 25 हजार सैन्य को 12 वर्ष तक भरणपोषण मे समर्थ था। –टाड राजस्थान 102-3

6 "स्वर्णदीनारसयुक्तान् लाजपिण्डान् स कोटिश ।
निशायामर्पयामास कुलीनाय जनाय च॥"

–जगडूचरित्र 6/13

7 "Tradition avers that 8000 (eight thousand) of them (Jains) were impaled Memory of the facts has been preserved in various ways and to this day the Hindoos of Madura where the tragedy took place celebrate the anniversary of the impalement of the Jains as a festival (Utsav)"—V Smith, *His of India*

8 The literary and legendary traditions of the Jains about Srenika are so varied and so well recorded that they bear eloquent witnesses to the high respect with which the Jains held one of their greatest loyal patrons, whose historicity is unfortunately past all doubts

—*Jainism in North India, p 116*

Tradition runs that he built many shrines on the summit of Parasnatha hill in Bihar -*J R.A S* 1824

9 *Cambridge His of India,* p 161

10 *J B & O Research Soc* Vol 4 p 463

11 I am now disposed to believe that the tradition is probably true in its main outline and that Chandragupta really abdicated and became a Jain ascetic V Smith, *His of India* p 146

12 The Jain books (5th cen A C) and later Jain inscriptions claim Chandragupta as a Jain Imperial ascetic My studies have compelled me to respect the historical data of Jain writings and see no reason why we should not accept the Jain claim that Chandragupta at the

end of his reign accepted Jainism and abdicated and died as a Jain ascetic I am not the first to accept the view Mr Rice, who has studied the Jain inscriptions of Sravanbelgola thoroughly, gave verdict in favour of it and Mr V Smith has also leaned towards it ultimately —J B O.R.S , Vol VIII

13 The hill which contains the footprints of his (Chandragupta's) preceptor is called Chandra Giri after his name and on it stands a magnificent temple called Chandra Basti with its carved and decorated walls, portraying scenes from the life of the great Emperor He was a true hero and attained the heaven from that hill in the Jain manner of Sallekhana

14 "The testimony of Megasthenes would likewise seem to imply that Chandragupta submitted to the devotional teachings of Sramanas as opposed to the doctrines of the Brahmins" *Jainism or Early Faith of Asoka* by F W Thomas, p 23

15 "His (Asoka's) ordinances concerning the sparing of animal life agree much more closely with the ideas of heritical Jains than those of Buddhists"— *Indian Antiquary* Vol V, page 205

16 "य शान्तवृजिनो राजा प्रपन्नो जिनशासनम्।
पुष्कलेऽत्रवितस्तात्रौ तस्तार स्तूपमण्डले॥"–राजतरंगिणी अ० 1।

17 *Early Faith of Asoka* by Thomas

18 "In B C 260—he (Ashoka) came under the mingled influence of Buddhism and Jainism This regret then was the cosmic touch which drove Ashoka to find comfort in preaching the doctrine of the sanctity of life Was it Jainism (amongst the tenets of which this takes first place), which influenced Ashoka most, or was it Buddhism Doctors differ" —*India through the Age,* p 46

19 वीर–15 जनवरी 1963

20 "Samprati was a great Jain monarch and a staunch supporter of the faith He erected thousands of temples throughout the length and breadth of his vast empire and consecrated large number of images, He is said to have sent Jain missionaries and ascetics abroad to preach Jainism in the distant countries and spread the faith amongst the people there "—*Epitome of Jainism*

21 वान ग्लेसनेप के जैनीजम का हिंदी अनुवाद पृष्ठ 60 देखो।

22. "येन सप्रतिना साधुवेषधारिनिजकिंकरजनप्रेषणेन अनार्यदेशेऽपि साधुविहार कारितवान्।" –*खरतरगच्छावलि सग्रह,* पृ० 17।

23 *Mediaeval Jainism*, pp 10-30

24 *Ibid* and *Some Historical Jain Kings and Heroes*
—*Jain Antiquary*, Vol vii No 1 p 21

25 *Med Jainism*, pp 30-34

26. "Rashtrakuta territory was vast, well peopled, commercial and fertile The people mostly lived on vegetable diet "—*Bombay Gaz*, vol I pp 526-30

27 "In the face of achievements of the Jain princes and generals of this period, we can hardly subscribe to the theory that Jainism and Buddhism were chiefly responsible for the military emasculation of the population that led to the fall of othe Hindu India "—*The Rastrakutas*, p 316-17

28 *Some Hist Jain Kings and Heroes*

29 The temple has changed hands Sheshshayiji has occupied the place of Neminatha All the basadis (Jain temples) in Kolhapur and near about have received grants at the hands of Nimbadev —Kundnagar *Loc cit*, p 11

30 ईसा पूर्व चौथी शताब्दी मे महापद्मनन्द कलिगजिन की मूर्ति को पाटलीपुत्र ले गए थे। तीन सौ वर्ष के पश्चात् खारवेल को उस मूर्ति को पुन कलिग लाने का सौभाग्य मिला। इससे नन्द नरेश जैनधर्म के आराधक थे, यह स्पष्ट होता है।

31 *Ibid*

32 The Chalukyas were without doubt the great supporters of Jainism
-V Smith, *His of India*, p 444

33 King Bijjal ruled peacefully with glory He built many Jain temples His exploits as a warrior as well as supporter of the faith are well narrated in a Kanarese work called Bijjal Charite He was succeeded by his son, Someshwara, who also was a supporter of Jainism and saved it from the onslaughts of the Lingayats —Rice, *Mysore & Coorg*, p 79

34 The well-known Chamundi hill near Mysore was once a Jain Tirtha—
Mediaeval Jainism, p 259

35 "Another seat of Jainism was Sringeri"—*Mediaeval Jainism*, p 206

36. "A braver soldier, a more devout Jain, and a more honest man than Chamundraya, Karnataka had never seen "
—*Medieval Jainism*, p 102

37 If it be asked who in the beginning were firm promoters of Jain doctrine (they were) Raya (Chamudaraya), the minister of Rachmalla, after him Ganga, the minister of king Vishnu, after him Hulla, the minister of king Narsimhadeva If any others could claim as such, would they not be mentioned?

—*Epi Carn, Ins at Sravanbelgola,* p 85

38 Minister general Hulla's contribution for the cause of Jain Dharma was the construction of famous Chaturvimsati Jinalaya at Sravanbelgola *Ibid* p 142

39 The Jains were also persecuted with such rigour and cruelty that is almost unparalled in the history of religous movement in South India The soul-stirring hymns of Sambandhar, every tenth verse of which was devoted to anathematise the Jains clearly indicate the bitter nature of the struggle —J G p 154

40 As though this were not sufficient to humiliate that unfortunate race, the whole tragedy is enacted at five of the twelve annual festivals at the Madura temple p 167

41 At the close of the 12th cen the Lingayatas under the leadership of Basava persecuted the Jains in the Kalachurya dominion p 26

42 देखो–"साप्ताहिक भारत"–पेज 6 10 नवम्बर स० 47–अप्पर स्वामी पर लेख।

43 अपकुर्वति कोपश्चेत् किन्तु कोपाय कुप्यासि।
त्रिवर्गस्यापवर्गस्य जीवितस्य च नाशिने।। क्षत्रचूडामणि।।

44 इस लोकमे जन्म जरा, मृत्यु से बचने के लिए कोई भी शरण नही। हा जन्म जरा, मरण रूप महाशत्रु का निवारण करने की सामर्थ्य जिन शासन के सिवाय अन्यत्र नही है।

पुण्यानुबन्धी वाङ्मय

भगवती सरस्वती के भण्डार की महिमा निराली है। उसके प्रसाद से यह प्राणी मोहान्धकार से बचकर आलोकमय आत्मविकास के क्षेत्र मे प्रगति करता है। इस युग मे इतने वेग से विपुल सामग्री भारती के भव्य भवन में भरी जा रही है कि उसे देख कवि की सूक्ति स्मरण आती है–

"अनन्तपार किल शब्दशास्त्र स्वल्प तथायुर्बहवश्च विघ्ना.।
सार ततो ग्राह्यमपास्य फल्गु हसैर्यथा क्षीरमिवाम्बुराशे:॥"

शास्त्रसिन्धु अपार है। जीवन थोडा है। विघ्नो की गिनती नही है। ऐसी स्थिति में ग्रन्थ-समुद्र का अवगाहन करने के असफल प्रयास के स्थान मे सार बात को ही ग्रहण करना उचित है। असार पदार्थ का परित्याग करना चाहिये, जैसे हस अम्बुराशि मे से प्रयोजनीक दुग्धमात्र को ग्रहण करता है।

साधक उस ज्ञानराशि से ही सम्बन्ध रखता है, जो आत्मा मे साम्यभाव की वृद्धि करती है तथा इस जीव को निर्वाण के परम प्रकाशमय पथ मे पहुँचाती है। जो ज्ञान राग, द्वेष, मोह, मात्सर्य, दीनता आदि विकृतियो को उत्पन्न करता है, उसे यह कुज्ञान मानता है। सत्पुरुष ऐसी सामग्री को आत्मविघातक बताते है, जो आविष्कारक के रूप मे प्राणघातक विष, फन्दा, यंत्र आदि के नाम से जगत् के समक्ष आती है।[1] महापुराणकार **भगवज्जिनसेन** ने वास्तव मे उनको ही [2]कवि तथा विद्वान् माना है जिनकी भारती मे धर्म-कथागत्व है। उनका कथन है–

"धर्मानुबन्धिनी या स्यात् कविता सैव शस्यते।
शेषा पापास्त्रवायैव सुप्रयुक्तापि जायते।"

–महापुराण 1-63

धर्म से सम्बन्धित कविता ही प्रशसनीय है। अन्य सुरचित कृतिया भी धर्मानुबंधिनी न होने के कारण पापकर्मों के आगमन की कारण है।

ऐसे रचनाकारो को **जिनसेन** स्वामी कुकवि मानते है। जिन साक्षरो की समझ मे यह बात नही आती, कि रागादि रस से परिपूर्ण आनन्द रस को प्रवाहित करने वाली रचनाओ मे क्या दोष है, उनको लक्ष्यबिन्दु मे रखते हुए आदर्शवादी कवि **भूधरदास** जी लिखते है–

"राग उदै जग अन्ध भयौ सहजै सब लोगन लाज गवाई।
सीख बिना नर सीख रहे विषयादिक सेवन की सुघराई॥
ता पर और रचै रस-काव्य कहा कहिए तिनकी निठुराई।
अन्ध असूझनकी अखियान मै, झोकत है रज राम दुहाई॥"

कविवर विधाता की भूल को बताते हुए कहते है–

"ए विधि! भूल भई तुम तै, समुझे न कहा कसतूरि बनाई।
दीन कुरगन के तन मे, तृन दन्त धरै, करुना नहि आई॥
क्यौ न करी तिन जीभन जे रस काव्य करै पर कौ दुखदाई।
साधु अनुग्रह दुर्जन दण्ड, दोऊ सधते विसरी चतुराई॥"

आधुनिक कोई-कोई विद्वान् उस रचना को पसन्द नही करते, जिसमे कुछ तत्त्वोपदेश या सदाचार-शिक्षण की ध्वनि (didactic tone) पाई जाती है। वे उस विचारधारा से प्रभावित है जो कहती है कि विशुद्ध, सरस और सरल रचना मे स्वाभाविकता का समावेश रहना चाहिये। रचनाकार का कर्त्तव्य है कि चित्रित किए जाने वाले पदार्थो के विषय मे दर्पण की वृत्ति अगीकार करे।

जहाँ तक जनानुरजन का प्रश्न है, वहाँ तक तो यह प्राकृतिक चित्रण अधिक रस सवर्धक होगा, किन्तु मनुष्य-जीवन ऐसा मामूली पदार्थ नही है, जिसका लक्ष्य मधुकर के समान भिन्न भिन्न सुरभि सम्पन्न पुष्पो का रसपान करते हुए जीवन व्यतीत करना है। मनुष्य-जीवन एक महान् निधि है, ऐसा अनुपम अवसर है, जबकि साधक आत्म शक्ति को विकसित करते हुए जन्म-मरा-मरणविहीन अमर जीवन के उत्कृष्ट और उज्ज्वल आनन्द की उपलब्धि के लिए प्रयत्न करे। अतएव

सन्तो ने जीवन के प्रत्येक अग तथा कार्य को तब ही सार्थक तथा उपयोगी माना है, जबकि वह आत्मविकास की मधुरध्वनि से समन्वित हो। भोगी व्यक्तियो को धर्मकथा अच्छी नही लगती। महापुराणकार **जिनसेन** तो कहते है कि 'पवित्र धर्मकथा को सुनकर असत् पुरुषो के चित्त मे व्यथा उत्पन्न होती है, जैसे महाग्रह से विकारी व्यक्तियो को मन्त्र-विद्या के श्रवण द्वारा पीडा होती है।'[3] अतएव महापुरुष पवित्र और विमल शिक्षाओ को देना अपना कर्तव्य समझते है। लोक-प्रशसा अथवा विरक्ति का उनके सन्मार्गनुशासन पर कोई प्रभाव नही पडता, उनका ध्येय प्रशसा के प्रमाण पत्र सग्रह करना नही रहता है। उनका लक्ष्य सन्मार्ग का प्रकाशन रहता है।

जिनसेन स्वामी कहते है-

"परे तुष्यन्तु वा मा वा कविः स्वार्थं प्रतीहताम्।
न पराराधनात् श्रेय· श्रेयः सन्मार्गदेशनात्॥1-76।

पाश्चात्यो के भारत-भू पर पदार्पण करने के अनन्तर देश-विदेश मे ग्रन्थ सग्रह तथा उनके प्रकाशन, परिशीलन आदि का एक नवीन युग अवतरित हुआ। उस समय अन्य वाङ्मय तो प्रकाश मे आया, किन्तु जैन समाज ने शुद्धता के विशेष ममत्ववश, अथवा विधर्मियो द्वारा ग्रन्थकारी भीति के कारण अपनी चमत्कारक अमूल कृतियो को साहित्यिक कलाकारो के समक्ष लाने मे अत्यधिक शैथिलस्य का परिचय दिया, ऐसी ही साप्रदायिक दृष्टि द्वारा अनेक महत्त्वपूर्ण जैन साहित्य की रचनाए भी अन्य धर्मी बताई गई। ईसा की प्रथम शताब्दी मे **एलाचार्य (कुन्दकुन्द)** द्वारा रचित जैन ग्रथ 'तिरुक कुरल' काव्य को एक तिरुवल्लुवर नाम के अछूत शूद्र की कृति कहा जाता है। सौभाग्य से प्रतिभाशाली विद्वान् **प्रो॰ चक्रवर्ती** ने ग्रन्थ का अन्तःपरीक्षण करके ऐसी सामग्री उपस्थित की, कि जिससे सत्य शोधको को 'कुरल' को जैन रचना स्वीकार करना होगा। जैसे मगलाचार के पद्य मे किसी भी हिन्दू देवता की वन्दना न करके उन जिनेन्द्र को प्रणाम किया है जो कमल पर चलते थे।

प्रो॰ चक्रवर्ती ने तिरुककुरल पर अग्रेजी मे सात सौ पृष्ठ की रचना तिरुककुरल प्रकाशित की है। उसमे उन्होने साधार ग्रन्थ को जैन कृति प्रमाणित किया है। मगल पद्य का यह रूप है:-

malarmisai echinÂn main ardi serndhar
nilam misai nitduvat vÂr (तमिल भाषा)

Those that adore the feet of the Lord, who walked over the divine lotus, will have an everlasting life in the world above (*Tirukkural,* p 11, verse 3)

जैन पुराणो मे यह बताया गया है, कि जिनेन्द्र के चरणो के नीचे देववृन्द कमलो की रचना करते है।[4]

महापुराण मे भगवान् ऋषभदेव के विषय मे लिखा है कि वे प्रभु कैवल्य प्राप्ति के पश्चात् विहार करते समय कोमल तथा स्पर्श से आनन्दप्रद कमलो पर अपने चरण रखते थे और उनके पीछे सुर तथा असुर चलते थे। महापुराण के ये शब्द महत्त्वपूर्ण है-

मृदुस्पर्श-सुखाम्भोज-विन्यस्त-पद-पकज.॥254॥
सुरासुरानुयातोऽभूद् विजिहीर्षुस्तदा विभु ॥25-257॥

तमिल महाकाव्य नीलकेशी के जैन टीकाकार **समय दिवाकर** मुनिवर कुरल को "my own bible" हमारा धर्मग्रन्थ कहते है।

तमिल भाषा के मान्य ग्रन्थ जीवक चिन्तामणि के विख्यात टीकाकार मचिनरकिनेर (Machinarkiniar) ने अनेक बार कुरल के अवतरण देते हुए कहा है 'So says Thevar'-इस प्रकार थेवर का कथन है। तमिल भाषा के विद्वान् यह जानते है कि थेवर का अर्थ जैन मुनि ही होता है। जीवक चिन्तामणि के रचयिता का नाम तिरुत्तक्क थेवर है। एक और रचना चिन्तामणि तमिल मे है उसके रचयिता थोलमोज्ही थेवर (Tholamozhi Thevar) है। तिरुकलम् बागम के लेखक उडीची (Udichi) थेवर है। एक और बात ज्ञातव्य है कि तमिल नाटक प्रबोध चद्रोदय का निर्माता जैन धर्म के प्रतिनिधि रूप पात्र के मुख से जैन धर्म के विषय मे कुरल के पद्यो का पाठ करवाता है। इससे यह बात अवगत

होती है कि प्रबोधचद्रोदय के कर्त्ता की दृष्टि मे कुरल जैन ग्रथ है। कुरल के लेखक एलाचार्य–कुदकुद स्वामी है, जो ईसा से एक शताब्दी पूर्व हुए है। ऐसी अनुश्रुति है कि कुन्दकुन्द स्वामी अपनी तपश्चर्या मे निरत थे और उनके शिष्य तिरुवल्लुवर ने मदुरा के सघ (Academy) के समक्ष उक्त ग्रथ उपस्थित किया था तथा ग्रथ को मान्यता प्राप्त कराई थी। श्री चक्रवर्ती कहते है–"In short, the author of Tirukkural was a Jain saint, who lived in the second half of the first century B C (LXIX–Tirukkural) तमिल भाषा मे लिखित जीवक चिन्तामणि जैन ग्रथ का शीर्ष स्थान है। **डा॰ जी॰यू॰ पोप** ने लिखा है "जीवक चिन्तामणि तमिल साहित्य मे सर्वोपरि रचना है। यह विश्व के श्रेष्ठ महाकाव्यो मे अन्यतम है"–"Jeevaka Chintamani is the greatest existing Tamil literature monument It is also one of the greatest epics of the World"। इटली के **प्रोफेसर फादर बेस्की** (Beski) का कथन है, "Thiruththakka Thevar is a prince among Tamil poets"–जीवक चिन्तामणि के रचयिता तिरुत्तक्क थेवर तमिल कवियो मे प्रमुख है।

रा॰ब॰ **प्रो॰ चक्रवर्ती** ने लिखा है कि तिरुक्कुरल मे विश्वहितकर भगवान की अभिवन्दना की गई है। कुरल के प्रथम पद मे आगत शब्द 'आदि भगवान' का अर्थ भगवान् ऋषभदेव है, जिनके द्वारा अहिसा धर्म चलाया गया। अहिसा की विशुद्ध विचारधारा पर भीषण आक्रमण थेवरम् सम्प्रदाय के नेता सम्बन्धर ने किया। उसने आक्रमणकारी कापालिक धर्म की प्रवृत्ति की। उसके द्वारा पाड्य वश के राज्य परिवार सम्बन्धी कुछ व्यक्तियो का धर्म परिवर्तन हुआ। इसके पश्चात् अत्यन्त क्रूरतापूर्वक अहिसा धर्म के आराधक जैन साधुओ की हत्या की गई तथा कापालिको के 'रूद्र-शिव' रूप आक्रमणकारी सम्प्रदाय का तमिल देश मे प्रचार हुआ, जो आठवी सदी से आज तक भी तमिल देश मे विद्यमान है।–Saints of non-violent faith were massacred mercilessly and a militant form of the culture of Rudra Siva of the Kapalikas was enforced on the Tamil population (P LXVII Introduction *Tirukkural*)

जस्टिस जुगमन्दरलाल जैनी ने भी *'Outlines of Jainism'* मे जैन साहित्य के विनाश किए जाने वाले क्रूर कृत्यो की चर्चा की है।

साम्प्रदायिको के कूर तथा कलकपूर्ण कृत्यो के कारण ही साधारणमति साधुचेतस्क व्यक्ति धर्ममात्र को प्रणाम कर सामान्य सदाचार को ही सुखी जीवन का आधार स्तभ मान प्रवृति करते है। कम लोगो को इस बात का यथार्थ अवबोध है कि जिस प्रकार अलाउद्दीन, गजनवी, गोरी सदृश, यवनो ने भारतीय मठ, मन्दिरो, ग्रन्थ भण्डारो का अनन्त क्रूरतापूर्वक विनाश किया, उससे भी कही आगे बढकर धार्मिक अत्याचारो का निशाना धर्मान्ध विप्रवर्ग के इशारे पर नाचने वाले हिन्दू नरेशो ने किया था। हमारे बहुमूल्य साहित्य का कैसा निर्मम नाश किया, इसका वर्णन सहृदय विद्वान् **प्रो॰ आर॰ ताताचार्य**, एम॰ए॰एल॰टी॰ अपने कन्नड जैन साहित्य सबधी अग्रेजी लेख मे करते हुए लिखते है–

> "Religious persecution, intolerance, bigotry, conservatism and the like have done much to put keep from the public all that is valuable in Kanada Jain literature Thousands of bastis have been destroyed, and the libraries set on fire Several thousands of palmyra manuscripts have been thrown into the Kaveri or the Tungabhadra and the havoc of worms has been equally destructive of the vast treasures of learning "(J GP 178, P XVI)

जिस प्रकार कूटनीतिज्ञ अग्रेज भारतवासियो का स्वार्थवश भ्रान्त चित्रण करते हुए उनको लकडहारे और पानी भरने वाले (Hewers of wood and drawers of water) लिखते थे, उसी प्रकार की दूषित भावना वाले एक पादरी महाशय लिखते है–"जैनियो के पास महत्त्वपूर्ण साहित्य का अभाव है, जिस धर्म मे इस प्रकार की मुख्य बाते मानी जाये, कि ईश्वर को नही मानो, मनुष्य की पूजा करो, क्रूर सर्पादि का सरक्षण करो, उस धर्म को जीवित रहने का अधिकार नही है।"[5]

चोल नरेशो के राज्य मे जैन मन्दिर, मठादि का अपार नाश किया गया। इस सम्बन्ध मे **आयगर** का कथन है–The Chola sovereigns had ever remained bitter enemies of the faith and who is there that does not know of Raja Chola's terrible destruction of the Jain temples and monasteries and the ravaging of the country as far as Puligeri?

गुजरात के नरेश **अजयदेव** ने शिवभक्ति के अतिरेकवश बारहवी सदी मे जैनियो का अत्यन्त निर्मम सहार किया और जैन प्रमुख लोगो की बडी बेरहमी के साथ हत्या की। **श्री आर्चेल** (Archael) ने इसे इन शब्दो मे व्यक्त किया है–'Ajayadeva, a Shiva King of Gujarat (1174-1176) began his reign by a merciless persecution of the Jains, torturing their leaders to death' ऐसे अवर्णनीय अत्याचारो के होते हुए भी जैनियो ने कभी भी अन्य सप्रदाय के देवताओ की मूर्तियो, मठो, मन्दिरो का ध्वस नही किया।[6]

अनेक कट्टर साप्रदायिक विद्वान् जैनो के प्रति अनादर का ही प्रचार करते रहते थे। उधर जैन साहित्य के प्रति साम्प्रदायिक विद्वानो द्वारा भ्रान्त प्रचार भी रहा, अत जब भारतीय वाड्मय के विषय मे निष्पक्ष साहित्यिको ने प्रकाश डाला, तब भी जैन वाड्मय के बारे मे भ्रान्त धारणाओ की अभिवृद्धि हुई। **मेग्डानल्ड** जैसे पश्चिम के पण्डितो की *'India's Past'* पुरातन भारत-सम्बन्धी रचनाओ मे जैन ग्रन्थो के विषय मे अत्यन्त अल्प प्रकाश प्राप्त होता था। कभी-कभी तो ऐसा मालूम पडता था, कि भारती के भण्डार मे जैन ज्ञानी जनो ने कुछ सामग्री समर्पित भी की थी, या नही, यह निश्चित रूप से नही कह सकते थे। साम्प्रदायिकता अथवा भ्रान्त धारणाओ के भँवर से जैन वाड्मय का उद्धार कर जगत् का ध्यान उस ओर आकर्षित करने का श्रेय डा० जैकोबी, डा० हर्टल सदृश पाश्चात्य पडितो को है। उन्होने अपार श्रम करके जैन शास्त्रो को प्राप्त किया। उनका मनन तथा परिशीलन करके जगत् को बताया कि जैन वाड्मय के कोष मे अमूल्य ग्रन्थराशि विद्यमान है, और वह इतनी अपूर्व तथा महत्त्वपूर्ण है, कि उसका परिचय पाए बिना अध्ययन पूर्ण नही समझा जा सकता।[7] इन विदेशी अध्येताओ के प्रसाद से यह बात प्रकाश मे आई कि जैन आचार्यो तथा विद्वानो ने जीवन मे प्रत्येक अग पर प्रकाश डालने वाली बहुमूल्य सामग्री लोकहितार्थ निर्माण की थी। जैन वाड्मय का विशेष रसपान के कारण तन्मय होने वाले **डा० हर्टल** कितनी सजीव भाषा मे अपने अन्तःकरण के उद्‌गारो को व्यक्त करते है :–"Now what would Sanskrit poetry be without the large Sanskrit literature of the Jains The more I

learn to know, the more my admiration rises"–"जैनियो के इस विशाल सस्कृत साहित्य के अभाव मे सस्कृत कविता की क्या दशा होगी? जैन साहित्य का जैसे-जैसे मुझे ज्ञान होता जाता है, वैसे-वैसे ही मेरे चित्त मे इसके प्रति प्रशसा का भाव बढता जाता है।" जैन साहित्य के विषय मे **प्रो॰ हापकिन्स** लिखते है–"जैन साहित्य, जो हमे प्राप्त हुआ है, काफी विशाल है। उसका उचित अक प्रकाशित भी हो चुका है। इससे जैन और बौद्ध धर्मो के सम्बन्ध के बारे मे पुरातन विश्वासो के सशोधन की आवश्यकता उत्पन्न होती है।"[8] **जेम्स विसेट प्रिट** नामक अमेरिकन मिशनरी अपनी पुस्तक *"India and its Faiths"* (पृ॰ 258) मे लिखते है–"जैन धार्मिक ग्रथो के निर्माणकर्ता विद्वान् बडे व्यवस्थित विचारक रहे है। वे गणित मे विशेष दक्ष रहे है। वे यह बात जानते है, कि इस विश्व मे कितने प्रकार के विभिन्न पदार्थ है। इनकी इन्होने गणना करके उसके नक्शे बनाए है। इससे वे प्रत्येक बात को यथास्थान बता सकते है।[9]" यहाँ लेखक की दृष्टि के समक्ष जैनियो के गोम्मटसार कर्मकाड मे वर्णित कर्म प्रकृतियो का सूक्ष्म वर्णन विद्यमान है, जिसे देखकर प्रत्येक विज्ञ व्यक्ति विस्मित हुए बिना नही रहता। विस्मय का कारण यह है कि उस वर्णन मे कही भी पूर्वा पर विरोध या अव्यवस्था नही आती।[10]

डा॰ वासुदेवशरण अग्रवाल, अपने "जैन साहित्य मे प्राचीन ऐतिहासिक सामग्री" शीर्षक निबध मे लिखते है–"हर्ष की बात है कि बौद्ध साहित्य से सब बातो मे बराबरी का टक्कर लेने वाला जैनो का भी एक विशाल साहित्य है। दुर्भाग्य से उनके प्रामाणिक और सुलभ प्रकाशन का कार्य बौद्ध साहित्य की अपेक्षा कुछ पिछडा हुआ रह गया। इसी कारण महावीर काल और उनके परवर्ती काल के इतिहास निर्माण और तिथि क्रम निर्णय मे जैन साहित्य का अधिक उपयोग नही हो पाया। अब शनै.-शनै. यह कमी दूर हो रही है।" **डा॰ अग्रवाल** लिखते है–"जैन समाज की एक दूसरी बहुमूल्य देन है। वह मध्काल का जैन साहित्य है जिस की रचना सस्कृत और अपभ्रश मे लगभग एक सहस्त्र वर्षो तक (500 ई॰–1600 ई॰) होती रही। इसकी तुलना बौद्धो के उस परवर्ती सस्कृत साहित्य से हो सकती है, जिसका सम्राट् कनिष्क या

अश्वघोष के समय से बनना शुरू हुआ और बारहवी शताब्दी अर्थात् नालन्दा के अस्त होने तक बनता रहा। दोनो साहित्यों मे कई प्रकार की समानताएँ और कुछ विषमताएँ भी है। दोनो मे वैज्ञानिक ग्रन्थ अनेक है। काव्य और उपाख्यानो की भी बहुतायत है। परन्तु बौद्धो के सहज ज्ञान और गुह्य समाज से प्रेरित साहित्य के प्रभाव से जैन लोग बचे रहे। जैन-साहित्य मे ऐतिहासिक काव्य और प्रबन्ध की भी विशेषता रही। मध्यकालीन भारतीय इतिहास के लिए इस विशाल जैन साहित्य का पारायण अत्यन्त आवश्यक है। एक ओर **'यशस्तिलक-चम्पू'** और **'तिलकमजरी'** जैसे विशाल गद्य ग्रन्थ है, जिनमे मुस्लिम काल से पहले की सामन्त सस्कृति का सच्चा चित्र है, दूसरी ओर पुष्पदन्त कृत **'महापुराण'** जैसे दिग्गज ग्रन्थ है, जिनसे भाषाशास्त्र के अतिरिक्त सामाजिक रहन-सहन का भी पर्याप्त परिचय मिलता है। **बाणभट्ट** की कादम्बरी के लगभग 500 वर्ष बाद लिखी हुई **तिलकमजरी** नामक गद्य कथा सस्कृत साहित्य का एक अत्यन्त मनोहारी ग्रन्थ है। सस्कृति से सम्बन्धित पारिभाषिक शब्दो का बडा उत्तम सग्रह इस ग्रथ से प्रस्तुत किया जा सकता है। **'उपमितिभवप्रपचकथा'** और **'समराइच्चकहा'** भी बडे कथा-ग्रन्थ है, जिनमे स्थान-स्थान पर तत्कालीन सास्कृतिक चित्र पाए जाते है।[11]

देवानन्द महाकाव्य, कुमारपालचरित्र, प्रभावकचरित्र, जम्बूस्वामी चरित तथा **हीर सौभाग्यकाव्य** मे इतिहास की बहुमूल्य सामग्री विद्यमान है। **'भानुचन्द्रचरितम्'** से सम्राट् अकबर और उनके प्रमुख दरबारीजनो के चरित्र पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश पडता है। **बनारसी दास जी** महाकवि के 'अर्धकथानक' के द्वारा अकबर तथा जहाँगीरकालीन देश की परिस्थिति पर प्रकाश पडता है तथा यह भी विदित है कि मुस्लिम नरेशो के प्रति प्रजाजन का कितना गाढ अनुराग रहता था।

काशी गवर्नमेन्ट सस्कृत कॉलेज के प्रिसिपल **डा॰ मगलदेव** ने 'जैन विद्वांस: सस्कृतसाहित्य च' नामक सस्कृत भाषा मे लिखे गए विचारपूर्ण सुन्दर निबन्ध मे 'अमरकोष' नामक प्रख्यात सस्कृत कोष को जैन रचना स्वीकार की है। उन्होने आत्मानुशासन, धर्मशर्माभ्युदय, सुभाषित रत्नसदोह, क्षत्रचूडामणि, विदग्धमुखमण्डन, यशस्तिलकचम्पू, जीवन्धरचम्पू

आदि को शब्दसौन्दर्य, रचनाचातुर्य, अर्थगभीरता के कारण विद्वानो के लिए सम्माननीय बताया है। अलकार शास्त्र के रूप मे अलकार चितामणि को भी महत्त्वपूर्ण कहा है।

व्याकरण के क्षेत्र मे जैनेन्द्र, शाकटायन, शब्दार्णव, कौमार, त्रिविक्रम, चिन्तामणि प्रभृति उपलब्ध भाष्यो एव मूल ग्रन्थो की गणना करने पर जैन व्याकरण के लगभग तीस ग्रन्थ पाए जाते है।

पाणिनी की अष्टाध्यायी मे शाकटायन जैनाचार्य का उल्लेख आता है। आचार्य शाकटायन का जैन व्याकरण अभी जैन विद्यालयो मे पढाया जाता है। पडित रामनाथ पाठक साहित्य-व्याकरणाचार्य पाणिनी का शाकटायन के मत को व्यक्त करने वाला 'व्योर्लघु-प्रयत्नतर· शाकटायनस्य 8/3/30' सूत्र देते हुए लिखा है—पाणिनी पर विशेष आभार है श्री शाकटायनाचार्य का जिनके मतो को अधिकाश रूप मे उन्होने अपनाया है। उदाहरणार्थ श्री शाकटायनाचार्य के 'आद्विषो झेर्जुस् वा' का ही विषयानुवाद पाणिनि के 'लङ् शाकटायनस्यैव' सूत्र के द्वारा किया गया प्रतीत होता है। इसी प्रकार कही-कही विषयानुवाद के रूप मे तथा कही-कही उनके अविकल रूप को ही अपनाने मे महर्षि ने सकोच नही किया है। यही कारण है कि शाकटायनाचार्य के व्याकरण की पूर्णतया पर सूक्षवर्माचार्य को इतना अधिक विश्वास था, कि उन्होने उस विश्वास को अभिव्यक्त करने के लिए निम्नलिखित श्लोक लिखते समय अतिशयोक्ति अलकार की ओर ध्यान नही दिया –

इद्रचद्रादिभि शाब्दैर्यदुक्त शब्द लक्षणम्।
तदिहास्ति समस्त च यन्ने हास्ति न तत्क्वकचित्।।

सचमुच महामुनि शाकटायनाचार्य बहुत बडे वैयाकरण हो गये है। उनका बनाया हुआ शब्दानुशासन ग्रन्थ जैन व्याकरण का पारिजात है, उसके सूत्र-पाठ, धातुपाठ, गणपाठ, लिगानुशासन और उगादि पाठ ऐसे पाचो ही पाठ बडे महत्वपूर्ण है। पाणिनि ने इनके उणादिपाठ को तो उसी रूप मे अपना लिया है। पतजलि महाराज ने भी 'उणादि बहुलम्' सूत्र की भाष्य रचना करते समय शाकटायन का नाम लेकर कृतज्ञता प्रकट

की है। इसके अतिरिक्त ऋग्वेद ओर यजुर्वेद के प्रति शाख्य मे तथा यास्काचार्य के निरुक्त मे भी इन्ही शाकटायनाचार्य का नाम मिलता है। इस प्रकार हम देखते है कि पाणिनि की अपेक्षा वैयाकरण के नाते महामुनि शाकटायनाचार्य को वस्तुतः अधिक गौरव प्राप्त है।

श्री शाकटायनाचार्य भी जैन ही थे। अत· इनका बनाया व्याकरण भी जैन-व्याकरण ही है। शाकटायन के समान जैनेन्द्र व्याकरण की प्रसिद्धि है।

इन्द्रश्चन्द्र. काश-कृत्स्ना-विशली-शाकटायना.।
पाणिन्यमर-जैनेन्द्रा. जयन्त्यष्टादिशाब्दिका·॥

यह पद्य कविकल्यद्रुम के धातुपाठ मे वोयदेव ने लिखा है।

व्याकरणाचार्यपाठकजी ने लिखा है, "श्री शाकटायन के शब्दानुशासन मे जैसे पाणिनी के चौदह सूत्रो की जगह तेरह ही सूत्र पढे गए है, उसी प्रकार जैनेन्द व्याकरण मे भी "अर्धमात्रा लाघवेन पुत्रोत्सवमन्यन्ते वैयाकरणा·" प्राय· सर्वज्ञ पुत्रोस्तव मनाया गया है। महा शाकटायन के सूत्रो का लाघव देखिए –

"अइउण्।1। ऋक्ए ओङ्।3। ऐ औच्।4। हयवरलज्।5। ञमङणनम्।6। जबगडदश्।7। अभघढधष्।8। खफछठथट्।9। चटवत्।10। कपय्।11। शषसअअ । कपर्।12। हल्।13।"

ये हुए पाणिनि के चौदह सूत्रो की जगह शाकटायन के तेरह सूत्र। किन्तु उन सूत्रो की कल्पना मे वह विशेषता नही, जो 'ऋ ऌ क्' की जगह 'ऋक्' विधान मे निहित है। निश्चय ही महामुनि ने 'ऋऌ वर्णयोर्मिथ सावर्ण्य वाच्यम् पर ध्यान देते हुए लाघव की यह दूरदर्शिता प्रदर्शित कर बाजी मार ली है। वस्तुत. पाणिनी के 'ऋ ऌ क्' मे उसे 'आम्नाय समाम्नाय' कहकर 'ऌ' की अधिकता को सन्तोष के साथ स्वीकार करना वैज्ञानिक दुर्बलता के अतिरिक्त और कुछ नही कहा जा सकता।

लाघव का यह स्वरूप जैनेन्द्र व्याकरण मे स्थान-स्थान पर देखने को मिलता है। श्री पाठक ने अनेक सूत्रो को देखकर जैनेन्द्रकार की रचना लाघव बताया है। उदाहरणार्थ

जैनेन्द्र व्याकरण	**पाणिनीय व्याकरण**
(1) लः कर्मणि च भावे चघेः	(1) ल· कर्मणि च भावे कर्मकेम्य·।
(2) पतिः से	(2) पति. समास एव
(3) दिवादे श्य.	(3) दिवादिभ्य श्यन्
(4) सर्वादि सर्वनाम	(4) सर्वादीनि सर्वनामानि
(5) विशेषण विशेष्येवेति	(5) विशेषण विशेष्येणम्बहुलम्
(6) भूवादयो धु	(6) भूवादयो धातव
(7) हलोन्तरा स्फ	(7) हलोन्तरा सयोग , इत्यादि

इस प्रकार सूक्ष्मता ही यदि सूत्र की सिद्ध परिभाषा हो सकती है तो निश्चय ही इस दृष्टि से जैनेन्द्र के सूत्र पाणिनि के सूत्रो की अपेक्षा अधिक वैज्ञानिक है।

पाणिनि की सज्ञाओ की अपेक्षा जैनेन्द्र की सज्ञाओ मे भी विशेषता निहित है।

जैनेन्द्र की सज्ञाए	पाणिनि की सज्ञाए
अग.	आर्धधातुकम्
अप्	चतुर्थी विभक्ति.
इप्	द्वितीया विभक्ति
ईप्	सप्तमी विभक्ति
का	पचमी विभक्ति
कि	सबुद्धि
आ	तृतीया विभक्ति। इत्यादि

इस प्रकार पाणिनी के साथ जैनेन्द्र की सूक्ष्मदृष्टि से तुलना करने पर जैनेन्द्रकार महर्षि पूज्यपाद का शब्दशास्त्र पर अधिकार, सूत्र रचना पाटव, अर्थबहुलता तथा अल्पशब्द प्रयोग आदि बाते समीक्षक के अन्त·करण पर अपना स्थान बनाए बिना नही रह सकती। खेद इतना है,

कि जिस प्रकार पाणिनीय व्याकरण के अध्ययनादि द्वारा उसका प्रचार किया जाता है, उसी प्रकार जैनेन्द्र व्याकरण के प्रति आत्मीयता तथा ममत्व नही हैं। यथार्थ बात यह है कि जैनेन्द्र के सूत्रो मे अनेक शब्दो का लाघव देख **पूज्यपाद** स्वामी की लोकोत्तरता प्रकाशित होती है और कवि की यह उक्ति सार्थक प्रतीत होती है–

"प्रमाणमकलकस्य पूज्यपादस्य लक्षणम्।
धनञ्जयकवेः काव्य रत्नत्रयमपश्चिमम्॥"

यदि असाम्प्रदायिक तथा मार्मिक विचारक भाव से जैन रचनाओ के साथ अन्य कृतियो की तुलना की जाए, तो ज्ञानीजनो को जैनावाङ्मय की यथार्थ महत्ता का बोध हो। जैन रचनाओ का उचित परिशीलन, उन पर आलोचनाओ का निर्माण किया जाना एव शुद्ध अनुवादो का प्रकाश मे आना अत्यन्त आवश्यक है। **कालिदास** का मेघदूत ससार मे विख्यात हो गया है, किन्तु उसकी समस्यापूर्ति करते हुए भगवान् पार्श्वनाथ का जीवन गुम्फित करने वाले भगवत् **जिनसेन** के पार्श्वाभ्युदय का कितने लोगो ने दर्शन किया है? अब तक ऐसी महनीय रचना का हिन्दी अनुवाद अथवा मेघदूत और पार्श्वाभ्युदय का तुलनात्मक अध्ययन सदृश रचनाए प्रकाशित नही हुई। सहृदय मार्मिक विद्वान् **प्रो० के०बी० पाठक**[12] जिस पार्श्वाभ्युदय को मेघदूत की अपेक्षा विशेष कवित्वपूर्ण रचना ससार के समक्ष उद्घोषित करते है, उसके प्रति जैन समाज की उपेक्षा अथवा अन्य लोगो की अनासक्ति इस तथ्य को समझने मे सहायता प्रदान करती है, कि महत्त्वपूर्ण, गभीर तथा आनन्ददायी जैन साहित्य का अप्रचार क्यो हुआ तथा लोक उसकी गरिमा से क्यो अपरिचित रहा और अब भी अपरिचित है? पार्श्वाभ्युदय की महत्ता को प्रकाशित करने वाला यह पद्य प्रत्येक उदार श्रीमान् एव विद्वान् के लक्ष्यगोचर रहना चाहिए–

"श्रीपार्श्वात् साधुत साधुः कमठात् खलत. खल.।
पार्श्वाभ्युदयत. काव्य न च क्वचन दृश्यते॥"

साधुता मे भगवान् पार्श्वनाथ के सदृश अन्य नही दिखता है और दुष्टता करने मे कमठ के समान कोई और नही है। पार्श्वनाथ भगवान्

के अभ्युदय का वर्णन करने वाले पार्श्वाभ्युदय काव्य सदृश रचना अन्यत्र नही है।

महाकवि हरिचन्द्र के **धर्मशर्माभ्युदय** तथा जीवधर चम्पू अपूर्व ग्रथ है। सस्कृतज्ञो के ससार मे वाण की यह सूक्ति सुप्रसिद्ध है कि हरिचन्द्र महाकवि की गद्य रचना श्रेष्ठ है–**'भट्टारहरिचन्दस्य गद्यबन्धो नृपायते।'** महाकवि अर्हद्दास का **पुरुदेवचम्पू** अत्यन्त मनोहारिणी, पाडित्य एव कवित्व पूर्ण रचना है। **मुनिसुव्रतकाव्य** की रचना भी अत्यन्त सुन्दर है। मनोहर एव गभीर अनुभवपूर्ण सुभाषित रत्नो से अलकृत तथा विशुद्ध विचारो का प्रेरक क्षत्रचूडामणिकाव्य का रसास्वाद प्रत्येक सरस्वती भक्त को लेना चाहिए। आचार्य **वादीभसिह** का जीवधरस्वामी के चरित्र का प्रकाशित करने वाला **'गद्यचिन्तामणि'** जैसा अपूर्व, गभीर, कवित्व एव ज्ञानपूर्ण महाकाव्य जिसके अध्ययन गोचर हुआ है, उसे विदित होगा, कि 'कादम्बरी' ही गद्यजगत् की श्रेष्ठ कृति नही है; किन्तु गद्यचिन्तामणि और यशस्तिलकचम्पू नाम की जैन रचनाएँ भी है। इस प्रकाश मे कुछ भक्तो का यह कीर्तन कि 'बाणोच्छिष्टमिद जगत्' अतिशयोक्ति अथवा भक्तिपूर्ण उद्गार माना जाएगा। महाकवि **वीरनदि** का **चद्रप्रभचरित्र** यथार्थ मे सुधाशु के सदृश आनन्द तथा शान्ति प्रदान करता है। कविवर **हस्तिमल्ल** का **मैथिलीकल्याण** तथा **विक्रान्तकौरव** नामक नाटक नाट्य साहित्य मे महत्त्वपूर्ण है। यदि सहृदय साहित्यिक जैन काव्यरचनाओ का मनन तथा परिशीलन करे, तो उसे यह अनुभव होगा, कि जिस प्रकार तत्त्वज्ञान के क्षेत्र मे जैन ऋषियो तथा ज्ञानी जनो ने अपूर्व सामग्री प्रदान की है, उसी प्रकार साहित्य-ससार को भी उनकी देन अनुपम है।

मेघ विजयगणि ने **सप्त सधान** महाकाव्य का निर्माण किया था। उसमे भगवान ऋषभनाथ, शातिनाथ, पार्श्वनाथ, नेमिनाथ, महावीर, कृष्ण तथा बलराम का चरित्र वर्णित है। अकबर ने इनकी विद्वत्ता का सम्मान करते हुए इन्हे 'जगद्गुरु' की उपाधि प्रदान की थी।

जैन विद्वानो ने सस्कृत भाषा तक ही अपनी कल्याणदायिनी रचनाओ को सीमित नही किया, किन्तु अन्य भाषाओ मे भी उनकी रचनाएँ गौरवशालिनी है। प्रत्येक जीवनोपयोगी विषय पर जैन मुनीन्द्रो ने

लोकहितार्थ प्रकाश डालने का सफल प्रयत्न किया है। **प्रोफेसर बूलर** का कथन है कि [13]जैनियो ने व्याकरण, ज्योतिष तथा अन्य ज्ञान के विषयो मे इतनी प्रवीणता प्राप्त की है, कि इस विषय मे उनके शत्रु भी उनका सम्मान करते है।

ज्योतिषाचार्य **डा॰ नेमिचन्द्र जैन** ने लिखा है कि "जैनाचार्यो ने ई॰ स॰ की कई शताब्दियो के पूर्व ही ज्योतिष विषय पर लिखना प्रारम्भ किया था। इनके सूर्य प्रज्ञप्ति, चद्र-प्रज्ञप्ति, ज्योतिष्करण्डक आदि ग्रथ महत्त्वपूर्ण है। इन ग्रथो मे प्रतिपादित सिद्धान्तो पर ग्रीक ज्योतिष का बिल्कुल भी प्रभाव नही है। **श्री श्याम शास्त्री** ने अपनी वेदागज्योतिष की प्रस्तावना मे जैन ज्योतिष की ई॰ पूर्वकालीन महत्ता को स्वीकार करते हुए बताया है कि जैन ज्योतिष ब्राह्मण ग्रथो की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है। सूर्य प्रज्ञप्ति का युग मान वेदाग की अपेक्षा अधिक परिष्कृत है।" आर्यभट्ट से लेकर वराहमिहिर पर्यन्त भारतीय ज्योतिर्वेत्ताओ पर ग्रीक प्रभाव माना जाता है, किन्तु जैन ज्योतिष ग्रीक प्रभाव से मुक्त है। मास गणना, युग गणना, लग्न आदि प्रतिपादन जैन ग्रथो मे पूर्णतया मौलिक है। ग्रीक ज्योतिष मे पचवर्षात्मक युग का भान 1767 दिन माना जाता है, किन्तु सूर्य प्रज्ञप्ति मे 1791 से कुछ अधिक मान आया है। ग्रीक ज्योतिष मे छाया का साधन मध्याह्न की छाया पर से किया गया है, किन्तु सूर्य प्रज्ञप्ति मे पूर्वाह्न कालीन छाया को लेकर ही गणित क्रिया की गई है। सूर्य प्रज्ञप्ति मे मध्याह्न की छाया का नाम पौरुषी दिया गया है। ग्रीक ज्योतिष मे तिथि नक्षत्रादि का मान सौर्य वर्ष प्रणाली के आधार पर निकाला जाता है और पचाग का भी निर्माण आज इसी प्रणाली पर किया जाता है। सूर्य प्रज्ञप्ति मे पचाग का निर्माण नक्षत्र वर्ष के आधार पर किया गया है। सूर्य प्रज्ञप्ति मे समय की शुद्धि नक्षत्र पर से ही ग्रहण की गई है। युगारभ और अयनारभ भी ग्रीक ज्योतिष से भिन्न है। (ब्र॰ प॰ चदावाई अभिनदन ग्रथ पृष्ठ 362-364)। उनके कुछ शास्त्र तो यूरोपीय विज्ञान के लिए अब भी महत्त्वपूर्ण है। जैन साधुओ के द्वारा निर्मित नीव पर तमिल, तेलगू तथा कन्नड साहित्यिक भाषाओ की अवस्थिति है।

प्राकृत विमर्शविचक्षण **रा० ब० नरसिहाचार्य** एम०ए० अपने 'कर्णाटककविचरिते' ग्रन्थ मे लिखते है–'कन्नड-भाषा के आद्य कवि जैन है। अब तक उपलब्ध प्राचीन और उत्कृष्ट रचनाओ का श्रेय जैनियो को है।' कन्नड़ साहित्य के एक मर्मज्ञ विद्वान् लिखते है–"कन्नड भाषा के उच्च कोटि के साठ कवियो मे पचास कवि जैन हुए है। इनमे से चालीस कवियो के समकक्ष कवि इतर सप्रदायो मे उपलब्ध नही होते।" कविरत्नत्रय के नाम से विख्यात जैन रामायणकार महाकवि **पप**, शान्तिनाथ पुराण के रचयिता महाकवि **पुन्न** एव अजितनाथपुराण के रचयिता कविवर **रन्न** जैन ही हुए है। महाकवि पप तो कन्नड प्रान्त मे इतनी अधिक सार्वजनिक वदना को प्राप्त करते है, जितनी कि अन्य भाषाओ के श्रेष्ठ कवियो को भी प्राप्त नही होती। जिनका सम्पर्क कर्नाटक आदि प्रान्तीय साहित्यिको के साथ हुआ हो वे जानते है, कि श्रेष्ठ जैन रचनाकारो के प्रसाद से जैनेतर बन्धु भी जैन तत्त्वज्ञान के गभीर एव महत्त्वपूर्ण तत्त्व से भी परिचित तथा प्रभावित रहते है। अध्यापक श्री **रामास्वामी** आयगर का कथन है[14] कि तमिल साहित्य को जो जैन विद्वानो की देन है, वह तमिल भाषियो के लिए अत्यन्त मूल्यवान् निधि है। तमिल भाषा मे जो सस्कृत भाषा के बहुत से शब्द पाए जाते है, यह कार्य जैनियो द्वारा सम्पन्न किया गया था। उन्होने ग्रहण किए गए सस्कृत भाषा के शब्दो मे ऐसा परिवर्तन किया, कि वे तमिल भाषा की ध्वनिगत नियमो के अनुरूप हो जावे।

कन्नड साहित्य भी जैनियो का अधिक ऋणी है। वास्तविक बात तो यह है, कि वे उस भाषा के जनक है। कन्नड भाषा के विषय मे श्री **राइस** का कथन विशेष उपयोगी है[15]–"12वी सदी के मध्य तक केवल जैन साहित्य ही पाया जाता है, तथा उसके पश्चात् भी बहुत काल तक जैन साहित्य प्रमुख रहा है। उसमे अधिक प्राचीन रचनाएँ एव अत्यन्त उच्च बहुसख्यक ग्रन्थ भी सम्मिलित है।" कवि मगरस ने नेमिजिनेश सगीत काव्य विविध रागरागनियो से अलकृत बनाया है।

जैन साहित्य के महत्त्व को हृदयगम करने वाले एक महान् साहित्यसेवी ने हमसे एक बार कहा था, कि "जैन साहित्य के द्वारा जैनधर्म जीवित रहेगा।" इस साहित्य के प्राण पूर्ण रहने का अन्यतम

कारण यह भी है कि जैनसाहित्य के निर्माण मे तपोवन वासी, शान्त, निराकुल, परम सात्त्विक प्रवृत्ति तथा आहार वाले, उदात्त चरित्र तथा महान् ज्ञानी मुनीन्द्रो का पुण्य जीवन प्रधान कारण रहा है। सात्त्विक जीवनशाली तथा प्रतिभावान् व्यक्तियो की रचना का रस, गभीरता और माधुर्य इतर व्यक्तियो की कृतियो मे कैसे आ सकता है?

जैनधर्म का पुरातन साहित्य अपूर्व वैज्ञानिक सामग्री समन्वित रहा है। सम्राट् चद्रगुप्त मौर्य के गुरु भद्रबाहु श्रुतकेवली के समय तक द्वादशाग श्रुतज्ञान का सद्भाव था। बारहवे अग दृष्टिवाद के पचमभेद चूलिका मे पारद परिवर्तन, रसवाद, धातुवाद का कथन था। आकाशगता चूलिका मे आकाश मे गमन करने मे कारण मत्र, तत्र तथा यत्रो का वर्णन था। अगपण्णत्ति मे लिखा है –

पारद-परिवर्तन रसवाद धातुवादाख्यान च।
या चूलिका कथ्यते नानाजीवाना सुख हेतो ।।8।।
आकाशगता पुन. गगने गमनस्य सुमत्र-तत्र-यत्राणि।
हेतूनिकथयति तपोपि तावत्यपदमात्र सम्बद्धा।।8।। पृष्ठ304

यह विपुल ज्ञानराशि धार्मिक विद्वेषवश कावेरी, तुगभद्रा आदि नदियो मे डुबाई गई। अग्नि मे जलाई गई।

अतकृत दशाग नाम के अष्टम अग मे जिन दस अलकृत केवलियो का वर्णन है, उनमे एक केवली का नाम रामपुत्र था। नवम् अग अनुत्तरोपपादाग मे चिलात-पुत्र नाम के महर्षि का वर्णन है, जिन्होने घोर तपश्चर्या के साथ मरण प्राप्त करके विजयादि अनुत्तर विमान मे सुर पदवी प्राप्त की। इस प्रकार पुरातन भारत के इतिहास के देखने से यह ज्ञात होता है, कि अनेक व्यक्तियो के नाम मे 'पुत्र' शब्द की योजना रहा करती थी।

भगवान् महावीर प्रभु की दिव्य तथा सर्वागीण सत्य को प्रकाश मे लाने वाली दिव्यध्वनि को अर्थत. ग्रहण कर श्रमणोत्तम गौतम गणधर ने आचाराग आदि द्वादश अगो की रचना की, उनका स्वरूप और विस्तार आदि के परिज्ञानार्थ **गोम्मटसार** जीवकाण्ड की 344 से 367 गाथा

पर्यन्त विवेचन का परिशीलन करना चाहिये। उससे प्रमाणित होता है कि जिनेन्द्र की वाणी मे महापुरुषो का पुण्य चरित्र, सदाचरण का मार्ग, दार्शनिक चिन्तना तथा इस जगत् के आकार-प्रकार आदि का अनुयोग चतुष्टय के नाम से अत्यन्त विशद वर्णन किया गया है।

डा॰ जैकोबी ने राजकोट के भाषण मे कहा था "Jainism contains a vast mass of knowledge and that it is worth exploring for all who are interested in the history and culture, both philosophic and religious, of India Jain literature is of great importance for our knowledge of the ancient literature of India "

यहाँ यह शका सहज उत्पन्न होती है, कि साधक के लिए उपयोगी आत्मनिर्मलताप्रद आध्यात्मिक साहित्य का निर्माण आवश्यक था। अन्य विषयो का विवेचन जैन महर्षियो ने किस लिए किया? इसका समाधान यह है कि मनुष्य का मन चचल बन्दर के समान है, जिसे कर्मरूपी बिच्छू ने डँस लिया है और जिसने मोहरूपी तीव्र मदिरा का पान किया है। वह अधिक समय तब आध्यात्मिक जगत् मे विचरण करने मे असमर्थ है; अत॰ वह अमार्ग मे स्वच्छद विहार कर अनर्थ उत्पन्न न करे, इस पवित्र उद्देश्य से अन्य भी विषयो का प्रतिपादन किया गया, जिन मे चित्त लगा रहे और साधक राग द्वेष से अपनी मनोवृत्ति को बचावे। जैनशासन के ग्रथो का अन्तिम लक्ष्य अथवा ध्येय आत्मनिर्मलता तथा विषय-विरक्ति है, इसलिए साहित्य की रचनाओ मे लोकरुचि का लक्ष्य करते हुए उसमे आकर्षणनिमित्त श्रृगारादि रसो का भी यथास्थान उचित उपयोग किया गया है, किन्तु वहाँ उस श्रृगार तथा भाग को जीवन के लिए असार सामग्री बता आत्मज्योति के प्रकाश मे स्वरूपोपलब्धि की ओर प्रेरणा की गई है, ऐसी स्थिति मे वहाँ श्रृगारादि रसो की मुख्यता नही रहती है। **भदन्त गुणभद्र स्वामी** ने आत्मानुशासन मे एक सुन्दर शिक्षा दी है[16]–"बुद्धिशाली व्यक्ति को उचित है कि अपने मनरूपी बन्दर को श्रुतस्कन्ध द्वादशागरूप महान् वृक्ष मे रमावे।" गणित, ज्योतिष आदि विषयो मे चित्त लगने पर मन की चचलता दूर होती है। वह शान्त एव निरुपद्रव हो जाता है। नवमी सदी मे रचित **महावीराचार्य** के **गणितसार-सग्रह** मे जैन दृष्टि से गणितशास्त्र पर मार्मिक प्रकाश डाला

गया है। गणित ग्रन्थ के विशेषज्ञ **प्रो॰ दत्त** महाशय ने इस गणित ग्रन्थ के विषय में लिखा है[17]–त्रिभुज (Rational triangle) के विषय मे विशेष बातो को प्रकाश मे लाने का श्रेय यथार्थ मे महावीर आचार्य को है। आधुनिक इतिहासवेत्ता भूल से यह श्रेय उक्त आचार्य के पश्चाद्वर्ती लेखको को देते है। दर्शन और न्याय के क्षेत्र मे समन्तभद्र, सिद्धसेन, अकलक, हरिभद्र, विद्यानन्दि, माणिक्यनन्दि, प्रभाचन्द्र, अनन्तवीर्य, अभयदेव, वादिदेव, हेमचन्द्र, मल्लिषेण, यशोविजय आदि की रचनाएँ इतनी महत्त्वपूर्ण हैं, कि उनका सम्यक् परिशीलन अध्येता को जैनशासन की ओर आकर्षित किए बिना नही रहता। स्वामी **समन्तभद्र** की रचनाएँ अपनी लोकोत्तरता तथा असाधारणता के लिए विख्यात है। उनका देवागमस्त्रोत्र विश्व के समस्त चिन्तको के लिए चिन्तामणि के समान है। **विद्यानन्दि** सदृश अनेक चिन्तको ने उस स्त्रोत्र के अनुशीलन के फलस्वरूप जैनशासन को स्वीकार किया। उस 114 श्लोक प्रमाणस्तोत्रपर तार्किक तपस्वी अकलकदेव ने अष्टशती टीका आठ सौ श्लोक प्रमाण बनाई। उस पर आचार्य विद्यानन्दि ने आठ हजार श्लोक प्रमाण अष्टसहस्त्री नाम की विश्वातिशायिनी टीका बनाई। इस रचना के विषय मे स्वय **ग्रन्थकार** ने लिखा है–

> **"श्रोतव्याष्टसहस्त्री श्रुतैः किमन्यैः सहस्त्रसख्यानै·।**
> **विज्ञायते ययैव स्वसमय-परसमयसद्भाव·॥"**

'यथार्थ मे सुनने योग्य शास्त्र तो अष्टसहस्री है। उसे सुनने के अनन्तर हजारो शास्त्रो के श्रवण मे क्या सार है? इस एक ग्रन्थ के द्वारा ही स्वसमय–अपने सिद्धान्त तथा पर समय–अन्य सिद्धान्तो का अवबोध होता है।'

भगवद्गीता की आज के युग मे सुन्दर एव तात्त्विक निरुपण के कारण बहुत प्रशसा सुनने मे आती है, इसी दृष्टि से यदि हम देवागमस्तोत्र पर विचार करे, तो निष्पक्ष भाव से हमे बहिनगीता के समान विशेष गौरव ज्येष्ठ बन्धु देवागमस्तोत्र को प्रदान करना न्याय होगा, कारण उसमे विविध दार्शनिक भ्रान्त धारणाओ की दुर्बलताओ को प्रकट करते हुए समन्वय का असाधारण और अपूर्व मार्ग उपस्थित किया गया

है। जैन आचार्य परम्परा मे समन्तभद्र स्वामी के पाण्डित्य पर बडी श्रद्धा तथा सम्मान की भावना व्यक्त की गई है। आचार्य **वीरनन्दि** कहते है–

> **"गुणान्विता निर्मलवृत्तमौक्तिका नरोत्तमै. कण्ठविभूषणीकृता।**
> **न हारयष्टिः परमेव दुर्लभा समन्तभद्रादिभवा च भारती॥"**

गुणान्वित–डोरायुक्त, निर्मल एव गोल मुक्ताफल सयुक्त, पुण्यात्माओ के द्वारा कण्ठ मे धारण की गई हारयष्टि ही दुर्लभ नही है, किन्तु समन्तभद्रादि आचार्यो की वाणी भी दुर्लभ है, कारण वह भी गुणान्वित–ओज, माधुर्य आदि गुण सम्पन्न है, वह भी निर्मलचरित्र मुक्तात्माओ के वर्णन से युक्त है, महान् मुनीन्द्रो आदि ने उस सरस वाणी से अपने कण्ठ को अलकृत किया है। इसी प्रकार तमिल रचनाओ मे **नीलकेशी** नाम का महान् विचारपूर्ण तथा दार्शनिक गुत्थियो को सुलझाकर अहिसा तत्त्व ज्ञान की प्रतिष्ठा स्थापित करने वाला काव्य **समयदिवाकर वामन मुनि** की टीका सहित राव बहादुर प्रोफेसर श्री ए॰ चक्रवर्ती एम॰ ए॰ मद्रास के द्वारा प्रकाश मे आया है। उसमे भी तुलनात्मक पद्धति से सत्य की उपलब्धि का सुन्दर प्रयत्न किया गया है। श्री चक्रवर्ती की 320 पेज की भूमिका अग्रेजी मे छपी है। इससे तमिल से अपरिचित व्यक्ति भी उसका रसास्वादन कर सकते है। जीवक–चिन्तामणि, त्रिषष्ठिचरित्र, नन्नूल कनडी की उज्ज्वल जैन रचनाएँ मद्रास विश्व विद्यालय ने बी ए, एम ए के पाठ्यक्रम मे रखी है।

जैन ग्रन्थकारो ने भाषा को भाव प्रकाशन करने का साधन मात्र माना। इस कारण इन्होने सस्कृत को ही देववाणी–विद्वानो की भाषा–समझ अन्य भाषाओ के प्रति उपेक्षा नही की, प्रत्युत हर एक सजीव भाषा के माध्यम से वीतराग जिनन्द्रदेव की पवित्र देशना का जगत् मे प्रसार किया। वैदिक पण्डितं सस्कृत के सौन्दर्य पर ही मुग्ध थे, किन्तु जैनियो ने पुरातन युग मे प्राकृत नामक जनता की भाषा को अपने उपदेश का अवलम्बन बना अत्यन्त पुष्ट, प्रसन्न तथा गभीर रचनाओ द्वारा उसके भण्डार को अलकृत किया।

ईसा से छह शताब्दी पूर्व **गौतम गणधर** ने प्रतिक्रमण ग्रथत्रयी की प्राकृत मे रचना की थी। उस पर तार्किक आचार्य प्रभाचद्र की सस्कृत

टीका मुद्रित हो चुकी है। ईसवी के प्रारभ काल मे पुष्पदन्त, भूतबलि, गुणधर, कुन्दकुन्द, यतिवृषभ आदि मुनीन्द्रो ने अपनी महत्त्वपूर्ण रचनाओ के द्वारा प्राकृतभाषा के मस्तक को अत्यन्त समुन्नत किया है। **पुष्पदन्त भूतबलि** कृत षट्खडागम की 46000 श्लोक प्रमाण प्राकृत भाषा मे सूत्र रचना के प्रमेय की अपूर्वता विश्व को चकित करने वाली है। लगभग 6 हजार श्लोक प्रमाण प्राकृत सूत्रो पर **वीरसेनाचार्य** ने बहत्तर हजार श्लोक प्रमाण **धवला** टीका नाम का सर्वांग सुन्दर भाष्य रचा। **भूतबलि** स्वामी का 40 हजार श्लोक प्रमाण[18] महाबन्ध ग्रथ विश्व साहित्य की अनुपम निधि है। **गुणधर** आचार्य ने 233 गाथाओ मे **कषायप्राभृत** बनाया, जिसकी टीका जयधवला 60 हजार श्लोक प्रमाण **वीरसेन** स्वामी तथा उनके शिष्य **भगवज्जिनसेन** ने की है। **कुन्दकुन्द** मुनीन्द्र ने अध्यात्म नामक परा-विद्या के अमृतरस से आपूर्ण अनुपम ग्रन्थराज **समयसार** की रचना की। उसके आनन्द-निर्झर के प्रभाव से जगत् का परिताप सतप्त नही करता। उनकी यह शिक्षा प्रत्येक साधक के लिए श्वासोच्छ्वास की पवन से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है और प्रत्येक सत्पुरुष को उसे सदा हृदय मे समुपस्थित रखना चाहिए, "मेरी आत्मा एक है। अविनाशी है। ज्ञान-दर्शन-शक्तिसम्पन्न है। मेरी आत्मा को छोडकर शेष सब बाहरी वस्तुए है। यथार्थ मे वे मेरी नही है। उनका मेरी आत्मा के साथ सयोग सम्बन्ध हो गया है।" मेरी आत्मा जब विनाश-रहित है, तब वज्रपात भी उसका कुछ बिगाड नही कर सकता है। शरीर के नाश होने से मेरी आत्मा का कुछ भी नही बिगडता है। कारण, शरीर मेरी आत्मा से पृथक् है। मेरी आत्मा तो एक है, एक थी, और यथार्थत एक ही रहेगी। जिसकी इस सिद्धान्त पर श्रद्धा जम चुकी है वह न मृत्यु से डरता है, न विपत्ति से घबडाता है और न भोगविषयो से व्यामुग्ध ही बनता है। वह साधक एक यही तत्त्व अपने हृदय पटल पर उत्कीर्ण करता है–

"एगो मे सासदो आदा णाणदसणलक्खणो।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे सजोगलक्खणा॥"

[19]प्राकृत भाषा के पश्चात् उद्भूत होने वाली विभिन्न प्रातीय भाषाओ की मध्यवर्तिनी अपभ्रश नाम की भाषा मे भी जैन कवियो ने

स्तुत्य कार्य किया है। अब तक इस भाषा मे लिखे गए उपलब्ध बहुमूल्य ग्रन्थो मे जैन रचनाओ की ही विपुलता है। यह भाषा श्रुतिधर मालूम होती है। इसके विषय मे यह कथन यथार्थ है–**"देसिल वअना सब जन मिट्ठा"**।

इस भाषा मे **पुष्पदन्त** महाकवि का **महापुराण** अत्यन्त कीर्तिमान् है। ये पुष्पदन्त षट्खडागम के रचयिता पुष्पदन्त स्वामी से भिन्न है। ये नवमी सदी मे हुए है, इनके पिता-माता पहले शिवभक्त ब्राह्मण थे पश्चात् उन्होने जैन धर्म स्वीकार किया था। अपने माता-पिता के द्वारा जैन धर्म को अगीकार करने पर पुष्पदन्त ने भी जैनशासन को स्वीकार किया होगा, ऐसा प्रतीत होता है। इनकी रचना मे शब्द, अर्थ, रसप्रवाह आदि की दृष्टि से अपूर्व सौन्दर्य है। महाकवि के महापुराण मे 122 सधियाँ है। श्लोक सख्या लगभग 20 हजार है। यदि राष्ट्र भाषा मे इसका अनुवाद मूल सहित प्रकाशित किया जाए तो साहित्यरसिको को महान् आनद प्राप्त होगा। कवि के णायकुमारचरिउ और जसहरचरिउ भी प्रख्यात ग्रथ है। रइधू कवि की दशलक्षण पूजा प्रसिद्ध है, वह बहुत रसपूर्ण है। इनकी 25 रचनाएँ मिलती है इन्होने हरिवशपुराण, रामपुराण, सिद्धचक्रचरित्र, सम्मत्त-गुणनिधान आदि लगभग चौबीस ग्रथ पुराण, सिद्धान्त, अध्यात्म तथा छन्द शास्त्र आदि सोलहवी सदी मे बनाये थे। **कनकामर मुनि** रचित करकण्डुचरित्र भी एक सुन्दर रचना है। उसमे करकण्डुनरेश का आकर्षक चरित्र दिया है। यदि अपभ्रश साहित्य का गहरा अध्ययन किया जाए तो भारतीय इतिहास और साहित्य के लिए बहुमूल्य और अपूर्व सामग्री प्राप्त हुए बिना न रहेगी, अपभ्रश भाषा मे सातवी शताब्दी से 17वी सदी पर्यन्त का महत्त्वपूर्ण जैन साहित्य उपलब्ध होता है। अपभ्रश का सर्वप्रथम उल्लेख पातजलि के महाभाष्य मे मिलता है। वह ईसवी सन् से दो सदी पूर्व की रचना कही जाती है। जैन कवि विमलसूरि के पउमचरिउ मे भी अपभ्रश का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। यह अपभ्रश भाषा हिन्दी की जननी सदृश है। सिधी, पजाबी, गुजराती, मराठी, उडिया, बगला और असमिया भाषा भी अपभ्रश से प्रसूत है। **श्री राहुल** का कथन है कि अपभ्रश के प्रथम महाकवि बनने का श्रेय स्वयम्भू को मिलता है। अपभ्रश भाषा आजकल के तमिलनाडु और

उसके पास की कुछ भूमि को छोडकर सारे भारत की शिष्ट भाषा थी। स्वयम्भू तेलुगु तथा कन्नड भाषाओ की भूमि मे रहते थे। अपभ्रंश कविता उत्तर मे ही नही बल्कि दक्षिण मे तुगभद्रा के किनारे भी समादर प्राप्त थी। स्वयम्भू के पउमचरिउ (पद्मचरित्र), रिट्ठणेमिचरिउ (अरिष्टनेमिचरित्र) तथा स्वयभूछन्द, ये तीन ग्रन्थ अपूर्व है। स्वयम्भू के पुत्र त्रिभुवन स्वयम्भू ने उनके रामायण की 83वी सन्धि से आगे सात संधियाँ लिखकर उसमे जोडी थी। स्वयम्भू रामायण की सबसे पुरानी प्रति 1551, जेठ सुदी 10, बुधवार को गोपाचल (ग्वालियर) मे लिखकर समाप्त की गई थी। यह प्रति तुलसीदास जी के 1623 ई॰ मे देहान्त से 59 वर्ष पहिले लिखी गई थी। **राहुल जी** के मत से "तुलसी की तरह ही स्वयम्भू अति महान् कवि थे। सस्कृत काव्य जगत मे जो स्थान कालिदास का है, हिन्दी मे तुलसी जिस स्थान पर हैं, अपभ्रंश के सारे काल मे स्वयम्भू वही स्थान रखते है। स्वयम्भू अब हमारे अमर कवि है। **राहुल जी** ने स्वयम्भू कवि रचित पउमचरिउ का गभीरतापूर्वक मनन किया, तो उन्हे यह प्रतिभास हुआ, कि रामचरितमानस के निर्माता विख्यात हिन्दी कवि तुलसीदास जी की रचना पर पउमचरिउ का गहरा प्रभाव है। यह बात श्री राहुल जी ने सन् 1945 की सरस्वती मे प्रकट की है। इसी प्रकार न जाने कितनी अधकार मे पडी हुई बाते प्रकाश मे आवेगी और कितनी भ्रान्त धारणाओ का परिमार्जन न होगा? हिन्दी भाषा मे भी बनारसीदास, भैया भगवतीदास, भूधरदास, द्यानतराय, दौलतराम, जयचन्द, टोडरमल, सदासुख और भागचन्द आदि विद्वानो ने बहुमूल्य[20] रचनाएँ की है, जिनसे साधक को विशेष प्रकाश और स्फूर्ति प्राप्त हुए बिना न रहेगी।

हजारो अपूर्व अपरिचित ग्रथो के विषय मे परिज्ञान कराना एक छोटे से लेख के लिए असभव है। अत हमने सक्षेप मे उस विशाल जैनवाड्मय रूप समुद्र की इस संक्षिप्त लेख रूप वातायन द्वारा अत्यन्त स्थूलरूप से एक झलकमात्र दिखाना उचित समझा जिससे विशेष जिज्ञासा का उदय हो।

अब हम कुछ अवतरणो द्वारा इस बात पर प्रकाश डालेगे कि, जैन रचनाओ में कितनी अनुपम, सरस, शान्त तथा स्फूर्तिपूर्ण सामग्री विद्यमान है।

अमृतचन्द्र सूरि अपने आध्यात्मिक ग्रथ नाटक समयसार मे लिखते है–[21] 'जब तात्त्विक दृष्टि उदित होती है, तब यह बात प्रकाशित होती है कि आत्मा का स्वरूप परभाव से भिन्न है, वह परिपूर्ण है, उसका न आरम्भ है और न अवसान है। वह अद्वितीय है, सकल्प-विकल्प के प्रपच से वह रहित है।'

आत्मा अमर है, इस विषय मे **अमृतचन्द्र सूरि** का कितना हृदयग्राही स्पष्टीकरण है? वे कहते है–[22]'प्राणो के नाश का ही तो नाम मृत्यु है। इस आत्मा का प्राण ज्ञान है, जो अविनाशी रहने के कारण कभी भी विनष्ट नही होता। इस कारण आत्मा का भी कभी मरण नही होता। अतः ज्ञानी जन को किस बात का डर होगा? वह निर्भयतापूर्वक स्वय सदा स्वाभाविक ज्ञान को प्राप्त करता है।

पूज्यपाद स्वामी द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से कितनी उज्ज्वल तथा गभीर बात कहते है–[23]'जो परमात्मा है, वही मै हू, (आत्मपना दोनो मे ही विद्यमान है) जो मै हू, वही परमात्मा है। ऐसी स्थिति मे मुझे अपनी आत्मा की ही आराधना करना उचित है, अन्य की नही।'

बुधजन जी लिखते है–

"मुझमे तुझमे भेद यो, और भेद कछु नाहि।
तुम तन तज परब्रह्म भए, हम दुखियातन माहि॥"–सतसई।

आत्मतत्त्व का साक्षात्कार किस अवस्था मे होता है, इस पर स्वामी **पूज्यपाद** कहते है–[24]जब अन्तःकरण-जल राग-द्वेष, मोहादि की लहरो से चचल नही रहता है। तब साधक आत्मतत्त्व का साक्षात्कार करता है। अन्य लोग उस तत्त्व को नही जानते है।

उनका यह भी कथन है कि–[25]इस 'शरीर मे आत्म-दृष्टि या आत्म-चितना के कारण यह जीव शरीरान्तर धारण करने के कारण को प्राप्त करता है। विदेहत्व की उपलब्धि-शरीर रहित अपने आत्म-स्वरूप की प्राप्ति-का बीज है आत्मा मे ही आत्मभावना धारण करना। ज्ञानाकुश मे कहा है, "शरीर चैत्यालय है तथा आत्मा चैत्य अर्थात् मूर्ति है। उस

आत्मा की आराधना चैत्यभक्ति है। वह अक्षय है तथा ससार विमुक्त है।"[26]

इष्टोपदेश मे कहा है–'[27]तत्त्व का निष्कर्ष है-जीव पृथक् है और पुद्गल भी पृथक् है। इसके सिवाय जो कुछ भी कहा जाता है, वह इसका ही स्पष्टीकरण है।" जीव और शरीर का भेद विज्ञान सम्यग्दर्शन है। आत्मा को जड शरीर से पृथक् कर लेना सम्यक् चरित्र और तप साधना पर निर्भर है। आचार निरपेक्ष विचार मात्र से इष्ट सिद्धि नही होती है।

इस कारण आत्मज्ञानी ऋषि कहते है–[28]"जिस उपाय से यह जीव अविद्यामय अवस्था का परित्याग कर विद्यामय-ज्ञानज्योतिमय स्थिति को प्राप्त कर सके, उसकी ही चर्चा करो, दूसरो से उसके विषय मे पूछो, उसकी ही कामना करो। इतना ही क्यो इसी विषय मे निमग्न भी हो जाओ।"

अध्यात्म रहस्य मे **प. आशाधर जी** ने रत्नत्रय स्वरूप-सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्रात्मक को ही मुमुक्षुओ के द्वारा पृच्छनीय, अभिलाषा योग्य तथा दर्शनीय कहा है। यह रत्नत्रय स्वरूप आत्मा ही निर्वाण का मार्ग है.–

रत्नत्रयात्म-स्वात्मैव मोक्षमार्गोऽञ्जसास्ति तत्।
स पृष्टव्यः स एष्टव्य. स द्रष्टव्यो मुमुक्षुभि.॥14॥

आत्म स्वातत्र्य के आकाक्षी को इस सत्य को भी दृष्टिपथ मे रखना चाहिए कि वर्तमान अवस्था मे वह मुक्त नही है। उसमे मोक्ष जाने की शक्ति है। उसे कर्मो के आस्रव बध को रोकते हुए सवर और निर्जरा का सहयोग प्राप्त करना होगा। आत्मा का सबसे भयकर शत्रु मोहनीय कर्म है। तत्त्वानुशासन मे **आचार्य रामसेन** कहते है :–

बध के कारणों मे मोहकर्म चक्रवर्ती कहा गया है। इस मोह चक्रवर्ती के सचिव रूप मे मिथ्या ज्ञान ने आश्रय किया है।[29]

मोह के होने पर ममकार और अहकार रूप विकारी परिणाम उत्पन्न होते है इस सत्य को कवि की भाषा मे आचार्य कहते है–

उस मोह के 'ममकार' और 'अहकार' नाम के दो पुत्र सेनापति रूप है; जिसके कारण मोह का चक्र अत्यन्त अभेद्य बना हुआ है।[30]

मोह को जीतने की बात तो सारा ससार कहता है, किंतु वह मोह के बधन को ही सदा मजबूत बनाता है। आत्मा का ध्यान मोह के क्षय का प्रमुख कारण है। आत्म ध्यान का उपाय क्या है, इस विषय मे तत्त्वानुशासन के ये शब्द अत्यन्त मार्मिक और महत्त्वास्पद है –

[31]परिग्रह का त्याग, कषायो का निग्रह, अहिसादि व्रतो का धारण, मन तथा इंद्रियो को जीतना ध्यान की उत्पत्ति मे सहायक सामग्री है।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है, कि जो व्रताचरण से डरते है, परिग्रहादि के सग्रह मे लगे हुए है, क्रोधादि कषायो के भण्डार है तथा इंद्रियो के दास बनकर मन के दासानुदास सदृश चेष्टा करते है, वे आत्मा का ध्यान नही कर सकते है। ऐसे भी व्यक्ति है, जो अध्यात्मवेत्तापने के अहकारी बन उपरोक्त साधनो के विरुद्ध प्रलाप करते है, वे यथार्थ मे करुणा के पात्र है, क्योंकि उनका प्रलाप वास्तव मे मोहोदय जनित है। उन्हे अपने स्वरूप का भी पता नही है। मोहनीय कर्म के तीव्र उदय मे जीव की विचित्र स्थिति होती है। वे मोह के गुलाम है।

राजचद्रभाई का यह कथन यथार्थ है, "वर्तमान दुषम काल है। मनुष्य का मन भी दुषम देखने मे आता है प्राय: करके परमार्थ से शुष्क अत:करण वाले परमार्थ का दिखावा करके स्वेच्छा से आचरण करते है।" (श्रीमद् राजचद्रग्रथ पृष्ठ 800)।

जिनागम का स्वाध्याय भी आत्मशुद्धि का महत्त्वपूर्ण स्थान है। ध्यान मे स्वाध्याय सहायक है और ध्यान से स्वाध्याय मे अपूर्व रस आता है। शास्त्र यद्यपि अचेतन है, किंतु उनके निमित्त से जीव श्रेयोमार्ग मे लग जाता है। 'अभीक्ष्ण ज्ञानापयोग' के द्वारा तीर्थकर का पद प्राप्त होता है। मुनि को 'ज्ञान-ध्यान-तपोरक्त:' कहा है। ध्यान के पोषक ज्ञान और तप

है; इसी से समतभद्र स्वामी ने ध्यान को ज्ञान और तप के मध्य मे स्थान दिया है। तत्वानुशासन का कथन अगीकार करने योग्य है :–

[32]स्वाध्याय के द्वारा ध्यान का अभ्यास करे तथा ध्यान से स्वाध्याय को चरितार्थ करे। ध्यान और स्वाध्याय रूपी सपत्ति के द्वारा परमात्मा प्रकाशित होता है।'' इससे यह स्पष्ट हो जाता है, कि परमात्मा बनने के लिए सयम स्वाध्याय तथा ध्यान का आश्रय अगीकार करना आवश्यक है। चारित्रचक्रवर्ती 108 आचार्य शान्तिसागर महाराज ने सन् 1851 मे अपनी हीरक जयती के अवसर पर दिये गए मार्मिक उपदेश मे कहा था कि "अब सूर्य के समान केवली भगवान् सर्वज्ञ केवली का इस क्षेत्र मे अभाव है। दीपक के समान उनकी वाणी विद्यमान है जो साक्षात् भगवान् सदृश है। उस वाणी का श्रद्धापूर्वक मनन करना चाहिए। ससार की व्याधि दूर करने के लिए जिनवाणी महान् औषधि है। औषधि लेने वाले को अपथ्य छोडना चाहिए। हिसादि पाचो पाप अपथ्य है और उनका त्याग पथ्य है। स्वाध्याय द्वारा जिनवाणी रूप अमृतरस का पान करने वाला और अपथ्य से बचने वाला जीव सच्चे कल्याण को प्राप्त करेगा।" 'अह ब्रह्म' या 'सोह' कहने मात्र से यह ससारी मोहजनित मूर्छा से मुक्त नही हो सकता है। इस मोह के पाश से छूटने के लिए महा पुरुषार्थ आवश्यक है। विषयासक्त प्रमादी मोह का पक्का चेला है। मोह विजय के उद्योगी को ये चार बाते स्मरण रखना चाहिए :–

[33]गुरु का उपदेश, तत्त्व श्रद्धान, निरन्तर अभ्यास तथा मन की स्थिरता ये चार बाते ध्यान की सिद्धि मे मुख्य हेतु है।

जैनागम का कथन स्याद्वाद दृष्टि समन्वित है; क्योंकि एकान्तवाद के द्वारा अविद्या का अन्धकार दूर नही होता है। गुरु, शास्त्र, तीर्थ, मंदिर तथा ब्राह्य सामग्री के निमित्त से जीव का कल्याण होता है, यह व्यवहार नय का कथन है। स्वाश्रयी निश्यच नय बाह्य सामग्री को गौणकर आत्मा के उद्धार का उपाय आत्मा को ही माना है। वृन्दावन जी कहते है :–

दोउ नय जिनमत विषै नय निश्चय-व्योहार।
तिन बिन लहे न हस यह शिव सरवर की पार॥

प्राथमिक अवस्था मे व्यवहार नय के द्वारा साधक शक्ति का सचय करता हुआ निश्चय पथ पर चलने की यथार्थ क्षमता प्राप्त करता है। प्रथम अवस्था मे गुरु का शरण ग्रहण करना आवश्यक है। गुरु ज्ञानाजन को नेत्रो मे आज कर अज्ञानाधकार को दूर करते है। इस पद्य से सभी परिचित है :-

अज्ञान-तिमिराधाना ज्ञानाजन-शलाकया।
चक्षुरुन्मीलित येन तस्मै श्रीगुरवे नमः॥

गुरु के उपदेश को महत्त्व प्रदान करना व्यवहार दृष्टि है। निश्चयाभासी लोग व्यवहार नय के प्रति शत्रुभाव धारण कर उसे कोसते हुए उसको उपेक्षा योग्य मानते है। अनेकातवादी की दृष्टि मे दोनो नयो के द्वारा तत्त्व की उपलब्धि होती है। दोनो बिजली के ऋण-धन विद्युत युक्त तार समान है। दोनो अभेद-अद्वैत तत्त्व को ग्रहण करने वाली निश्चय दृष्टि को न प्राप्त कर जिन्होने व्यवहार नय को तुच्छ जान छोड दिया, वे जीव अनन्त ससार मे भ्रमण करते है। अध्यात्मग्रथो मे निश्चय नय की मुख्यता से वस्तु तत्त्व का निरुपण किया जाता है, उसे पढकर विवेक विहीन व्यक्ति व्यवहार नय को निदनीय मान बैठते है, ऐसा करने से वह गहरे मिथ्यात्व के रोग ग्रस्त बन कुगति की सामग्री सचय करने मे तत्पर हो जाते है। अपना सर्वनाश करते हुए भी ये एकान्ती अपने को प्रगतिशील सोचते है। निश्चय नय कहता है कोई किसी का उपकार नही करता है। कोई गुरु नही है। यही पक्ष पकडकर यदि आचार्य, उपाध्याय तथा साधु परमेष्ठी धर्म की देशना बन्द कर दे, तो कैसी अनर्थ पूर्ण स्थिति हो जायेगी। सत्पुरुष सर्वदा परहित के प्रतिपादन कार्य मे निरत रहते है। सर्वार्थसिद्धि मे निर्ग्रन्थाचार्य वर्य का कार्य पर हित का उपदेश करना बताया है-"परहित प्रतिपादनैक कार्य. निर्ग्रन्था चार्यवर्य।" **वीरसेनाचार्य** ने वेदना खण्ड के आरम्भ मे आचार्य परमेष्ठी को "परिवालिय भविय-जिपलोओ"-"परिपालित-भव्य-जीवलोक:" कहा है। उन्होने कषायप्राभृत की जयधवलाटीका मे कहा है कि गौतम गणधर व्यवहार नय को असत्य न मानकर उसे बहुत जीवो का अनुग्रह करने वाला तथा आश्रयणीय मानते थे। इसी से व्यवहार नय की अपेक्षा

उन्होंने चौबीस अनुप्रयोग द्वार के आरभ मे मगल किया है। "ववहारणचय पडुच्च पुण गोदमसामिणा चदुवीसण्ह-मणुयोगद्दाराणमादीए मगल कद. जो बहुजीवा णुग्गहकारी ववहारणओ सो चेव समस्सिदव्वो त्ति मणेणावहारिय गोदमथेरेण मगल तत्थकय" (जय धवला टीका भाग 1, पृष्ठ 8)। आध्यात्मिको के चूडामणि भगवान गौतम स्वामी ने जब व्यवहार नय को प्रशसनीय कहा है और उसका आश्रय ग्रहण किया है, तब निश्चय नय भासियो का व्यवहार नय की अपेक्षा किया गया प्रतिपादन सर्वथा मिथ्या कहना तत्त्वदृष्टि के पूर्णतया प्रतिकूल है। व्यवहार का एकान्ती जैसे मोक्ष को नही पाता, इसी प्रकार अनेकातदृष्टि के प्रतिकूल अध्यात्मवाद के नाम पर निश्चयाभासी बनना भी निर्वाण प्रद नही है।

व्यवहार नय का आश्रय ले अनिर्वचनीय तत्त्व को वाणी द्वारा वचनीय बना प्रतिपादन कर जीव को कल्याण पथ मे लगाया जाता है, कितु आत्मस्वरूप का विचार करते समय शुद्ध स्वरूप की अपेक्षा जीव को वचनो के अगोचर भी कहा जाता है। स्याद्वाद दृष्टि से आत्मा कथंचित् वाणी के गोचर है और कथंचित् वाणी के अगोचर है।

आत्मा का स्वरूप वाणी के अगोचर है अत. शुद्ध तात्त्विक दृष्टि से कहते है कि आत्मा की उपलब्धि के विषय मे प्रतिपाद्य एव प्रतिपादकपने का अभाव है। आचार्य कहते है–[34]"जो मै अन्यो के द्वारा शिक्षित किया जाता हू, अथवा जो मै दूसरो को उपदेश देता हू। यथार्थ मे यह अज्ञ चेष्टा है, कारण मै विकल्पातीत वचन-अगोचर स्वभाव वाला हू।

पूज्यपाद स्वामी की यह उक्ति बहुत मार्मिक तथा तत्त्वस्पर्शी है–[35]'जो पदार्थ जीव का उपकारी होगा, अर्थात् जिससे आत्मा को पोषण प्राप्त होता है, उससे शरीर की भलाई नही होगी। जिससे शरीर का पोषण या हित होता है, उससे आत्मा का हित नही होगा। कारण दोनो के हितो मे परस्पर विरोधीपना है।'

शरीर और आत्मा के हितो मे विरोधीपना है, यह कथन एकान्तरूप मे नही जानना चाहिए। शरीर की नीरोगता, विशुद्धता, सशक्तता आदि का

भी आत्मा के कल्याण के साथ सबध है। शरीर मे आसक्ति छोड उसे अनात्म रूप से चितवन करते हुए भी उसकी उचित देखभाल गृहस्थ ही नही मुनियो तक के लिए आवश्यक है। शरीर भिन्न है, अत: जीव उस शरीर को आहार नही दे, ऐसी आशका की जा सकती है। मूलाचार मे इस कथन का उत्तर देते हुए आचार्य कहते है –

ण बलाउसाउअट्ठ ण सरीरस्सुवयट्ठ तेजट्ठ।
णाणट्ठ सजमट्ठ ज्झाणट्ठ चेव भुजेज्जो॥ 62, अ॰ 4।

मेरा शरीर बलवान हो, मै अधिक दिन तक जीवित रहू, इस भोजन का स्वाद बढिया है, इस इच्छा से मुनीश्वर आहार ग्रहण नही करते। मेरे शरीर मे मासादि की वृद्धि हो अथवा मेरे शरीर की कान्ति मे वृद्धि हो, इसलिए वे आहार नही लेते। क्योंकि शरीर का पोषण आत्मा का हितसाधक नही है। मुनिराज ज्ञान, सयम तथा ध्यान के हेतु आहार लेते है क्योकि आहार के बिना स्वाध्याय, ध्यान तथा सयम मे मन नही लगता।

महापुराण मे लिखा है कि भगवान ऋषभदेव ने जो छह माह के उपवास के पश्चात् आहार ग्रहण करने के लिए प्रयत्न प्रारम्भ किया था, उसका लक्ष्य सयम की साधना था। शरीर के रहने पर विविध प्रकार के तप, ध्यान आदि आत्मोपयोगी कार्य सम्भव है। हरिवशपुराण मे लिखा है, 'शरीर धर्मसाधन'–शरीर धर्म का साधन है। प्राणो के रक्षण के लिए अन्न भी साधन है। इस तरह धर्म के साधन शरीर के रक्षण हेतु अन्न-ग्रहण आवश्यक है। यद्यपि शरीर पर पदार्थ है, आत्मा से भिन्न है और वह मरने पर जीव का साथ नही देता। हरिवशपुराणकार लिखते हैं :–

पारपर्येणधर्मस्य ततोऽन्नमपिसाधनम्।
प्राणिनामल्पवीर्याणा प्रधानस्थिति कारणम्॥9-139॥

परम्परारूप से अन्न धर्म का साधन है। अल्पशक्ति के धारक प्राणियो की स्थिति प्रधान पुरुषार्थ धर्म मे बनी रहे, इसमे अन्न भी कारण है।

इस विवेचन के प्रकाश मे धर्मात्मा पुरुष का कर्तव्य है कि वह तत्त्वज्ञान के प्रकाश मे शरीर को अनात्म तत्त्व मानते हुए उसे धर्मसाधन का माध्यम मानते हुए उसके प्रति अनासक्ति धारण करते हुए सम्यक् प्रकार से उसका शुद्ध आहार-पान द्वारा सरक्षण करे। एकान्तवादी बनने पर कल्याण नही होगा। एकान्तवादी सक्लेशभाव युक्त हो पाप का प्रचुर मात्रा मे सग्रह करता है।

इस शरीर और आत्मा सबधी आध्यात्मिक सत्य का प्रयोग भारतीय राजनीति के क्षेत्र मे भी ज्योति प्रदान करता था। भारतीय हित और विदेशियो के कल्याण मे परस्पर सघर्ष था। अत: जिन बातो से भारत की भलाई होती थी, उनसे विदेशियो के स्वार्थ का विघात होता था, तथा जिनसे विदेशियो की स्वार्थपुष्टि होती थी, उनसे स्वदेश का अहित होना अवश्यभावी था। **ज्ञानार्णवकार** प्रत्येक आत्मा को अपरिमित शक्ति, आनन्द तथा ज्ञान का अक्षय भण्डार बताते हुए कहते है–

"अनन्तवीर्यविज्ञान-दृगानन्दात्मकोऽप्यहम्।"

आत्मविद्या की उपलब्धि के विषय मे योगीश्वर **पूज्यपाद** का कथन है[36]–'जैसे-जैसे स्वरूप के अवबोध का रस प्राप्त होने लगता है, वैसे-वैसे प्राप्त हुए भी विषय-भोग अच्छे नही लगते।

जिस आत्म ज्योति का दर्शन परम सत्य है और जो विश्व की श्रेष्ठ निधि है, उसके विषय मे अध्यात्म रहस्य मे लिखा है:–

अहमेवाहमित्यन्तर्जल्प-सपृक्त-कल्पनाम्।
त्यक्त्वावाग्गोचर ज्योति स्वय पश्येदनश्वरम्॥19॥

अहम् एव अहम्–अर्थात् मै ही मै हू, इस अन्तर्जल्प के साथ सम्बद्ध कल्पना अर्थात् विकल्प का परित्याग कर वाणी के अगोचर अविनाशी आत्मज्योति का स्वय दर्शन करना चाहिए। 'सोऽह' अर्थात् मैं परमात्मा सदृश हू, इस कल्पना से भी सूक्ष्म अह मे अह अर्थात् आत्मा मे आत्मा की कल्पना है। इस विकल्प से विमुक्त आत्मज्योति है। उसकी उपलब्धि वास्तव मे परम तत्त्व है। उसके अभाव मे सारा ज्ञान

सिन्धु भी अकार्यकारी है। आत्मस्वरूप की उपलब्धि के लिये विशुद्ध भावना को भी जगाना हितकारी है। **आशाधर** जी कहते है–"[37]रागादि अत्यन्त भीषण शत्रुओ की अनुत्पत्ति तथा क्षय के लिए सदा उद्यत होकर शुब्द चिद्रूप अर्थात् विशुद्ध चैतन्य रूप अपनी आत्मा की भावना करनी चाहिए।" इस आत्मभावना का रस आने पर साम्राज्य भी तुच्छ दिखता है। चन्द्रगुप्त मौर्य को जब इस परम सत्य का रस आया तब उन्होने साम्राज्य को छोड दिगम्बर मुनि बनकर श्रुतकेवली भद्रबाहु के पावन चरणो का शरण लिया था। आत्मा का रस लेने वाले आध्यात्मिक भ्रमर केतकी पुष्प सदृश ललाम लगने वाले लालित्यपूर्ण विषयो से विमुख होता है।

आत्मा मे जो अनादि काल से परपदार्थ को अपनाने तथा उसकी प्राप्ति-अप्राप्ति मे रागी-द्वेषी बनने की भयकर बीमारी चली आ रही है उसे दूर करने के लिये क्या सामग्री है? इस विषय मे **आशाधर** जी कहते है कि [38]"मुझमे जो अविद्या है उसे उपेक्षा अर्थात् राग-द्वेष से अतीत निर्मल आत्म-परिणति स्वरूप विद्या के द्वारा निरन्तर काटते हुए मेरी आत्मा मे मेरे स्वरूप की अभिव्यक्ति होती है। वही आत्म स्वरूप की प्रकटता क्रमश· वृद्धिगत हो श्रेष्ठ अवस्था अर्थात् परमात्म दशा को प्राप्त होती है।

उस परमज्योति आत्मस्वरूप के विषय मे इस प्रकार स्पष्टीकरण किया गया है[39], अष्ट पत्र युक्त अधोमुख द्रव्यमनरूप कमल मे योगरूप सूर्य के तेज से विकसित हृदय कमल के भीतर परम ज्योति स्वरूप मै हू। ब्रह्मज्ञानी चक्रवर्ती सम्राट् **भरतेश्वर** को आत्मचितन मे जो रस प्राप्त होता था, वह राजकीय वैभव के द्वारा लेशमात्र भी नही प्राप्त होता था। तत्त्व का सम्यक् बोध होने पर विवेकी जीव की परिणति मे एक नवीन स्फुरण होता है। [40]विश्व के लोकोत्तर वैभव का अधिपति भरत प्रभात मे जगते ही प्राची दिशा को अरुण वर्णयुक्त देख उसे जिनेन्द्र चरण कमल की लालिमा से अनुरजित सोचता था, और अपने प्रकाश द्वारा रात्रि के अधकार के उन्मूलनकारी सूर्य को देखकर उसे भगवान् वृषभनाथ के कैवल्य सूर्य की प्रतिबिम्ब से कल्पना करता था। सम्राट ध्यान करते

समय 'सोह' का आनद लेते थे तथा जिनेन्द्र के समीप 'दासोह' का भी स्वाद लेते थे। विषयो के सुखो के प्रति उनकी वृत्ति 'उदासोह' रूप थी। पापी व्यक्ति धर्म तथा सदाचार से उदास हो विषयो का दास बनकर 'सोह' 'अह ब्रह्मोस्मि' का अद्भुत पाखण्ड दिखाता है और 'स्व' तथा पर को ठगता है। पश्चात् अर्थ-काम-सपत्ति के विषय मे अमात्य वर्ग के साथ विचार करता था। जहाँ वैभव की वृद्धि मे साधारण मानव आत्मा को पूर्णतया भूलकर सदा धर्म की प्रधान चिन्ता करते थे, कारण उसमे विचक्षण को विलक्षण आह्लाद प्राप्त होता है; इसके सिवाय उस मगलमय धर्म की शरण मे जाने से सर्व कार्यो की अनायास सिद्धि भी होती है। इसीलिये भरतेश्वर के विषय मे **महापुराणकार** कहते है-

"तथापि बहुचिन्त्यस्य धर्मचिन्ताऽभवद् दृढा।
धर्मे हि चिन्तिते सर्वं चिन्त्य स्यादनुचिन्तितम्॥41-114॥

प्रजापति नरेश की धार्मिक अनुरक्ति के कारण जनता मे भी सदाचरण का विकास तथा धार्मिक जागृति अनायास होती थी। **जिनसेनाचार्य** का यह कथन महत्त्वपूर्ण है कि "तदनुरोधत. प्रजा: धर्मप्रिया. जाता "-भरतेश्वर के धार्मिक जीवन से प्रभावित हो प्रजाजनभी धर्म प्रेमी बन गए थे। लोग यह सोचते थे-

एष धर्मप्रिय. सम्राट् धर्मस्थानभिनन्दति।
मत्वेति निखिलो लोक: तदा धर्मे रति व्यधात्॥41-100॥

यह सम्राट् धर्म प्रिय है तथा धार्मिको को सम्मानित करते है; यही मानकर उस समय समस्त लोक धर्म मे प्रेम भाव धारण करते थे।

धर्म का क्या स्वरूप है, जिसका परिपालन शासक और प्रजा के लिए कल्याणकारी है, इस प्रश्न का उत्तर **महापुराणकार** इन शब्दो द्वारा देते है :-

धर्म: प्राणिदया सत्य क्षान्ति. शौच वितृष्णता।
ज्ञान-वैराग्य-सपत्ति: अधर्मस्तद्विपर्यय:॥10-15॥

यदि यह धर्म दृष्टि जनता के भाग्यविधाताओ के जीवन मे अवतरित हो जाए, तो आज का सकटमय तथा कलकपूर्ण ससार नवीन कल्याणभूमि बन सकता है।

अपभ्रश भाषा के सुन्दर शास्त्र 'परमात्मप्रकाश' मे **योगीन्द्रदेव** लिखते है[41]–'शरीर-मन्दिर मे जो आदि तथा अन्तरहित एव केवलज्ञानरूप ज्योतिर्मय आत्मदेव विद्यमान है, वही यथार्थ मे परमात्मा है।'

परमार्थ दृष्टि की प्रधानता से आचार्य कितनी मार्मिक बात कहते है–[42]'आत्मन्। अन्य तीर्थों की यात्रा मत करो। अन्य गुरु की सेवा भी अनावश्यक है। अन्य देव का चितन भी न करो। केवल अपनी निर्मल आत्मा का ही आश्रय लो।' आचार्य कहते है–[43]'यह आत्मा ही तो परमात्मा है। कर्मोदय के कारण वह आराध्य के स्थान मे आराधक बनता है। जब यह आत्मा अपनी ही आत्मा मे स्वरूप का दर्शन करने मे समर्थ होता है, तब यही परमात्मा हो जाता है।'

राग अथवा स्नेह के कारण ही यह जीव अपने अनत, अक्षय आनद के भण्डार से वंचित हो दु.खमय ससार मे परिभ्रमण करता है। इस विषय को स्पष्ट करने के लिए आचार्य तिल के उदाहरण को कितनी सुन्दरता के साथ उपस्थित करते है–

[44]'देखो। तिलो का समुदाय स्नेह (तेल) के कारण जलसिचन, पैरो के द्वारा कुचला जाना, एव पुन -पुन· पेले जाने की पीडा का अनुभव करता है। स्नेह शब्द ममता तथा तेल इन दो अर्थो को द्योतित करता है। उनको ध्यान मे रखते हुए ही आचार्य महाराज समझाते है कि जैसे स्नेह के कारण तिलो का कुचला जाना तथा पेले जाने का कार्य किया जाता है, इसी प्रकार स्नेह के कारण यह जीव ससार की अनत दु:खाग्नि मे निरतर जला करता है।'

अपने कृत्यो के विपाक का उत्तरदायित्व प्रत्येक जीव पर है, अन्य व्यक्ति इसमे हिस्सा नही बटाते; इस सिद्धान्त को स्पष्ट करते हुए कवि कहते है–[45]'हे जीव। पुत्र, स्त्री आदि के निमित्त लाखो प्राणियो की हिसा करके तू जो दुष्कृत्य करता है, उसके फल को एक तू ही सहेगा।'

आज के युग मे उदारता, समता, विश्वप्रेम आदि के मधुर शब्दो का उच्चारण करते हुए अपनी स्वार्थपरता का पोषण बड़े-बडे राष्ट्र करते है, और करोडो व्यक्तियो के न्यायोचित और अत्यन्त आवश्यक स्वतत्त्वो का अपहरण करते है, उनको इस उपदेश के दर्पण मे अपना मुख देखना श्रेयस्कर है।

कवि आत्मा के लिये कल्याणकारी अथवा विपत्तिप्रद अवस्था के कारण को बताते हुए साधक को अपना मार्ग चुनने की स्वतत्रता देते है और कहते है–

[464]देखो। जीवो के वध से तो नरकगति प्राप्त होती है, और दूसरो को अभय प्रदान करने से स्वर्ग का लाभ होता है। ये दोनो मार्ग पास मे ही बताए गए है। 'जहि भावइ तहि लग्गु'–जो बात तुम्हे रुचिकर हो, उसी मे लग जाओ।' कितना प्रशस्त और समुज्ज्वल मार्ग बताया है। जो जगत् को अभय प्रदान करेगा, वह अभय अवस्था तथा आनन्द का उपभोग करेगा। जो अन्य को कष्ट देगा, उसे विपत्ति की भीषण दावाग्नि मे भस्म होना पडेगा। जिसे कल्याण चाहिये, उसे पूर्वोक्त सदुपदेश को ध्यान मे रखना चाहिए।

परम आध्यात्मिक **आचार्य पद्मनन्दि** वस्तुस्थिति पर विचार करते हुए इस पचम काल को सम्बोधित करते हुए कहते है :–

नार्थ. पदात्पदमपि व्रजति त्वदीयो।
व्यावर्तते पितृवनादपि बधुवर्ग.॥
दीर्घे पथि प्रवसतो भवतः सखेकम्।
पुण्य भविष्यति ततः क्रियता तदेव॥

अरे भाई। मृत्यु होने पर तेरा धन एक डग भी तेरे साथ नही जाता। बन्धुवर्ग श्मशान से लौट आते है। उस दीर्घ प्रवास मे तेरा एक ही मित्र साथ देता है। वह तेरा पुण्य है। इसलिये उस पुण्य के कार्यों को करना चाहिए।

पुण्य सञ्चय के लिये उपाय चतुष्टय पर महापुराणकार इस प्रकार प्रकाश डालते है :–

पुण्य जिनेन्द्रपरिपूजनसाध्यमाद्य
पुण्य सुपात्रगतदानसमुत्थमन्यत्।

पुण्य व्रतानुचरणादुपवासयोगात्
पुण्यार्थिनामिति चतुष्टयमर्जनीयम्॥28-219॥

पुण्य का प्रथम कारण जिनेन्द्र भगवान् की पूजा है। दूसरा कारण, दिगम्बर मुनि आदि सुपात्रो को आहारादि देना है। तीसरा कारण व्रतो का परिपालन है। चौथा कारण उपवास करना है इसलिये पुण्य की आकाक्षा करने वाले पुरुष को चारो ही उपायो द्वारा पुण्य-सञ्चय करना चाहिए।

जयधवल टीका मे लिखा है कि पुण्य बध के कारणो के प्रति देशव्रती गृहस्थ के समान निर्ग्रन्थ मुनि की भी समान रूप से प्रवृत्ति होती है :-"पुण्ण-बध-हेउत्त पडि विसेसाभावादो।" स्वय गौतम गणधर ने व्यवहार नय का आश्रय ले जो मगल सूत्र बनाए, उनके द्वारा पुण्य का बध हुआ था। मुनियो के द्वारा जिस सराग सयम की आराधना की जाती है, उससे भी पुण्य कर्म का बध होता है। यदि पुण्य बध का कारण होने से सराग सयम का परित्याग कर दिया जावे तो "णिव्वुइ-गमणाभाव-प्पसगादो"-तो मोक्ष गमन का अभाव हो जाएगा। कम से कम गृहस्थो को तो पाप के निरोध करने मे अपनी शक्ति लगानी चाहिए। क्योंकि उनके हिसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह पच पापो के द्वारा पाप का निरन्तर बध होता रहता है। बडी कठिनता से पाप के कारणभूत हिसा प्रचुर जीवन से मन को मोडकर अहिसापूर्ण पुण्य प्रदाता व्रत, नियमादि की ओर प्रवृत्ति होती है। जयधवला मे **आचार्य वीरसेन** ने आचार्य-प्रणीत यह गाथा दी है-

पुण्णस्सासवभूदा अणुकम्पा सुद्धओ व उवजोओ।
विवरीओ पावस्स हु आसवहेउ वियाणाहि॥52, पृ. 105॥

जीवो के प्रति अनुकम्पा अर्थात् करुणा भाव और विशुद्ध उपयोग के द्वारा पुण्य कर्म का आस्रव होता है। पाप के आस्रव का कारण विपरीत भाव जानना चाहिए अर्थात् क्रूरतापूर्ण प्रवृत्ति और सक्लेशपूर्ण उपयोग से पाप का आस्रव होता है। पापास्रव का न होना जीवन के लिए महत्त्वपूर्ण बात है। आचार्य कहते है:-

पावागमदाराइं अणाइरूवट्ठियाइ जीवम्मि।
तत्थ सुहासववारं उग्घावेते कउ सदोसो॥57, पृ. 106॥

जीव मे (आर्त तथा रौद्रध्यान के कारण) पापास्त्रव के द्वार अनादि काल से विद्यमान रहते है। ऐसी स्थिति मे जो भी जीव शुभास्त्रव के द्वार अर्थात् पुण्यबध के द्वार का उद्घाटन करता है, वह सदोष कैसे हो सकता है? आचार्य का अभिप्राय यह है कि अनादि काल से होने वाले दुर्ध्यानो के कारण पाप पक मे निमग्न इस जीव का अपने को पुण्य बध के योग्य बना लेना महत्त्वपूर्ण बात है, इसलिये पुण्यबध रूप प्रवृत्ति प्रशसनीय है। इस पुण्य प्रवृत्ति द्वारा अशुभ योग का सवर होता है, ऐसा महर्षि कुन्दकुन्द ने कहा है। गृहस्थावस्था मे शुद्धोपयोग असभव है। शुद्धोपयोग के द्वारा शुभोपयोग का निरोध होता है। अत· गृहस्थ का कर्तव्य है कि आर्तध्यान और रौद्र ध्यान रूप अशुभोपयोग से बचकर धर्मध्यान रूप शुभोपयोग मे लगाने का उद्योग करता रहे। अशुभोपयोग सहज ही पूर्व वासना से होता है। अत. उस मलिनता से बचने के लिए ही भव्य जीव को आगमानुसार अपनी मनोवृत्ति तथा प्रवृत्ति रखनी होगी।

लोग अपनी आत्मा को भूल जाते है। ग्रन्थो का परिशीलन और तप.साधना मे अपने को कृतकृत्य समझते है। वे यह नही सोचते, कि बिना इकाई के अकेले शून्यो का भी कुछ मूल्य या महत्त्व होता है? इस दृष्टि को आचार्य महाराज कितनी स्पष्टता के साथ बताते है–

[47]'जिसके हृदय मे निर्मल आत्मा का वास नही होता, तत्त्वतः क्या शास्त्र, पुराण एव तपश्चर्या उसे निर्वाण प्रदान कर सकती है?'

'यथार्थ मे निर्वाण प्राप्ति की प्रथम सीढी आत्मदर्शन है। आत्म-दर्शन, आत्म-अवबोध तथ आत्मनिमग्नता के द्वारा मुक्ति प्राप्त होती है'।[48]

पाहुड दोहा मे **रामसिह मुनि** आत्मबोध को परमकला बताते हुए कहते है–

[49]'अक्षरारूढ स्याही मिश्रित (ग्रन्थो) को पढ पढकर तू क्षीण हो गया, किन्तु तूने इस परमकला को नही जाना, कि तेरा उदय कहा हुआ

और तू कहा लीन हुआ।' जीवन अल्पकाल स्थायी है, अतः उपयोगी और कल्याणकारी वाड्मय का ही अभ्यास करना चाहिये। इस विषय मे कवि कहते है–

[50]"शास्त्रो का अन्त नही है, जीवन अल्प है और अपनी बुद्धि ठिकाने नही है। अत वह बात सीखनी चाहिये, जिससे जरा और मरण के पजे से छुटकारा हो जाए।"

मोही प्राणी को पुन. प्रबुद्ध करते हुए कहते है–

[51]"देख भाई। विषयसुख तो केवल दो दिन के है, और पुनः दुःख की परिपाटी-परम्परा है। अरे आत्मन्। भूल कर भी तू अपने कधे पर कुल्हाडी मत मार।"

[52]अरे मूढ। जगतिलक आत्मा को छोडकर अन्य का ध्यान मत कर। जिसने मरकर मणि को पहिचान लिया है वह क्या काच की कोई गणना करता है। जैसे जगत् मे लौकिक रत्न परीक्षक अल्प सख्या मे है, इसी प्रकार आत्म तत्त्व रूप श्रेष्ठ रत्न के परीक्षक तथा उसका अनुभव करने वाले अत्यन्त अल्प है। आत्मवान बनने का दम दिखाने वाले अनेक मिलेगे, किन्तु अध्यात्म का अमृतरस पान करने वाले बिरले है। **शुभचद्राचार्य** कहते है–

दृश्यते भुवि कि न तेऽल्पमतय· सख्या व्यतीताश्चिरम् ।
ये लीला परमेष्ठिनो निज-निजैस्तन्वन्ति वाग्भि· परम् ॥
त साक्षादनुभूति-नित्य-परमा-नदाम्बुराशि पुन.।
ये जन्म-भ्रममुत्सृजन्ति सहसा धन्यास्तु ते दुर्लभा·॥

जो व्यक्ति अपनी वाणी द्वारा परमात्मा के स्वरूप पर विस्तारपूर्वक विवेचन करते है, क्या ऐसे अल्पज्ञानी लोग असख्यात प्रमाण इस जगत् मे दृष्टिगोचर नही होते है। जिन्होने साक्षात् अनुभूति द्वारा शाश्वतिक परम आनद रूप सिधु मे अवगाहन कर ससार के भ्रम को त्याग दिया है, वे धन्य है। ऐसे पुरुष दुर्लभ है।

जो लोग विषय भोग को भोगते हुए आत्मत्व की पूर्ण विकसित अवस्था मोक्ष को चाहते है; वे असभव की उपलब्धि के लिये प्रयत्नशील है। कवि सरल किन्तु मर्मस्पर्शी शैली से समझाते है–[53]'दो तरफ दृष्टि रखने वाला

पथिक मार्ग मे नही बढता है। दो मुखवाली सुई कथा–जीर्ण वस्त्र को नही सी सकती, इसी प्रकार इंद्रिय सुख और मुक्ति साथ-साथ नहीं होती।'

भगवन्त गुणभद्र एक हृदयग्राही उदाहरण द्वारा इस तत्त्व को समझाते है कि साधक का सच्चा विकास परिग्रह के द्वारा नही होता–

[54]'तराजू के नीचे-ऊचे पलडे यह स्पष्टतया समझाते हुए प्रतीत होते है, कि ग्रहण करने की इच्छा वालो की अधोगति होती है और अग्रहण की इच्छा वालो की ऊर्ध्वगति होती है।'

कितना मार्मिक सर्वोपयोगी उदाहरण है यह; तराजू का वजनदार पलडा नीचे जाता है, जो परिग्रहधारियो के अधोगमन को सूचित करता है, और हल्का पलडा ऊपर उठता है, जो अल्पपरिग्रह वालो के ऊर्ध्वगमन की ओर सकेत करता है।

गुणभद्र स्वामी उन लोगो को भी आत्मोद्वार का सुगम उपाय बताते है, जो तपश्चर्या के द्वारा अपने सुकुमार शरीर को क्लेश नही पहुँचाना चाहते है, अथवा जिनका शरीर यथार्थ मे कष्ट सहन करने मे असमर्थ है। वे कहते है–

[55]'अरे जीव तू कष्ट सहन करने मे असमर्थ है, तो कठोर तपश्चर्या मत कर, किन्तु यदि तू अपनी मनोवृत्ति के द्वारा वश करने योग्य क्रोधादि शत्रुओ को भी नही जीतता है, तो यह तेरी बेसमझी है।'

अपने जीवन के बारे मे इस नग्न सत्य पर दृष्टि जानी चाहिए–

आयु घटत है रात दिन ज्यो करोत ते काठ ।
हित अपना जल्दी करो पड़ा रहे सब ठाठ ॥

वास्तव मे मानसिक विकारो पर विजय ही सच्चा विकास और कल्याण है। मानसिक पवित्रता का विशुद्ध जीवन के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। **महाकवि बनारसीदास जी** की वाणी कितनी प्रबोधपूर्ण है–

''समुझे न ज्ञान, कहे करम किए सों मोक्ष,
ऐसे जीव विकल मिथ्यातकी गहल में ।

ज्ञान पक्ष गहे कहे आतमा अबन्ध सदा,
बरते सुछन्द तेउ डूबे है चहल मे ॥
जथायोग्य करम करे पै ममता न धरे,
रहे सावधान ज्ञान ध्यान की टहल मे ।
तेई भव-सागर के ऊपर ह्वै तरै जीव,
जिन्हको निवास स्यादवाद के महल मे ॥"

भैया भगवतीदास जी के ये दोहे कितने सरल, सरस तथा शान्ति-रस पूर्ण है। कैसा भी मोहाकुल व्यक्ति हो, इनके द्वारा चैतन्य की स्फूर्ति हुए बिना नही रहेगी। महाकवि आत्मदेव से बात करते हुए ब्रह्मविलास मे कहते है–

"चल चेतन तह जाइये, जहा न राग विरोध ।
निज स्वभाव परकाशिये, कीजे आतम बोध ॥1॥
तेरे बाग सुज्ञान है, निज गुण फूल विशाल ।
ताहि विलोकहु परम तुम, छाड़ि आल जजाल ॥2॥
अहो जगत के राय, मानहु एती बीनती ।
त्यागहु पर परजाय, काहे भूले भरम मे ॥3॥
तुम तो पूनो चद, पूरन जोति सदा भरे ।
पड़े पराए फन्द, चेतहु चेतन राय जु ॥4॥
निज चन्दाकी चादनी, जिह घटमे परकास ।
तिहि घटमे उद्योत ह्वय, होय तिमिरको नास ॥5॥
जित देखत तित चादनी, जब निज नयननि जोत ।
नैन मिचत पेखै नही, कौन चादनी होत ॥6॥
या माया से राचके, तुम जिन भूलहु हस ।
सगति याकी त्यागके, चान्हो अपनी अस ॥7॥"

कवि का यह कथन कितना उपयोगी है–

"राग न कीजे जगत् मे राग किए दु:ख होय ।
देखहू कोकिल पींजरै, गह डारत है लोय ॥8॥
त्याग बिना तिरबो नहीं, देखहु हिये विचार ।
तूबी लेपहि त्यागती, तब तर पहुचे पार ॥9॥

तन ऊपर जम जोर है, 'जिनसो' जमहु डराय ।
तिनके पद जो सेइये, जमकी कहा बसाय ॥10॥
मैनासे तुम क्यो भए, 'मैं' नासे सिध होय ।
'मै' नाही वह ज्ञानमे, मै न रूप निज जोय ॥11॥
जैनी जानै जैन नै, जिन जिन जानी जै न ।
जे जे जैनी जैन जन, जानै निज निज नैन ॥12॥
चार माँहि जौलो फिरे, धरे चारसो प्रीति ।
तौलो चार लखे नहीं, चार खूट यह रीति ॥13॥
जे लागे दस बीस सो, ते तेरह पचास ।
सोलह बासठ कीजिये, छाड चार को वास ॥14॥"

मोह की प्रगाढ निद्रा मे मग्न ससारी प्राणी का कितना भावपूर्ण चित्र यहाँ अंकित किया गया है–

"काया चित्रशाला मे करम परजक भारी,
माया की सवारी सेज चादर कलपना।
शयन करे चेतन अचेतनता नींद लिए,
मोहकी मरोर यहै लोचनको ढपना॥
उदै बल जोर यहै श्वास को शबद घोर,
विषय सुखकारी जाकी दोर यहै सपना।
ऐसे मूढ दशा मे मगन रहे तिहु काल,
धावै भ्रम जाल मे न पावे रूप अपना॥"

ससार मे धन, वैभव विक्रम, प्रभाव आदि सम्पन्न पुरुष की पूजा होती है, और ऐसी विशेषता समलकृत व्यक्ति का सम्मान किया जाता है। आत्मा का इससे कोई परमार्थिक हित सम्पन्न नही होता। जीव का यथार्थ कल्याण उस सवर भावना से होता है, जिसके द्वारा कर्म बन्धन नही होता। इसी कारण कविवर मुगल शासक को प्रणाम न कर ज्ञान सम्राट् की इन मार्मिक शब्दो द्वारा अभिवन्दना करते है–

"जगतके मानी जीव है रह्यो गुमानी ऐसो,
आस्रव असुर दुःखदानी महा भीम है ।

ताको परिताप खडिवेको परगट भयो,
धर्म को धरैया कर्म रोग को हकीम है ॥
जाके परभाव आगे भागे परभाव सब,
नागर नवल सुख-सागर की सीम है ।
संवर को रूप धरै साधै शिवराह ऐसो,
ज्ञानी पातशाह ताको मेरी तसलीम है॥"

इनकी रचना **नाटक समयसार** अध्यात्म अमृत रस से पूर्ण अनुपम कृति है। यह कवि की प्राणपूर्ण लेखनी का प्रसाद है कि ब्रह्मविद्या का प्रतिपादन शुष्क न होकर अत्यन्त सरस, आह्लादजनक तथा आकर्षक बना है। ग्रन्थ के विषय मे स्वय कवि का कथन कितना अतस्तल को स्पर्श करता है–

"मोक्ष चढवेको सोन, करमको करै बौन,
जाके रस भौन बुद्धि लौन ज्यो घुलत है ।
गुनिनको गिरथ निरगुनीनको सुगम पथ,
जाको जस कहत सुरेश अकुलत है ।
याहीके सपक्षी सो उड़ती ज्ञान-गगन माहि,
याहीके विपक्षी जगजालमे रुलतु है ।
हाटक सो विमल विराटक सो विसतार,
नाटकके सुने हिए फाटक यो खुलतु है।"

यह अभिमानी प्राणी बात-बात मे अपनी नाक की सोचा करता है, वह यह नही सोचता कि वस्तुत यह नाक थोडे से मास का पिड है, जिसका आकार 'तीन' सरीखा दिखता है। ऐसी नाक के पीछे यह न तो सद्गुरू की आज्ञा का ही आदर करता है, और न यह विचारता है, कि मेरा स्वभाव पद-पद पर लडाई लेना नही है। वह तो अपनी कमर मे खड्ग बाध कर अकडता हुआ 'नाक' की रक्षार्थ उद्यत रहता है। सुन्दर भाव के साथ लालित्य प्रचुर पदावली ध्यान देने योग्य है–

"रूपकी न झाक हिए, करमको डाक पिये,
ज्ञान दबि रह्यो मिरगाक जैसे घनमे ।

लोचनकी ढाकसो न माने सद्गुरु हाक,
डोलै पराधीन मूढ़ राक तिहू पनमे ॥
टाक इक मास की डली-सी तामे तीन फाक,
तीनको सो आक लिखि राख्यो काहू तनमे ।
तासो कहे 'नाक' ताके राखिबेको करै काक,
लाकसो खरग बाधि बाक धरै मनमे ॥"

यह जीव अनादि से शरीर को अपना मान रहा है, उसे अत्यन्त सुबोध तथा हृदयग्राही उदाहरण द्वारा इन भव्य शब्दो मे समझाते है–

"जैसे कोऊ जन गयो धोबी के सदन तिनि
पहर्‌यो परायो वस्त्र मेरो मानि रह्यो है।
धनी देखि कह्यो भैया यह तो हमारो वस्त्र,
चीन्हो पहचानत ही त्याग भाव लह्यो है ॥
तैसे ही अनादि पुद्गल सो सजोगी जीव,
सगके ममत्वसो विभाव तामे बह्यो है ।
भेदज्ञान भयो जब आपा पर जान्यो तब,
न्यारो परभाव सो सुभाव निज गह्यो है ॥"

अपनी हीन परिस्थिति के होते हुए बार-बार विपदाओ के बादल घिरे देख जब साहस का बाध टूटता हो उस समय ब्रह्मविलास का हितोपदेश बडा पथ्यकारी होगा–

"वहाकी कमाई 'भैया' पाई तू यहा आय,
अब कहा सोच किए हाथ कछू परिहै ।
तब तो विचारि कछू कियो नाहि बध समै,
याको फल उदै आयो हम कैसे करिहै ।
अब कहा सोच किए होत है अज्ञानी जीव,
भुगते ही बने कृत्य कर्म कहू टरिहै ।
अबकै सम्हालके विचार काम ऐसो कर,
जातै चिदानन्द फद फेरिमे न परिहै ॥"

एकान्त पक्ष को सत्पथ मान कर उसे अपना मत मानने वालो को

मतवारा समझते हुए कवि 'शान्त रसवारे' का समर्थन करते हुए कहते है–

"एक मतवारे कहै अन्य मतवारे सब,
मेरे मतवारे पर वारे मत सारे है ।
एक पच-तत्त्ववारे एक एक-तत्त्व वारे,
एक भ्रम-मतवारे एक एक न्यारे है ॥
जैसे मतवारे बकै तैसे मत-वारे बकै,
तासो मतवारे तकै बिना मतवारे है ।
शान्ति-रसवारे कहै मतको निवारे रहै,
तेई प्रान प्यारे लहै, और सब बारे है॥"

एक समय जिनेन्द्र भक्ति मे तल्लीन एक कवि को इस प्रकार की समस्या पूर्ति दी गई, जिसमे अकबर की स्तुति के प्रभाव से नही बचा जा सकता था। उस चालाकी के फन्दे से बचते हुए कवि ने अपने पवित्र आदर्श की किस प्रकार रक्षा की इसका परिज्ञान इस पद्य से होगा–

"जिय बहुतक वेष धरे जगमे
छबि भा गई आजू दिगम्बर की ।
चिन्तामणि जब प्रगट्यो हिय मे,
तब कौन जरूरत डम्बर की ॥
जिन तारन-तरन हि सेय लिए,
परवाह करै को जब्बर की ।
जिहि आस नही परमेसुर की,
मिलि आस करो सु अकब्बर की॥"

दुनियाँ मे ऐसा कौन है, जो झूले से परिचित न हो? कवि **वृन्दावन** एक ऐसे विलक्षण तथा विशाल लोक-व्यापी झूले का वर्णन करते है, जिसमे सभी ससारी घूमते है। एक तत्त्वज्ञानी ही झूले के चक्कर से बचा है–

"नेह औ मोह के खभ जामै लगे, चौकड़ी चार डोरी सुहावे ।
चाहकी पाटरी जास पै है परी, पुण्य औ पाप 'जी' को झुलावे ॥
सात राजू अधो सात ऊँचै चलै, सर्व ससार को सो भमावे ।

एक सम्यक ज्ञानि ही झूलना सौं, कूवि के 'वृन्द' भव पार जावे ॥"

–छन्दशतक 79।

इस झूले का वर्णन कवि ने झूलना छन्द मे ही किया है यह और मनोहर बात है।

भैया भगवतीदास जी सुबुद्धि रानी के द्वारा चैतन्यराय को समझाते है कि अमूल्य मनुष्यभव को प्राप्त कर आत्मा का अहित नही करना चाहिये। कितना सरस तथा जीवनप्रद सवाद है–

"सुनो राय चिदानन्द, कहो जु सुबुद्धि रानी
कहै कहा बेर बेर नैकु तोहि लाज है ।
कैसी लाज? कहो, कहा, हम कछु जानत न
हमे इहा इन्द्रिनि को विषै सुख राज है ॥"

इस पर सुबुद्धि देवी पुन· कहती है–

"अरे मूढ़ विषय सुख सेये तू अनन्ती बार
अजहूँ अघायो नाहि, कामी शिरताज है ।
मानुष जनम पाय, आरज सुखेत आय,
जो न चेतै, हसराय तेरो ही अकाज है ॥"

अपने स्वरूप को तनिक भी स्मरण न करने वाले आत्मा को कितनी ओजपूर्ण वाणी मे सज्ञान करने का प्रयत्न किया गया है। **'भैया'** कहते हैं–

"कौन तुम? कहा आए, कौने बौराए तुमहि,
काके रस राचे, कछु सुध हूँ धरतु हो ।
तुम तो सयाने पै सयान यह कौन कीन्हो,
तीन लोक नाथ हूवैके दीनसे फिरतु हो॥"

बडे मधुर शब्दो मे आत्मा को समझाते हुए 'ज्ञानमहल' के भीतर बुलाते हैं और समझाते है, कि ऐसे अपूर्व स्थल को छोडकर भूल मे भी बाहर पाव मत धरना–पर पदार्थ मे आसक्ति नही करना।

"कहां कहा कौन सग लागे ही फिरत लाल
आवो क्यो न आज तुम ज्ञान के महल मे ।

नेकहु विलोकि देखो, अन्तर सुदृष्टि सेती
कैसी कैसी नीकि नारि खड़ी है टहलमे ॥''

यहाँ क्षमा, करुणा आदि देवियो को ज्ञान के महल मे अवस्थित बताया है। उनकी सुन्दरता एव महत्ता अपूर्व है। कवि कहते है–

''एकन तै एक बनी सुन्दर सुरूप घनी,
उपमा न जाय गनी रातकी चहलमे ।
ऐसी विधि पाय कहूँ, भूलि हूँ न पाय दीजै,
एतो कह्यो वाम लीजे वीनती सहलमे ॥''

कविवर **बनारसीदास** साधना-प्रेमी से छह माह पर्यन्त एकान्त मे बैठकर चित्त को एक ओर करने की प्रेरणा करते हुए कहते है–

''तेरी घट सर तामै तू ही है कमल वाकौ
तू ही मधुकर है सुवास पहिचानु रे ।
प्रापति न ह्वैहै कछू ऐसै तू विचारतु है
सही ह्वैहै प्रापति सरूप यो ही जानु रे ॥''

जब समाधि की अवस्था उत्पन्न होती है तब भेद बुद्धि नही रहती। कहते है–

''राम रसिक अरु राम रस कहन सुननके दोय ।
जब समाधि परगट भई, तब दुविधा नहि कोय ॥''

भक्ति के क्षेत्र मे भक्तामर, कल्याण मन्दिर, एकीभाव, विषपहार आदि स्तोत्रो के रूप मे बडी पवित्र और आत्मजागृतिकारिणी रचनाएँ है। साहित्य की दृष्टि से भी भक्ति साहित्य बहुत महत्त्वपूर्ण है।

भक्तामर के मृगपति भीति निवारक पद्य का श्री **हेमराजपाडे** ने कितना सजीव अनुवाद किया है–

''अति मद मत्त गयन्द कुभथल नखन विदारै ।
मोती रक्त समेत डारि भूतल सिगारै ॥
बाकी दाढ़ विशाल, वदन मे रसना लोलै ।

भीम भयानक रूप देखि जन थरहर डोलै ॥
ऐसे मृगपति पग तलैं, जो नर आयो होय ।
शरण गए तुव चरण की बाधा करे न कोय ॥39॥"

जिनेन्द्र देव की आराधना के प्रभाव से अग्निकृत उपद्रव भी नष्ट हो जाता है। इस विषय मे कविवर कहते है–

"प्रलय पवनकर उठी आग जो तास पटन्तर ।
बमै फुलिग शिखा उतग पर जलै निरन्तर ॥
जगत् समस्त निगल्ल भस्म कर देगी मानो ।
तड़तड़ात दव-अनल जोर चहुँ दिशा उठानो ।
सो इक छिन मे उपशमै, नाम नीर तुम लेत ।
होय सरोवर परिन मे विकसित कमल समेत ॥40॥"

इससे समुद्र सम्बन्धी विपत्ति भी दूर हो जाती है। **मानतुग** आचार्य भक्ति के रस मे तल्लीन हो कितने हृदय-स्पर्शी उद्‌गार व्यक्त करते है–

"अम्भोनिधौ क्षुभितभीषणनक्रचक्रपाठीनपीठभयदोल्वणवाडवाग्नौ ।
रगतरग-शिखर-स्थितयानापात्रास्त्रास विहाय भवतः स्मरणाद् व्रजन्ति ॥'44॥'

इसे हेमराज जी इन शब्दो मे उपस्थित करते है–

"नक्र चक्र मगरादि मच्छ करि भय उपजावै ।
जामे बड़वा-अग्नि दाहतै नीर जलावै ॥
पार न पावै जास थाह नहि लहिए जाकी ।
गरजै अति गभीर लहरकी गिनती न ताकी ।
सुख सौ तिरै समुद्र को जे तुम गुन सुमराहि ।
लोल कलोलनके शिखर, पार यान ले जाहिं ॥44॥"

मानतुग मुनिवर के कितने सुन्दर सानुप्रास पद्य द्वारा जिनेन्द्र की महिमा बताई है–

"नात्यद्‌भुत भुवनभूषण भूतनाथ, भूतैर्गुणैर्भुवि भवन्तमभिष्टुवन्तः ।
तुल्या भवन्ति भवतो ननु तेन कि वा भूत्याश्रित य इह नात्मसम करोति ॥10॥"

इस पद्य मे 'भकार' की एकादश वार आवृत्ति विशेष ध्यान देने योग्य है। हिन्दी अनुवाद मे मूल के सौन्दर्य का प्रतिबिम्ब तो न आ सका। उसमे उसका भाव इस प्रकार बताया है–

"न हि अचभ जो होहि तुरन्त । तुमसे तुम गुण वरणत सन्त ॥
जो अधीन को आप समान । करै न सो निन्दित धनवान ॥"

आचार्य **मानतुग** जिनेन्द्रदेव को बुद्ध, शकर, विधाता, पुरुषोत्तम शब्दो से सबोधित करते हुए अपने गुणानुवाद को इन गभीर शब्दो द्वारा स्पष्ट करते है–

"बुद्धस्त्वमेव विबुधार्चितबुद्धिबोधात्
त्व शङ्करोऽसि भुवनत्रयशङ्करत्वात् ।
धातासि धीर शिव-मार्ग-विधेर्विधानात्
व्यक्त त्वमेव भगवन् पुरुषोत्तमोऽसि ॥25॥"

कविरत्न **श्री गिरिधर शर्मा** ने इसे इस रूप मे लिखा है–

"तू बुद्ध है विबुध पूजित बुद्धिवाला
कल्याण कर्तृवर शकर भी तुही है ।
तू मोक्षमार्ग विधिधारक है विधाता
हे व्यक्त नाथ पुरुषोत्तम भी तुही है ॥"

कल्याणमन्दिर स्तोत्र मे कहा है–

"त्व तारको जिन! कथ भविना त एव त्वामुद्वहन्ति हृदयेन यवुत्तरन्त. ।
यद्वा दृतिस्तरति यज्जलमेष नूनमन्तर्गतस्य मरुत.स किलानुभाव· ॥10॥"

यहाँ कवि भगवान् से कहते है 'आप तारक नही है, क्योंकि मै अपने चित्त मे आपको विराजमान कर स्वय आपको तारता हू। इसी बात को **बनारसीदास** जी हिन्दी पद्यानुवाद मे इस प्रकार समझाते है–

"तू भविजन तारक किमि होहि?
ते चित धारि तिरहि ले तोहि ॥
यह ऐसै कर जान स्वभाव ।
तिरहि मसक ज्यौ गर्भित वाव ॥10॥"

इसका समाधान पद्य के उत्तरार्ध द्वारा करते हैं कि, जैसे पवन के प्रभाव से मशक जल मे तिरती है, उसी प्रकार आप के नाम के प्रभाव से जीव तरता है।

एकीभावस्तोत्र मे जिनेन्द्र की भक्ति-गगा का बड़ा मनोहर चित्रण किया है। नयरूप हिमालय से यह गगा उदित हुई है और निर्वाण सिन्धु मे मिल जाती है। **वादिराज सूरि** कहते है–

"प्रत्युत्पन्ना नयहिमगिरेरायता चामृताब्धेः
या देव त्वत्पदकमलयो. सङ्गता भक्तिगङ्गा ।
चेतस्तस्या मम रुचिवशादाप्लुत क्षालिताह -
कल्माष यद्भवति किमिय सन्देहभूमि ॥16॥"

भूधरदास जी हिंदी अनुवाद मे इसे इस प्रकार स्पष्ट करते है–

"स्याद्वाद-गिरी उपज मोक्ष सागर लौ धाई ।
तुम चरणाम्बुज परस भक्ति-गगा सुखदाई ॥
मो चित निर्मल थयो न्होन रुचि पूरब तामै ।
अब वह हो न मलीन कौन जिन सशय यामै?॥

धनञ्जय महाकवि अपने विषापहारस्तोत्र मे युक्तिपूर्वक यह बात बताते है कि परिग्रहरहित जिनेन्द्र की आराधना से जो महान् फल प्राप्त होता है, वह धनपति कुबेर से भी नही मिलता है। जलरहित शैलराज से ही विशाल नदिया प्रवाहित होती है। जलराशि समुद्र से कभी भी कोई नदी नही निकलती। कविवर कहते है–

"तुङ्गात्फल यत्तदकिञ्चनाच्च प्राप्य समृद्धान्न धनेश्वरादे. ।
निरम्भसोऽप्युच्चतमादिवाद्रेर्नैकापि निर्याति धुनी पयोधेः ॥19॥"

इसका हिन्दी अनवुाद इस प्रकार है–

"उच्च प्रकृति तुम नाथ सग किचति् न धरन तै ।
जो प्रापति तुम थकी नाहि सो धनेसुरन तै ॥
उच्च प्रकृति जल बिना भूमिधर धुनी प्रकासै ।
जलधि नीर तै भरयो नदी ना एक निकासै ॥19॥"

महाकवि कहते है, जिनेन्द्र भगवान् की महत्ता स्वत: सिद्ध है, अन्य देवो के दोषी कहे जाने से उनमे पूज्यत्व नही आता। सागर की विशालता स्वाभाविक है। सरोवर की लघुता के कारण सागर महान् नही बनता। कितना भव्य तर्क है। वास्तविक बात भी है, एक मे दोष होने से दूसरे मे निर्दोषत्व किस प्रकार प्रतिष्ठित किया जा सकता है? कवि की वाणी कितनी रसवती है[56]–

"स नीरजा. स्यादपरोऽघवान् वा तद्दोषकीर्त्यैव न ते गुणित्वम्।
स्वतोऽम्बुराशेर्महिमा न देव स्तोकापवादेन जलाशयस्य ॥"

–विषापहार 11

कविवर वृन्दावन, मनरगलाल, बख्तावर, रामचन्द्र आदि ने चौबीस तीर्थकरो की पूजा द्वारा पवित्र भक्ति का प्रदर्शन किया है। भगवान् चद्रप्रभ अष्टम तीर्थकर को वैराग्य प्राप्त हुआ है। वे अब मुनिपद स्वीकार कर रहे है। उन्हे मुनि अवस्था मे चन्द्रपुरी मे महाराज चन्द्रदत्त ने दुग्ध का आहार कराया था। भगवान् स्फटिक की शिला पर विराजमान हो तपोवन मे श्रेष्ठ ध्यान मे निमग्न हो गए थे। भगवान् का शरीर **समन्तभद्राचार्य** ने 'चन्द्रमरीचिगौरम्' कहा है। इस शुभ्रता को सूचित करने वाली साधन-सामग्री ने कवि **वृन्दावन** जी को कितनी मनोहर कल्पना की प्रेरणा प्रदान की, यह सहृदय भक्तजन विचार सकते है। कवि कहते है–

"लखि कारण ह्वै जगतै उदास । चिन्त्यो अनुप्रेक्षा सुख निवास ॥4॥
तित लौकान्तिक बोध्यो नियोग । हरि शिविका सजि धरियो अभोग ।
तापै तुम चढ़ि जिन चन्दराय । ता छिनकी शोभा को कहाय ॥5॥
जिन अग सेत, सित चमर ढार । सित छत्र शीस गल गुलकहार ।
सित रतन जड़ित भूषण विचित्र । सित चन्द्र चरण चरचै पवित्र ॥6॥
सित तन-द्युति नाकाधीश आप । सित शिविका काधे धरि सुचाप ।
सित सुजस सुरेश नरेश सर्व । सित चित मे चिन्तत जात पर्व ॥7॥
सित चन्द्रनगर तैं निकसि नाथ । सित वन में पहुँचे सकल साथ ।
सित शिलाशिरोमणि स्वच्छ छाह । सित तप तित धार्यो तुम जिनाह ॥8॥
सित पयको पारण परम सार । सित चन्द्रदत्त दीनो उदार ।
सित करमें सो पय धार देत । मानो बाधत भव-सिन्धु सेत ॥9॥

मानो सुपुण्य धारा प्रतच्छ । तित अचरज पन सुर किय ततच्छ ।
फिर जाय गहन सित तप करन्त । सित केवल ज्योति जग्यो अनन्त ।10।"

–वृन्दावन चौबीसी पूजा।

भगवान् शान्तिनाथ का स्तवन करते हुए कविकुलचूडामणि **स्वामी समन्तभद्र** शान्ति का लाभ कर शान्ति के नाथ बनने का मार्ग बताते है–

"स्वदोषशान्त्या विहितात्मशान्तिः शान्तेर्विधाता शरण गतानाम् ।
भूयाद् भवक्लेशभयोपशान्त्यै शान्तिर्जिनो मे भगवान् शरण्य. ॥5॥"

–वृ॰ स्वयभू

"वे शान्तिनाथ भगवान् मेरे लिये शरण है, जिनने अपनी आत्मा मे विद्यमान दोषो का ध्वस करके आत्म-शान्ति प्राप्त की है, जो शरण मे आने वाले जीवो को शान्ति प्रदान करते है। वे शान्तिनाथ भगवान् ससार के सकट तथा भीति की उपशान्ति करे।"

कितनी सुन्दर बात आचार्य महाराज ने बताई है, कि यथार्थ शान्ति की उद्‌भूति आत्मनिर्मलता द्वारा प्राप्तव्य है। वह शान्ति बाहरी वस्तु नही है। प्रकाण्ड तार्किक होते हुए भी स्वामी समन्तभद्र की कविता मे मधुरता तथा सरसता का अपूर्व सम्मिश्रण पाया जाता है। महाकवि **हरिचन्द** अपने धर्मशर्माभ्युदय मे लिखते है–

"वाणी भवेत् कस्यचिदेव पुण्यै. शब्दार्थसन्दर्भविशेषगर्भा ।
इन्दु विनाऽन्यस्य न दृश्यते द्युत् तमोधुनाना च सुधाधुनी च॥"1,16।

शब्द तथा भाव की रचना विशेष से समन्वित वाणी पुण्योदय से किसी विरले भाग्यशाली पुण्यात्मा को प्राप्त होती है। अन्धेरे को दूर करने वाली तथा अमृत के निर्झर से समन्वित (शीतल तथा शान्ति प्रदान करने वाली) ज्योति चद्र के सिवाय अन्यत्र नही पाई जाती है।

भगवान् महावीर की तर्कशैली से अभिवन्दना करते हुए स्वामी **समन्तभद्र** कहते है–'भगवन्। आपके शासन के प्रति तीव्र विद्वेष भाव धारण करने वाला भी यदि विचारक दृष्टि तथा मध्यस्थ भाव सपन्न हो आपके शासन की परीक्षा करे, तो उसके एकान्त पक्ष-अभिनिवेश रूप

सीग खण्डित हो जावेगे अर्थात् वह एकान्त पक्ष का अभिमान छोडेगा और वह अभद्र (मिथ्यात्वी) होते हुए भी आपके शासन का श्रद्धालु हो समन्तभद्र (सम्यग्दृष्टि) हो जायगा। 'अभद्र भी समन्तभद्र होगा' यदि वह समदृष्टि तथा उपपत्ति चक्षु-विचारक दृष्टि सपन्न हुआ। कितने युक्ति, प्राण तथा सत्यसमर्थित शब्द है।

"काम द्विषन्नप्युपपत्तिचक्षु. समीक्षता ते समदृष्टिरिष्ट्म ।
तवयि ध्रुव खण्डितमान शृगो भवत्यभद्रोऽपि समन्तभद्र· ॥"

–युक्त्यनुशासन 63

अध्यात्म तत्त्व के साथ भक्ति का सबध मणि-काञ्चन योग है। अध्यात्मवादी गृहस्थ ही नही, उच्चश्रेणी के दिगम्बर ऋषीश्वर भी जिनेन्द्र-भक्ति-गगा मे आकण्ठ निमग्न हो अपने समस्त सन्तापो को दूर करते हुए विशेष विशुद्धता और अद्भुत स्फूर्ति प्राप्त करते है, इससे मोहज्वर दूर होता है। और आत्मा वचनातीत शान्ति तथा आनन्द अनुभव करती है। इसीलिए दशभक्ति पाठ मे मुनिराज भगवान से निर्वाण प्राप्ति के पूर्व जिनेन्द्र के चरणारविन्द की भक्ति की अभ्यर्थना करते हुए कहते है–

याचेइऽह याचेऽह जिनतवचरणायोर्भत्किम् ।
याचेऽह याचेऽह पुनरपि तामेव तामेव ॥18॥

–दशभक्ति

वे श्रमण जन्म जन्मान्तर मे भी विकार-विमुक्त वीतराग, सर्वज्ञ आप्त की भक्ति चाहते है। समाधिभक्ति मे लिखा है–

अनन्तानन्त-ससार-सन्तति-च्छेदकारणम् ।
जिनराज पदाम्भोज-स्मरण शरण मम ॥14॥
जिनेभक्तिर्जिनेभक्तिर्जिनेभक्तिर्दिने दिने ।
सदामेऽस्तु सदामेऽस्तु सदामेऽस्तु भवे भवे ॥16॥

भक्ति के क्षेत्र मे आचार्य **समन्तभद्र** की अपूर्व देन है। उन्होने भगवान शीतलनाथ दशम तीर्थकर की स्तुति मे शब्द-सौदर्य समन्वित, भाव सौष्ठव समलकृत ये भाव व्यक्त किए है–

न शीतलाश्चन्दन-चन्द्र-रश्मयो
न गाङ्गमम्भो न च हारयष्टय ।

यथा मुनेस्ते नधवाक्यरश्मय:
शमाम्बुगर्भाः शिशिराविपश्चिताः ॥1, स्वयभूस्तोत्र॥

भगवान चन्द्रप्रभ की चिरस्मरणीय स्तुति मे **समन्तभद्राचार्य श्रीचन्द्रप्रभजिनस्तवन** मे कितने मधुर पुण्योद्गार व्यक्त करते है–

चन्द्रप्रभ चन्द्रमरीचिगौरं चन्द्र द्वितीय जगतीवकान्तम् ।
वन्देऽभिवन्द्य महतामृषीन्द्र जिन जितस्वान्तकषाय बन्धम् ॥1॥

मै, चन्द्रमा की किरणो के समान गौरवर्णयुक्त, पृथिवी पर अवतरित हुए अत्यन्त मनोरम द्वितीय चन्द्र तुल्य, महापुरुषो के द्वारा अभिवन्दनीय तथा अन्त:करण मे उत्पन्न होने वाले क्रोध, मान, माया, लोभरूप कषाय के बन्धन से विमुक्त ऋषीन्द्र भगवान चन्द्रप्रभ को प्रणाम करता हूँ।

अठारहवे तीर्थकर अरनाथ की स्तुति मे श्री अरजिनस्तवन मे आचार्य कहते है, स्तुति का स्वरूप तो यह है जिसमे अल्प गुणो को चढा बढाकर वर्णन किया जाए, किन्तु आपके गुण अनत है, उनका वर्णन करने मे मै असमर्थ हू अत: वास्तव मे आपकी स्तुति कैसे सभव होगी?

गुणस्तोक सवुल्लघय तद्बहुत्वकथा स्तुतिः ।
आनन्त्यात्ते गुणा वक्तुमशक्यास्त्वयि सा कथम् ॥1॥

आचार्य कहते है

लक्ष्मीविभवसर्वस्व मुमुक्षोचक्रलाञ्छनम् ।
साम्राज्य सार्वभौमते जरत्तृणमिवाभवात ॥3॥

हे भगवन्। लक्ष्मी के वैभव के सर्वस्व समान चक्रचिन्ह् युक्त, सार्वभौम साम्राज्य आपकी दृष्टि मे जीर्णतृण सदृश बन गया क्योंकि आप समस्त परिग्रह के परित्याग की आकाक्षायुक्त थे।

अन्तक अर्थात् मृत्यु सम्पूर्ण प्राणियो को पीडा प्रदान करती है, उस यम को भी आपने जीत लिया था और आप अमृतपद के स्वामी बन गए थे।

अन्तक:क्रन्दको नृणा जन्मज्वरसखः सदा
त्वामन्तकान्तक प्राप्य व्यावृतः कामकारतः ॥8॥

हे देव। जन्म और ज्वर का मित्र यमराज (अन्तक) सम्पूर्ण जीवो के आक्रन्दन का हेतु है। वह अन्तक के अन्तक आप को प्राप्त कर स्वेच्छानुसार प्रवृत्ति करने से पराङ्मुख हो गया।

मृत्यु जैसे भीषण सुभट पर विजय प्राप्त करने के लिए भगवान के पास क्या सामग्री थी? उनकी वेशभूषा क्या थी? इस जिज्ञासा के समाधान हेतु आचार्य कहते है–

भूषावेषायुधत्यागि विद्यादमदयापर ।
रूपमेव तवाचष्टे धीर! दोषविनिग्रह ॥9॥

हे धैर्यसमलकृत जिनेन्द्र। भूषा अर्थात् विविध प्रकार के अलकार, वेश और आयुध का परित्याग करने वाला विद्या अर्थात परमज्ञान, इन्द्रियदमन और दयापूर्ण आपका रूप मोहादि दोषो के प्रक्षय को सूचित करता है।

वीतरागप्रभु की अभिवन्दना करते हुए साधक प्रार्थना करता है–

शास्त्राभ्यासो जिनपतिनुति· सगति·सर्वदार्यै.
सद्वृत्ताना गुणगणकथा दोषवादे च मोनम् ॥
सर्वस्यापि प्रियहितवचो भावनाचात्मतत्वे
सम्पद्यन्ता मय भव भवे यावेदतेऽपवर्ग ॥

'प्रचेतस' नामक दिगम्बर मुनिराज की महिमा को महाकवि **हरिचन्द्र** कितनी विलक्षण एव विचक्षण-प्रिय पद्धति से प्रकाशित करते हुए कहते है–

"युष्मत्पदप्रयोगेण पुरुष: स्याद्यदुत्तम. ।
अर्थोऽय सर्वथा नाथ लक्षणस्याप्यगोचर: ॥"

–ध० शर्मा० 353

युष्मत्–'पद'–आपके चरणारविन्द के प्रसाद से 'पुरुष उत्तम' हो जाता है। युष्मत् 'पद के' प्रयोग से 'उत्तम पुरुष' बनाने की विशेषता आप मे है। यह बात व्याकरण शास्त्र की परिधि के भी बाह्य है। व्याकरण शास्त्र

तो 'युष्मत्पद के' प्रयोग से मध्यम पुरुष को बताता है। यहाँ कवि ने 'युष्मत्पद' और 'पुरुषः स्याद्यदुत्तमः' शब्दो द्वारा रचना मे एक नवीन जीवन डाल दिया।

प्रायः सभी विद्वान् विधाता को इसलिये उलाहना देते है, कि उसने खलराज के निर्माण करने की अज्ञ-चेष्टा क्यो की? महाकवि **हरिचन्द्र** विधाता के अपवाद को अपनी कल्पना-चातुरी द्वारा निवारण करते है। वे कहते है कि विधाता को विशेष प्रयत्न द्वारा खल जगत् का निर्माण करना पडा। इससे सत्पुरुषो का महान् उपकार हुआ। बताओ सूर्य की महिमा अन्धकार के अभाव मे और मणि की विशेषता काच के असद्भाव मे क्या प्रकाशित होती? कवि कहते हैं—

"खल विधात्रा सृजता प्रयत्नात् किं सज्जनस्योपकृतं न तेन ।
ऋते तमांसि द्युमणिर्मणिर्वा विना न काचैः स्वगुणं व्यनक्ति ॥"

—ध० श० 1, 22

दुनिया कहती है 'खल' का कोई उपयोग नही होता, किन्तु महाकवि 'खल' शब्द के विशिष्ट अर्थ पर दृष्टि डालते हुए उसे महोपयोगी कहते है—

"अहो खलस्यापि महोपयोग. स्नेहद्रुहो यत्परिशीलनेन ।
आकर्णमापूरितमात्रमेताः क्षीरं क्षरन्त्यक्षतमेव गावः ॥"

—ध० श० 1, 26

आश्चर्य है, खल का (खली का) महान् उपयोग होता है। खल स्नेह-द्रोही-प्रेम रहित (खली स्नेह-तैल रहित होती) होता है। इस खल (खली) का प्रसाद है, जो गाए पूर्णपात्र पर्यन्त लगातार क्षीररस प्रदान करती है। कवि ने 'खल मे' दुर्जन के सिवाय खली का अर्थ सोचकर कितनी सत्य और सुन्दर बात रच डाली। इस प्रकार का विचित्र जादू हरिचन्द्र की रचना मे पद-पद पर परिदृश्यमान होता है।

बुढ़ापे मे कमर झुक जाती है, कमजोरी के कारण वृद्ध पुरुष लाठी लेकर चलता है। इस विषय में कवि की उत्प्रेक्षा कितनी लोकोत्तर है, यह सहृदय सहज ही अनुभव कर सकते हैं—

"असम्भृत मण्डनमङ्गयष्टेर्नष्ट क्व मे यौवनरत्नमेतत् ।
इतीव वृद्धो नतपूर्वकायः पश्यन्नधोऽधो भुवि बम्भ्रमीति ॥"

–धर्मशर्माभ्युदय 59 /4

मेरे शरीर का स्वाभाविक आभूषण यौवन रत्न कहाँ खो गया इसलिये ही मानो आगे से झुके हुए शरीर वाला वृद्ध नीचे-नीचे पृथ्वी को देखता हुआ चलता है।

तार्किक पुरुष जब काव्य-निर्माण मे प्रवृत्ति करते है तब किन्ही बिरलो को मनोहारिणी, स्निग्ध रचना करने का सौभाग्य होता है। **स्वामी समन्तभद्र** सदृश दार्शनिकता, तार्किकता और कवित्व का मनोहर सम्मिश्रण बडे पुण्य से प्राप्त होता है। आचार्य **सोमदेव** ने जीवन भर तर्कशास्त्र का अभ्यास किया और पश्चात् यशस्तिलकचम्पू-जैसी श्रेष्ठ रचना प्रारम्भ की, तब यह शका हुई कि भला शुष्क तार्किक क्या काव्य बनाएगा? इसके समाधान मे **सोमदेव सूरि** लिखते है–

"आजन्म-समभ्यस्ता, च्छुष्कात्तर्कात्तृणादिव ममास्या. ।
मतिसुरभेरभवदिद सूक्तिपय सुकृतिना पुण्यै ॥"

–यश० ति० 1-17

मैने जीवनभर अपनी बुद्धिरूपी कामधेनु को शुष्क तर्करूप तृण खिलाया है। सत्पुरुषो के पुण्य से उससे यह सूक्तिरूप दुग्ध की उद्‌भूति हुई है।

इस बुद्धि रूप कामधेनु ने यशस्तिलकचम्पू नामक विश्व वन्दनीय अनुपम रचना सोमदेव जैसे तार्किक से प्राप्त करा दी।

तार्किक **प्रभाचन्द्र** की कल्पना मे भी जीवन है। दुष्टो के उपद्रव से सत्पुरुषो की कृति पर सदा पानी फिर जाया करता है। अतः कही सज्जन लोग अपने पुण्यकार्य से विरत न हो जावे इससे प्रभाचन्द्र प्रेरणा करते हुए कहते है–'ज्ञानवान् पुरुष दुर्जनो के घिराव के कारण उद्विग्न होकर अपने आरब्ध कार्य को नही छोड देते है, किन्तु वे उस दुर्जन से स्पर्धा करते है। चद्र सदा कमल के विकास को दूर कर उसे मुकुलित किया

करता है, किन्तु इसका सूर्य पर कोई प्रभाव नही पडता, वह पुन: पुन: प्रतिदिन पद्म-विकासन कार्य को किया करता है।' कितनी सुन्दर शैली से सत्पुरुषो को साहस प्रदान करते हुए सन्मार्ग मे लगे रहने की प्रेरणा की है–

"त्यजति न विदधानः कार्यमुद्दिश्य धीमान्
खलजनपरिवृत्तेः स्पर्धते किन्तु तेन ।
किमु न वितनुतेऽर्कः पद्मबोध प्रबुद्ध.
तदपहृतिविधायी शीतरश्मिर्यदीह ॥"

–प्रमेयक० पृ० 2

सुभाषित एव उज्ज्वल शिक्षाओ की दिशा मे जैनवाड्मय से बहुमूल्य सामग्री प्राप्त होती है। क्षत्रचूडामणि काव्य ग्रथ मे प्रत्येक पद्य सुन्दर सूक्ति से अलकृत है। ग्रन्थकार की कुछ शिक्षाएँ बहुत उपयोगी है। वे कहते है–

"विपदस्तु प्रतीकारो निर्भयत्व न शोकिता।" 3, 17।

विपत्ति को दूर करने का उपाय निर्भीकता है, शोक करना नही। कोई-कोई व्यक्ति वस्तुध्वसकर्ता की शक्ति और बुद्धि की प्रशसा करते है, और निर्माता को अल्पश्रेय प्रदान करते है, उनके भ्रम का निवारण करते हुए कवि कहते है–

"न हि शक्य पदार्थाना भावन च विनाशवत् ।" 2, 49।

वस्तु को नष्ट कर देना–कार्य को बिगाड देना जैसा सरल है, वैसा उस कार्य को बनाना सरल नही है।

ससार-समुद्र मे विपत्तिरूपी मगरादि विद्यमान है। उस समुद्र मे गोता लगाने वाला मृत्यु के मुख मे प्रवेश करता है। समुद्र के तीर पर ही रहने वालो की भलाई है। कवि कहते है–

"तीरस्थाः खलु जीवन्ति न हि रागाब्धिगाहिनः ।" 8, 1।

यहाँ तटस्थ वृत्ति को कल्याणकारी बताया है। नम्रता तथा सौजन्य का प्रदर्शन सत्पुरुषो के हृदय पर ही प्रभाव डालता है, दुष्ट व्यक्ति तो नम्रता को दुर्बलता का प्रतीक समझ और अधिक अभिमान को धारण करता है–

"सता हि नम्रता शान्त्यै खलाना दर्पकारणम् ।" 5, 12।

गरीबी के कारण कीर्तियोग्य भी गुण प्रकाश मे नही आते। अकिचन की विद्या भी उचित रूप मे शोभित नही हो पाती।

"रिक्तस्य हि न जागर्ति कीर्तनीयोऽखिलो गुण· ।
हन्त कि तेन विद्यापि विद्यमाना न शोभते ॥" 3, 7।

साधारणतया मनोवृत्ति अकृत्य की ओर झुकती है यदि खोटी शिक्षा और मिल जाय, तो फिर क्या कहना है–

"प्रकृत्या स्यादकृत्ये धीर्दु.शिक्षाया तु कि पुन· ॥"3, 50।

ईर्ष्या, मात्सर्य के द्वारा अवर्णनीय क्षति होती है। भारतवर्ष के अध.पात मे शासको का पारस्परिक मात्सर्यभाव विशेष कारण रहा है। कविवर कहते है–

"मात्सर्यात् कि न नश्याति।" 4, 17।

शिष्ट जन परस्पर सम्मिलन के अवसर पर पारस्परिक कुशलता की चर्चा करते है। इस सम्बन्ध मे **भूधरदास** जी कहते है–

"जोई दिन कटै सोई आव मै अवश्य घटै,
बूँद बूँद रीतै जैसे अजुली कौ जल है ।
देह नित छीन होत, नैन तेजहीन होत,
जोवन मलीन होत, छीन होत बल है ॥
आवै जरा नेरी, तकै अतक-अहेरी आवै,
परभौ नजीक जात नरभौ विफल है ।
मिलकै मिलापी जन पूछत है कुशल मेरी,
ऐसी दशा माहीं मित्र! काहे की कुशल है?"

–जैनशतक 37।

धनादि का लाभ होने पर अपने स्वास्थ्य आदि की उपेक्षा करते हुए लोग आनन्दित होते है; कुशल-क्षेम समझते है। जीवन्धरचम्पू मे **हरिचन्द्र** कवि कहते है—असि, कृषि, शिल्प, वाणिज्य आदि षट् कर्मों के द्वारा सच्ची कुशलता-क्षेम वृत्ति नही मिलती है। उसके द्वारा अनेक प्रकार की लालसा-लता विस्तृत होती है। सच्ची कुशलता निर्वाण मे है। आत्मस्वरूप अनन्त आनन्द मे कुशलता है। वह आत्मा के ही द्वारा साध्य है।

कितना भावपूर्ण पद्य है—

"कुशल न हि कर्मषट्कजात विविधाशा-व्रतति-प्ररोहकन्दम्।
अपवर्गजमात्मसाध्यमाहुः कुशल सौख्यमनन्तमात्मरूपम् ॥"

अपने अत्यन्त स्नेही व्यक्ति की मृत्यु होने पर मनुष्य मानसिक सतुलन खो बैठता है और दिन रात उस व्यक्ति के लिए इसलिए व्यथित हो रोया करता है, ऐसे दु:खी व्यक्ति मे विवेक ज्योति जगाने वाली **कुदकुद स्वामी** की यह गाथा मनन करने योग्य है—

अण्णो अण्ण सोयदि मदो त्ति मम णाहगो त्ति मदो ।
अप्पाण ण हु सोयदि ससार-महण्णवे बुड्डो ॥22॥ अनुप्रेक्षा

किसी की मृत्यु होने पर दूसरा व्यक्ति उसके लिए शोक करता है कि मेरा नाथ चला गया, किन्तु यह जीव स्वय नही सोचता है कि वह ससार रूप महान सागर मे डूब रहा है। यदि दूसरे के लिए शोक मे निमग्न रहा आया, तो मोही जीव मरकर पशु या नरक पर्याय जाकर कष्ट भोगता है अत: शोक करना अनुचित तथा हानिप्रद है। शोक की परिस्थिति आने पर एकत्व भावना का यह दोहा व्यथित मन को सहारा देता है।

आप अकेला अवतरे, मरे अकेला होय ।
यू कबहू इस जीव को साथी सगा न कोय ॥

क्रोधादि कषायो के कारण मन क्षोभ को प्राप्त होता है, इससे वह प्रतिकूल वृत्ति या प्रवृत्ति वाले को शत्रु मानकर उससे द्वेष करता है। आचार्य **सोमदेव** कहते है, भाई! सोच तो, इस अल्पकालीन जीवन मे क्यो नही सबके प्रति मैत्री का पथ अपनाता है। वे समझाते है—

सर्वत्र मैत्रीमुपकल्प्य आत्मन्
त्रित्यो जगत्यत्र न कोपि शत्रुः ।
कियद्दिन स्थामिनि जीवितेस्मिन,
किं खिद्यसे वैरिधिया परस्मिन् ॥

अरे जीव! सब जीवो के विषय मे मैत्री भाव को धारण कर, इस जगत मे कोई भी मेरा शत्रु नही है, ऐसा चितवन कर। अरे देख तो, यह तेरा जीवन थोडे दिन तक रहने वाला है, अत॰ दूसरे मे शत्रु की बुद्धि धारण कर तू क्यो व्यथा को प्राप्त करता है। यथार्थ यह तात्विक विचाररूपी सजीविनी शत्रुता रूप रोग को दूर करने मे सहायक होगी।

चारित्र की महत्ता को बताने वाला यह पद्य कितना मार्मिक है–

अनतसुख-सपन्नो येनात्माय क्षणादपि ।
नमस्तस्मै पवित्राय चरित्राय पुन. पुन. ॥

जिसके प्रभाव से यह आत्मा क्षणमात्र मे अनत सुख को प्राप्त करता है, उस पवित्र चारित्र को बारबार प्रणाम है।

आत्मा और परमात्मा मे जो अन्तर है, उसको दूर करके आत्मा को परमात्मा के स्तर पर पहुँचाना चारित्र की सामर्थ्य है। तदुल और धान्य दोनो तदुल सद्भाव की दृष्टि से समान है, किन्तु जब तक धान्य कुट पिटकर अतर्मल तथा बाह्य मल से विमुक्त नही होता है, तब तक वह विशुद्ध तदुल स्वरूप को नही प्राप्त करता है, इसी प्रकार द्रव्यार्थिक दृष्टि अथवा शुद्ध निश्चय की अपेक्षा ससारी जीव और परमात्मा मे तनिक भी भेद नही है, किन्तु पर्याय की अपेक्षा उनका भिन्नपना युक्ति तथा अनुभवगोचर है। ससारी जीव रागद्वेष मोह रूप मल का त्याग कर शुद्ध स्वरूप का स्वामी बनता है। यह सामर्थ्य सम्यकचारित्र की है। आत्मदृष्टि अनुप्रमाणित आचार ही सम्यक्चारित्र है। बौद्धदर्शन मे चारित्र को 'सम्यक् व्यायाम' कहा है। व्यायाम से क्षीणकाय व्यक्ति बलवान तथा पुष्ट देह युक्त होता है, इसी प्रकार पवित्राचरण से आत्मा दुर्बलता से विमुक्त हो अनतशक्ति सम्पन्न हो अनतसुख का अनुभव करती है।

ज्ञानलोचन स्तोत्र मे भक्ति से प्रेरित स्तोता कहता है–

नाट्य कृत भूरि-भवैरनतम् ।
काल मया नाथ विचित्रवेषैः ॥
हृष्टोसि दृष्ट्वा यदि देहि देयम ।
तदन्यथा चेदिह तद्धि वार्यम् ॥40॥

हे नाथ। मैने अद्‌भुत रूपो को धारणकर अनेक भवो मे नाटक दिखाते हुए अनतकाल व्यतीत किया है। यदि मेरे अभिनय को देखकर आपको प्रसन्नता हुई है, तो मुझे उचित वस्तु - मोक्ष दीजिए। कदाचित, मेरा नाटक पसन्द नही आया, तो फिर ऐसा न करने की आज्ञा दीजिए।

कवि कहते है मुझे मोहरूपी भयकर विषधर ने काटा है, मेरी रक्षा कीजिए,

अनाद्यविद्या-मय-मूच्छितागम् ।
कामोदर-क्रोध-हुताशतप्तम् ।
स्याद्वाद-पीयूष-महौषधेन त्रायस्व
मा मोह-महाहि-दष्टम् ॥ 32

प्रभो। अनादिकालीन अविद्या रुप रोग से मूर्छित दशा युक्त, कामाग्नि, जठराग्नि तथा क्रोधाग्नि के द्वारा सताप को प्राप्त तथा मोहरूप सर्पराज के द्वारा डसे गए मुझको स्याद्वाद-अमृत रूप महान औषधि के द्वारा बचाओ।

कल्याण-आलोचना मे **ब्रह्मचारी अजित** कहते है, जब तक मुक्ति की प्राप्ति नही होती है, तब तक जिनेन्द्र देव, दयाधर्म और दिगम्बर मुनीश्वरो का शरण प्राप्त हो।

जिणो देवो, जिणो देवो, जिणो देवो, जिणो जिणो ।
दयाधम्मो, दयाधम्मो, दयाधम्मो, दया दया ॥48॥
महासाहू, महासाहू, महासाहू, दियबरा ।
एव तच्च सदा हुज्ज जाव णो मुत्तिसगमो ॥50॥

जिनेन्द्र भगवान, निर्ग्रन्थ गुरु आदि की सतत समाराधना सविकल्प भक्ति है, निर्विकल्प अवस्था मे अद्वैत आत्मज्योति से ही विशुद्ध प्रकाश प्राप्त होता है। उस अद्वैत की उपलब्धि तब हो पाती है, जब बाह्य क्रियाओ की निवृत्ति हो जाती है। आचार्य कहते है-

तावत्क्रिया: प्रवर्तन्ते यावद्द्वैतस्य गोचर ॥67॥ अमृताशीति

जब तक वाचिक, शारीरिक आदि क्रिया होती है, तब तक यह आत्मा द्वैत का विषय बनती है।

अत· प्राथमिक साधक का कर्तव्य है कि वह अद्वैत को साध्य बना द्वैत का आश्रय न छोडे। द्वैत तत्त्व व्यवहारनय का विषय है।

वर्तमान भौतिक समृद्धि युक्त युग मे मनुष्य जड पदार्थो की समाराधना करता है, इससे उसे आत्मा की वस्तु नही मिलती है। जड वस्तु जडता ही दे सकेगी। **अमितगति** आचार्य का कथन कितना युक्तिसगत है–

आत्माज्ञानी परमममल ज्ञान मा से व्यमान ।
कायोऽज्ञानी वितरति पुनर्घोरमज्ञानमेव ॥
सर्वत्रेद जगति विदित दीयते विद्यमान
कश्चित्त्यागी न हि खकुसुम क्वापि कस्यापि दत्ते ॥45॥ तत्वभावना

ज्ञानवान् आत्मा की सेवा करने पर विशुद्ध ज्ञान प्राप्त होता है। शरीर जड है अत· वह अज्ञानी महान् अज्ञान को प्रदान करता है। इस जगत मे यह बात सर्वत्र विदित है कि विद्यमान वस्तु ही दी जाती है। कोई भी दाता किसी को आकाशपुष्प का दान नही करता है, क्योंकि उसका अभाव है। आत्मा मे ज्ञान है इससे आत्मा की आराधना द्वारा विद्यमान ज्ञान प्राप्त होना युक्ति सगत है, चैतन्यशून्य मृत शरीर की सेवा द्वारा विशुद्ध ज्ञान की प्राप्ति कथमपि सम्भव नही है।

आचार्य की यह वाणी अत्यत मार्मिक है–

असि-मसि-कृषि-विद्या-शिल्पि-वाणिज्ययोगै-
स्तनु-धन-सुतहेतोः कर्म यादृक्करोषि ।
सकृदपि यदि तादृक् सयमार्थ विधत्से
सुख-ममल-मनत कि तदा नाश्नुषेऽलम् ॥66॥

अरे प्राणी। शरीर, सम्पत्ति तथा सतति के लिये जिस प्रकार तू असि, मसि, कृषि, विद्या, शिल्प तथा वाणिज्य के द्वारा कार्य किया करता है

यदि तू सयम के हेतु एक बार भी उस प्रकार का उद्योग करे तो क्या तुझे निर्मल और अनत सुख नही प्राप्त होगा?

सोमदेवसूरि बुढापे के कारण धवल हुए केशो के विषय मे बताते है– 'ये केश तुम्हे तपश्चर्या का पाठ पढ़ाने आये है। ये मुक्तिलक्ष्मी के दर्शन के झरोखे के मार्गतुल्य है। चतुर्थ पुरुषार्थ (मोक्ष) रूपी वृक्ष के अकुर समान हैं। परमकल्याणरूप निर्वाण के आनन्द रस के आगमनद्योतक अग्रदूत है।' आचार्य ने इन केशो मे कितनी विलक्षण तथा पवित्र कल्पना की है और शिक्षा भी दी है–

''मुक्तिश्रियः प्रणयवीक्षणजालमार्गा·
पुसा चतुर्थपुरुषार्थतरुप्ररोहा. ।
नि.श्रेयसामृतरसागमनाग्रदूता.
शुक्ला· कचा ननु तपश्चरणोपदेशा· ॥''

–यशस्ति॰ 2, 104,

लोकविद्या अथवा व्यवहारकुशलता के बारे मे वे कहते है–

''लोकव्यवहारज्ञो हि सर्वज्ञोऽन्यस्तु प्राज्ञोऽप्यवज्ञायते एव।''65,184।

लोकव्यवहार का ज्ञाता सर्वज्ञ सदृश माना जाता है। अन्य व्यक्ति महान् ज्ञानी होते हुए भी तिरस्कृत होता है।

आचार्य कहते है–

''उत्तापकत्व हि सर्वकार्येषु सिद्धीना प्रथमोऽन्तराय. ॥''

सम्पूर्ण कार्यो की सफलता मे आद्य विघ्न है शान्तता का अभाव, अर्थात् मिजाज का गरम हो जाना।

ससार मे शत्रुओ की वृद्धि करने की औषधि अन्य की निन्दा करना है–

''न परपरिवादात्पर सर्वविद्वेषणभेषजमस्ति ॥'' 12, 177।

वाणी की कठोरता शस्त्र प्रहार से भी अधिक भीषण होती है। कहते है–

''वाक्पारुष्य शस्त्रपातादपि विशिष्यते ।'' 27, 179।

प्रिय वाणी वाला मयूर जैसे सर्पों का उच्छेद करता है, उसी प्रकार मधुरवाणी नरेश शत्रु का विनाश करता है।

"प्रियवद: शिखीव द्विषत्सर्पानुच्छादयति ॥" 128, 144।

शस्त्रोपजीवियो के विषय मे आचार्य कहते है–

"शस्त्रोपजीविना कलहमन्तरेण भक्तमपि भुक्त न जीर्यति।"
(॥103, 137॥)

शस्त्र द्वारा जीविका करने वालो का कलह के बिना खाया हुआ अन्न तक हजम नही होता है।

"चिकित्सागम इव दोष-विशुद्धिहेतुर्दण्ड· ।" 1, 102।

जैसे वैद्यकशास्त्र शरीर के विकारो को दूर करता है, उसी प्रकार दण्ड द्वारा दोषो का भी अभाव होता है।

आचार्य **सोमदेव** का कथन है–

"अपराधकारिषु प्रशम. यतीना भूषण न महीपतीनाम् ॥"
–नी० वा० 37, पृ० 78

अपराधी व्यक्तियो के प्रति शान्त व्यवहार साधुओ के लिये अलकार रूप है, नरेशो के लिए नही। शासन-व्यवस्था के लिए अपराधी को उचित दण्ड देना चाहिये। महाराज पृथ्वी राज ने मुहम्मदगोरी को पुन पुन छोडने मे भूल की। यह सूत्र बताता है कि यति का धर्म भूपति ने स्वीकार करके जो अकर्तव्यतत्परता दिखाई, उससे पृथ्वीराज को दुर्दिन दिखे और देश की सस्कृति को अभिभूत होने का अवसर आया।

राजद्रोहियो अथवा दुष्टो का तनिक भी विश्वास नही करना चाहिये। कारण–

"अग्निरिव स्वाश्रयमेव दहन्ति दुर्जना: ।"
–नी० वा० ।

आचार्य कितने महत्त्व की शिक्षा देते हैं–

'न महताप्युपकारेण चित्तस्य तथानुरागो यथा विरागो भवत्यल्पेनाप्यपकारेण'

महान् उपकार करने से चित्त मे उतना अनुराग नही होता, जितना विराग अल्प भी अपकार या क्षति पहुँचने से होता है। **सोमदेव सूरि का** का कथन है कि प्राणघात की अपेक्षा कीर्ति का लोप करना अधिक दोषपूर्ण है–

"यशोवधः प्राणिवधाद् गरीयान् ।"

–यशस्तिलक

भगवज्जिनसेन बाहुबलि स्वामी के द्वारा युद्ध मे तत्पर भरतेश्वर के दूत से युद्ध के लिये अपनी उत्कण्ठा व्यक्त करते हुए कहते है–

"कलेवरमिद त्याज्यम् अर्जनीय यशोधनम् ।
जयश्रीर्विजये लभ्या नाल्पोदर्को रणोत्सवः ॥"

–महापु० पर्व 35, 144

यह शरीर तो त्याज्य है। यदि मृत्यु होती है तो कोई भय की बात नही है, यशोधन की प्राप्ति तो होगी। यदि विजय हुई तो जयश्री प्राप्त होगी। इस प्रकार यह रणोत्सव महान् परिणाम वाला है।

स्वाधीनता के विषय मे **वादीभसिह सूरि** का कथन चिरस्मरणीय है–

"जीवितात्तु पराधीनात्, जीवाना मरण वरम् ।"[57]

–क्षत्रचूडामणि 1, 40

पांडित्य प्रदर्शन के क्षेत्र मे भी जैन ग्रन्थकारो ने अपूर्व कार्य किया है। महाकवि **धनजय** का राघवपाडवीय-द्विसधान अनुपम पाण्डित्यपूर्ण कृति है। प्रत्येक श्लोक मे शिलष्टार्थ के बल पर रामायण और महाभारत की कथा वर्णित की गई है। रचना अत्यन्त मधुर, सरस तथा कवित्वपूर्ण है। सप्त-सधान काव्य मे भगवान् ऋषभदेव, शान्तिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ, महावीर, राम तथा कृष्ण इन 7 महापुरुषो का चरित्र निबद्ध है। प्रत्येक श्लोक के सात-सात अर्थ पाये जाते है। इसी प्रकार 24 तीर्थंकरो

के चरित्रयुक्त चतुर्विंशतिसधान नाम का काव्य है। स्वामी **समन्तभद्र** के स्तोत्र काव्य जिनशतक एकाक्षरी द्व्यक्षरी आदि चित्रालकारभूषित अपूर्व रचना है जो रचनाकार के भाषा पर अप्रतिम अधिकार को सूचित करता है। एक जैन आचार्य ने चित्रालकार का उदाहरण देते हुए एक पद्य बनाया है, जिसका मर्म बडे-बडे पांडित्य के अभिमानी अब तक न जान सके। वह पद्य यह है–

"का ख गो घ ङ चच्छौ जो झ टाठडढणतु ।
था द धन्य प फ ब भा मा या रा ला व श ष स· ॥"

बौद्ध धर्म का मूल सिद्धान्त 'सर्वं क्षणिकम्' है, जैन धर्म ने पर्याय दृष्टि से पदार्थ को क्षणिक माना है; इस क्षणिकता का आचार्य **पद्मनदि** ने शरीर को लक्ष्यकर कितना वास्तविक तथा सजीव वर्णन किया है–

"यद्येकत्र दिने न भुक्तिरथवा निद्रा न रात्रौ भवेत्
विद्रात्यम्बुजपत्रवद्दहनतोऽभ्याशस्थितात् यद्ध्रुवम् ।
अस्त्रव्याधिजलादितोऽपि सहसा यच्च क्षय गच्छति
भ्रात. कात्र शरीर के स्थितिमतिर्नाशेऽस्य को विस्मय ॥"

अरे भाई! यदि एक दिन भी भोजन नही प्राप्त होता है, अथवा रात्रि को नीद नही आती है तो यह शरीर अग्नि समीप मे कमलपत्र के समान मुरझा जाता है, अस्त्र, रोग, जल आदि के द्वारा जो सहसा विनाश को प्राप्त होता है, ऐसे शरीर मे स्थिरता की बुद्धि कैसी? इसके नाश होने पर भला क्या आश्चर्य की बात है?

भगवान् पार्श्वनाथ के पिता महाराज विश्वसेन ने उनसे गृहस्थाश्रम मे प्रवेश करने को कहा, उस समय उनके चित्त मे सच्चे स्वाधीन बनने की पिपासा प्रबल हो उठी और उन्होने अपने को इद्रियो तथा विषयो का दास बनाना अपनी दुर्बलता समझी, अत· उन्होने निर्वाण के लिये कारण रूप जिनेन्द्र मुद्रा धारण की। **वादिराज सूरि** ने पार्श्वनाथ चरित्र मे भगवान् के मनोभावो को इस प्रकार चित्रित किया है–

"दोषदृष्ट्या यदि त्याज्यो विषयस्तद्ग्रहेण किम्?
प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शन वरम् ॥13-11॥"

यदि सदोष दृष्टिवश विषय त्यागने योग्य है, तब उनको ग्रहण करने मे क्या प्रयोजन है? कीचड मे अपने अग को डालकर धोने की अपेक्षा उस पक को न छूना ही सुन्दर है।

जिस विनय की ओर आज लोगो का उचित ध्यान नही है, उस विनय की गुरुता को आचार्य श्री इन शब्दो द्वारा प्रकाशित करते है–

"विणएण विप्पहीणस्स, हवदि सिक्खा णिरत्थिया सव्वा ।
विणओ सिक्खाए फल, विणयफल सव्वकल्लाण ।।"

–मूलाचार गाथा-385 (पचाचाराधिकार)

विनय विहीन व्यक्ति की सपूर्ण शिक्षा निरर्थक है। शिक्षा का फल विनय है और विनय का फल सर्वकल्याण है।

शील धारण की ओर उत्साहित करते हुए वे कहते है–

"सीलेणवि मरिदव्व णिस्सीलेणवि अवस्स मरिदव्व ।
जइ दोहिवि मरियव्व वर हु सीलत्तणेण मरियव्व ।।5/95।।"

शील का पालन करते हुए मृत्यु होती है, और शील शून्य होते हुए भी अवश्य मरना पडता है। जब दोनो अवस्थाओ मे मृत्यु, अवश्यभाविनी है, तब शील सहित मृत्यु अच्छी है।

निवृत्ति के समुन्नत शैल पर पहुँचने मे असमर्थ व्यक्ति किस प्रकार प्रवृत्ति करे, जिससे वह पाप पक से लिप्त नही होता है, इस पर जैन गुरु इन शब्दो मे प्रकाश डालते है–

"जद चरे जद चिट्ठे जदमासे जदसये ।
जद भुजेज्ज भासेज्ज, एव पाव ण वज्झइ ।।"

सावधानीपूर्वक चलो, सावधानीपूर्वक चेष्टा करो, सावधानीपूर्वक बैठो, सावधानीपूर्वक शयन करो, सावधानीपूर्वक भोजन करो, सावधानीपूर्वक भाषण करो, इस प्रकार पाप का बन्ध नही होता।

लोग सोचा करते है, राज्य विद्या मे ही नैपुण्य प्राप्त करना श्रेयस्कर है, धर्म विद्या मे श्रम करना विशेष उपयोगी बात नही है। वस्तुतः यह महान् भ्रम है। **भगवज्जिनसेन** सदृश आचार्य कहते है–

"राजविद्यापरिज्ञानादैहिकेऽर्थे दृढा मति· ।
धर्मशास्त्र परिज्ञानान्मतिलोकद्वयाश्रिता ॥42-28॥"

राज विद्या के परिज्ञान से इस लोक के पदार्थों के विषय मे बुद्धि मजबूत होती है, किन्तु धर्मशास्त्र के परिज्ञान से इस लोक तथा परलोक के सम्बन्ध मे दृढ बुद्धि होती है।

मूलाचार मे कितनी उज्ज्वल भावना व्यक्त की गई है-

"जा गदी अरहताण णिट्ठिदट्ठाण च जा गदी।
जा गदी वीदमोहाण सा मे भवदु सस्सदा ॥107॥"

अरहतो की जो गति है, निष्ठितार्थो-सिद्धो की जो अवस्था है तथा वीतमोह आत्माओ की जो स्थिति है, वह मुझे सर्वदा प्राप्त हो।

'तत्त्वज्ञान तरगिणी' मे लिखा है कि शुद्ध चिद्रूप अर्थात् अपनी निर्मल आत्मा के स्मरण करने मे धनव्यय, देशाटन, दासता, भय, पीडा आदि कष्टो का पूर्ण अभाव है, फिर भी आश्चर्य है कि विज्ञ वर्ग उस ओर क्यो नही ध्यान देते? उनके ये शब्द कितने मर्मस्पर्शी है-

"न क्लेशो न धनव्ययो न गमन देशान्तरे प्रार्थना
केषाञ्चिन्न बलक्षयो न च भय पीड़ा परस्यापि न ।
सावद्य न च रोगजन्मपतन नैवात्र सेवा नहि
चिद्रूपस्मरणे फल बहु कथ तन्नाद्रियन्ते बुधाः ॥4-1॥"

ममता के त्याग करने से रागद्वेष आदि दोष दूर होते है अतः समता तत्त्व का प्रेमी ममता का त्याग करे, तो कल्याण हो। वे कहते है-

"रागद्वेषादयो दोषा नश्यन्ति निमर्मत्वतः।
साम्यार्थी सतत तस्मात् निमर्मत्व विचिन्तयेत् ॥10-20॥"

जिस प्रकार मेघमडल पर सूर्य की किरणे पडकर अपनी मनोरम छटा से जगत् को प्रमुदित करती है, उसी प्रकार सत्कवि की कल्पना की किरणो द्वारा पदार्थ का स्वरूप बडा आकर्षक, आनन्दप्रद तथा आदर्श बन जाता है। जैन रचनाएँ अपूर्व ज्ञान का भण्डार है।

राग और द्वेष ऐसे विकार हैं कि बडे-बडे योगीश्वर भी उनको वश मे करते-करते थक जाते है। शुक्लध्यान मे स्थित उपशान्त कषाय गुणस्थान वाले महामुनि भी रागादि के जग जाने से नीचे गिर कर मिथ्यात्व की अवस्था तक को प्राप्त कर लेते है, इससे स्पष्ट है कि रागादि विकारो का मूलोच्छेद करना सबसे कठिन कार्य है। इसलिए सद्गुरु कहते हैं सर्व प्रथम पापाश्रव का त्याग करके पुण्य के कारणो को ग्रहण करना बुद्धिमान गृहस्थ का कर्तव्य है। इससे अशुभोपयोग से बचकर शुभोपयोग मे प्रवृत्ति उपयोगी है। भावसग्रहमे आचार्य **देवसेन** ने कहा है-

जाम ण छडइ गेह ताम ण परिहरइ इतय पाव ।
पाव अपरिहरतो हे ओ पुण्णस्स मा चयउ ॥383॥

जब तक गृहवास नही छूटा है, तब तक पाप का परित्याग नही होता है और पाप का त्याग किए बिना अर्थात् मुनि पद को अगीकार किए बिना पुण्य के कारणो का परित्याग मत करो अर्थात् गृहस्थ को अशुभोपयोग से छूटने का प्रयत्न करना चाहिए। **आशाधर** जी का कथन महत्वपूर्ण है-

हित्वोपयोगमशुम श्रुताभ्यासाच्छुभ श्रितः
शुद्धमेवाधितिष्ठेय श्रेष्ठा निष्ठा हि सैव मे ॥55॥ *अध्यात्म-रहस्य*

मै अशुभोपयोग को आगम के अभ्यास द्वारा त्याग कर शुभोपयोग का आश्रय लेता हू तथा मै शुद्धोपयोग मे स्थित होऊ यह मेरी श्रेष्ठ निष्ठा अर्थात् धारणा है।

उपयोग अर्थात् परिणामो के त्रिविधस्वरूप का इस प्रकार स्पष्टीकरण किया गया है-

उपयोगोऽशुभो राग-द्वेष-मोहेः क्रियात्मनः ।
शुभः केवलि-धर्मानुरागात् शुद्धः स्वचिल्लयात् ॥56॥

राग, द्वेष और मोह के द्वारा जो आत्मा की क्रिया अर्थात् परिणति होती है, वह अशुभ उपयोग है; केवली प्रणीत धर्म मे अनुराग करने से जो आत्मा की परिणति होती है, वह शुभ उपयोग है तथा चैतन्य स्वरूप आत्मा मे लीन होने से जो परिणति होती है, वह शुद्ध उपयोग है।

स एवाह स एवाहमिति भावयतो मुहुः ।
योगः स्यात्कोपि निःशब्दः शुद्धस्वात्मनि यो लयः ॥57॥

स एव अह-सोह अर्थात् वही शुद्ध स्वरूप मै हू, वही शुद्ध स्वरूप मै हू इस प्रकार बार-बार भावना करने वाले ही शुद्ध स्वात्मा मे जो लीनता होती है, वह अपूर्व तथा अनिर्वचनीययोग होता है।

आत्मा का ध्यान करने वाले व्यक्ति को प्रवचनसार के इस कथन पर ध्यान देना चाहिए–

णाह होमि परेसि ण मे परे सति णाण महमेक्को ।
इदि जो झायदि झाणे सो अप्पाण हवदि झादा ॥2-88॥

मै शरीरादि पर द्रव्यो का नही हू और वे शरीरादि द्रव्य भी मेरे नही है। मै केवल ज्ञान स्वरूप हू, इस प्रकार जो ध्यान मे चिन्तवन करता है, वह आत्मा का ध्यान करने वाला होता है।

आत्मा शरीर प्रमाण है, वह न विश्व व्यापी है, न अणु प्रमाण है; अत आत्मा का चिन्तवन करते समय अपने को 'तनुमात्र '- शरीर प्रमाण जानना चाहिये।

सम्राट् भरत के प्रधान सेनापति जयकुमार ने भगवान् वृषभनाथ के चरणो का अनुसरण कर दिगम्बरत्व की दीक्षा धारण कर ली। इस घटना को अपनी महाकविसुलभ कल्पना से सजाते हुए **जिनसेन स्वामी** के शिष्य **गुणभद्राचार्य** कहते है–चक्रवर्ती सम्राट् भरतेश्वर ने देखा कि आदि भगवान् का शासन विश्वव्यापी बन गया है, उनके महान् भार को धारण करने के योग्य यह जयकुमार अच्छा पात्र है, यह सोचकर भरतराज ने जयकुमार को प्रभुचरणो मे समर्पित किया। कैसी सुखद, सुन्दर तथा सुश्राव्य कल्पना है यह। महाकवि की वाणी का विज्ञजन रसास्वाद करे–

"एष पात्रविशेषस्ते सवोढु शासन महत् ।
इति विश्वमहीशेन देवदेवस्य सोऽर्पितः ॥28/47॥"

साधुत्व स्वीकार करने के पूर्व प्रतापी सेनापति जयकुमार मे महाकवि **जिनसेन** को एक बडा दोष दिखता था, कि उसके श्री, कीर्ति, वीरलक्ष्मी

तथा सरस्वती ये अत्यन्त प्रिय चार स्त्रिया हैं। कीर्ति तो ऐसी विचित्र है, कि वह गृहलक्ष्मी न बनकर त्रिभुवन में विचरण करती है, लक्ष्मी अत्यन्त वृद्धा है। (कारण उसके वैभवका पार नहीं है)। सरस्वती भी अधिक जीर्ण है-(शास्त्राभ्यासी होने के कारण उसका श्रुताभ्यास बहुत बढ़ा-चढ़ा है)। वीरश्री शत्रुओ का क्षय होने के कारण शान्त सदृश (उसमे चैतन्यपना नही मालूम पडता) दिखती है। यह व्याज स्तुति है। **जिनसेन** स्वामी के शब्द सुनिए-

> **"अयमेकोऽस्ति दोषोऽस्य चतस्रः सन्ति योषितः ।**
> **श्रीः कीर्तिर्वीरलक्ष्मीश्च वाग्देवी चातिवल्लभा ॥316॥**
> **कीतिर्बहिश्चरा लक्ष्मीरतिवृद्धा सरस्वती ।**
> **जीर्णेतरापि शान्तेव लक्ष्यते क्षतविद्विषः ॥"**-*महापु॰* 43/320

स्पृहा-आकाक्षा ही सच्चे सुख की उपलब्धि मे बाधक है अतः निस्पृहत्व मे ही कल्याण है इस विषय को सुभाषितरत्न सदोह मे आचार्य **अमितगति** इन सुन्दर शब्दो मे समझाते है-

> **"किमिह परम सौख्य निस्पृहत्वं यदेतत्**
> **किमथ परमदुःख सस्पृहत्व यदेतत् ॥14॥"**

सर्वत्र यही कहा जाता है कि चरित्र का सुधार करना चाहिये। उस चरित्र का स्वरूप जानना आवश्यक है। **अमितगति** स्वामी कहते है-कषाय-क्रोधादि विकारो पर विजय प्राप्त करना ही चरित्र है। क्रोध, मान, माया, लोभ, भय, घृणा, काम, तृष्णा आदि के अधीन रहते हुए चरित्र का दर्शन नही होता।

> **"कषायमुक्त कथित चरित्र कषायवृद्धावपघातमेति ।**
> **यदा कषायः शममेति पुसस्तदा चरित्र पुनरेति पूतम् ॥233॥"**

कवि का कथन है कि सन्तसमागम के द्वारा तमोभाव नष्ट होता है, रजोभाव दूर होता है, सात्त्विक वृत्तिका आविष्कार होता है, विवेक उत्पन्न होता है, सुख मिलता है, न्याय वृत्ति उत्पन्न होती है, धर्म मे चित्त लगता

है तथा पापबुद्धि दूर होती है अत. साधुजन की सगति द्वारा क्या नही मिल सकता है?

''हति ध्वान्त हरयति रजः सत्त्वमाविष्करोति
प्रज्ञा सूते वितरति सुख न्यायवृत्ति तनोति ।
धर्मे बुद्धि रचयतितरा पापबुद्धि धुनीते
पुसा नो वा किमिह कुरुते सगति. सज्जनानाम् ॥468॥''

ससार मे पुण्य का ठाठ दिखता है, जिसके पास पुण्य की सम्पत्ति है, वह सर्वत्र जयशील होता है, किन्तु बिना पुण्य के महनीय कुलादि मे जन्म लेते हुए भी विपत्तिपूर्ण जीवन बिताना पडता है: इसी से कहा है, कि शूर तथा विद्वान् होते हुए भी पाडवो को वन मे भटकना पडा, अत· शौर्य और पांडित्य के स्थान मे भाग्य बडा चाहिए–

''भाग्यवन्त प्रसूयेथाः मा शूरान्मा च पण्डितान् ।
शूराश्च कृतविद्याश्च वने सीदन्ति पाण्डवा ॥''

इस विषय मे सुभाषितरत्न सदोह मे कहा है–

''पुरुषस्य भाग्यसमये पतितो वज्रोपि जायते कुसुमम् ।
कुसुममपि भाग्यविरहे वज्रादपि निष्ठुर भवति ॥

बान्धवमध्येऽपि जनो दुःखानि समेति पापपङ्केन ।
पुण्येन वैरिसदन यातोऽपि न मुच्यते सौख्यम् ॥''

पुरुष के भाग्य जगने पर वज्रपात भी पुण्य सदृश हो जाता है, किन्तु अभाग्य होने पर कुसुम भी कठोर हो जाता है।

पापोदय से अपने बधुओ के मध्य मे रहता हुआ भी यह दु.खी होता है तथा पुण्योदय से शत्रु के घर मे भी सुख को प्राप्त करता है। सुभाषितकार का यह कथन स्मरण योग्य है–

दान प्रियवाक्सहित ज्ञानमगर्व क्षमान्वित शौर्यम् ।
त्याग सहित च वित्त दुर्लभमेतच्चतुर्भद्रम ॥

उस पुण्य, जिसके बल पर भाग्य का सितारा चमकता है, के अर्जन का उपाय महात्माओ ने जिनेन्द्र पूजा, सत्पात्रदान, अष्टमी, चतुर्दशी रूप पर्वकाल मे उपवास तथा शीलका धारण करना कहा है–

"दान पूजा च शील च दिने पर्वण्युपोषितम् ।
धर्मश्चतुर्विधः सोऽयमाम्नातो गृहमेधिनाम् ॥" *–महापु०* 104/41।

पुण्य प्रवृत्तियो को प्रबुद्ध करने से ससार का अभ्युदय ही उपलब्ध होगा, अमर जीवन और अविनाशी आनन्द की उपलब्धि तो विभाव का परित्याग कर स्वभाव की ओर प्रवृत्ति करने से होगी। **तत्त्वज्ञानतरगिणी** का यह कथन वस्तुतः यथार्थ है–

"दुष्कराण्यपि कार्याणि हा शुभान्यशुभानि च ।
बहूनि विहितानीह नैव शुद्धात्मचिन्तनम् ॥"

मैने अनेक दुःखसाध्य शुभ तथा अशुभ कार्य किए; किन्तु खेद है अपनी विशुद्ध आत्मा का कभी चिन्तन न किया। यदि यह आत्मा परावलम्बन को छोडकर अपनी आत्म-ज्योति की ओर दृष्टि कर ले, तो यह अनाथ न रह त्रिलोकीनाथ बन जाये। यह उक्ति कितनी सत्य है–

"तीन लोक का नाथ तू, क्यो बन रहा अनाथ? ।
रत्नत्रय निधि साथ ले, क्यो न होय जगनाथ? ॥"

आत्म विस्मृति के कारण यह ससारी जीव दीन बन रहा है। बात यह है–

सबकी गाठी लाल है, लाल बिना कोई नहीं ।
जगत भयो कगाल, खोल गाठ देखी नहीं ॥

विवेकी मानव की प्रवृत्तियो का चरम लक्ष्य अमृतत्व की उपलब्धि है; जैन महापुरुषो ने उसको लक्ष्य करके ही अपनी रचनाओ का निर्माण किया है; कारण उस लक्ष्य के सिवाय अन्य तुच्छ ध्येयो की पूर्ति द्वारा क्या परम साध्य होगा? इसी से उपनिषद्कार ने कहा है–

'येनाह नामृता स्या किमह तेन कुर्याम्?'[58]

एक वीतराग ऋषि के शब्दो मे सच्चा विद्वान् तो वह है, जो अपने इसी शरीर मे परम आनन्द सम्पन्न तथा राग-द्वेषरहित अर्हन्त को जानता है।[59] महापुरुष परमात्मपद को अपने से पृथक् अनुभव नही करते। हमने चारित्र चक्रवर्ती आचार्य **श्री शान्तिसागर महाराज** से यह बात अनेक बार सुनी है, कि हमारा भगवान् बाहर नही है, हृदय के भीतर बैठा है। जिसमे ऐसी आत्म दर्शन की सामर्थ्य उत्पन्न हो जाती है, वह वस्तुत· ज्ञानवान् कहे जाने का पात्र है। वही सच्चा साधक तथा मुमुक्ष है। उसे साध्य को प्राप्त करते अधिक काल नही लगता।

इद्र ने भगवान, वृषभदेव के मुनि दीक्षा लेने पर जो चमत्कारजनक स्तुति की थी, उसे व्याजस्तुति अलकार से सुसज्जित कर **आचार्य जिनसेन** कितने मनोहर शब्दो द्वारा व्यक्त करते है[60]–

प्रभो, आपकी विरागता समझ मे नही आती, राज्यश्री से तो आप विरक्त है, तपोलक्ष्मी मे आसक्त है तथा मुक्ति रमा के प्रति आप उत्कण्ठित है।

आप मे समानदर्शीपना भी कैसे माना जाय, आपने हेय और उपादेय का परिज्ञान कर सम्पूर्ण हेय पदार्थो को छोड दिया और उपादेय को ग्रहण करने की आकाक्षा रखते है।

आप मे त्याग भाव भी कैसे माना जाय, पराधीन इद्रियजनित सुख का आपने परित्याग किया और स्वाधीन सुख की इच्छा करते है, इससे तो यही ज्ञात होता है कि आप थोडे आनन्द को छोड़कर महान् सुख की कामना करते है।

भागचद, दौलतराम, भूधरदास, द्यानतराय आदि कवियो ने अपने भक्ति तथा रसपूर्ण भजनो के द्वारा ऐसी सुन्दर सामग्री दी है, कि एक ही पद्य के पढने से साधक की आत्मा आनदित हो उठती है। इस अवसर पर हमे **भूधरदासजी** का भजन स्मरण आता है, जिसमे कवि ने जीवन की चरखे से तुलना की है। कितना मार्मिक भजन है यह–

(1)

''चरखा चलता नाही, चरखा हुआ पुराना ।टेक॥
पग-खूँटे द्वय हालन लागे, उर मदरा खखराना ॥

छीवी हुई पांखड़ी पसली, फिरै नहीं मनमाना ॥1॥
रसना तकलीने बल खाया, सो अब कैसे खूटै ।
सबद-सूत सूधा नहि निकसै, घड़ी घड़ी फल टूटै ॥2॥
आयु-मालका नहीं भरोसा, अग चलाचल सारे ।
रोग इलाज मरम्मत चाहै, वैद बाढ़ई हारे ॥3॥
नया चरखला रगा-चगा, सबका चित्त चुराव ।
पलटा वरन गए गुन अगले, अब देखै नहि भावै ॥4॥
मौटा महीं कातकर भाई, कर अपना सुरझेरा ।
अन्त आग मे ईंधन होगा, 'भूधर' समझ सबेरा ॥5॥"

* * * * * * * *

उनका यह पद भी कितना प्रबोधक है, जिसमे कविवर प्रभु की भक्ति के लिए प्रेरणा करते है–

(2)

"भगवन्त भजन क्यो भूला रे,
यह ससार रैन का सुपना तन धन वारि बबूला रे ॥भगवन्त०॥
इस जौवन का कौन भरोसा, पावक मे तृण पूला रे ।
काल कुदार लिए सिर ठाड़ा, क्या समझे मन फूला रे ॥2॥
स्वारथ साधै पाच पाव तू, परमारथको लूला रे ।
कहुँ कैसे सुख पैहे प्राणी, काम करे दु खमूला रे ॥3॥
मोह पिशाच छल्यो मति मारै, निज कर कध वसूला रे ।
भज श्रीराजमतीवर 'भूधर' दे दुरमति शिर धूला रे ॥4॥"

* * * * * * * *

आत्मा को सवार मानकर उसे सावधान करते हुए कहते है, शरीररूपी घाडा बडा दुष्ट है, इसे सम्भाल कर रखो, अन्यथा यह धोखा देगा। **विनयविजयजी** कहते है–

(3)

"घोरा झूठा है रे, मत भूलै असवारा ।
तोहि मुधा ये लागते प्यारा, अन्त होयगा न्यारा ॥घोरा झूठा०॥

चरै चीज अरु डरै कैदसो, ऊबट चले अटारा ।
जीन कसै तब सोया चाहै खाने कौ होशियारा ॥2॥
खूब खजाना खरच खिलाओ, द्यो सब न्यामत चारा ।
असवारीका अवसर आवै, गलिया होय गँवारा ॥3॥
छिनु ताता छिनु प्यासा होवे, सेव करावन हारा ।
दौर दूर जगल मे डारै, झूरै धनी विचारा ॥4॥
करहु चौकड़ा चातुर चौकस, द्यो चाबुक दो चारा ।
इस घोरे को 'विनय' सिखावो, ज्यो पावो भव पारा ॥5॥"

* * * * * * * *

कविवर **बनारसीदास** जी का यह पद कितना अनमोल है–

(4)

"रे मन। कर सदा सन्तोष,
जातै मिटत सब दुख· दोष । रे मन॰ ॥1॥
बढत परिग्रह मोह बाढ़त, अधिक तृषना होति ।
बहुत ईंधन जरत जैसे अगनि ऊची जोति ।रे मन॰॥2॥
लोभ लालच मूढ-जनसो, कहत कचन दान ।
फिरत आरत नहि विचारत, धरम धनकी हान ।रे मन॰।3।
नारकिनके पाइ सेवत सकुच मानत सक ।
ज्ञानकरि बूझै 'बनारसि' को नृपति को रक ।रे मन॰॥4॥"

* * * * * * * *

वे इस पद मे कितने पवित्र भावो को प्रगट करते है–

(5)

"दुविधा कब जैहे या मन की । दु॰॥
कब निजनाथ निरजन सुमिरौ, तज सेवा जन जन की। दु॰॥1॥
कब रुचि सौ पीवै दृगचातक, बूँद अखय पद धन की ।
कब शुभ ध्यान धरौ समता गहि, करूँ न ममता तनकी ॥2॥
कब घट अन्तर रहै निरन्तर, दिढ़ता सुगुरु वचन की ।

कब सुख लहौ भेद परमारथ, मिटै धारना धनकी ॥3॥
कब घर छाड़ि होहु एकाकी, लिये लालसा वनकी ।
ऐसी दशा होय कब मेरी, हौ बलि बलि वा छनकी ॥4॥"

* * * * * * * *

कवि भागचदजी का यह पद कितना अनमोल है–

(6)

"जीव! तू तो भ्रमत सदीव अकेला ।
कोई सग न साथी तेरा ॥टेक॥
अपना सुख दु:ख आपहि भुगतै होत कुटुम्ब न भेला ।
स्वार्थ भयै सब बिछुरि जात है, बिघट जात ज्यो मेला ॥1॥
रक्षक कोइ न पूरन है जब, आयु अत की बेला ।
फूटत पार बधत नहीं जैसे, दुद्धर-जल का ठेला ॥2॥
तन धन जोबन विनसि जात क्यो, इद्रजाल का खेला ।
भागचद इमि लखकर भाई, हो सतगुरु का चेला ॥3॥"

* * * * * * * *

सकट के समय मन को साहस देने वाला यह भजन बडा सारगर्भित है–

(7)

विपत्ति मे धर धीर रे जिया विपत्ति में धर धीर ॥1॥टेक॥
सम्पदा ज्यो आपदा हू विनस जै है बीर॥ विपत्ति॰ ॥2॥
धूप छाह घटै बढ़े ज्यो त्योहि सुख; दु:ख-पीर ॥ विपत्ति॰॥3॥
दोष "द्यानत" कहा दीजे, काट करम जजीर ॥विपत्ति॰॥4॥

* * * * * * * *

अजर-अमर-पद की हृदय से आकाक्षा करने वाला साधक यही चितन करता है, कि अब मेरी अविद्या दूर हो गई। जिन-शासन के प्रसाद

से सम्यक्-ज्ञानज्योति प्राप्त हो गई। अब मैने अपने अनतशक्ति, ज्ञान तथा आनन्द के अक्षय भडार रूप आत्म तत्त्व को पहचान लिया, अत: शरीर के नष्ट होते हुए भी मै अमर ही रहूँगा। कितना उद्‌बोधक तथा शान्तिप्रद यह पद्य है–

(8)

"अब हम अमर भए न मरेगे ।
या कारन मिथ्यात दियो तज, क्यो कर देह धरेगे ।।टेक।।
रागद्वेष जग बन्ध करत है, इनको नाश करेगे ।
मर्यौ अनन्त काल ते प्राणी, सो हम काल हरेगे ।।1।।
देह विनासी हो अविनासी, अपनी गति पकरेगे ।
नासी नासी हम थिरवासी, चोखे हो निखरेगे ।।2।।
मर्यो अनन्तबार बिन समझौ, अब दु.ख-सुख विसरेगे ।
'आनन्दघन' 'जिन' ये दो अक्षर, नहि सुमरेसो मरेगे ।।3।।"[61]

* * * * * * * *

मनुष्य जन्म चिन्तामणि रत्न से भी अधिक मूल्यवान तथा अतिदुर्लभ निधि है। उसका सम्यक् उपयोग करने के लिए कवि प्राणपूर्ण शब्दो मे प्रेरणा देते हुए श्रावक (गृहस्थ) से कहते है–

(9)

ऐसी श्रावक कुल तुम पाय वृथा काहे खोवत हो ।।टेक।।
कठिन कठिन कर नरभव पाई तू लेखी आसान ।
धरम विसार विषय मे राचो मानी न गुरु की आन ।।वृथा०।।1।।
चक्री एक मतगजु पायो तापर ईधन ढोवे ।
बिना विवेक बिना मति ही के अमृत सो पग धोवे ।।
वृथा०।।2।।
काहु शठ चिन्तामणि पायो मरम न जानो तास
वायस देखि उदधि मे फेक्यो, फिर पाछे पछताव ।।वृथा०।।3।।
सात् विसन आठो मद त्यागो करुणा चित्त विचारो ।
तीन रतन हिरदै मे धारो आवागमन निवारो ।।वृथा०।।4।।

'भूधर' कहत सुनो भाई भविजन चेतन अब तो सम्हारो ।
प्रभु को नाम तरन-तारन जपि कर्म फन्द निरवारो ।।वृथा०।।5।।

* * * * * * * *

दया के देवता महावीर भगवान से भक्त कवि विनय करता है–

(10)

हमारी वीर हरो भव पीर ।
मै दु:ख तपित दयामृतसर तुम, लखि आपो तुम तीर ।
तुम परमेश मोक्षमग दर्शक, मोह दवानल नीर ।।टेक।।1।।
तुम बिनहेत जगत उपकारी शुद्ध चिदानद धीर ।
गनपति ज्ञानसमुद्र न लघै, तुम गुणसिधु गहीर ।।2।।
याद नहीं मैं विपति सही जो, धर धर अमित शरीर ।
तुम गुन चितत नसत तथा भय, ज्यो घान चलत समीर ।।3।।
कोटि बार की अरज यही है, मै दु ख सहू अधीर ।
हरहु वेदना फद-दौल की, कतर करम जजीर ।।4।।

इस प्रकार जैनवाड्मय का परिशीलन और मनन करने पर अत्यन्त दीप्तिमान् तत्त्व-रूप निधियो की प्राप्ति होगी। तार्किक **अकलक** जैनवाड्मयरूप समुद्र को ही विश्व के रत्नो का आकर मानते है। आज अज्ञान, पक्षपात, प्रमाद आदि के कारण विश्व इन रत्नो के प्रकाश से वंचित रहा। आशा है कि अब सुज्ञजन सद्विचारो की खानि जैनवाड्मय का स्वाध्याय करेगे। आत्म साधना की अगाध सामग्री जैनशास्त्रो मे विद्यमान है। केन्द्रीय शासन के शिक्षा विभाग का कर्त्तव्य है कि वह जैसे सस्कृतादि के शिक्षण मे वैदिक साहित्य को पाठ्यक्रम मे स्थान देता है, उसी प्रकार की दृष्टि जैन साहित्यादि के विषय मे रखे, क्योंकि शासन की नीति असाम्प्रदायिक (Secular) है। लोक हित साधना शासन का पवित्र कर्त्तव्य है। इस वाड्मय का सम्यक् अनुशीलन करने वाले भारती की सदा अभिवदना करते हुए हृदय से कहेगे–

"तिलोयहि मडण धम्मह खाणि । सया पणमामि जिणिदहवाणि ॥"

★★★

सदर्भ सूची .

1 इस लोक मे जन्म जरा मृत्यु से बचने के लिए कोई भी शरण नही। हा जन्म जरा, मरण रूप महाशत्रु का निवारण करने की सामर्थ्य जिन शासन के सिवाय अन्यत्र नही है।

2 "विसजतकूडपजरबधादिसु विणुवएसकरणेण।
जा खलु पवट्टइ मई मइ अण्णाण त्ति ण बेंति॥" -गो जी 303।

3 "असता दूयतो चित्त श्रुत्वा धर्मकथा सतीम्।
मन्त्रविद्यामिवाकर्ण्य महाग्रहविकारिणाम्॥" 1-86।

4 "पादौ पदानि तव यत्र जिनेन्द्र! धत्त
पद्मानि तत्र विबुधा परिकल्पयन्ति॥ - भक्तामर. 36

5 The Jains have no literature worthy of the name A religion in which the chief points insisted on are that one should decry God, worship man & nourish vermin has indeed no right to exist," W Hopkins-Religion of India, p 207

6 "Thus we see that persistent persecutions were directed against the Jains and to the credit of Jainism be it spoken that it never attempted to use the sword against other religions " Vide Article "Jain church in mediaevel India, J G. p 125, Vol XVII, 4

7 It may here be mentioned that the Jains also possess a secular literature of their own, in poetry & prose, both Sanskrit & Prakrit Of particular interest are the numerous tales in Prakrit and Sanskrit with which authors used to illustrate dogmatic or moral problems They have also attempted more extensive narratives, some in more popular style as Haribhadra's 'Samaraichchakaha' and Siddharsi's great allegorical work Upamithibhavaprapancha Katha (both edited in Bibl Ind , Calcutta, 1901-14), some in highly artificial Sanskrit, as Somadeva's Yasastilaka and Dhanapala's Tilakamanjar (both published in the Kavyamala, Bombay 1901-03, 1905) Thus oldest Prakrit poem (perhaps of the 3rd Century A D), the Paumachariya, is a Jain version of the Ramayana Sanskrit poems, both in Purana & Kavya style, and hymns in Prakrit and Sanskrit, are very numerous with the Svetambaras as well as the Digambaras There are likewise some Jaina dramas Jain authors have also contributed many works, original treatises as well as commentaries to the scientific literature of India in its various branches - grammar, lexicography, metrics, poetics, philosophy, etc (Studies in Jainism by Hermann Jacobi, p 15)

8 The Jain lierature left to us is quite large and enough has been published already to make it necessary to revise the old belief in regard to the relation between Jainism and Buddhism

– The Religions of India, p 286

9 "The writers of the Jain sacred books are very systematic thinkers and particularly 'strong' on arithmetic They know just how many different kinds of different things there are in the universe and they have them all tabulated and numbered, so that they shall have a place for every thing and every thing in its place " p 258

10 Gommatasara simply deals with these two mighty categories with the living soul in the Jiva Kanda, and with the non-living Karmic matter in the Karma Kanda. Gommatasara - J L Jaini, Preface, p 29

11 अनेकात वर्ष 5, किरण 12 पृ 394।

12 "The first place among Indian poets is alloted to Kalidas by consent of all Jinasena the author of पार्श्वाभ्युदय, claims to be considered a better genius than the author of Cloud Messenger मेघदूत"

–(Prof K.B Pathak)

13 "The Jains have accomplished so much importance in grammar, astronomy, as well as in some branches of letters that they have won respect even from their enemies, and some of their works are still of importance to European science The Kanarese literary language and the Tamil and Telugu rest on the foundations laid by the Jain monks "

–'Indian Sects of the Jains' p 22

14 "The Jain contributions to Tamil literature form the most precious possessions of the Tamilians The largest portion of the Sanskrit derivations found in the Tamil language was introduced by the Jains They altered the Sanskrit, which they borrowed in order to bring it in accordance with Tamil euphonic rules The Kanarese literature also owes a great deal to the Jains In fact they were the orginators of it"

15 Until the middle of the 12th Cen it is exclusively Jain literature continues to be prominent for long It includes all the more ancient and many of the most eminent of Kanarese writings " Vide Prof M S Ramawsami Ayanger's article 'The Jains in the Tamil Countries" - Jain Gazette p 166 Vol (XV)

16 अनेकान्तात्मार्थप्रसवफलभारातिविनते वच पर्णाकीर्णे विपुलनयशाखाशतयुते। समुत्तुगे सम्यक्प्रततमतिमूले प्रतिदिन श्रुतस्कन्धे धीमान् रमयतु मनोमर्कटममुम्।।"

- आत्मानुशासन।170

17 What is more important for the general history of mathematics, certain methods of finding solutions of rational traingles, the credit for the discovery of which should very rightly go to Mahavira, are attributed by modern historians, by mistakes to writers posterior to him

– Bulletin Cal Math Soc XXI 116

18 महाबध का सपादन कर मुद्रण का कार्य सपन्न करने का सौभाग्य लेखक को प्राप्त हुआ है।

19 श्वेताम्बर आगमग्रन्थो की विपुलराशि इसी भाषा के भण्डार का बहुमूल्य भाग है।

20 इनके परिचय के लिए इसी सस्था से प्रकाशित 'हिन्दी जैन साहित्य का सक्षिप्त इतिहास' पुस्तक देखना चाहिए।

21 "आत्मस्वभाव परभावभिन्नमापूर्णमाद्यन्तविमुक्तमेकम्।
विलीनसकल्पविकल्पजाल प्रकाशयन् शुद्धनयोऽभ्युदेति।।"

– ना स 10

22 "प्राणोच्छेदमुदाहरन्ति मरण प्राणा किलास्यात्मनो
ज्ञान तत् स्वयमेव शाश्वततया नोच्छिद्यते जातुचित्।
तस्यातो मरण न किचन भवेत् तद्भी कुतो ज्ञानिनो
नि शक सतत स्वय स सहज ज्ञान सदा विन्दति।। – ना स 6/27

23 "य परमात्मा स एवाह योऽह स परमस्तत ।
अहमेव मयोपास्योनान्य कश्चिदिति स्थिति ।।" – समाधितन्त्र 31

24 "रागद्वेषादिकल्लोलैरलोल यन्मनोजलम्।
स पश्यत्यात्मनस्तत्त्व तत्तत्त्व नेतरो जन ।।35।।

25 "देहान्तर्गतिर्बीज देहेऽस्मिन्नात्मभावना।
बीज विदेहनिष्पत्ते आत्मन्येवात्मभावना।।74।।" –स त

26 देह चैत्यालय प्राहु देही चैत्यस्तथोच्यते।
तद्भक्तिश्चैत्यभक्ति स्यादक्षया भववर्जिता।।22।। - ज्ञानाकुशम

27 "जीवोऽन्य पुद्गलश्चान्य इत्यसौ तत्त्वसग्रह ।
यदन्यदुच्यते किञ्चित् सोऽस्तु तस्यैव विस्तर ।।50।।"

28 "तदब्रूयात् तत्परान् पृच्छेत् तदिच्छेत्तत्परो भवेत्।
येनाविद्यामय रूप त्यक्त्वा विद्यामय व्रजेत्।।53।।" –स त

29 बधहेतुषु सर्वेषु मोहश्चक्रीति कीर्तित
मिथ्याज्ञान तु तस्यैव सचिवत्वमशिश्रियत् ।।12।।

30 ममाऽहकार नामानौ सेनान्यौ तौ च तत्सुतौ।
यदायत्त सुदुर्भेद मोहव्यूह प्रवर्तते ।।13।।

31 सगत्याग कषायाणा निग्रहो व्रतधारणक।
मनोऽक्षाणा जपश्चेति सामग्रीध्यान-जन्मनि।।75।।

32 स्वाध्यायाद ध्यानमध्यास्ताम ध्यानात्स्वाध्याय मामनेत्।
ध्यान-स्वाध्याय-सम्पत्या परमात्मा प्रकाशते ।।81।।

33 ध्यानस्य च पुन मुंख्यो हेतुरेतच्चतुष्टयम्।
गुरुपदेश श्रद्धान सदाऽभ्यास। स्थिर मन ।।218।। तत्वानुशासन

34 "यत्परै प्रतिपाद्योऽह यत्परान्प्रतिपादये।
उन्मत्तचेष्टित तन्मे यदह निर्विकल्पक ।।19।।" - स त

35 "यज्जीवस्योपकाराय तद्देहस्यापकारकम्।
यद्देहस्योपकाराय तज्जीवस्यापकारकम्।।" - इ उ 19।

36 ''यथा यथा समायाति संवित्तौ तत्त्वमुत्तमम्।
तथा तथा न रोचन्ते विषया सुलभा अपि।।'' - इ उ 37।

37 भावयेच्छुद्धचिद्रूप स्वात्मान नित्यमुद्यत ।
रागाद्युदग्र-शत्रूणामनुत्पत्यै क्षयाय च।।26।।

38 अविद्या विद्यया मय्याप्युपेक्षा - सज्ञयाऽसकृत्।
कृन्ततो भदभिव्यक्ति क्रमेण स्यात्परापि मे।।42।।

39 हृत्सरोजेऽष्टपत्रेऽधोमुखे द्रव्यमनोऽम्बुजे।
योगार्क-तेजसा बुद्धे स्फुरन्नस्मि परमह ।।45।।

40 ''प्रातरुन्मीलिताक्ष सन् सध्यारागारुणा दिश ।
स मेनेऽर्त्पदाभोजरागेणेवानुरञ्जिता ।।116।।
प्रातरुद्यन्तमुद्धूतनैशान्धतमस रविम्।
भगवत्केवलार्कस्य प्रतिबिम्बममस्त स ।।117।।''
''प्रातरुत्थाय धर्मस्थै कृतधर्मानुचिन्तन ।
ततोऽर्थकामसपत्ति सहामात्यैर्न्यपयत्।।41 120।।''

– महापुराण, जिनसेन

41 ''देहा दवलि जो वसइ देउ अणाइ अणतु।
केवलणाणफुरततणु मो परमप्पु णिभतु।। - प प्र 33।

42 ''अण्णुजि तित्थु म जाहि जिय अण्णु जि गुरुअ म सेवि।
अण्णु जि देउ म चिति तुहु अप्पा विमलु मुएवि।।95।।''

43 ''एहु जु अप्पा सो परमप्पा कम्मविसेसैं जायउ जप्पा।
जामइ जाणइ अप्पैं अप्पा तामइ सो जि दउ परमप्पा।।2-174।।''

44 ''जलसिचणु पयणिद्दलणु पुणु पुणु पीलण दुक्खु।
णेहह लग्गिवि तिलणियरु जंति सहतउ पिक्खु ।।116।।''

45 ''मारिवि जीवह लक्खडा ज जिय पाउ करीसि।
पुत्तकलत्तह कारणइ त तुहु एकु सहीसि।।2-125।।''

– परमात्मप्रकाश

46 ''जीव वहतह णरयगइ अभयपदाणे सग्गु।
बेपह जवला दरिसिया, जहि रुच्चइ तहि लग्गु।।2-127।।''

47 ''अप्पा णियमणि णिम्मलउ णियमे वसइण जासु।
सत्थपुराणइ तव चरणु, मुक्खु बि करहि कि तासु।।1-98।।''

– परमात्मप्रकाश

48 ''सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग ।'' त सू 1/1।

49 ''अक्खरचडिया मसि मिलिया पाढत्तो गम खीण।
एक्क ण जाणी परमकला कहि उग्गह कहि लीण।।173।।''

50 ''अन्तो णत्थि सुईण कालो थोवो वय च दुम्मेहा।
त णवर सिक्खियव्व जि जरमरणक्खय कुणहि।।98।।''

51 "विसयसुहा दुइ दिवहडा पुणु दुक्खह परिवाडि ।
भुल्लउ जीव म वाहि तुहु अप्पाखंधि कुहाडि ।।17।।"

52 "अप्पा मिल्लिवि जगतिल मूढ म झापहि अण्णु ।
जि मरगउ परियाणियउ तहु कि कच्चहु गण्णु ।।71।।"

53 "बे पथेहि ण गम्मइ बेमुह सूई ण सिज्जए कथा ।
विण्णि ण हुंति अयाणा इन्द्रियसोक्ख च मोक्ख च ।।213।।"

—*पाहुड दोहा*

"दो मुख सुई न सीवे कन्था । दो मुख पन्थी चलै न पन्था ।
यो दो काज न होहि सयाने । विषय भोग अरु मोख पयाने ।।"

54 "अधो जिघृक्षवो यान्ति यान्त्यूर्ध्वमजिघृक्षव ।
इति स्पष्ट वदन्तो वा नामोन्नामौ तुलान्तयो ।।154।।"

55 "करोतु न चिर घोर तप क्लेशासहो भवान् ।
चित्तसाध्यान् कषायारीन् न जयेद्यत्तदज्ञता ।।212।।" —*आत्मानुशासन*

56 "पापवान व पुण्यवान् सो देव बतावै ।
तिनके औगुन कहै, नहि तू गुणी कहावै ।।
निज सुभावतै अम्बुराशि निज महिमा पावै ।
स्तोक सरोवर कहे कहा उपमा बढि जावै ।।"

57 "लोके पराधीन जीवित विनिन्दितम् । निजबलविभवसमार्जितमृगेन्द्रपदसम्भावितस्य मृगेन्द्रस्येव स्वतत्रजीवनमविनिन्दितमभिवन्दितमनवद्यमतिह्यघमिति ।।"

—*जी० च० का०*

58 जिसके द्वारा मुझे अमृतत्व नही मिले, उससे मुझे क्या करना है?

59 "परमाह्लादसम्पन्न रागद्वेषविवर्जितम् ।
अर्हन्त देहमध्ये तुयो जानाति स पंडित ।।"

60 "राज्यश्रिया विरक्तोऽसि सरक्तोऽसि तप श्रियाम् ।
मुक्तिश्रिया च सोत्कण्ठो गतैव ते विरागता ।।237।।
ज्ञात्वा हेयमुपेय च हित्वा हेयमिवाखिलम् ।
उपादेयमुपादित्सो कथ ते समदर्शिता ।।238।।
पराधीन सुख हित्वा सुख स्वाधीनमीप्सत ।
त्यक्त्वाल्पा विपुला चर्द्धि वाञ्छतो विरति क्व ते ।।239।।"

—*महापुराण पर्व 27*

61 यह भजन गाधी जी की भजनावलि मे भी सग्रहीत किया गया है।

★★★

विश्वसमस्याएँ और जैनधर्म

आज यन्त्रवाद (Industrial Revolution) के फलस्वरूप विश्व मे अनेक अघटित घटनाओ और विचित्र परिस्थितियो का उदय हुआ है। उसके कारण उत्पन्न हुई विपत्तियो से व्यथित अन्तःकरण विश्व-शान्ति तथा अभिवृद्धि निमित्त धर्म का द्वार खटखटाता है और कहता है कि हमे उच्च तत्त्वज्ञान और गम्भीर अनुभवपूर्ण दार्शनिक चिन्ताओ वाले धर्म की अभी उतनी जरूरत नही है, जितनी उस विद्या की, जो कलह, विद्वेष, अशान्ति, उत्पीडन आदि विपत्तियो से बचाकर कल्याण का मार्ग बतावे। जो धर्म मर्दुमशुमारी की विशिष्ट वृद्धि के आधार पर अपनी महत्ता और प्रचार को गौरव का कारण बताते है, उनके आराधको की बहुसख्या होते हुए भी अशान्ति का दौरदौरा देख विचारक व्यक्ति उन धर्मो से प्रकाश पाने की कामना करता है, जिसकी आधारशिला प्रेम और शान्ति रही है, और जिसकी वृद्धि के युग मे दुनिया का चरित्र स्वर्णाक्षरो मे लिखने लायक रहा है। ऐसे जिज्ञासु विश्व की वर्तमान समस्याओ के बारे मे जैनशासन से प्रकाश प्राप्त करना चाहते है। अत आवश्यक है कि इस सम्बन्ध मे जैन तीर्थंकरो का उज्ज्वल अनुभव तथा शिक्षण प्रकाश मे लाया जाए।

धर्म सर्वागीण अभ्युदय तथा शान्ति का विश्वास प्रदान करता है, अत· मानना होगा, कि प्रस्तुत समस्याओ की गुत्थी सुलझाने की सामर्थ्य धर्म मे अवश्य विद्यमान है। इतिहास इस बात को प्रमाणित करता है, कि चन्द्रगुप्त मौर्य सदृश जैन-नरेशो के शासन मे प्रजा का जीवन पवित्र था। वह पाप से अलिप्त-प्राय रहती थी। वह समृद्धि के शिखर पर समासीन थी। वर्तमान युग मे भी इस वैज्ञानिक धर्म के प्रकाश मे जो लोग अपनी जीवनचर्या व्यतीत करते है, वे अन्य समाजो की अपेक्षा अधिक समृद्ध, सुखी तथा समुन्नत है। यह बात भारत सरकार का रेकार्ड बतायेगा, जिसके आधार पर एक उत्तरदायी सरकारी कर्मचारी ने कहा था कि - ''फौजदारी का अपराध करने वालो मे जैनियो की सख्या प्राय: शून्य है।''

आज लोगो तथा राष्ट्रो का झुकाव स्वार्थपोषण की ओर एकान्ततया हो गया है। 'समर्थ को ही जीने का अधिकार है, दुर्बलो को मृत्यु की गोद मे सदा के लिए सो जाना चाहिये' यह है इस युग की आवाज। इसे ध्यान मे रखते हुए शक्ति तथा प्रभाव सम्पादन के लिए उचित-अनुचित, कर्तव्य-अकर्तव्य का तनिक भी विवेक बिना किए बल या छल के द्वारा राष्ट्र कथित उन्नति की दौड के लिए तैयारी करते है। हम ही सबसे आगे रहे, दूसरे चाहे जहा जावे, इस प्रतिस्पर्धा (नही नही, ईर्ष्यापूर्ण दृष्टि) के कारण उच्च-सिद्धान्तो की वे उसी प्रकार घोषणा करते है, जैसे पचतत्र का वृद्ध व्याघ्र अपने को बडा भारी अहिसाव्रती बता प्रत्येक पथिक से कहता था - 'इद सुवर्णकङ्कण गृह्यताम्'। जिस प्रकार एक गरीब ब्राह्मण व्याघ्र के स्वरूप को भुला चक्कर मे आ प्राणो से हाथ धो बैठा था, वैसे ही उच्च सिद्धातो की घोषणा करने वालो के फन्दे मे लोग फँस जाते है, और अकथनीय विपत्तियो को उठाते है। आश्रितो का शोषण, अपनी श्रेष्ठता का अहकार, घृणा, तीव्र प्रतिहिसा की भावना आदि बाते आज के प्रगतिगामी या उन्नतिशील राष्ट्रो के जीवन का आधार है। पारस्परिक सच्ची सहानुभूति, सहयोग, सेवा आदि बाते प्राय वाचनिक आश्वासन का विषय बन रही है। सर्वभक्षी भौतिकवाद का अधिक विकास होने के कारण पहले तो इनकी आखे विज्ञान के चमत्कार के आगे चकाचौध युक्त-सी हो गई थी, किन्तु एक नही, दो महायुद्धो ने विज्ञान का उन्नत मस्तक नीचा कर दिया। जिस बुद्धि वैभव पर पहले गर्व किया जाता था, आज वह लज्जा का कारण बन गई। अणुबम (Atom bomb) नाम की वस्तु इस प्रगतिशील विज्ञान की अद्भुत देन है, जिसने अल्पकाल मे लाखो जापानियो को स्वाहा कर दिया। लाखो बच्चे, स्त्री, असमर्थ पशु, पक्षी, जलचर आदि अमेरिका की राजकीय महत्वाकाक्षी की पुष्टि की लालसा निमित्त क्षणभर मे अपना जीवन खो बैठे। कितना बडा अन्धेर है। कुछ जननायको के चित्त को सतुष्ट करने के लिए अन्य देश अथवा राष्ट्र के बच्चो, महिलाओ आदि के जीवन का कोई भी मूल्य नही है। वे क्षणमात्र मे मौत के घाट उतार दिए जाते है। यह कृत्य अत्यन्त सभ्यो के द्वारा सपादित किया जाता है। वास्तव मे विज्ञान वरदान है और महान् अभिशाप भी। सत्पुरूषो का सहयोग पा वह समृद्धि और आनन्द की गगा प्रवाहित

कर देता है तथा दुष्ट एव क्रूर नर-राक्षसो का अवलम्बन पा वही विज्ञान विपत्ति तथा वेदना की वैतरिणी बहा नरक की सी स्थिति साक्षात् करा देता है। **शेक्सपियर** ने मेकबेथ नाटक मे अपने पात्र सार्जेन्ट (Sergent) के द्वारा एक महत्वपूर्ण सत्य प्रकाशित किया है। पूर्व दिशा से तेजपुञ्ज भास्कर उदित होता है, जो सुख प्रदान करता है। उसी दिशा मे भयकर तूफान, जिसमे अनेक जहाज डूब जाते है, उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार जिस निर्झर से आनन्द की अभिव्यक्ति दिखाई देती थी वहाँ से कष्ट तथा वेदना भी उत्पन्न होती है .-

Sergent "As when the sun, gives his reflection
Shipwrecking storms and direful thunders break,
So from the spring whence comfort seemed to come,
Discomfort swells" (Macbeth, Act I, sence II)

यदि वर्तमान युग के वैज्ञानिक साधनो का, अहिसात्मक तथा प्रेमपूर्ण दृष्टि के माध्यम से सकीर्णता का परित्याग कर उपयोग किया जावे तो सत्रस्त मानव-समाज को अपूर्व आनन्द तथा शान्ति की प्राप्ति सम्भव है। भौतिकवाद से प्रेरित मस्तिष्क होने के कारण आज का वैज्ञानिक जगत् अमृतवर्षा के स्थान मे अपनी खूनी दृष्टि से रक्त और वेदना को बरसाता हुआ प्रतीत होता है। इस प्रसग मे हमारी दृष्टि अशोक की ओर जाती है।

सम्राट् अशोक ने अपनी कलिग विजय मे जब लाख से ऊपर मनुष्यो की मृत्यु का भीषण दृश्य देखा, तो उस चण्डाशोक की आत्मा मे अनुकम्पा का उदय हुआ। उस दिन से उसने जगत् भर मे अहिसा, प्रेम, सेवा आदि के उज्ज्वल भाव उत्पन्न करने मे अपना और अपने विशाल साम्राज्य की शक्ति का उपयोग किया। अशोक के शिलालेख की सूचना न 13 मे अपने वशजो के लिए यह स्वर्ण शिक्षा दी थी - ''वे यह न विचारे कि तलवार से विजय करना विजय कहलाने के योग्य है। वे उसमे नाश और कठोरता के अतिरिक्त और कुछ न देखे। वे धर्म की विजय को छोडकर और किसी प्रकार की विजय को सच्ची विजय न समझे। ऐसी विजय का फल इहलोक तथा परलोक मे होता है।'' किन्तु आज की कथा निराली

है। स्वार्थ मूर्ति राष्ट्र यह सोचते है, कि जो अपने रग तथा राष्ट्रीयता के है, उनका ही जीवन मूल्यवान् है; दूसरो का जीवन तो घासपात के समान है। यह तत्त्वज्ञान कहो, या इस नशे के कारण बडे राष्ट्र मानवता के मूल तत्त्वो का तनिक भी आदर करने को तैयार नही होते। यहा तक विवाद (debate) का प्रसग है, वे मानवता, करुणा, विश्वप्रेम की ऐसी मोहक चर्चा करेगे, और अपने कामो मे इतनी नैतिकता दिखावेगे, कि नीति-विज्ञान के आचार्य भी चकित होगे, किन्तु अवसर पडने पर उनका आचरण उनके असली रूप को प्रकट कर देता है। रामायण मे वर्णित बकराज ने पम्पा सरोवर के समीप रामचन्द्रजी सदृश महापुरुष को अपने चरित्र के बारे मे भ्रमाविष्ट कर दिया था, और वे उसे परम धार्मिक सोचने लगे थे। पीछे उनका भ्रम दूर हुआ था, इसी प्रकार आधिभौतिक विज्ञान के द्वारा जगत् की विचित्र अवस्था हुई है। **महाकवि अकबर** ने बहुत ठीक कहा है -

"इल्मी तरक्कियो से जबा तो चमक गई।
लेकिन अमल है इनके फरेबो दगा के साथ॥"

प्रख्यात वैज्ञानिक **प्रो॰ एम॰ पीलाइन** ने ब्रिटिश ऐसोसिएशन के समक्ष दिये गये अपने एक भाषण मे यह बात स्वीकार की है, कि यूरोप मे उन लोगो का नेतृत्व है, जो हमे यह बात सिखलाते है, कि केवल भौतिक पदार्थ ही सत्य है।' इन भौतिकवादियो के द्वारा सचालित धार्मिक सस्थाओ मे भी प्राय कृत्रिमता, स्वार्थपोषण, स्वर्ग का श्रेष्ठत्व-स्थापन, कूटप्रवृत्ति आदि विकृतियो का विशेष सद्भाव पाया जाता है। वे प्राय अपने सदृश कृत्रिम तथा कूटवृत्ति के धारको को उच्चता के आसन पर आसीन करते हैं, किन्तु जिनसे यथार्थ प्रकाश प्राप्त होता है, उनको ये अन्धकार मे रखते है।

यन्त्रवाद के विशेष प्रचार के कारण पहले की अपेक्षा वस्तुओ की उत्पत्ति अधिक विपुल परिमाण मे हो गई है, किन्तु फिर भी इस समृद्धि के मध्य गरीबी का कष्ट (Poverty amid prosperity) बढता ही जाता है। लाखो टन गेहूँ तथा अन्य बहुमूल्य खाद्य सामग्री अनेक देशो मे इसलिए जला दी जाती रही है या नष्ट कर दी जाती रही है, कि बाजार का निर्धारित भाव नीचे न खिसकने पावे और उनके विशेष उद्देश्यो मे बाधा न आवे।

विदेशो की बात जाने दो, स्वराज पूर्व की बगाल सरकार ने लाखो बगालियो को दाने के कण-कण के लिए तरसाते हुए मृत्यु की भेट हो जाने दिया था, किन्तु सगृहीत विपुल धान्यराशि का उपयोग नही होने दिया, भले ही हजारो मन धान्य सडकर नष्ट हो गया। आज की राजनीति की चाल ही ऐसी विचित्र है, कि उसके आगे अपने स्वार्थ तथा मान (Prestige) पोषण के सिवाय अन्य नैतिक तत्त्वो का प्राय: कोई स्थान नही है। हजरत मसीह ने जो यह बताया है, कि "This world is a bridge, pass thou over it, but build not upon it!" 'यह जगत् एक पुल के सदृश है। उस पर होकर तुम चले जाओ, इस पर मकान मत बाधो'- उसे विस्मृत करने मे ही आज का यूरोप, अमेरिका अपने को कृतार्थ मान रहा है। धनसचय करना ही उसका एकमात्र कार्य है। यही उनका ईश्वर है, भगवान् है, परमात्मा है। धन के द्वारा शान्ति प्राप्त करना असम्भव है। **महर्षि गुणभद्र** कहते हैं -

"रे धनेन्धनसभार प्रक्षिप्याशाहुताशने।
ज्वलन्त मन्यते भ्रान्त: शान्त सधुक्षणे क्षणे॥"

-आत्मानुशासन 85

'अरे भाई, आशा-अग्नि मे धनरूपी ईधन डालकर जलने के क्षण मे प्रदीप्त देखते हुए भ्रमवश तुम उसे शान्त हुआ समझते हो।'

भगवान् कुन्थुनाथ ने चक्रवर्ती के महान् साम्राज्य का परित्याग किया था, और वे विषय-सुखसे विमुख हुए थे। इस विषय मे स्वामी **समन्तभद्र** बडी महत्त्वपूर्ण बात बताते है -

"तृष्णार्चिष: परिदहन्ति न शान्तिरासा-
मिष्टेन्द्रियार्थविभैव. परिवृद्धिरेव।
स्थित्यैव कायपरितापहर निमित्त -
मित्यात्मवान्विषयसौख्यपराङ्मुखऽभूत्॥

- वृ० स्वयम्भू० 82

'तृष्णाग्नि जीवो को सदा जलाती है। इन्द्रियो के प्रिय भोगो के द्वारा इन ज्वालाओ की शान्ति न होकर वृद्धि होती है। यह बात कुन्थुनाथ स्वामी

ने अनुभव द्वारा निश्चित की, तब उन्होने शरीर के सताप का निवारण करने मे निमित्त रूप विषय-सुखो के प्रति विमुखवृत्ति अगीकार की; कारण वे आत्मवान् थे।, आज का आत्मविहीन पश्चिम तथा उसके प्रभाव मे पडे हुए अन्य देश भोग और विषयो की आराधना करने मे मग्न है इसकी पूर्ति के निमित्त उन्हे कोई भी पाप या अनर्थ करने मे तनिक भी सकोच नही होता। अपने और अपनो के आराम के लिए वे सारे ससार को भी दु:ख के ज्वालामुखी मे भस्म होते देखकर आनन्दित रह सकते है। वे यह नही सोचते कि इस अन्धाराधना का परिणाम कभी भी सुखद नही हुआ है। आत्मा को सस्कृत बनाना (Soul Culture) उन्हे पसन्द नही है। उन्हे इसके लिए अवकाश नही है। **स्व॰ रवीन्द्रनाथ ठाकुर** ने एक अमेरिकन से कहा था - "आप लोगो के पास अवकाश नही है। कदाचित् है भी, तो आप उसका उचित उपयोग करना नही जानते। अपने जीवन की दौड मे तुम इस बात को सोचने के लिए तनिक भी नही रुकते कि, तुम कहा और किसलिए जा रहे हो। इसका यह फल निकला, कि तुम्हारी इस सत्यदर्शन की शक्ति चली गई है।"[1]

कारलाईल जैसा विद्वान कहता है "Know thyself" - अपनी आत्मा को जानो' के स्थान मे अब यह बात सीखो "Know thy work and do it" - अपने काम को जानो और उसे पूरा करो। अध्यात्मवादी यह कभी नही कहता कि अपने कर्तव्यपालन मे प्रमाद करो। उसका यह कथन अवश्य है, कि शरीर के साथ आत्मा की भी सुधि लेते रहो। स्वामी (आत्मा) की चिन्ता न कर सेवक (शरीर) की गुलामी मे ही अपनी सारी शक्ति का व्यय करना उचित नही है। अधिक कार्यव्यस्त व्यक्ति से शान्त भाव से पूछो कि इस जबरदस्त दौडधूप को कब तक करोगे? शान्तिपूर्वक जीवन क्यो नही बिताते? तो वह कहेगा, मुझे इसमे ही आनन्द मालूम पडता है। हा, यदि वह व्यक्ति अन्त:निरीक्षण (Introspection) का अभ्यास रखे, तो वह यह स्वीकार करेगा, कि कोल्हू के बैल के समान जीवन विवेकी मानव के लिए गौरव की वस्तु नही कहा जा सकता।

गाँधीजी ने अमेरिका को एक महत्त्वपूर्ण सन्देश दिया था - "वह (अमेरिका) धन को उसके सिहासन या तख्त से हटाकर ईश्वर के लिए थोडी जगह खाली करे।" गाँधीजी ने यह भी कहा, - "मेरा ख्याल है

कि अमेरिका का भविष्य उजला है। लेकिन अगर वह धन की ही पूजा करता रहा तो उसका भविष्य काला है।" उनका यह वाक्य कितना सुन्दर है, "लोग चाहे जो कहे, धन आखिर तक किसी का सगा नही रहा। वह हमेशा बेवफा (बेईमान) दोस्त साबित हुआ है"

– (*हरिजन-सेवक* 10-11-46, 399)

विश्वशान्ति-स्थापना के विषय मे गम्भीर विचार करते हुए बैरिस्टर **चम्पतरायजी** ने अपनी पुस्तक "The Change of Heart" (p 57) मे लिखा है, कि वास्तविक शान्ति की कामना करने वाले जिनशासन भक्त तथा अन्य अल्प व्यक्ति है। शान्ति भग करने वाले अपरिमित सख्या वाले है। उनमे से एक वर्ग (1) उन धर्मान्धो (Fanatics) का है, जो सोचते है कि अपने रक्तपातपूर्ण कार्यों द्वारा अपने ईश्वरकी प्रसन्नता को प्राप्त करेगे, और ईश्वर से क्षमा भी प्राप्त कर लेगे। उस ईश्वर से बडे-बडे पुरस्कार पाने की इन भक्तो को आशा है। साम्प्रदायिक विद्वेष प्रज्वलित करने वाले तथा अमानुषिक कृत्यो द्वारा इस भूतल पर नारकीय दृश्य उपस्थित करने वाले इन मजहबी दीवानो के द्वारा विश्व मे यथार्थ ऐक्य तथा शान्ति दर्शन दुर्लभ बन जाता है। इनके सिवाय दूसरा वर्ग (2) शिकारी की भावना (Hunter's Spirit) के नशे मे चूर है। वे दूसरो की सम्पत्ति या भूमि-रक्षण मे सहायता इसी आधार पर देते है, कि तुम यह स्वीकार करो कि बल ही सच्चा है (Might is right)। तुम उनको बलशाली और अपना स्वामी स्वीकार करो। उनकी धारणा है कि ससार मे दुर्बल मुनष्यो का सहार करके ही वे योग्य बनते है।

शान्ति के सच्चे उपासको की सख्या या प्रभाव इतना अल्प है, कि वे आज के कूटनीतिज्ञो के छल प्रपच के विरुद्ध कुछ भी महत्त्वपूर्ण कार्य नही कर सकते। धन और सत्ता के बल पर सत्य का द्वार प्राय: अवरुद्ध रहा करता है। वे सत्ताधीश शिकारी की मनोभावना वाले कही भी जाते है और दूसरो की दुर्बलताओ से लाभ उठा प्रजातन्त्र, जनतन्त्र, साम्राज्यवाद, साम्यवाद आदि मोहक सिद्धान्तो के नाम पर बडे-बडे देशो को हजम कर लेते है, जैसे व्याघ्र गाय को स्वाहा कर देता है। बडे-बडे सम्मेलन पवित्र उद्देश्यो के सरक्षण तथा बृहत् मानव जाति मे बन्धुत्व स्थापनार्थ किए जाते है, किन्तु शिकारी भावना-समन्वित प्रमुख पुरुषो के प्रभाववश अधे

के रस्सी बँटने और बकरी द्वारा बँटी रस्सी के चरे जाने जैसी समस्या हुआ करती है।

पश्चिम मे विज्ञान ने ईश्वर के अस्तित्व को मानने में अस्वीकृति व्यक्त की, जड-तत्त्व को ही सब कुछ बताया; इस शिक्षण के कारण यहाँ धार्मिक द्वन्द्वो की तो समाप्ति हो गई, किन्तु पूर्व के देशो ने धार्मिक अत्याचारो के कार्यो को अक्षुण्ण जारी रखा है। पश्चिम मे धर्मान्धता के अन्त होने का यह परिणाम नही हुआ, कि विशुद्ध धार्मिक दृष्टिवाले सत्पुरुषो का विकास हुआ हो। विश्वविद्यालयो की शिक्षा ने ऐसे अनाध्यात्मिक व्यक्तियो की नवीन सृष्टि की, जो अपना सानद अस्तित्व तथा समृद्धि को चाहते है। इसमे बाधा आती हो, तो उसे निवारण करने के लिए वे कितने भी मनुष्यो को यममन्दिर मे भेजने को तैयार है। पशुओ को तो वे बेजबान होने के कारण बेजान मानते है। वास्तव दृष्टि से देखा जाए, तो आत्मतत्त्व अविनाशी है। इससे आदर्श की रक्षा करते हुए मृत्यु के मुख मे प्रवेश करना कोई बुरा नही है। **सोमदेवसूरि** नीतिवाक्यामृत मे कहते है -

''कण्ठगतैरपि प्राणैर्नाशुभ कर्म समाचारणीय कुशलमतिभिः॥''

नी वी - 37, 20

उत्कृष्ट बुद्धि वाले व्यक्तियो को कण्ठगत प्राण होने पर भी निन्दनीय कार्य नही करना चाहिए।

यह है भारतीय पवित्र आदर्श। जडवादी प्राणरक्षा के नाम पर जगत् भर के सहार को उद्यत होता है, तो आदर्शवादी आध्यात्मिक अपने ध्येयकी रक्षार्थ जीवन का भी मोह नही करता है। भोगासक्त ससार को महर्षि **कुन्द-कुन्द** की चेतावनी ध्यान मे रखनी चाहिए।

''एक्को करेदि पाव विसयमणिमित्तेण तिव्वलोहेण।
णिरयतिरियेसु जीवो तस्स फल भुजदे एक्को॥15॥''

- बारहअणुवेक्खा

यह जीव, पाच इन्द्रियो के विषयो के अधीन हो तीव्र लालसापूर्वक पापो को अकेला करता है और 'अकेला' ही उनका फल भोगता है।

महाकवि बाल्मीकि अपने जीवन के पूर्व भाग मे महान् लुटेरा डाकू था। एक बार उसकी दृष्टि मे उपरोक्त तत्त्व लाया गया, कि तुम्हारा डकैती से प्राप्त धन सब कुटुम्बी सानन्द उपभोग करते है, किन्तु वे इस पाप मे भागीदार नहीं होगे; फल तुम्हे ही अकेले भोगना पडेगा। बाल्मीकि ने अपने कुटुम्ब मे जाकर परीक्षण किया, तो उसे ज्ञात हुआ, कि पाप का बँटवारा करने को माल उडाने वाले कुटुम्बी लोग तैयार नही है। इसने डाकू बाल्मीकि के हृदय-चक्षु खोल दिए और उसने डाकू का जीवन छोडकर ऐसी सुन्दर जिन्दगी बना ली, कि अब तक जगत् रामायण के रचयिता के रूप मे उस महाकवि को स्मरण करता है।

इस युग के साम्राज्यवादी, डिक्टेटर अथवा भिन्न-भिन्न राजनैतिक विचारधारा वालो को भी यह नग्न सत्य हृदयगम करना चाहिए, कि आज परिस्थिति अथवा विशेष साधनवश उनके हाथ मे सत्ता है, बल है और इससे वे मनमाने रूप मे शिकारी के समान दीन-हीन, अशिक्षित अथवा असभ्य कहे जानेवाले मनुष्यो की स्वतत्रता का अपहरण करे, उन्हे अनैतिक बना सदा के लिए अधकूप मे डाले रखे, ताकि वे फिर उच्च गौरवपूर्ण राष्ट्र के रूप मे अपना सिर न उठावे, उनका धन अपहरण करे, उनकी सस्कृति को चौपट करे और एक प्रकार से उनका जीवन पशुतापूर्ण बनावे; किन्तु इन अनर्थो का दुष्परिणाम भोगना ही पडेगा। प्रकृति का यह अबाति नियम, 'As you sow, so you reap' - 'जैसा बोओ, तैसा काटो' इस विषय मे तनिक भी रियायत न करेगा। कथित ईश्वर का हस्तक्षेप भी पापपङ्क से न बचावेगा।

वैज्ञानिक धर्म तो यही शिक्षा देता है, कि अपने भाग्यनिर्माण की शक्ति तुम्हारे ही हाथ मे है, अन्य का विश्वास करना भ्रमपूर्ण है। अभी तो राजनैतिक जगत् के विधातागण अपने आपको साख्य के पुरुष समान पवित्र समझते है और यह भी समझते है और यह भी सोचते है, कि अपने राष्ट्रहित के लिए जो कुछ भी कार्य करते है वह दोष उनसे लिप्त नही होता। जैसे प्रकृति का किया गया समस्त कार्य पुरुष को बाधा नही पहुँचाता। यह महान् भ्रमजाल है। कर्तृत्व और भोक्तृत्व पृथक्-पृथक् नही है। कारण भुक्ति-क्रियाकर्तृव्य ही तो भोक्तृत्व है। जगत् का अनुभव भी इस बात का समर्थन करता है।

जैनशासन सबको पुरुषार्थ और आत्मनिर्भरता की पवित्र शिक्षा देता हुआ समझाता है, कि यदि तुमने दूसरो के साथ न्याय तथा उचित व्यवहार किया, तो इस पुण्याचरण से तुम्हे विशेष शान्ति तथा आनन्द प्राप्त होगा। यदि तुमने दूसरो के न्यायोचित स्वत्वो का अपहरण किया, प्रभुता के मद मे आकर असमर्थों को पादाक्रान्त किया, तो तुम्हारा आगामी जीवन विपत्ति की घटा से घिरा हुआ रहेगा। इस आत्मनिर्भरता की शिक्षा का प्रचार होना आवश्यक है। यदि प्रभुता के मद-मत्त व्यक्ति की समझ मे आ गया, कि पशु-जगत् के नियमो का हमे स्वागत नही करना चाहिए तो कल्याण का मार्ग प्रारम्भ हो जाएगा। ज्ञानवान् मानव का कर्त्तव्य है कि वह अपने जीवन की चिन्तना के साथ अपने असमर्थ अथवा अज्ञानी बन्धुओ को बिना किसी भेद-भाव के समुन्नत करने का प्रयत्न करे। चालाकी, छल और प्रपच करने वाला स्वय अपनी आत्मा को धोखा देता है। अन्य धर्मगुरुओ के समान जैनशासन इतना ही उपदेश देकर कृतकृत्य नही बनता है कि 'तुम्हे दूसरो का उपकार करना चाहिए। बुरे काम का फल अच्छा नही होगा।' जैनधर्म जब विज्ञान (Science) है, तब उसमे प्रत्येक बात का स्पष्ट तथा सुव्यवस्थित वर्णन है। उसमे यह भी बताया है, कौन से कार्य बुरे है, उनसे बचने का क्या उपाय है आदि।

आज जो पश्चिम मे धन की पूजा (Mammon-worship) हो रही है, उसके स्थान मे वहा करुणा, सत्य, परिमित परिग्रहवृत्ति, अचौर्य, ब्रह्मचर्य की आराधना होनी चाहिए। विद्या धन जैसे देने से बढता है, इसे लेने वाला और देने वाला आनन्द का अनुभव करता है, इसी प्रकार करुणा और प्रेम का प्रसाद है। करुणा की छाया मे सब जीव आनन्दित होते है। दूसरे प्राणी को मारकर मास खाना, शिकार खेलना आदि करुणा के विघातक है। मासाहार तो महापाप है। मासाहारी की करुणा या अहिसा ऐसी ही मनोरजक है, जैसे अन्धकार से उज्ज्वल प्रकाश की प्रादुर्भूति होना। जब तक बडे राष्ट्र या उनके भाग्यविधाता मास-भक्षण, शिकार, मद्यपान, व्यभिचार, अनुचित उपायो से दूसरो की सम्पत्ति का अपहरण करना आदि विकृतियो से अपनी और अपने देश की रक्षा नही करते, तब तक उज्ज्वल भविष्य की कल्पना करना कठिन है।

आज की कथा बडी अद्भुत है। विश्वशान्ति और लोक कल्याण के सुमधुर और सर्वप्रिय उद्देश्यों को लेकर महासम्मेलनो मे एकत्र होने वाले बडे-बडे राजनीतिज्ञ शराब को पानी के स्थान मे पीकर और विविध प्राणियो के मास से बने हुए आहार द्वारा अपनी उदराग्नि को शान्त कर विश्वशान्ति की बात सोचने बैठते है। दूषित आहार-पान के फलस्वरूप वास्तविक शान्ति और कल्याण की ज्योति का दर्शन् नही होता। शमशान मे शवदाह होते हुए भी अग्नि दीख पडती है। उस उजाले मे तथा दया के देवता के समीप अपनी प्रकाशमयी किरणो के द्वारा मलिन अन्धकार को दूर भगाने वाले प्रिय दीपक मे जैसा अन्तर है, उसी प्रकार सदाचारपूर्ण वृत्तियो को अपनाकर सद्विचार हेतु एकत्रित होने वाले साधुचेतस्क सत्पुरुषो की परिषद् मे तथा नर-रूपधारी गिद्ध के समान जीवनचर्या वाले लोगो के सम्मेलन मे भी अन्तर है। आज की पश्चिमी सभ्यता अथवा पूर्व की सभ्यता प्राय. समान है। नागनाथ तथा साँपनाथ मे कोई अन्तर नही है। पूर्व और पश्चिम के राजनीतिज्ञो की चर्चा तो जाने दीजिए, विश्व धर्म सम्मेलनो मे एकत्रित होकर ये अपने को ईश्वरभक्त तथा परम आस्तिक मानने वाले धर्म के प्रतिनिधि माँसभक्षण तथा सुरापान् करने मे तनिक भी सकोच नही करते। विश्वधर्म का प्राण करुणा, दया तथा अहिसा की भावना है, उसे ये हृदय के सिहासन से दूर करने रसना के अग्रभाग मे प्रतिष्ठित करते हुए अद्भुत आकर्षणपूर्ण बाते बनाते है तथा गहरी-गहरी मत्रणाएँ किया करते है - तथा स्फूर्ति प्राप्ति निमित्त निरपराध दीन जीवो के रक्तपान करने मे तनिक भी सकोच नही करते। मास, मदिरा आदि तमोगुण प्रधान सामग्री के मध्य रहने वाले हमारे ये विश्वधर्म सम्मेलन के भाग्य विधाता तनिक भी प्रकाश नही प्राप्त कर पाते है। वाणी का विलास दिखाकर ये हर्षित हो सत्य के समक्ष आत्म वचना के दोष से अभिव्याप्त होते है। यही स्थिति शान्ति के अन्वेषक हमारे बडे-बडे राजनीतिज्ञो की परिषद् मे भी हुआ करती है। यह कथन वास्तविकतापूर्ण है कि हिसादि पापो मे निमग्न व्यक्ति दूसरो के दु:खो के निवारण की सच्ची बात नही सोच पाता। असात्त्विक आहारपान से पशुता का विकास होता है। सुख का सिन्धु वहा ही दिखाई पडता है, जहा करुणा की मन्दाकिनी बहा करती है।

कोई व्यक्ति तर्क कर सकता है कि आज के युग मे उपरोक्त नैतिकता के विकास की चर्चा व्यर्थ है, कारण उसका पालन होना असम्भव है।

ऐसी बात के समाधान मे हम यह बताना चाहते है, कि यदि कुछ समर्थ व्यक्ति अपने अन्तःकरण मे पवित्र भावो के प्रसार की गहरी प्रेरणा प्राप्त कर ले, तो असम्भव भी सम्भव हो सकता है। अकेले गाँधीजी ने अपनी अन्तरात्मा की आवाज के अनुसार देश मे अहिसात्मक उपाय से राजनैतिक जागरण का कार्य उठाया था, आज स्वतत्र भारतवर्ष तथा विश्व भी यह अनुभव करता है, कि उस व्यक्ति ने देश मे कितनी शक्ति और चेतना उत्पन्न की। आवश्यकता है जीवन उत्सर्ग करने वाले सच्चे, सहृदय, विचारशील सत्पुरुषो की। पवित्र जीवन के प्रभाव से पशु-जगत् मे भी नैसर्गिक क्रूरता आदि नही रहने पाती, तब यहा तो मनुष्यो के उद्धार की बात है, जो असम्भव नही कही जा सकती।

आज जो दुनिया मे विविध राजनैतिक, आर्थिक विषमताओ का उदय है, वह अल्पकाल मे दूर हो सकता है, यदि समर्थ मानव ससार मे ऋषिवर **उमास्वामी** की इस शिक्षा का प्रसार हो सके। पूँजीवाद की समस्या भी सुलझ सकती है, यदि सम्पत्तिशालियो के हृदय मे यह बात जम जाय कि - "**बह्वारम्भपरिग्रहत्व नारकस्यायुष** " - 'बहुत आरम्भ और परिग्रह के कारण नरक का[2] जीवन मिलता है।' इससे अर्थ को ही भगवान् मान भजन करने वालो को अपना भविष्य ज्ञात कर जीवन-परिवर्तन की बात हृदय मे उदित होगी। "**अल्पारम्भपरिग्रहत्व मानुषस्य**" - 'थोडा आरम्भ और थोडा परिग्रह मनुष्यायु का कारण है।' छल प्रपच के जगत् मे निरन्तर विचरण करने वाले राजनीतिज्ञो को आचार्य बताते है - "**माया तैर्यग्योनस्य**" - 'मायाचार के द्वारा पशु का जीवन प्राप्त होता है।' कूटनीतिज्ञ अपने षड्यन्त्रो को बहुत छिपाया करते है, इस आदत के फलस्वरूप पशु-जीवन मिलता है, जहा जीव अपने दुःख-सुख के भावो को वाणी के द्वारा व्यक्त करने मे असमर्थ होता है।

पवित्राचरण, जितेन्द्रियता, सयम (Self-control) के द्वारा सुरत्व की उपलब्धि होती है। आचार्य **उमास्वामी** के कथन से यह स्पष्ट होता है, कि आज पाप-पक मे निमग्न प्राणी अपनी अमर आत्मा को नीच पर्याय मे ले जाता है, जहा दुःख ही दुःख है। आज जो वर्ग की श्रेष्ठता, (Race-Supenonty) अथवा रगभेद (Colour Distinction) की ओट मे अभिमान और घृणा के बीज दिखते हैं, उसका फल सूत्रकार बताते है -

"परात्मनिन्दाप्रशंसे सदसद्गुणोच्छादनोद्भावने च नीचैर्गोत्रस्य॥"

- त॰ सू॰ 6/25

दूसरे की निन्दा, अपनी प्रशसा करना, दूसरे के विद्यमान गुणो को ढाकना और अपने झूठे गुणो का प्रकट करना इन कार्यो के द्वारा यह जीव निन्दनीय तथा तिरस्कारपूर्ण अवस्था को प्राप्त करता है।

आज जो अनेक राष्ट्रो मे घृणा, जातिगत अहकार आदि विकार समा गए है वे उन राष्ट्रो का इतना भीषण विनाश करेगे, जितना लाखो अणुबम का प्रयोग भी नही करेगा। आत्मगत दोषो के द्वारा जीव इतने गहरे पतन के गर्त मे गिरता है, कि जहा से विकास का मार्ग ही गणनातीत काल के लिए रुक जाता है।

सत्ताधीश सफलता के मद मे मस्त हो आश्रित व्यक्तियो और देशो को अपने मन के अनुसार नचाता है, उन्हे कष्ट पहुँचाता है। उनका चिरस्थायी नैतिक पतन हो, इस उद्देश्य से वह उन्हे पापपूर्ण व्यसनो मे फँसाता है और कहता है कि हम क्या करे? इनने स्वय पापो को आमंत्रित किया है। ऐसे धूर्तों के चरित्र पर **सोमदेवसूरि** प्रकाश डालते हुए कहते हैं -

"स्वव्यसनतर्पणाय धूर्तैर्दुरीहितवृत्तयः क्रियन्ते श्रीमन्त.॥"

- नी॰वा॰ 38, 20

'धूर्त लोग अपनी आपत्ति के निवारणार्थ श्रीमानो को पापमार्ग मे आसक्त कराते है।' पुरातन भारत और अग्रेजी भारत के चित्रो के सन्तुलन से पता चल सकता है कि धूर्त लोग किस प्रकार स्वार्थपुष्टिनिमित्त महान् नैतिक राष्ट्र को कुमार्गरत करते है। जो देश अपने प्रामाणिक व्यवहार के लिए प्रसिद्ध रहा है, जहा झूठ, चोरी आदि बडे पातक माने जाते है, जहा सत्य के पीछे जीवनभर सकट का सहर्ष स्वागत करने को लोग तैयार रहते थे, वहा ही भारतीय जीवन मे मर्यादातीत अप्रामाणिकता का प्रवेश हो गया। यह अग्रेजो की स्वशासनकालीन कूटनीतिका परिणाम है। न्यायालय की विशेष पद्धति के द्वारा सारे राष्ट्र मे बेईमानी, छल, प्रपच करने की प्रकारान्तर से शिक्षा प्रदान की गई थी। अर्थ-प्रदान के द्वारा अनर्थ का पोषण हुआ। विविध भाँति की अनैतिकता का विषवृक्ष सफल हो अपने कटुफल

देने लगा, यह कूटनीतिका मोहक सस्करण ही है। किसी राष्ट्र को दीन हीन दु:खी बना शोषणनीति द्वारा विषय-विलासिता मे मग्न होने वालो को यह सूत्र प्रकाश प्रदान करता है, कि दूसरो को दु:खी करने से, शोकाकुल करने से तथा उनके प्राणघात आदि से यह जीव अपने लिए विपत्ति का बीज बोता है -

''दु:खशोकतापाक्रन्दनवधपरिदेवनान्यात्मपरोभयस्थानान्यसद्वेद्यस्य।''

- *त० सू० 6, 11*

दुष्टतापूर्ण वृत्ति का प्रदर्शन करने पर तो दण्ड का प्रहार आवश्यक है। उसका ध्येय दुष्टता का विनाश हो, न कि व्यक्ति का उन्मूलन कार्य। **सोमदेव सूरि** दण्ड के प्रयोग के विषय मे एक बात से सतर्क करते है कि यदि दण्ड प्रयोग मे विवेक से काम न लिया, तो लाभ के स्थान मे अलाभ होगा।

''दुष्प्रणीतो हि दण्डः कामक्रोधाभ्यामज्ञानाद्वा सर्वविद्वेष करोति॥''

- 6/104

'काम, क्रोध अथवा अज्ञानवश दण्डका अनुचित प्रयोग सर्वत्र विद्वेष के भावो को उत्पन्न करता है।' स्वतत्र भारत के शासन-सूत्रधारो को इस अमूल्य सूत्र को हृदयगम करना चाहिए।

जहा परस्पर सद्भावना, सहानुभूति, सच्चा प्रेम का निर्झर न बहे, वहा तो एक प्रकार से नरक का राज्य समझना चाहिए। समाज या राष्ट्र के भाग्यविधाता का कर्त्तव्य है कि वह जनता की अधोमुखी वृत्तियो पर नियत्रण रखे और उसमे सद्भावनाओ का प्रकाश फैलावे। शासक का कार्य खटमल की भाति शोषण नही है। उसका कर्त्तव्य मेघमाला के समान अमृतवर्षा करके इस भूतल को सर्वप्रकार से सम्पन्न और समृद्ध करने मे है। आज शोषण नीति का बोलबाला दिखाई पडता है। शासक शासितो का शोषण करता है, धनी निर्धनो का, मिल मालिक मजदूरो का शोषण करने मे मग्न है। उन्हे सोचना चाहिए कि इस अल्पस्थायी मनुष्य जीवन मे अधिक धन की तृष्णा द्वारा हमारा कल्याण नही है, कारण मरने के बाद कुछ भी साथ नही जाता। अत: अपने आश्रितजनो को कम से कम

जीवन की आवश्यक सामग्री अवश्य प्राप्त कराना चाहिए। सच्चा आनन्द केवल अपना पेट भरने मे नही है, बल्कि अपने आश्रित सभी लोग सुखी हो, और उन्हे कोई कष्ट नही हो, ऐसी स्थिति उत्पन्न करने मे है। जैनशास्त्रकारो ने कहा है, जो गृहस्थ दान नही देता है, उसका घर श्मशान तुल्य है। यदि शक्तितः त्याग (दान) का तत्त्व धनिको के अन्तःकरण मे प्रतिष्ठित हो जाए, जो अर्थवान् और अर्थविहीनो का सघर्ष दूर होकर मधुर सम्बन्धो की स्थापना हो सकती है।

इन जीवन सग्राम मे सदा अपराजित जीवन रहे, इसलिए योग्य गृहस्थ उन वीरो की कुछ समय तक एकचित्त हो, वदना तथा गुणानुचितन करता है, जिन्होने भौतिक दुर्बलताओ पर विजय प्राप्त की है, साथ ही काम, क्रोध, लोभ, मान, मोहादि रिपुओ को भी पराजित किया है। इस आदर्श की आराधना से आत्मा व्यामुग्ध नही बनता है। दान देने से सहानुभूति तथा सहयोगी का सच्चा भाव सजग रह समाज को मगलमय बनाता है। तीव्र स्वार्थभावना पतन की ओर प्रेरणा करती है। हृदय मे यदि प्राणीमात्र के प्रति "**समता सर्वभूतेषु**" की भावना प्रतिष्ठित हो जाय, तो आन्तरिक साम्य की अवस्थिति मे बलपूर्वक स्थापित किये गये कृत्रिम साम्यवाद की ओर कौन झुकेगा? आज के युग मे सहयोग, परस्पर सहायता, सहानुभूति, ऐक्य, उदारता, प्रेम, प्रामाणिकता, सतोष, स्पष्टवादिता, निर्भीकता, स्वस्त्रीसन्तोष, सयम सदृश सद्गुणो की यदि अभिवृद्धि हो जाय, तो विश्व मे बहुत से विषमता तथा विषाद उत्पन्न करने वाले विवादो का अवसान हुए बिना न रहे। राज्य शासन की कोई भी पद्धति हो, उसके भीतर यदि पूर्वोक्त प्रवृत्ति का पोषण होता है, तो वह श्रेष्ठ है। शासन पद्धति साध्य नही, साधन है। साध्य है शान्ति, समृद्धि तथा मनुष्य जीवन की सफलता। उन्नति के लिए विविध धर्मग्रन्थ अहिसा, सत्य, शील आदि का उल्लेख मात्र करते है, किन्तु वे यह स्पष्टतया नही बताते, कि इन सिद्धान्तो का सम्यक् परिपालन किस प्रकार सम्भव है?

हजरत मसीह के प्रेम का अर्थ बराबर समझ मे नही आता, जब वे मनुष्य को तो यह कहते है कि अगर कोई तुम्हारे एक गाल पर चपत मारे, तो तुम अपना दूसरा गाल उसके समक्ष कर दो, किन्तु वे स्वय जीवित

मछलियो को अपने भक्तो को खिलाते हुए यह नही सोचते, कि इन हतभाग्य जीवनधारियो को मारे जाने मे प्राणान्त व्यथा होगी। ब्रह्मचर्य और शील की महत्ताका एक बार सीतादेवी के चरित्र मे दर्शन करने के उपरान्त जब हमे पाण्डवो के चरित्र मे द्रौपदी को पचभर्तारी के रूप मे सती बताया जाता है, तब हमे पतिव्रत्य धर्मका अविरोधी स्वरूप हृदयगम करने मे काठिन्य का अनुभव होता है। ऐसी ही कठिनतापूर्ण सदाचार की विभिन्न प्रवृत्तिया समक्ष आती है। जैनशासन का सुव्यवस्थित वर्णन ऐसे सकटो से परे है। उसमे इस बात का पूर्णतया स्पष्ट विवेचन किया गया है, कि अहिसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह वृत्ति का पोषण करने की चर्या किस प्रकार है और किस प्रकार की प्रवृत्ति से इसका विनाश होता है। गृहस्थ अवस्था मे कम से कम कितनी प्रवृत्ति करे और किस क्रमिक विकासपूर्ण पद्धति से आगे बढे? महान् साधक श्रमण के पद को प्राप्त कर कैसे चर्या करे? जैन आचार ग्रन्थो मे इस विषय पर विशद विवेचन किया गया है। उदाहरणार्थ अपरिग्रह व्रत को देखिये। साधारण गृहस्थ का कर्त्तव्य है कि अपनी आवश्कतानुसार धनधान्य, बर्तन, वस्त्र, मकानादि की मर्यादा बाधकर शेष पदार्थो के प्रति किसी प्रकार का ममत्व या तृष्णा न करे। उसका ममत्व मर्यादित पदार्थो तक ही सीमित हो जाता है। इस व्रत को निर्दोष पालने के लिए पाच अतिचारो-दोषो (Transgressions) का रक्षण आवश्यक है। इस विषय के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ रत्नकरडश्रावकाचार मे **स्वामी समन्तभद्र** कहते है -

> **"अतिवाहनातिसग्रहविस्मयलोभातिभारवहनानि।**
> **परिमितपरिग्रहस्य च विक्षेपा पञ्च लक्ष्यन्ते॥"-62**

प्रयोजन से अधिक सवारी रखना, आवश्यक पदार्थो से अधिक सग्रह करना, दूसरे वैभव को देखकर विस्मय धारण करना। जिससे यह व्यक्त होता है, कि धन दौलत के प्रति तुम्हारे हृदय मे मोह है, अन्यथा अधिक परिग्रह के कारण विशेष सुखी समझना चाहिए था। बहुत लोभ करना, बहुत भार लादना ये पाच अतिचार-दोष परिग्रहपरिमाणव्रत के कहे गए है।

इस परिग्रहपरिमाणव्रत के स्वरूप मे यह बताया है कि अपनी आवश्यकता तथा मनोबृत्ति के अनुसार धन, धान्यादि की मर्यादा बाध लेने से चित्त लालच के रोग के मुक्त हो जाता है। मर्यादा के बाहर की सम्पत्ति के बारे मे "**ततोऽधिकेषु निस्पृहता**" का भाव रखना आवश्यक कहा है। वरागचरित्र मे इस व्रत को सतोष व्रत कहा है :

वास्तु-क्षेत्र-धन धान्य पशु-प्रेस्य-जनाविकम्।
परिमाणकृत यत्तत्सतोष व्रत मुच्यते॥15-116॥

अहिसा के विषय मे बताया है कि वह प्राथमिक साधक यह प्रतिज्ञा करे कि मै सकल्पपूर्वक मनसा, वाचा, कर्मणा, कृत, कारित, अनुमोदना द्वारा किसी भी त्रस जीव (mobile creature) का प्राणघात न करूँगा, तब उसे स्थूल हिसा का त्यागी कहेगे। इस परिभाषा से मास भक्षण, शिकार खेलना आदि का त्याग इस अहिसक के लिए अनिवार्य है। उसके पच अतिचार इस प्रकार कहे गये है, 1 अगो को छेदना, 2 दुर्भावपूर्वक बाधना, 3 पीडा देना, 4 बहुत बोझा लादना, 5 आहार देने मे त्रुटि करना या आहार न देना। इनके द्वारा अहिसात्मक दृष्टिका पोषण होता है। रत्नकरडश्रावकाचार, सागारधर्मामृत आदि ग्रथो से यह विषय स्पष्टतया तथा व्यवस्थित रूप से समझा जा सकता है। इस विषय का प्रतिपादन पूर्णतया मनोवैज्ञानिक है। जैनियो मे जो अहिसात्मक वृत्ति का यथाशक्ति पालन है, उसका कारण वैज्ञानिक शैली से प्रकाश डालने वाले सत्साहित्य का स्वाध्याय, प्रभाव तथा प्रचार है।

इन अहिसा आदि व्रतो के श्रेष्ठ आराधक दिगम्बर जैन महामुनि आचार्य श्री शान्तिसागर महाराज से मैने एक बार पूछा था - "महाराज, इस युग मे उन्नति तथा शान्ति का उपाय क्या है?" आचार्य महाराज ने जो समाधान किया था, यथार्थ मे विश्व की विकट समस्याओ का सरल सुधार उसी मे निहित है। महाराज ने कहा - "बिना पाप और पापबुद्धि का त्याग किए, न व्यक्ति का सुधार हो सकता है, न समाज का , न राष्ट्र का और न विश्व का। जिस-जिस जीव ने हिसा, झूठ, चोरी, कुशील तथा अधिक तृष्णा का यथाशक्ति परित्याग किया है, उसका उतना कल्याण

हुआ है। जिन्होने हिसादि पापो की ओर प्रवृत्ति की है, वे दुःखी हुए है" वास्तव मे जगत् का सच्चा कल्याण आचार्य महाराज के कथनानुसार "पाप तथा पापबुद्धि के परित्याग मे है।" प्रचुर पापाचरण में डूबे रहने के कारण भौतिक दृष्टि से समृद्ध और सम्पन्न राष्ट्रो की मनोदशा यथार्थ शांति शून्य है। सदाचार से प्रसूत शांति का सौरभ और सौदर्य अपूर्व होता है। अहिसा की साधना से प्राप्त आतरिक सुख बडा पवित्र होता है। अतः पाप त्याग आवश्यक है। महर्षि **कुन्दकुन्द** का कितना पवित्र उपदेश है -

> **"जिणवयणमोसहमिण विसयसुहविरेयण अमिदभूय।**
> **जरमरणवाहिहरण खयकरण सव्वदुक्खाण॥17॥"** *-दर्शनप्राभृत*

'जिन भगवान् की वाणी परमौषधि रूप है। यह विषय-सुख का त्याग कराती है। यह अमृत रूप है। जरा-मरण व्याधि को दूर करती है तथा सर्व दु·खो का क्षय करती है।

यह जिनेन्द्र वाणी विश्व की पुण्य सम्पत्ति है। प्रत्येक व्यक्ति को यह अधिकार है, कि इस अभयप्रद, अमृतवर्षिणी जिनवाणी के रसास्वादन द्वारा अपने जीवन को मगलमय बनावे। यह वीतराग का शासन पहले समस्त भारत मे वन्दनीय था। यह राष्ट्रधर्म रह चुका है। साप्रदायिक सकटो तथा धर्मान्धो के लोमहर्षण करने वाले अत्याचारो के[3] कारण इसके आराधको की सख्या कम हुई। इन अत्याचारो के कारण और स्वरूप पर प्रकाश डालना आवश्यक नही प्रतीत होता।

आज विज्ञान प्रभाकर के प्रकाश के कारण जो साप्रदायिकता का अन्धकार न्यून हुआ है, उससे इस पवित्र विद्या के प्रसार की पूर्ण अनुकूलता प्रतीत होती है। जिनवाणी की महत्ता को हृदयगम करने वाले व्यक्तियो का कर्तव्य है कि इस आत्मोद्धारक तत्त्वज्ञान के रसास्वादन द्वारा अपने जीवन को प्रभावित[4] करे, और जगत् को भी इस ओर आकर्षित करे, ताकि सभी लोग अपना सच्चा कल्याण कर सके। इस कार्य मे निराशा के लिए स्थान नही है। सत्कार्यो का प्रयत्न सतत चलता रहना चाहिए। जितने जीवो को सम्यक्ज्ञान की ज्योति प्राप्ति होगी, वह ही महान् लाभ

है। कम से कम "**श्रेयः यत्नवोऽस्त्येव**" - प्रयत्न करने वालो का तो अवश्य कल्याण है। हमे सगठित होकर ससार के प्रागण मे यह कहना चाहिए -

जिनवाणी सुधा-सम जानि के नित पीजो धी-धारी।

★★★★

सदर्भ सूची .

1 Rabindranatha Tagore said to me, "You Americans have no leisure, or if you have, you know not how to use it In the rush of your lives, you do not stop to consider where you are rushing to nor what is it all for The result is that you have lost the vision of the Eternal"
- Vide James Bisset Pratt, *India & its Faiths*, p 473

2 'आरभ' हिसन कार्य को कहते है। 'परिग्रह' ममत्वभाव का कहते हैं।

3 आधचरितम्, Indian Antiquary, Saletore's Medieval Jainism Dr Von Glasenapp's Jainimus, Smith's History of India, आदि पुस्तको से इस बात का परिज्ञान हो सकता है।

4 "आत्मा प्रभावनीयो रत्नत्रयतेजसा सततमेव।
दानतपोजिनपूजाविद्यातिशयैश्च जिनधर्म ॥" - *पु० सि० श्लोक 30।*
- रत्नत्रयके तेज द्वारा अपनी आत्मा को प्रभावित करे तथा दान, तपश्चर्या, जिनेन्द्र देव की पूजा एव विद्या की लाकोत्तरता के द्वारा जिनशासन के प्रभाव को जगत् मे फैलावे।

★★★★

कल्याण पथ

जब से भारत ने अहिसात्मक सग्राम द्वारा स्वातत्र्य प्राप्त किया है, तब से सर्वत्र अहिसा के महत्त्व की महिमा सुनाई पडती है। विश्व मैत्री की आधारशिला पर अवस्थित जैन विचार शैली से जगत् मार्ग-प्रदर्शन प्राप्त करना चाहता है। विश्व के अप्रतिम विद्वान् **जार्ज बर्नार्ड शॉ** जैन तत्त्वज्ञान पर अत्यन्त अनुरक्त प्रतीत होते है। जैन-अहिसा के आदर्श को शिरोधार्य कर 'शा' महाशय निरामिषभोजी का जीवन व्यतीत करते थे। कुछ समय पूर्व उन्होने श्री देवदास गाधी से कहा था, कि "जैनधर्म के सिद्धान्त मुझे अत्यन्त प्रिय है। मेरी आकाक्षा है, कि मृत्यु के पश्चात् मै जैन परिवार मे जन्म धारण करूँ।" जैन विचारो का गाँधीजी के जीवन पर गहरा प्रभाव रहा है। उनकी अहिसात्मक साधना के प्रति अपूर्व निष्ठा को देख,[1] पश्चिम के बडे-बडे विद्वान् गाधी जी को जैनधर्म का अनुयायी मानते है। **सी॰एफ॰ एण्ड्रूज** महाशय ने एक बार बताया था, कि जब राष्ट्र के पथ-प्रदर्शन मे बापू का मार्ग तिमिर-तिरोहित बन जाता था, और वे आत्म प्रकाश के लिए लम्बे-लम्बे उपवासो का आश्रय लेते थे, उस समय वे प्राय· जैनशास्त्रो के सम्यक् अनुशीलन मे निरत देखे जाते थे, जिसके प्रसाद से वे अपनी अहिसात्मक साधना के क्षेत्र मे सफलतापूर्वक उत्तीर्ण होते रहे है।

गाधी जी के मन मे जैनधर्म के प्रति महान आदर और अपार ममता थी। एक दिन उनके निजी सचिव श्री प्यारेलाल ने उनसे कहा आपने बहुत पहले ही कहा था कि जैनधर्म के बारे मे भी कुछ न कुछ लिखेगे?

बापू बोले : जैन धर्म के बारे मे तो रामचन्द भाई के ही सहयोग से कुछ लिखने का विचार किया था; मगर वह बात बहुत वर्षो से मेरे मन से निकल गई है। मुझे लगता है कि मै उसका अधिकारी नही हूँ। मुझे जैनधर्म के विषय मे ज्ञान ही क्या है? उसके लिए खूब अभ्यास करना चाहिये। जैन शास्त्र पढने चाहिये; दूसरो की टीकाए भी देखनी चाहिये। यह सब देखकर ही मै उसे उठा सकता हू। आज वह मेरे बस की बात नही। (*बापू की कारावास कहानी*, पृष्ठ 168)

अपने असहयोग-आन्दोलन को आरभ करने के कुछ समय पूर्व महावीर जयती के समारभ का अध्यक्ष बन बापू ने अहमदाबाद मे कहा था, "जैनधर्म अपने अहिसा-सिद्धान्त के कारण विश्व-धर्म होने के पूर्णतया उपयुक्त है"। सन् 1947 मे एशिया महासम्मेलन के सदस्यो के समक्ष प्रकाण्ड विद्वान् **डा॰ कालिदास नाग** पूर्व मत्री रायल एशियाटिक सोसाइटी बगाल ने बडे महत्त्वपूर्ण विचार प्रस्तुत किए थे, कि "आज की राजनीति सरक्षणात्मक नियमो से पूर्णतया पृथक् होकर मानव जाति के ध्वस की धमकी दे रही है। हम कुछ वर्षो या युगो पर्यन्त और धोखा दे सकते हैं, किंतु हम इतिहास के निर्मम निर्णय से नही बच सकते है। अनेक महान् राष्ट्र, राज्य तथा साम्राज्य पराजित हो चुके अथवा वे पुरातन विनष्ट वस्तुओ की श्रेणी मे समाविष्ट हो गए है। यदि हम यह आशा करते है तथा चाहते हैं कि हमारा विनाश न हो, और हम मानव-सभ्यता के समुदाय को कुछ समर्पण करे, तो हमे जैन महापुरुषो से सहमत होना होगा और अपने अस्तित्व के हेतु अहिसा को अपना मौलिक सिद्धान्त स्वीकार करना होगा।"[2]

इस प्रसग मे भारतीय गणतत्र शासन के माननीय अध्यक्ष **डॉ॰ राजेन्द्र प्रसाद जी** द्वारा 24 जनवरी सन् 1949 को दिया गया सदेश बडा उद्बोधक है कि "जैनधर्म ने ससार को अहिसा की शिक्षा दी है। किसी दूसरे धर्म ने अहिसा की मर्यादा यहा तक नही पहुँचाई। आज ससार को अहिसा की आवश्यकता महसूस हो रही है, क्योकि उसने हिसा के नग्न-ताण्डव को देखा है और आम लोग डर रहे है, क्योकि हिसा के साधन आज इतने बढते जा रहे है और इतने उग्र होते जा रहे है, कि युद्ध मे किसी के जीतने या हारने की बात इतने महत्त्व की नही होती, जितनी किसी देश या जाति के सभी लोगो को केवल निस्सहाय बना देने की ही नही, पर जीवन के मामूली सामान से भी वंचित कर देने की होती है।" इसलिए वे कहते है, "जिन्होने अहिसा के मर्म को समझा है वे ही इस अधकार मे कोई रास्ता निकाल सकते है"। **राजेन्द्र बाबू** के शब्द बडे विचारपूर्ण है, "जैनियो का आज मनुष्य समाज के प्रति सबसे बडा कर्त्तव्य यह है कि वह इस पर ध्यान दे और कोई रास्ता ढूँढ़ निकाले।"

प्रमुख पुरुषो के ऐसे आतरिक उद्‌गारो से यह बात स्पष्ट हो जाती है, कि मानवता के परित्राणार्थ भगवती अहिसा की प्रशान्त छाया का आश्रय लिए बिना अब कल्याण नही है। वास्तविक सुख, शाश्वतिक शान्ति और समृद्धि का उपाय क्रूरतापूर्ण प्रवृत्ति का परित्याग करने मे है। वैज्ञानिक आविष्कारो के प्रसाद से हजारो मील की दूरी पर अवस्थित देश अब हमारे पडोसी सदृश हो गए है, और हमारे सुख-दुःख की समस्याएँ एक दूसरे के सुख-दु.ख से सम्बन्धित और निकटवर्तिनी बनती जा रही है। एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र से पूर्णतया पृथक् रहकर अब अपना अद्‌भुत आलाप छेडते नही रह सकता है। ऐसी परिस्थिति मे हमे सब के कल्याण की, - दूसरे शब्दो मे जिसे सर्वोदय का मार्ग कहेगे, - ओर दृष्टि देनी होगी। इस सर्वोदय मे सर्व जीवो का सर्वागीण उदय अर्थात् विकास विद्यमान होगा। 'सर्व' शब्द का अभिधेय 'जीवमात्र' के स्थान मे केवल 'मानव समाज' मानना ऐसा ही सकीर्णता और स्वार्थभावपूर्ण होगा, जैसा ईसा के 'Thou Shalt not kill' इस वचन का 'जीववध निषेध के' स्थान मे केवल 'मनुष्य वध निषेध' किया जाना। करीब 1700 वर्ष पूर्व जैनाचार्य **समन्तभद्र** ने भगवान् महावीर के अहिसात्मक शासन को 'सर्वोदय तीर्थ' शब्द द्वारा सकीर्तित किया था। यह सर्वोदय तीर्थ 'स्वय अविनाशी होते हुए भी सर्व विपत्तियो का विनाशक है'। इस अहिसात्मक तीर्थ मे अपार सामर्थ्य का कारण यह है कि उसे अनन्त शक्ति के भण्डार तेज·पुज आत्मा का बल प्राप्त होता है, जिसके समक्ष ससार का केन्द्रित पशुबल नगण्य बन जाता है। आज क्रूरता की वारुणी पीकर मूर्छित और मरणासन्न ससार को वीतराग प्रभु की करुणारस-सिक्त सजीवनी के सेवन की अत्यन्त आवश्यकता है। हिसात्मक मार्ग से प्राप्त अभ्युदय और समृद्धि वर्षाकालीन क्षुद्र जन्तुओ के जीवन सदृश अल्पकाल तक ही टिकती है और शीघ्र ही विनष्ट हो जाती है। करुणामय मार्ग के अवलम्बन से शीघ्र जयश्री प्राप्त होती है। इस सम्बन्ध मे महाकवि **शेक्सपियर** का यह कथन बडा महत्त्वपूर्ण है कि "जब किसी साम्राज्य की प्राप्ति के लिए क्रूरतापूर्ण और करुणामय उपायो का आश्रय लिया जाय, तब ज्ञात होगा, कि मृदुता का मार्ग शीघ्र ही विजय प्रदान कराता है।"[4]

इस युग मे हम गणनातीत नकली वस्तुओ को देखते है, इसी प्रकार आज यथार्थ दया के देवता के स्थान मे मक्कारीपूर्ण कृत्रिम अहिसा को देखते है, जिसका अन्तःकरण हिसात्मक, पाप पुज प्रतारणाओ का क्रीडा-स्थल है। ऐसे अद्भुत अहिसावादी मधुर-पद-विन्यास मे प्रवीण, सुन्दर पक्ष सुसज्जित, प्रियभाषी मयूर के समान मनोज्ञ मालूम पडते है, किन्तु स्वेष्ट सामग्री के समक्ष आते ही, इनकी हिसक वृत्ति का विश्व को दर्शन हो जाता है। ऐसी प्रवृत्ति से क्या कभी मधुर फल की प्राप्ति हो सकती है? कहते है, किसी ने एक वृक्ष के लहलहाते हुए सुनहरी रग के पुष्पो पर मुग्ध हो उस वृक्ष की इस आशा से आराधना आरभ की, कि फल काल मे वह रत्न राशि को प्राप्त करेगा, किन्तु अन्त मे ढन-ढन ध्वनि देने वाले फलो की उपलब्धि ने उसका भ्रम दूर कर दिया। इसी प्रकार आज की हिसात्मक प्रवृत्ति वालो की, उनकी चित्तवृत्ति के अनुसार अहिसा की अद्भुत रूप-रेखा को देखकर भीषण भविष्य का विश्वास होता है। हिसा गर्भिणी नीति के उदर से उत्पन्न होने वाली विपत्ति मालिका के द्वारा विश्व की शोचनीय स्थिति विवेकी व्यक्तियो को जागृत करती है।[5]

रवीन्द्र बाबू ने लिखा था, "In modern times we are so over-laden and obsessed with politics that it is difficult to get at what is known to be culture Today's civilization means efficiency in killing" "वर्तमान युग मे हम पर राजनीति इतनी अधिक लदी हुई है और हम उससे इतने अधिक तन्मय हो रहे है कि हमे सस्कृति किसे कहते है, यह समझना कठिन लगता है। आज की सभ्यता का अभिप्राय प्राणघात करने मे निपुणता है।"

कहते है, इस युग का धर्म समाज सेवा है, और मानवता की आराधना ही वास्तविक ईश्वरोपासना है। इस विषय मे यदि सूक्ष्म दृष्टि से चितन किया जाय, तो विदित होगा कि यथार्थ मानवता केवल वाणी की वस्तु बन गई है और उसका अन्तःकरण से तनिक भी स्पर्श नही है। **प० जवाहर लाल नेहरु** की स्पष्टोक्ति महत्त्वपूर्ण है कि "आज के जगत् ने बहुत कुछ उपलब्धि की है, किन्तु उसने उद्घोषित मानवता के प्रेम क स्थान

मे घृणा और हिसा को अधिक अपनाया है तथा मानव बनाने वाले सद्‌गुणो को स्थान नही दिया है।"[6] विद्वेष का ऐसा उदाहरण कहा मिलेगा, कि [7]जब जापानियो ने युद्ध काल मे अग्रेजो के बडे जहाज 'रिपल्स' और 'प्रिस आफ वेल्स' डुबाए थे, तब एक प्रमुख अग्रेज को उन जहाजो के डूबने का उतना परिताप नही था, जितना कि उस कार्य मे जापानियो का योग कारण था। उसने कहा था, कदाचित् पीताग जापानियो के स्थान मे श्वेताग जर्मनो द्वारा यह ध्वस कार्य होता, तो कही अच्छा था। ऐसे सकीर्ण, स्वार्थी एव जघन्य भावनापूर्ण अन्तःकरण मे मानवता का जन्म कैसे सभव हो सकता है।

आज की दुर्दशा का कारण **जस्टिस जुगमन्दरलाल जैनी** इन मार्मिक शब्दो द्वारा व्यक्त करते है, [8]"जडवाद के राक्षस ने युद्ध और सपत्ति के रूप मे जगत् को इतनी जोर से जकड लिया है, कि लोगो ने अपनी वास्तविकता को भुला दिया है और वे अपनी अर्ध जागृत चेतना मे स्वय को 'आत्मा' अनुभव न कर केवल 'यत्र' समझते है" इस प्रकार की विवेकपूर्ण वाणी की विस्मृति के कारण विश्व को महायुद्धो मे अपनी बहुत कुछ बहुमूल्य आहुति अर्पण करनी पडी। तात्विक बात तो यह है, कि अहिसात्मक जीवन के लिए जगत् को कुछ त्याग-कुछ समर्पण रूप मूल्य चुकाना होगा। जब तक विषय-लोलुपता से मुख नही मोडा जायगा, तब तक कल्याण के मन्दिर मे प्रवेश नही हो सकेगा।

आदर्शचरित्र मानव वासनाओ को प्रणामाजलि अर्पित करने के स्थान मे उनके साथ युद्ध छेडकर अपने आत्मबल को जगाता हुआ जयशील होता है। वह आत्मा की अमरता पर विश्वास धारण करता हुआ पुण्य-जीवन के रक्षार्थ प्राणोत्सर्ग करने से भी मुख नही मोडता है। सत्पुरुष सुकरात ने अपने जीवन को सकटाकुल भले ही बना लिया और प्राण परित्याग किया, किन्तु जीवन की ममतावश अनीतिका मार्ग नही ग्रहण किया। अपने स्नेही, साथी क्रीटो से वह कहता है, कि आदर्श रक्षण के आगे जीवन कोई वस्तु नही। कर्त्तव्य पालन करते हुए मृत्यु की गोद मे सो जाना श्रेयस्कर है। ये शब्द कितने मर्मस्पर्शी है, [9]"हमे केवल जीवन व्यतीत करने को अधिक मूल्यवान नही मानना चाहिए, बल्कि आदर्श जीवन को बहुमूल्य

जानना चाहिए।" आज का आदर्शच्युत मानव अपनी स्वार्थ-साधना को प्रमुख जान विषयान्ध बनता जा रहा है। ऐसा विकास, जिसका अतस्तल रोगाक्रान्त है, भले ही बाहर से मोहक तथा स्वस्थ सा दिखे, किंतु न जाने किस क्षण हृदय-स्पदन रुक जाने से विनाश का उग्र रूप धारण कर इस जीव को चिर पश्चाताप की अग्नि मे जलावे।

स्वतत्र भारत ने अशोक के धर्मचक्र को राज्यचिह्न बनाया है। यदि उस धर्मचक्र की मर्यादा का ध्यान रखकर हमारे राष्ट्रनायक कार्य करें, तो यथार्थ मे देश अपराजित और अशोक बनेगा। धर्मचक्र प्रगति और पुण्य प्रवृत्तियो का सुन्दर प्रतीक है। इसके मगलमय सदेश को हृदयगम करते हुए भारतीय शासन अन्य राष्ट्रो के अन्तःकरण मे उसकी महत्ता को अंकित कर सकता है। धर्मचक्र करुणापूर्ण शासन का अग है। धर्म की विश्वमान्य व्याख्या करुणा का भाव ही तो है। **गद्यचिन्तामणि** मे लिखा है–

"दया-मूलो भवेद्धर्मो दया प्राणानुकम्पनम्।"

धर्म दयामूलक है तथा जीवधारियो पर अनुकम्पा का भाव रखना दया है। **स्वामी समन्तभद्र** ने चक्रवर्ती तीर्थकर शान्तिनाथ भगवान् के धर्मचक्र को **'दया-दीधितिधर्मचक्रम्'**–करुणा की किरणो से सयुक्त धर्मचक्र कहा है। नवमी सदी के महाकवि **जिनसेन** ने जैनधर्म के प्रथम तीर्थकर भगवान् वृषभदेव को प्रणामाजलि अर्पित करते हुए लिखा है कि "वे श्रीसमन्वित, सपूर्ण ज्ञान साम्राज्य के अधिपति, धर्मचक्र के धारक एव भव-भय का भजन करने वाले है"[10] इस चक्र को 'सर्व-सौख्यप्रदायी' कहा गया है। अहिसा विद्या की ज्योति द्वारा विश्व को आलोकित करने वाले वृषभनाथ आदि महावीर पर्यन्त चौबीस तीर्थकरो बोध कराने वाले चौबीस आरे अशोकचक्र मे पाए जाते है।[11] यह बात विश्व के इतिहासवेत्ता जानते है, कि अहिसा महाविद्या का निर्दोष प्रकाश जैन तीर्थंकरो से प्राप्त होता रहा है। **आइने अकबरी** आदि से ज्ञात होता है कि अशोक के जीवन का प्रारभ काल जैनधर्म से सम्बन्धित रहा है। भारत के **प्रधान मत्री प० जवाहरलाल नेहरू** ने[12] 'अमेरिकावासियो को राष्ट्रध्वज का स्वरूप समझाते हुए कहा था कि यह चक्र उन्नति और धर्म मार्ग पर चलने के आह्वान को द्योतित करता है। भारत की आकाक्षा है वह चक्र द्वारा प्रकाशित

आदर्श का अनुगमन करे।' यदि भारत राष्ट्र धर्मचक्र के गौरव के अनुरूप प्रवृत्ति करने लगे, तो एक नवीन मगलमय जगत् का निर्माण होगा, जहा शक्ति, सपत्ति, समृद्धि तथा सपूर्ण उज्ज्वल कलाओ का पुण्य समागम होगा। अभी जो अधिकतर अहिसा का जयघोष सुनाई पडता है, उसका तोते द्वारा राम नाम पाठ से अधिक मूल्य नही है। जब तक लोकनायको तथा ग्राम पुरवासियो द्वारा करुणा कल्प-लता के मूल मे प्रेम, त्याग, शील, सत्य, सयम, अकिचनता आदि का जल न पहुँचेगा, तब तक सुवास सपन्न आनन्द रूप सुमनो की कैसे उपलब्धि होगी? आज उस लतिका के पत्रो मे जल सिचन की बडी-बडी बात सुनाई पडती है, लम्बी-लम्बी योजनाए बनती है, किन्तु बेचारी जड जल-बिन्दु न मिलने से सूखती जा रही है। उस ओर कौन ध्यान देता है? इससे तो कल्याणपथ और दूर होता जाता है। राष्ट्रीय स्वातत्र्य-सग्राम के समय सबको यह शिक्षा दी जाती थी, कि बिना रचनात्मक कार्य किये केवल नेताओ के जयघोष से काम नही बनेगा, इसी प्रकार सच्चे लोक सेवको तथा शासको से कहना होगा, कि जब तक हम जीव दया के कार्यक्रम को महत्त्वपूर्ण मान उस ओर शक्ति नही लगाते, तब तक पापचक्र की अनुगामिनी विपदाएँ विचित्र चित्रांकित अशोक चक्र से नही डरेगी।

महापुराणकार **जिनसेन** स्वामी का कथन है, कि धर्मप्रिय सम्राट् भरत के शासन मे सभी प्रजाजन पुण्य चरित्र बन गये थे, कारण शासक का पदानुसरण शासित वर्ग किया करता है। इस सदाचरण के प्रसाद से सर्वत्र समृद्धि और आनन्द का प्रसार था। कवि का यह कथन विशेष अर्थपूर्ण है[13] कि 'सुकाल और सुराज्य वाले राजा मे बडा निकट सम्बन्ध है।' भारत ने स्वराज्य प्राप्त कर लिया है कितु उसे सुराज्य नही मिला है। सुराज्य आसमान से नही उतरेगा। सद्गुणो के विकास मे सुराज्य है। परिश्रम प्रामाणिकता अध्यवसाय तथा सदाचार द्वारा ही राष्ट्र का कायाकल्प हो सकेगा। सच्ची अहिसा की अभिवृद्धि आवश्यक है। भारतीय शासको मे महाराज कुमारपाल बडे समर्थ और लोकोपकारी नरेश हो गए है, जिनके प्रश्रय मे साहित्य और कला का बडा विकास हुआ। कुमारपाल प्रतिबोध से ज्ञात होता है कि [14]महाराज कुमारपाल अपने अन्तःकरण को द्वादश अनुप्रेक्षाओ-सद्भावनाओ से विमल बनाते हुए अनासक्तिपूर्वक राज्य का

कार्य करते थे। आज की अहिसा का उच्चनाद करने वाली सरकार की छत्रछाया मे मद्य, मासादि के सेवन की प्रचण्ड प्रवृद्धि मे कोई परिवर्तन नही प्रतीत होता। मद्यपान प्रसार के निरोध निमित्त सरकार कुछ तत्पर दिखती है, किन्तु इस क्षेत्र मे भी उसकी प्रगति आलोचनीय है। मासाहार और जीववध के क्षेत्र मे तो अद्भुत उदासीनता है। अनेक योजनाओ द्वारा जीववध, मास की उपलब्धि आदि की अमर्यादित वृद्धि होती जा रही है, फिर भी अहिसात्मक सरकार की स्थिति का गर्व और गौरवपूर्वक नाम लिया जाता है। यह कार्य अत्यत शोचनीय और लज्जास्पद है। मासाहार, जीववध, धर्म के नाम पर ईश्वर तथा देवताओ के आगे बलि का कार्य जब तक नही रोका जाता है, तब तक अहिसात्मक शासन का नाम तक लेना उपहास की वस्तु है, जैसे 'आँखो के अधे का नयनसुख' नामकरण का कार्य। जो लोग इस हिसा की महामारी के युग मे अहिसावादी जैनो से प्रकाश पाने के प्रेमी है वे **सोमदेवसूरि** की अहिसा की इस व्यवस्था को हृदयगम करने की कृपा करे और स्वार्थ के आधार पर अवस्थित अपनी सीमित अहिसा की धारणा का परिमार्जन करे।

''यत्स्यात्प्रमादयोगेन प्राणिषु प्राणहायनम् ।
सा हिसा रक्षण तेषामहिसा तु सता मता ।'' –यशस्तिलक ।

असावधानी अथवा रागद्वेषादि के अधीन होकर जो जीवधारियो का प्राण-हरण किया जाता है, वह हिसा है। उन जीवो का रक्षण करना सत्पुरुषो ने अहिसा कहा है। ससार मे अहिसा की महत्ता को सभी धर्म स्वीकार करते है। मुस्लिम बादशाह अकबर ने मासाहार का परित्याग कर दिया था, 'जानवरो को मारकर उनके मासभक्षण द्वारा अपने पेट को पशुओ का कब्रस्तान मत बनाओ'। जिन्होने पशु बलिदान को धर्म का अग मान लिया है, उनके हृदय मे यह बात प्रतिष्ठित करनी है कि बेचारे दीन-हीन प्राणियो के प्राणहरण से भी कही कल्याण हो सकता है? यथार्थ मे अपनी पशुतापूर्ण चित्त वृत्ति का बलिदान करने से और करुणा के भाव को जगाने से जगज्जननी की परितृप्ति कही जा सकती है। ऐसी कौन जननी होगी, जो अपनी सतति रूप जीवधारियो के रक्त और मास से आनदित होगी? जब तक विश्ववैषम्य के जनक कर्म के बध मे कारण हृदय को अहिसात्मक

विचारो से धोकर निर्मल नही किया जायगा, तब तक बाह्य प्रयत्नो से सौख्य की सृष्टि स्वप्न साम्राज्य सदृश सुखकर समझी जायगी। अशोक के स्तभ लेखो के परिशीलन से उस महापुरुष की दयापूर्ण दृष्टि स्पष्ट रूप से अवगत होती है। पाचवे स्तभ लेख मे मैना, तोता, हस, मछली आदि जीवो के वध का निषेध किया गया है। तीसरे शिलालेख मे सम्राट् कहते है। ''प्राणियो की हिसा न करना प्रशसनीय है। माता-पिता की सेवा करना स्तुत्य है। ब्राह्मणो और श्रमणो के प्रति उदारता सराहनीय है।'' सम्राट् का दया प्रेम उच्च श्रेणी का था, अत. अपने पुत्र तुल्य प्रजा के हितार्थ सम्राट् ने यह भी आदेश दिया था, जिस भूसे मे जीव हो, वह न जलाया जाए। बिना प्रयोजन और प्राणियो की हिसा के कारण जगल न जलाए जाये। जीव का पोषण जीव से न होना चाहिये। तीन चातुर्मासो तथा तिष्य (पौष माह) पूर्णिमा के दिवस मछली न तो मारी जा सकती है, न बेची जा सकती है। ऐसा तीन दिनो तक होगा। अर्थात् चतुर्दशी, पूर्णिमा और प्रतिपदा के दिन इस आज्ञा का पालन करना होगा। प्रत्येक पक्ष के आठवे, चौदहवे, पद्रहवे तिथि पर तथा तिष्टा, पुनर्वसु दिवस के अवसर पर, तीन चातुर्मासो के पूर्णिमा दिवसो और उत्सवो के अवसर पर बैलो पर गरम लोहे का दाग न लगाया जायेगा, बकरो, भेडो, शूकरो तथ वन्य पशु जो दागे जाते है, उन पर भी ऐसे अवसरो पर दाग न लगाया जावेगा।'' सम्राट् व्यापक और सच्चे सर्वोदय के प्रेमी थे। सातवा स्तभ लेख कहता है, ''मैने मार्ग पर बट वृक्षो को लगाया, ताकि वे मनुष्यो और पशुओ को छाया का सुख दे। आम्र कुज लगवाए गए और प्रत्येक दो मील पर कुए खुदवाये, धर्मशालाएँ बनवाई और पानी पीने के स्थान सर्वत्र मैने पशु और मनुष्यो के सुख के लिए निर्माण करवाए।'' उस लेख मे सम्राट् ने धार्मिक सुव्यवस्थार्थ 'धर्म महामात्य' नियुक्त किए थे वे सभी सप्रदायो के लिए नियुक्त है। मैने उन्हे सघ के लिए, ब्राह्मणो के लिए, आजीवक सन्यासी के हेतु और निर्ग्रन्थो (जैनो) तथा अन्य सप्रदायो के लिए नियुक्त किए है।'' (अशोक पृष्ठ 245)। दया प्रेमी अशोक के समान जब तक हमारे शासको के हृदय मंदिर मे दया के देवता की मगलमय आराधना नही होगी, तब तक निराकुल और निरापद सुख की साधन-सामग्री नही प्राप्त हो सकती। अन्त करण के घाव मे बाहरी मरहम पट्टी से जैसे आराम

नही हो सकता है, वैसे ही क्रूरतापूर्ण वृत्ति के कारण जो जीव पापाचरण जानकर या बिना जाने करता है, उसका परिमार्जन किए बिना, विश्वशान्ति की योजनाओ, प्रस्तावो आदि से कुछ प्रयोजन सिद्ध नही होगा। **'अहो रूपम्, अहो ध्वनि:'** के आदर्श पर पारस्परिक गौरव के आदान-प्रदान द्वारा भी जगत् की जटिल समस्याये नही सुलझ सकती है। बाहरी सोडा, साबुन आदि द्रव्यो से वस्त्र की मलिनता दूर की जाती है, किन्तु हृदय की मलिनता को धोने के लिए करुणा-वाद के 'अमृत-सर' मे गहरी डुबकी लगाए बिना अन्य उपाय नही है, यह देखकर आश्चर्य होता है कि महात्मा गाधी के निधन के बाद सार्वजनिक स्वार्थ से सम्बन्धित व्यक्ति जितने बार बापू का नाम लिया करते है, उतना शायद ही परमेश्वर का नाम स्मरण करते हो। यदि इनकी बापू के प्रति ऐसी ही ममता और श्रद्धा का भाव है, तो क्यो नही बापू के करुणा प्रसार के पुण्य कार्य मे आगे आते है? कलकत्ते के काली मन्दिर मे देवी के आगे रक्त की वैतरिणी देखकर गाधी जी की आत्मा आकुलित हो गई थी, और उनका करुणापूर्ण अन्त करण रो पडा था। अपनी अन्तर्वेदना को व्यक्त करते हुए बापू अपनी आत्मकथा मे लिखते है कि ""जब हम मन्दिर मे पहुचे, तब खून की बहती हुई नदी से हमारा स्वागत हुआ। यह दृश्य मै नही देख सका। मै बेचैन और व्याकुल हो गया। मै उस दृश्य को भी नही विस्मृत कर सकता हूँ। मुझे बुद्ध देव की कथा याद आई। किन्तु मुझे वह कार्य मेरी सामर्थ्य के परे प्रतीत हुआ। मेरे विचार जो पहले थे, वे आज भी उसी प्रकार है। मेरी अनवरत यही प्रार्थना है, कि इस भूतल पर ऐसी महान् आत्मा का नर अथवा नारी के रूप मे आविर्भाव हो, जो मन्दिर की हिसा बन्द करके उसे पवित्र कर सके। यह बडी विचित्र बात है, कि इतना विज्ञ, बुद्धिमान, त्यागी तथा भावुक वग-प्रान्त इस बलिदान को सहन करता है? धर्म के नाम पर काली के समक्ष किया जाने वाला भीषण जीववध देखकर मेरे हृदय मे बगालियो के जीवन को जानने की इच्छा जागृत हुई।" महात्मा जी के पूर्वोक्त उद्गारो से यह स्पष्ट है कि वे जीववध और खासकर धर्म के नाम पर बलिदान देखकर वर्णनातीत व्यथा को अनुभव करते थे, किन्तु देश के परतत्र होने के कारण वे अपनी सीमित-सामर्थ्य से भी अपरिचित न थे, इसी से वे अपने परमाराध्य परमेश्वर से प्रार्थना कर समर्थ

करुणा के प्रसार मे उद्यत आत्मा के आविर्भाव की आकाक्षा करते थे। सौभाग्य की बात है, कि आज का शासन सूत्र उन लोगो के हाथ मे है, जो बापू को खूब जानते थे, मानते थे, और जो आज बापू की पूजा करते है, और जगत् मे, उनकी पूजा-प्रचार को परम कर्त्तव्य बना रहे है। यदि यह भाव न होता, तो [16]जिस श्राद्ध क्रिया पर उनकी श्रद्धा नही थी, उसको करने मे बापू के दु:खद निधन के बाद भारत सरकार और राष्ट्रीय आदोलन के चालक महानुभाव महान् उद्योग और अपरिमित शक्ति का उपयोग क्यो करते और क्यो सैकडो सरिताओ और अनेक सिधुओ आदि मे अस्थि-विसर्जन के कार्य मे आगे आते? धर्म निरपेक्ष राज्य शासन (Secular Government) का इस विषय मे अग्रगामी बनना क्या नही बताता है? कि इस कार्य के पीछे कोई विशेष तत्त्व निहित है, जिसे प्रत्येक विज्ञ व्यक्ति जानता है? आज बापू की पुण्यस्मृति का सतत जागृत रखने के लिए गाधी स्मारक निधि मे विपुल धनराशि एकत्रित की जा रही है, क्या उस धन की धारा के द्वारा देश की धर्म के नाम पर रक्तरंजित वसुधरा को धोकर अहिसा की पुण्य मूर्ति को प्रकाशित करने का कार्य नही किया जा सकता? वस्तुत इन कामो के लिए हृदय को टटोलने की जरूरत है और उसमे करुणाभाव-प्रसार के प्रति परम श्रद्धा के बीज बोने की आवश्यकता है। अन्यथा किसी न किसी आपतत रम्य दिखनेवाली युक्ति के जाल द्वारा जीवो की हिसा के जाल को काटने मे असमर्थता दिखाई जा सकती है और इस युग की भाषा मे ऐसे कार्य के प्रति मृतप्राय सद्भावना का प्रकाशन किया जा सकता है। क्या बापू के विचारो को प्रचारित करने का पुण्य सकल्प करने वाला सर्वोदय समाज इस करुणा प्रसार के कार्यक्रम को अपने विषयो की तालिका मे प्रथम स्थान नही दे सकता है? सत्य बात यही है कि हृदय से इस विषय मे प्रबल भावना चाहिए, तब मार्ग निकलते देर न लगेगी। श्री विनोबा जी ने सर्वोदय समाज के जयपुर सम्मेलन मे कहा था, 'सर्वोदय का सूर्य अपनी किरणे राज प्रासाद से लेकर निर्धन की झोपडी तक समान रूप से फैलता है।' क्या यह करुणामयी किरणो का पुज सर्वोदय का सूर्य अज्ञ भाइयो के अन्त:करण मे विद्यमान प्राणिवध की आसक्ति रूप अधियारी को दूर करने की परम कृपा नही करेगा? आज के काग्रेसी शासन की ममता भूमि सर्वोदय समिति यदि प्राणीरक्षण

सबधी विविध अगो के परिरक्षण मे तत्पर हो जाय, तो वह चमत्कारिक जनजागरण करने मे समर्थ हो सकेगी। कर्मयोगी व्यक्तियो के झुण्ड के झुण्ड यदि कार्य मे तत्पर हो जाये, तो अहिसा की सुदृढ आधार-शिला पर स्थित लोकोत्तर सजग ससार का स्थापन हो सकता है। अभी कुछ समय पूर्व यह दुःखद सवाद समाचार पत्रो मे छपा था, कि एक भ्रान्त हिन्दू भाई ने स्वप्न मे अपने इष्टदेव की प्रेरणा पाकर, जागने पर अपने प्रिय पुत्र की निर्मम हत्या कर दी। ऐसे कार्यो का सद्भाव रहना प्रबुद्ध भारत के गौरव के पूर्णतया प्रतिकूल है। लोगो के अन्तःकरण मे यह विचार प्रतिष्ठित कराने मे शासक और शासितो का कल्याण है, कि जिस प्रकार जिस दिशा मे सूर्य का उदय होता है, उसे 'पूर्व' नाम से पुकारा जाता है उसी प्रकार जिस व्यक्ति, समाज या राष्ट्र मे अहिसा की प्रतिष्ठा होती है, वहा ही सुख के हेतु पवित्र धर्म का वास होता है।

आज के प्रबुद्ध कहे जाने वाले राम राज्य को आदर्श मानने वाले हमारे शासन मे नरक के प्रतीक कसाईखानो का विद्यमान रहना, मनोविज्ञान के लिये निरपराध जीवो का शिकार किया जाना, मास भक्षण का अमर्यादित प्रचार होना, शासन द्वारा मास का व्यापार किया जाना, मछली वध को आवश्यक कर्त्तव्य मानना, अण्डे खाने का प्रचार करना आदि महान् कलक की बाते है। हिसा पर विश्वास रखने वाले शासन मे इनकी अवस्थिति का औचित्य समझा जा सकता था, किन्तु आज की नई दुनिया मे इनकी अवस्थिति अत्यन्त शोचनीय तथा शीघ्र परिमार्जनीय है। जिस प्रकार चुनाव के अवसर पर विज्ञान द्वारा उपलब्ध प्रचार की सामग्री का उपयोग ले जमीन-आसमान एक किया जाता है, उसी प्रकार यदि उन प्रचार के विशिष्ट साधनो का उपयोग भारतीय शासन करे, तो महत्त्वपूर्ण लोकसेवा होगी। जनता-जनार्दन अथवा दरिद्र-नारायण की सेवा भी इसी मे समाविष्ट है।

एक दिन जैनधर्माचार्य श्री शान्तिसागर महाराज से मैने जैन तीर्थ गजपथा मे उपस्थित होकर पूछा कि आजकल विपद्ग्रस्त मानवता के लिए भारतीय शासन को आप कल्याण का क्या मार्ग बतायेगे? आचार्यश्री ने कहा, लोगो को जैन शास्त्रो मे वर्णित रामचन्द्र, पाडवो आदि का चरित्र पढना चाहिये कि उन महापुरुषो ने अपने जीवन मे किस प्रकार धर्म की

रक्षा की और न्यायपूर्वक प्रजा का पालन किया। आचार्य श्री ने यह भी कहा, "सज्जनो का रक्षण करना और दुर्जनो को दण्डित करना यह राजनीति है। राजा को सच्चे धर्म का लोप नही करना चाहिये और न मिथ्या-मार्ग का पोषण ही करना चाहिए। हिंसा, झूठ, चोरी, परस्त्रीसेवन तथा अतिलोभ इन पच पापो के करने वाले दडनीय है, ऐसा करने से राम-राज्य होगा। पुण्य की भी प्राप्ति होगी। हिसा आदि पाप ही अधर्म तथा अन्याय है। गृहस्थ इन पापो का स्थूल रूप से त्याग करता है। सत्य बोलने वाले को दड देना और झूठ बोलने वालो का पक्ष करना अनीति है।" उन्होने यह महत्त्व की बात कही थी "राजा पर यदि कोई आक्रमण करे, तो उसे हटाने को राजा को प्रति-आक्रमण करना होगा। ऐसी विरोधी हिसा का त्यागी गृहस्थ नही है। शासक का धर्म है कि वह निरपराधी जीवो की रक्षा करे, शिकार खेलना बन्द करावे, देवताओ के लिए किए जाने वाले बलिदान को रोके। दारु, मासादि का सेवन बन्द करावे। परस्त्री अपहरणकर्त्ताओ को कडा दण्ड दे।"

"जुआ, मास, सुरा, वेश्या, आखेट (शिकार), चोरी, परागना इन सात व्यसनो का सेवन महा पाप है। इनकी प्रवृत्ति को रोकना चाहिए। ये अनर्थ के काम समझाने से बन्द नही होगे। राज्य नियम से लोग डरते है। अत कानून के द्वारा पाप का प्रचार रोकना चाहिये। जीवो को सुमार्ग पर लगाना अत्याचार नही है। ऐसा करने से सर्वत्र शान्ति का प्रादुर्भाव होगा।" सम्यक् प्रयुक्त दण्ड के प्रभाव से पापी जीव पापो से दूर रहते है। **समतभद्र स्वामी** ने लिखा है-

जनोतिलोलोप्यनुबधदोषतो ।
भयाद् कार्येष्विह न प्रवर्तते ॥18॥ स्व स्तो

'परम आसक्ति धारण करने से अत्यन्त विषयासक्त व्यक्ति भी परस्त्री सेवन आदि अकार्यों मे राज्य के त्रासादि भय से प्रवृत्ति नही करता है'- इससे यह स्पष्ट होता है कि बडे-बडे महर्षिमय भी दण्डनीति को उपयोगी तथा लोकहित साधक मानते थे। अत: यदि शासन जीवो की पापमय प्रवृत्ति मे परिवर्तन चाहता है तो उसे कठोर दण्ड का प्रयोग करने मे डरना नही चाहिए।

यम इवापराधिषु दण्ड प्रणयनेन विद्यमाने राशि न प्रजाः स्वमर्यादामतिक्रामन्ति, पसीदन्ति च त्रिवर्गफला विभूतयः

–नीति वाक्यामृत 5, 49

गणतत्र शासन मे अल्पकाल के लिए शासन का अधिकार पाने वाले यह सोच सकते है, कि यदि हमने जनता की रुचि का पोषण नही किया, तो अगले चुनाव मे हमे जनमत न मिलेगा, अतः विषयासक्त जनता को खुश करने का कार्य करते रहना चाहिए। ऐसे जनहित के शत्रु परम स्वार्थी तथा खुशामदी व्यक्ति शासन की नौका को ठीक प्रकार कभी भी किनारे नही लगाएगे। स्वर्गीय **प्रधानमत्री श्री नेहरु** ने एक बार कहा था कि नेता का कर्तव्य है कि इस बात का विचार न करे कि मेरे कार्य से जनता खुश होती है या अप्रसन्न होती है। उसे बिना भय के सच्चे तथा कल्याण के रास्ते को बताना चाहिए। नीति वाक्यामृत मे **आचार्य सोमदेव** ने अपराधियो को दण्डित करना शासक का दूषण नही, भूषण माना है, "**अपराधकारिषु प्रशमो यतीना भूषण, न महीपतीनाम्**"–(6-सू 37)। उन्होने धर्म, अर्थ और काम रूप त्रिवर्ग जिसके फल है, उस राज्य को प्रणाम किया है, "**अथ धर्मार्थकामफलाय राज्याय नमः**" (1-1)। यदि राज्य सत्ता द्वारा धर्म आदि का पोषण नही होता है, दुष्टो तथा दुष्टवृत्तियो पर कठोर अकुश नही लगाया जाता है तो वह राज्य अत्यन्त दुःखो से परिपूर्ण नरक का कारण होता है। आचार्य कहते है, "**अन्यथा पुनर्नरकाय राज्यम**" ('6-42)। माता-पिता बच्चे के हित को भुलाकर उसे प्रसन्न करने का मार्ग अपनाए तो वे यथार्थ मे अपनी सतति के शत्रु माने जाएगे। इस कारण गणतत्र भारत के विशिष्ट जिम्मेदार तथा प्रभावशाली अधिकारियो तथा लोकनेताओ का कर्तव्य है कि वे जीववध से सम्बन्ध रखने वाले शासन के रग ढग मे अविलम्ब सुधार करे। सर्वज्ञ पद को प्राप्त कर जैन तीर्थंकरो ने इस शाश्वतिक सत्य को प्राप्त किया था कि शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक सभी प्रकार के कष्टो का मूल कारण हिसात्मक जीवन है। अहिसा समृद्धि, शान्ति तथा सौमनस्य की जननी है। वह अहिसा तत्त्व ही 'परमब्रह्म' है–"**अहिसाभूताना जगति विदित ब्रह्मपरमम्**"

जिनकी अद्‌भुत अहिसा केवल मनुष्य घात को ही हिसा घोषित करती है और जो पशुओ के प्राणहरण को दोषास्पद नही मानते है, उनकी दृष्टि को उन्मीलित करते हुए विश्वकवि **रवीन्द्रबाबू** कहते है, "हमारे देश मे जो धर्म का आदर्श है, वह हृदय की चीज है। बाहरी घेरे मे रहने की नही है। हम यदि Sanctity of life—जीवन की महत्ता को एक बार स्वीकार करते है तो फिर पशु-पक्षी, कीट, पतग आदि किसी पर इसकी हद नही बाध लेते है। हम लोगो के धर्म की रचना स्वार्थ के स्थान मे स्वाभाविक नियम ने ली है। धर्म के नियम ने ही स्वार्थ को सयत रखने की चेष्टा की है।" जिस अन्त करण मे जीव दया का पवित्र भाव जग गया, वह सभी प्राणियो को अपनी करुणा द्वारा सुखी करने का उद्योग करेगा। करुणा का भाव अविभक्त रहता है जहाँ आत्मीयो के प्रति स्नेह और दूसरो के प्रति विद्वेष का भाव रहता है, वहा पवित्र अहिसा के सिवाय अन्य मानवोचित सद्‌गुणो की भी मृत्यु हो जाती है। अतएव जीवन मे सामञ्जस्य, स्थिरता और सात्त्विकता की अवस्थिति के लिए करुणामूलक प्रवृत्तियो का जागरण जरूरी है।

कहते है, अमेरिका के राष्ट्रपति एक समय आवश्यक कार्य से भव्य-भूषायुक्त होकर शाही सवारी पर जा रहे थे, कि मार्ग मे एक वराह को पक मे निमग्न देखा और यह सोचा कि यदि इसकी तत्काल सहायता नही की गई, तो यह मर जायगा, अत. करुणापूर्ण हृदय की प्रेरणा से वे उसी समय कीचड मे घुस गए और उस दु खी जीव के प्राणो का रक्षण किया। लोगो ने उनसे पूछा कि ऐसा उन्होने स्वय क्यो किया, दूसरे को आज्ञा देकर भी वे यह कार्य कर सकते थे? उन्होने उत्तर दिया कि उस प्राणी को छटपटाते देख मेरे हृदय मे बडी वेदना हुई, अत: मै दूसरे का सहारा लेने के विषय मे विचार तक न कर सका और तुरन्त प्राण बचाने के कार्य मे निरत हो गया। वास्तव मे जहा सच्ची अहिसा की जागृति होती है, वहा मनुष्य अमनुष्य का भेद नही किया जाता है।

इस करुणा के कार्य से मनुष्य को अनुपम आनन्द प्राप्त होता है। करुणा की निधि को जगत् को कितना ही दो, इससे दातार मे कोई भी कमी नही आती, प्रत्युत वह महान् आत्मीक शक्ति का सग्रह करते जाता

है। वेदान्ती की भाषा मे जैसे सर्वत्र ब्रह्म का वास कहा जाता है, इस शैली से यदि सत्य तत्त्व का निरूपण किया जाय, तो कहना होगा, सर्व उन्नतिकारी प्रवृत्तियो मे अहिसा का अस्तित्व अवश्यभावी है। जितने अश मे अहिसा महाविद्या का अधिवास है, उतने अश में ही वास्तविक विकास और सुख है। [17]अमृतत्व का कारण अहिसा है, और हिसा मृत्यु और सर्वनाश का द्वार है। [18]गीता मे कहा है—कल्याणपूर्ण कार्य करने वाला दुर्गति को नही प्राप्त करता है, आज कल्याण करने की उपदेशपूर्ण सर्वय अधिक सुनी जाती है, किन्तु आवश्यकता है पुण्याचरण की। पथप्रदर्शक लोग प्राय: असयम और प्रतारणापूर्ण प्रवृत्ति करते है, इससे उनकी वाणी का जगत् के हृदय पर कोई भी असर नही पडता है। हिन्दू पुराणो मे कहा है, ब्रह्मदेव ने तिलोत्तमा अप्सरा के रूप को देखकर अपने को चतुरानन बनाया। बाद मे जब अप्सरा ने ऊपर नृत्य आरभ किया, तो पचम मुख बनाने का प्रयत्न किया। पुण्य क्षीण हो जाने से वह राक्षस का मुख बन गया। ऐसा ही हाल अहिसा का आदेश, उपदेश देने वाले हमारे राष्ट्र के बहुत से पथ-प्रदर्शको का हो गया है। **श्री चपतराय जैन** ने इसीलिए यह महत्त्वपूर्ण वाक्य लिखा था, कि "आज करुणा और दया का पता नही है। उनकी ओट मे कपट और दुराचार को छुपाया जाता है।"[19]

जैनशासन कहता है, यदि तुम हिसादि पापो मे मग्न रहे आए, तो न तो नेता लोग तुम्हे बचा सकेगे और न तुम्हारा 'आस्मानी बाप ही तुम्हारे काम आयेगा। देश यदि अहिसा पथ से विचलित न हुआ होता तो इस **'सुजला सुफला'** भूमिवासियो की इतनी चिन्तनीय स्थिति न बनती जिसके कारण भारत के अन्तिम गवर्नर जनरल राजाजी को 1949 के स्वाधीनता दिवस पर अन्न को परब्रह्म बताना पडा था। यथार्थ मे सच्चा पर-ब्रह्म अहिसा है। आज वासना मे फँसने के कारण हम दु.खी हो रहे है। भोग और वैभव को परमार्थ सत्य मानने वाले यह सोचते है कि जनता का जीवन स्तर (Standard of living) जितना अधिक बढा होगा, उतनी ही अधिक शान्ति और समृद्धि होगी। यह एक मधुर तथा मोहक भ्रम है। इसे भी सभी मानेगे कि जीवन की आवश्यक वस्तुओ से कोई भी व्यक्ति वंचित न रहे, किन्तु विलासितावर्द्धक एव आमोद-प्रमोदप्रद पदार्थों के विषय मे यही बात उपयुक्त सोचना कल्याणकारी न होगा?

भारतीय दृष्टि से तो वास्तविक महिमा का उद्भव तब प्रारम्भ होता है, जब व्यक्ति या समाज यथाशक्ति अपनी आवश्यकतानुसार भोग की सामग्री को मर्यादित करते हुए क्रमशः उनको भी घटाते जाते है। इसी से विश्व के अमर्यादित वैभव का अधिपति चक्रवर्ती, दिगम्बर श्रमण को महान् मान, अपनी प्रणामाजलि अर्पित करते हुए उनकी चरण-रज से अपने को कृतार्थ सोच यह आकाक्षा करता है, कि आत्म-जागृति का सूर्य उदित होकर मेरी भोग-तत्रता की निबिड-निशा को दूर करे। जैनशासन मे दिगम्बर गुरु, दिगम्बर मूर्ति की आराधना का यही अतस्तत्व है।

भोग और वैभव पराकाष्ठा को प्राप्त होने पर भी परितृप्ति प्रदान करने मे असमर्थ है। **गुणभद्र आचार्य** ने उत्तर पुराण मे भगवान शीतलनाथ की मानसिक विषयो से विरक्ति का कारण इस प्रकार अंकित किया है। भगवान सोचते है–

विषयैरेव चेत्सौख्य तेषा पर्यन्तगोस्म्यहम ।
तत· कुतो न मे तृप्ति मिथ्या वैषयिक सुखम् ॥56-41॥
औदासीन्य सुखतच्च सति मोहे कुतस्तत ।
मोहारिरेव निर्मूल विलय प्रापये द्रुतम् ॥56-42॥

यदि विषयो मे ही सुख है तो मै अपार सुख सामग्री सम्पन्न हूँ, तब मुझे क्यो नही तृप्तता प्राप्त होती है? अत· इन्द्रियो के पोषक विषयो से उत्पन्न सुख मिथ्या है।

सच्चा सुख उदासीन परणति मे है। मोहनीय कर्म के होते हुए वह उदासीनताजन्य आनन्द कैसे प्राप्त होगा। अत मै शीघ्र ही मोहरूप शत्रु को नष्ट करूँगा।

इस सासारिक विभूति एव वैभव और इनसे समन्वित सौभाग्यशाली कहे जाने वाले सम्पन्नो का सर्वागीण पर्यवेक्षण करने के उपरान्त आचार्य **पूज्यपाद** कहते है कि ये इन्द्रियजनित सुख पहले अपनी मोहन-मूर्ति दिखा लालसा को जगा प्रारभ मे ही व्यथा उत्पन्न करते है। कदाचित देव तथा पुरुषार्थ का योग मिलने से अभीष्ट वस्तु मिल गई तो उससे तृप्ति नही हो पाती तथा जीव उसका ऐसा दास बन जाता है कि उससे वे विषय

भोग नही छूट पाते। तत्त्व की बात तो यह है कि अक्षय सुख तथा शान्ति के केन्द्र स्थल आत्मा पर दृष्टि न दे हम वाह्य पदार्थों की ओर सुख की आशा से जाते है और अन्त मे अभीष्ट आनन्द की उपलब्धि के अभाव मे हमारा मन खेद खिन्न होता है। इस जीव की चेष्टा उस हरिण सदृश है जो कस्तूरी की सौरभ को बाहरी वस्तु सोचकर उसे खोजता फिरता है। एक ग्रामीण लोकोक्ति है–

"मृगनाभि मे सुगधि, सूँघे वो घास गन्धी ।
दुनिया सभी है अन्धी, समझे नहीं इशारा ।"

विचारक व्यक्ति वैभव के मध्य रहता हुआ भी आत्म निरीक्षण के क्षण मे यह अनुभव करता है कि यह दिखने वाली समृद्धि वास्तव मे कैसी है। अमेरिका के पूर्व राष्ट्रपति **ट्रूमेन** मेक्सिको के समीपवर्ती पेराकुटी के ज्वालामुखी को देखकर कहते थे, "मै जिस ज्वालामुखी पर वाशिगटन मे बैठा हू, उसकी तुलना मे यह ज्वालामुखी कुछ भी नही है।" यथार्थ मे भौतिक अभ्युदय के पीछे चिन्ताए और आकुलताए उसी तरह दौडा करती है, जिस प्रकार चीटियाँ चीनी का पीछा करती है। **सर विस्टन चर्चिल** ने बेडेन पावल के विषय मे प्रकाश डालते हुए यह लिखा था कि वह जीवन मे सतोष को बडी निधि मानता था। अपने अंतिम सदेश मे **बेडेन पावल** ने कहा था–

"Be contented with what you have got and make the best use of it The real way to get happiness is by giving out happiness to other people Try to leave this world a little better than you found it and when your turn comes to die, you can die happily in the feeling that at any rate you have not wasted your time but have done your best "

- *Great Contemporaries, p 116*

"जो सामग्री तुम्हे प्राप्त है उससे सन्तुष्ट होते हुए उसका श्रेष्ठ रूप मे उपयोग करो। सुख पाने का सच्चा उपाय यही है कि तुम दूसरो को सुख प्रदान करो। तुम इस जगत को छोडने के पूर्व पहले की अपेक्षा विशेष सुखी बनाओ और जब तुम्हारे मरण का समय आवे तो तुम इस प्रसन्न भाव से मरण करो कि मैने अपना समय व्यर्थ न खोकर श्रेष्ठ कार्य किए है।"

दूसरो को सुखी बनाना, उनके कष्ट निवारण करने मे तो कुछ विशेष श्रम, उद्योग या बाह्य सामग्री की आवश्यकता पडती है। दूसरो को दु:ख न देने के कार्य मे अपने मनोबल और आत्मशक्ति की आवश्यकता है। स्वार्थपूर्ति या क्रोधादि के आवेशवश मनुष्य दूसरो को कष्ट देने मे नही हिचकिचाता है। विवेक की ज्योति जागने पर **'आत्मवत् सर्वभूतेषु'** सिद्धान्त से प्रेरणा और प्रकाश पाकर व्यक्ति दूसरो को दु:खी करने की दुष्ट प्रवृत्ति से अपने आपको रोक सकता है। यह मानवता की आवाज है, जो कहती है तुम सुख नही दे सकते, तो कृपा कर दु.ख तो न दो। सोचो, दूसरा भी तुम्हारा अनुकरण करे, तो आपकी क्या स्थिति होगी?

वैनथम ने अपने 'अर्थशास्त्र' मे कितनी सुन्दर बात लिखी है, "प्रत्येक व्यक्ति को सभी सेव्य पदार्थों की प्राप्ति हो सके, अर्थात् उसकी इच्छानुसार उसका जीवन स्तर बना दिया जाय, यह सभव नही है। हा! यदि सभी लोग जैन सदृश होते तो यह सभव था, कारण भारतीयो के जैन नामक वर्ग मे अपनी भौतिक आकाक्षाओ को सयत करना तथा उनका निरोध करना पाया जाता है। दूसरा उपाय यह होगा, कि यदि दिव्य लोक से बहुधा तथा विपुल मात्रा मे भोग्य पदार्थ आते जावे, तो काम बन जाय, किन्तु वस्तु-स्थिति को दृष्टिपथ मे रखते हुए ऐसा नही किया जा सकता है।"[20]

अतएव आज के भोग प्रचुर जगत् की जीवन-नौका को विपत्ति की भवर से बचाने के लिए 'अपरिग्रहवाद' या सयत-मनोवृत्ति रूप उज्ज्वल आलोक-स्तभ (Light House) की आवश्यकता है। परिग्रह की वृद्धि आत्मा को दबाते हुए इस जीव को गतप्राण सा बना देती है। इसी से **आचार्य नेमिचद्र सिद्धान्त चक्रवर्ती** ने **'मुच्छा परिग्ग हो'** परिग्रह को मूर्च्छा बताया है। लौकिक मूर्च्छा मे बेहोशी के कारण बाह्य वस्तुओ का उचित भान नही रहता है। इसी प्रकार इस अलौकिक मूर्च्छा मे बाह्य वस्तुओ का ही भान रहता है, किन्तु नित्य तथा आनद के सिधु मे अपनी आत्मा की पूर्णतया विस्मृति होती है। आज की मूर्छित-मानवता को अपरिग्रहवाद की सजीवनी सेवन कराना आवश्यक है। अमर्यादित जीवन-स्तर बढाने से क्या कभी भी तृप्ति की उपलब्धि हो सकी है? परिग्रहवाद के शिखर

पर समासीन अमेरिका के जीवन का सम्यक् परिशीलन करने वाले विद्वान् **डा० कुमार स्वामी** ने लिखा था "स्नान टब, रेडियो, रेफ्रिजेरेटर आदि आनन्दप्रद पदार्थों की अपेक्षा जीवन विशेष महत्त्वपूर्ण है। मुझे तो यह प्रतीत होता है, कि जीवन-स्तर जितना बडा होता है, सस्कृति उतनी ही अल्प होती है। ऐसा कैसे? पचास प्रतिशत से अधिक अमेरिकन लोगो मे ऐसे मिलेगे, जिन्होने अपने जीवन मे कोई ग्रन्थ ही नही खरीदा हो; और उनका ही जीवन-स्तर सारे विश्व मे सबसे ऊँचा है। साक्षरता शिक्षा नही है और शिक्षा सस्कृति नही है।"[21]

कभी-कभी वैभव की वृद्धि होने पर मनुष्य मे अविवेक की भी वृद्धि उसी अनुपात से होती है। सम्पन्न व्यक्तियो की मूर्खतापूर्ण चेष्टाए भी धन लोलुपियो के द्वारा प्रशंसित होती है। जैसे उन्मत्त व्यक्ति अपना मानसिक सन्तुलन खो देता है, ऐसी ही स्थिति वैभवशील व्यक्तियो की हो जाती है। विश्व के सभी सन्तो ने इस मनुष्य जीवन को अत्यन्त महत्वपूर्ण माना है। किन्तु भोगाकाक्षी इस नरजन्म की महत्ता को तनिक भी ध्यान मे नही लाता। अमेरिका का धन कुबेर कोडक का जीवन बडे सुख से व्यतीत हो रहा था। उसके दिमाग मे एक विचित्र कल्पना आई। उसने सोचा, मेरे सुख मे कभी बाधा न आवे इसलिए उसने गोली मारकर स्वय का जीवन समाप्त कर दिया। अपने मित्रो के लिए लिखे गए पत्र मे उसने लिखा था कि "मेरा काम पूरा हो गया।" भोग और विलासिता की भँवर मे चक्कर मारने वाले जीव की बडी दयनीय दशा होती है।

समृद्ध और सुखी भारत के भाग्य विधाता चद्रगुप्त मौर्य के प्रधान सचिव चाणक्य के प्रभाव और शक्ति को कौन नही जानता, किन्तु कवि विशाखादत्त के शब्दो मे उस महान् व्यक्ति का निवास-स्थान एक साधारण-सी झोपडी थी। उसकी दीवारे जीर्ण थी।[22] अर्थ के प्रति निस्पृह व्यक्तियो की वृद्धि मे ही मानवता के विकास की मगल-ज्योति दिखाई पडती है।

मोहिनी मूर्ति वाली आधुनिक सभ्यता की कठोर शब्दो मे आलोचना करते हुए 'विश्व सस्कृति का भविष्य' निबन्ध मे राष्ट्रपति **डा० सर राधाकृष्णन्** कहते है, "आधुनिक सभ्यता 'आर्थिक बर्बरता' की मंजिल

पर है। वह तो अधिकाश रूप मे ससार और अधिकार के पीछे दौड रही है और आत्मा तथा उसकी पूर्णता की ओर ध्यान देने की परवाह नही करती है। आज की व्यस्तता वेगगति और नैतिक विकास इतना अवकाश ही नही लेने देती कि आत्मविकास के द्वारा सभ्यता के वास्तविक विकास का काम कर सके।''[23] वे यह भी लिखते है कि ''हम अपने को सभ्य इसलिए नही कह सकते कि, आधुनिक वैज्ञानिक वायुयान, रेडियो, टेलीविजन, टेलीफोन और टाइपराइटर काम मे लाते है। बदर को साइकिल चलाना, गिलास मे पानी पीना और तम्बाखू का पाइप पीना सिखा दिया जा सकता है, फिर वह रहेगा बदर ही। शैल्पिक निपुणता का नैतिक विकास से बहुत कम सम्बन्ध है।'' अतः सच्चे कल्याण की दृष्टि से आवश्यक है कि काल्पनिक सभ्यता के शैल-शिखर पर समासीन जगत् का नशा उतारा जाय और यह तत्त्व समझाया जाय, कि सच्ची सभ्यता का जागरण सदाचरण, अहिसात्मक वृत्ति तथा सतोषपूर्ण जीवन से होता है।' 'सदय हृदय हुए' बिना मनुष्य यथार्थ मे नररूपधारी राक्षस ही बन जाता है। मानवता का पथ राक्षसी जीवन के पूर्ण परिवर्तन करने मे है। उसे आर्थिक बर्बरता से यथा सभव बचना होगा।

जहा तक पुण्याचरण का सम्बन्ध है, वहा तक यह कहना होगा कि शासक और शासितो को सयम और सदाचार का समान रूप से परिपालन करना आवश्यक है। शासको को अधिकारारूढ होने पर यह नही सोचना चाहिए कि जब तक हमारा पद सुरक्षित है, तब तक हम कितना ही छलकपट, घूस, पापाचार का जीवन बितावे, हमारा कोई कुछ नही कर सकता है। उनको स्मरण रखना चाहिए कि पुण्य की सपत्ति समाप्त होने के पश्चात् समाज मरी मक्खी के समान उनको निकाल फेकेगा और फिर उनको कोई दो कौडी म भी न पूछेगा। अधिकार के मद मे अपने आपको नही भूलना चाहिए। अधिकारी जब तक न सुधरेगा, तब तक प्रजा का नैतिक स्तर कैसे उन्नत होगा? सन् 1947 मे स्वतत्रता प्राप्त भारत का जो नैतिक स्तर था, वह अब नही है। ऐसा लगता है कि देश ने विदेशी सत्ता से अपना पिण्ड छुडाया, तो भ्रष्टाचार, अप्रामाणिकता, धूर्तता आदि अमगल प्रवृत्तियो की आधीनता उसने शिरोधार्य कर ली। अधिकारी जनता को बडी मीठी बाते सुनाते हुए कहते है, हम तो जनता के सेवक है,

आप लोग व्यापार, व्यवहार तथा आचार मे सत्य और प्रामाणिकता को प्रतिष्ठित कर ले, तो देश की स्थिति क्षणभर मे सुधर जायगी। प्रजा कहती है बडे लोगो के चरित्र का जगत् पर प्रभाव पडता है। यह दृष्टि मिथ्या नही मानी जा सकती है। **व्यास** ने कहा है।

यद्यदाचरित श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाण कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥

श्रेष्ठ व्यक्तियो के आचार के अनुसार अन्य लोगो का आचरण होता है। वह जिस आचार को स्वीकार करता है, लोक उसी का अनुकरण करता है। ऐसी स्थिति मे शासन सूत्र धारको का कर्तव्य है कि सर्वप्रथम अपने आप को निर्मल और स्वच्छ बनावे, तब प्रजा मे उनके कथन का मूल्य होगा।

सोमदेव सूरि की सूक्ति कितनी मार्मिक है, राजा यदि **"चौरेषु मिलित. कुतः क्षेमः प्रजानाम्"**। शासक को अन्याय का पक्षपाती न होकर न्याय, सत्य, करुणा का वन्दक होना चाहिए। पापियो को दिखने वाली उन्नति सुरचाप सदृश अल्पकाल मे ही विनष्ट होने वाली है। **डाक्टर इकबाल** का पश्चिम की भोग चतुर सभ्यता के प्रति कितना सुन्दर और सत्य कथन है–

"तुम्हारी तहजीब अपने खजर से आप ही खुदकुशी करेगी ।
जो शाखे नाजुक पै आशियाना बना नापायादार होगा ॥"

जिस प्रकार धर्मचक्र प्रेमी सम्राट, अशोक ने सत्य, अहिसा, शील, सदाचार आदि पुण्य प्रवृत्तियो के प्रचार मे अपने सपूर्ण परिवार तथा शासन शक्ति को लगाकर देश मे नूतन जीवन ज्योति जगा दी थी, उसी प्रकार यदि बापू का नाम जपने वाला हमारा भारत-शासन हिसा के विरुद्ध युद्ध बोल कर **'दया पर दैवतम्'** की सर्वत्र प्रतिष्ठा स्थापित करने के उद्योग मे लग जाए, तो भारत यथार्थ मे अशोक, सुखी और अपराजित बन कर जगत् को समृद्ध करने मे सच्ची सहायता दे सकता है। **आचार्य सोमदेव** का यह सूत्र अत्यन्त गभीर और महत्वास्पद है, **"न खुल भूतद्रुहा कापि क्रिया प्रसूते श्रेयासि"**–(1, 5 नी.वा) "जीवो के प्रति क्रूरता पूर्ण वृत्ति

धारण करने वालो का कार्य कल्याणप्रद नही होता है।" समस्त विश्व के शासको और कर्णधारो को उपरोक्त सूत्र की ओर ध्यान देना आवश्यक है यदि वे यथार्थ मे व्यक्ति ओर समष्टि मे सच्चे सुख और शान्ति का दर्शन करने की हार्दिक अभिलाषा रखते है। महावीर, बुद्ध, राम, कृष्ण, ईसा, मूसा, नानक, जरदुस्त्र आदि प्रमुख भारतीय धर्मो के महापुरुषो के जन्म दिनो को देश मे अहिसा दिवस घोषित कराकर जनता मे सत्य और अहिसा के पुण्यभाव भरने का कार्य सहज ही हमारे शासक कर सकते है। सपूर्ण विश्व का अहिसा की ओर ध्यान खीचने के लिए यदि एक 'अतर्राष्ट्रीय बधुत्व'[24] दिन मनाने का राष्ट्रसघ के द्वारा कार्य किया जाय, तो सहज की कार्य बन सकता है। राष्ट्रसघ का सास्कृतिक विभाग इस सम्बन्ध मे महत्त्वपूर्ण सेवा कर सकता है। क्या भारतीय शासन के सूत्रधार इस ओर ध्यान देने की कृपा करेगे? इस प्रकार चतुरता के साथ जनता के नैतिक स्तर को उन्नत करने के और भी उपाय किए जा सकते है।

आज जो देश-विदेश मे आर्थिक सकट की प्रचण्ड अग्नि प्रज्वलित हो गई है, उसका सुधार कुछ लोग रूस की पद्धति पर अर्थव्यवस्था का प्रसार मानते है, इससे वे गरीबी और अभाव का अन्त कर देगे, ऐसा सोचा जाता है। कोई कोई यत्रवाद के अमर्यादित प्रसार द्वारा जगत् मे सुख की बस्ती बसाने की बात विचारते है। वे सोचते है कि इस ध्येय की पुष्टि या पूर्ति निमित्त प्राणहरण आदि क्रूर कर्म करना भी बुरा नही है। उनकी धारणा है, कि औद्योगिक उत्क्रान्ति के कारण जो सपत्ति का एक जगह पूजीकरण प्रारभ हुआ, उसकी चिकित्सा है सपत्ति को समाज की वस्तु बनाया जाए, ताकि सभी समान रूप से उसका लाभ ले सके। इस प्रक्रिया मे अतिरेकवाद का दोष विद्यमान है। यह ठीक है, कि धन सपन्न वर्ग को अपने को धन का ट्रस्टी सरीखा समझ अनावश्यक द्रव्य को लोकहित मे लगाना चाहिए। इसी से कवि ने कहा कि 'महान् पुरुष मेघ के समान द्रव्य-जल का सग्रह करके जगत् हितार्थ उसका पुन परित्याग करते है।' जैन आचार्यो ने गृहस्थ के आवश्यक दैनिक कार्यो मे त्याग की परिगणना की है, किन्तु इसका यह अर्थ नही है कि शासन सत्ता या पशुबल के द्वारा किसी के सग्रहीत अर्थ को समाज की सपत्ति मान छीन लिया जाए। द्रव्य का सम्यक् उपयोग न करने वालो का उन्मूलन करने के स्थान मे

उनका समुचित सुधार उचित है। दूर के पदार्थ प्राय: पर्वतमाला के समान मनोरम मालूम पडते है। इसी प्रकार विविध वादो से समाकुल रूस आदि देश सुखी और समृद्ध बताए जाते है, किन्तु उनके अतस्तत्त्व से परिचित लोग कहते है, कि वहा आतकवाद का 'मारूवाद्य' निरन्तर बजता है। रूस मे पाँच वर्ष तक बन्दी रहने वाले पोलेण्ड के एक उच्च्व सेनानायक ने 'ग्लोब' के सवाददाताओ से कोलबो से आस्ट्रेलिया जाते समय कहा था, कि रूस की सरकार वस्तुत: प्रजातत्र पर नही, आतकवाद पर अधिष्ठित है। रूसियो को यह नही ज्ञात है कि बाहर की दुनिया मे क्या हो रहा है। वे अनेक प्रकार की परतन्त्रताओ की सुनहरी साकलो से जकडे हुए है। जो भी हो, भारतवर्ष का कल्याण पश्चिम की अन्ध-आराधना मे नही है। इसकी आर्थिक समस्या का सुन्दर सुधार गाधी जी की विचारपूर्ण योजनाओ के सम्यक् विकास मे विद्यमान है। यथार्थ मे जीवदया, सत्य, अचौर्य आदि सद्वृत्तियो का सम्यक् परिरक्षण करते हुए जो भी देशी विदेशी लोकोपयोगी उपाय या योजनाएँ आवे उनका अभिनन्दन करने मे कोई बुराई नही है। हा, जिस योजना द्वारा अहिसा आदि की पुण्य ज्योति क्षीण हो, वह कभी भी स्वागत करने योग्य नही है।

आर्थिक समस्या के सुधार के लिए पश्चिमी प्रक्रिया को भयावह बताते हुए उस दिन आचार्य शान्तिसागर महाराज ने कहा था, "पूर्वभव मे दया, दान, तपादि के द्वारा इस जन्म मे धन वैभव प्राप्त होता है। हिसादि पाँच पापो के आचरण से जीव पापी होता है, और वह पाप के उदय से दु:ख पाता है। पापी और पुण्यात्मा को समान करना अन्याय है। सबको समान बनाने पर व्यसनो की वृद्धि होगी। पापी जीव को धन मिलने पर वह पाप कर्मो मे अधिक लिप्त होगा।" आचार्य श्री ने यह भी कहा कि "सज्जन शासक गरीबो के उद्धार का उपाय करता है। हृष्ट-पुष्ट जीविका विहीन गरीबो को वह योग्य धन्धो मे लगाता है। अतिवृद्ध, अगहीन, असमर्थ दीनो का रक्षण करता है।"

भारतीय सस्कृति अत्यन्त पुरातन है। अगणित परिवर्तनो और क्रान्तियो के मध्य मे भी उसके द्वारा जगत् को अभय और आनन्द प्राप्त हुआ है। अत: पराधीन भारत मे उत्पन्न विषम समस्याओ का उपचार भारतीय सन्तो

के द्वारा चिर परीक्षित करुणामूलक तथा न्याय-समर्थित योजनाओ को अगीकार करना है। जिस शैली पर गुलाब का पोषण होता है, उस पद्धति द्वारा कमल का विकास नही होता, इसी प्रकार भौतिकवाद के उपासक पश्चिम की समस्याओ का उपाय आध्यात्मिक के आराधक भारत के लिए उपाय तथा आपत्तिप्रद होगा। भारतोद्धार की अनेक योजनाओ मे जीवघात को भी, पश्चिम की पद्धति पर उपयुक्त माना जाने लगा है, यह बात परिणाम मे अमगल को प्रदान करेगी। अहिसानुप्राणित प्रवृत्तियो के द्वारा ही वास्तविक कल्याण होगा। आज के भौतिकवाद के वातावरण मे पोषित मनुष्य का हृदय पाषाण का हो जाता है। डचमेन नाम के जर्मन ने 10 लाख यहूदियो को गैस की भट्टी मे मारा था और हिटलर के आदेशानुसार 30 लाख स्त्री-पुरुषो को मरवाया था। इन व्याधवृत्ति वालो की दृष्टि मे अन्य मनुष्य का जीवन मच्छरो के समान रहता है।

वर्तमान युग के लिए साधुचेतस्क **बाबू राजेन्द्र प्रसाद जी** का यह कथन बडा महत्वपूर्ण है। "आज बौद्धिक विकास के साथ अहिसा, सयम तथा अनुशासन की आवश्यकता बढ गई है।" (सन् 1967 अप्रैल, महावीर जयती)। आज जीवन का नैतिक स्तर (moral values) शून्य रूप सा हो गया है। सरलता तथा सादगी को भुलाकर विलासिता तथा श्रृगार भावना को महत्व दिया जा रहा है। इससे शहद मे गिरी हुई मरणोन्मुख मक्षिका सदृश आज के विलासी तथा स्वार्थी मानव की स्थिति हो गई है। वह अतर्आत्मा की आवाज को तनिक भी नही सुनता है। उसे यह स्मरण रखना होगा, कि जो-जो सामाजिक, लौकिक, राजनैतिक आर्थिक समस्याएँ मूलत हिसामयी है, उनके द्वारा शाश्वतिक अभ्युदय की उपलब्धि कभी भी नही हो सकती है। जैन तीर्थकरो ने अपनी महान् साधना के द्वारा यह सत्य प्राप्त किया कि आत्मा का पोषण वस्तुत: तब ही होगा, जब कि यह अपनी लालसाओ और वासनाओ की अमर्यादित वृद्धि को रोककर चक्षुओ का शोषण करेगा। भोग और विषयो की मोहनी धूलि से अपने ज्ञान चक्षुओ का रक्षण करना चाहिए। जिस अन्त:करण मे इस जगत् की क्षणिकता प्रतिष्ठित रहेगी, वह मानव अपथ मे प्रवृत्ति नही करेगा। ऐसे 'आत्मवान्' पुरुषार्थियो के हाथ मे सभी शास्त्र मगलमय विश्व-निर्माण मे सहायक होते

है। अस्वस्थ, प्रतारित और पीडित मानवता का कल्याण प्राणी मात्र के प्रति बन्धुत्व का व्यवहार और पुण्याचरण करने मे है। इसके द्वारा समन्तभद्र ससार का निर्माण हो सकता है। एक महान् आचार्य का उपदेश है–

धर्मं आयरह सदा, पाव दूरेण परिहरह।[25]

विश्वशांति के हेतु जैनशासन का आराधक जिनेन्द्र से प्रतिदिन प्रार्थना करता है –

प्रध्वस्तघाति-कर्माणः केवलज्ञान भास्करा· ।
कुर्वन्तु जगत. शाति वृषभाद्या जिनेश्वराः ॥

★★★

सदर्भ सूची ·

1 "His parents were the followers of the Jain school p 9 Before leaving India his mother made him take the three vows of Jainism, which prescribe abstention from wine, meat and sexual intercourse p 11, Vide *Mahatma Gandhi* by Roman Rolland
"M K. Gandhi's mother was under Jain influence", p 101, vide George Catlin, *In the Path of Mahatma Gandhi*

2 "Politics totally divorced from the laws of survival is threatening mankind with utter extinction We may go on bluffing for a few years or decades more, but we cannot escape the relentless verdict of the history Many great nations, kingdoms and empires have already vanished or have encumbered the gallery of dead antiquities But if we hope and aspire to continue and to contribute to the stock of human civilization, we must agree with the Jain pioneers and accept non-violence as the basic principle of our existence "
"*International University of Non-violence, An Appeal*", p 3
सन 1948 के बिहार के दैनिक पत्र *सर्चलाइट* मे छपा था कि महान साहित्यिक जार्ज बर्नार्डशॉ ने गाधी जी के पुत्र देव दास गाधी जी को बुलाया था ताकि उनका योगदान जैनधर्म का उत्कर्ष पुस्तक की रचना मे प्राप्त किया जाय।

3 "सर्वापदामन्तकर निरन्त सर्वोदय तीर्थमिद तवैव ।"–*युक्त्यनुशासन*

4 "When lenity and cruelty play for a kingdom, the gentler gamester is the soonest winner"—King Henry V *Act III*, c VI

5 "सुवर्णसदृश पुष्प फल रत्न भविष्यति ।
आशया सेव्यते वृक्ष फलकाले ढण्ढनायते ॥"

6 "The world of today has achieved much but for all its declared love

for humanity it has based itself far more on hatred and violence than on the virtues that make man human "

—*Discovery of India,* p 687

7 "An Englishman occupying a high position said that he would have preferred if the Prince of Wales and the Repulse had been sunk by the Germans, instead of by the yellow Japanese "—*Ibid* , p 544

8. "The monster of materialism has got such a grip of the world in the form of wars, and mammon, that men have so far forgotten their reality and that they sub-consciously believe themselves to be more machines instead of souls "

9 "We should set the highest value, not on living but on living well "

—*Trial and Death of Socrates*

10 श्रीमते सकलज्ञान-सम्राज्य पदमीयुषे ।
धर्मचक्रभृते भर्त्रे नम ससार-भीमुषे ।।महापुराण।।। 1।।

11 अशोक चक्र मे 'सिह' का सद्भाव सिह सदृश तात्विक दृष्टि के महत्व को बताता है। सिह गोली पर आक्रमण न कर गोली चलाने वाले पर प्रहार करता है। श्वान की दृष्टि इसके विपरीत होती है। उस अशोक चक्र मे हाथी, बैल, घोडा तथा सिह के चित्र काल के प्रतीक है। **तिलोयपण्णत्ति** मे लिखा है कि सिह जटा युक्त गज, अश्व और वृषभ की आकृति को धारण करने वाले आभियोग्य देव सूर्य के गमन कार्य को सपन्न करते है।

ते पुव्वादि-दिसासु केसरि-कटि-वसह-जटिल हय-रुवा ।
चउ-चउ-सहस्समेत्ता कचणवण्णा विराजते ।।7-81।।

यदि अशोक चक्र के प्रतीक की भाषा (Symbolism) पर ध्यान दिया जाय तो हमे काल चक्र के परिवर्तन का स्मरण कराता हुआ सिह सदृश पराक्रमी बनने और तीर्थकरो के समान अहिसा धर्म पालन का सकेत करता है।

12. "The *Chakra* signifies progress and a call to tread the path of righteousness India wishes to follow the ideal symbolised by the wheel '

—*Speech at Vancouver (America) vide Statesman, 6-11-49*

13 "सुकालश्च सुराजा च स्वय सन्निहित द्वयम् ।।" —*महापुराण 41, 99*

14 "इय बारह भावण सुणिविराय मणमज्झि वियंभिय-भवविराउ ।
रज्जु वि कुणतु चितइ इमाउ परिहरिवि कुगइकारण पमाउ ।।"

15 "We passed on to the temple We were greeted by rivers of blood I could not bear to stand there I was exasperated and restless I have never forgotten that sight I thought of the story of Buddha but I also saw that the task was beyond my capacity I hold today the same opinion as I held then It is my constant prayer that there may be born on earth some great spirit, man or woman, who will purify the

temple How is it that Bengal with all its knowledge, intelligence, sacrifice and emotion tolerates this slaughter? The terrible sacrifice offered to Kali in the name of religion enhanced my desire to know Bengal life "

—Vide-Gandhiji's *Autobiography*

16 हिन्दी *नवजीवन* 15 अप्रैल सन् 1926 मे 'विविध प्रश्न' शीर्षक चर्चा से गाधी जी की श्राद्ध के प्रति श्रद्धा का असद्भाव बडी सयत भाषा द्वारा व्यक्त किया गयाहै।

प्रश्न—श्राद्ध के सम्बन्ध मे आपका क्या अभिप्राय है? श्राद्ध करने से क्या सद्गति होती है?

गाधी जी कहते है "श्राद्ध के सम्बन्ध मे मै उदासीन हूँ। उसकी कुछ आध्यात्मिक उपयोगिता हो तो भी मै उसे नही जानता। श्राद्ध से मृत मनुष्य की सद्गति होती है, यह भी मेरी समझ मे नही आता है। मृत देह के अस्थि गगा जी मे जाकर डालने से एक प्रकार के धार्मिक भावो की वृद्धि होती होगी, इसके अलावा उससे काई दूसरा लाभ होता हो तो वह मै नही जानता हूँ।" पृ० 277।

17 "अमृतत्व-हेतुभूत अहिसा-रसायनम् ।" —*अमृतचद्र सूरि।*

18 "न हि कल्याणकृत् कश्चित् दुर्गति तात गच्छति ।" —*गीता।*

19 "Mercy and pity are altogether unknown or only meant to mask hypocrisy and vice under their cloaks "

—*Eng Jain Gaz*

20 "But it is quite impossible to provide everybody with as many consumer goods, that is with as high a standard of living as he would like If all persons were like Jain-members of an Indian sect, who try to subdue and extinguish their physical desires, it might be done If consumer goods descended frequently and in abundance from the heavens, it might be done As things are it cannot be done "

—*Economics by Frederic Bentham*, p 8

21 Life is larger than bath-tubs, radios and refrigerators I am afraid the higher the standard of living, the lower the culture Why, more than fifty per cent of Americans have never bought a book in their lifetime and the Americans have the highest standard of living in the world Literacy is not education and education is not culture "

—*Vedanta Keshri* Oct 47, p 234

22 "उपलशकलमेतद्भेदक गोमयाना
वटुभिरुपहृताना बर्हिषा स्तूपमेतत् ।
शरणमपि समिद्भि· शुष्यमाणभिराभि-
र्विनमितपटलान्त दृश्यते जीर्णकुड्यम् ।।"

—*मुद्राराक्षस अक 4, 15 29*

23 "विश्वमित्र" दीपावली अक 21-10-49, -16

24 इस सम्बन्ध मे जो प्रयत्न हमने किया था, उसका परिज्ञान परिशिष्ट रूप से दिए गए दो अग्रेजी के निबन्धो द्वारा हो सकेगा। उनमे पूर्वोक्त बात का ही वर्णन किया गया है। विज्ञ जनो को इस दिशा मे सहयोग देना चाहिये।

25 सदा धर्म का पालन करो और पाप का पूर्ण परित्याग करो।